प्रेमस्वरूप

हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना

प्रेमस्वरूप

हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना

हिन्दी वैष्णव-साहित्य

में

रस-परिकल्पना

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६

हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना

डॉ० प्रेमस्वरूप
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०, डी० लिट्०
साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ

© १९६९, डॉ० प्रेमस्वरूप

मूल्य रू. ५.००

प्रथम संस्करण, १९६९

o o

आवरण : एस० के० बेरी

o o

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

पुण्य स्मृति में—

जिन्होंने माँ का ममतामय आँचल दिया

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ० प्रेमस्वरूप के डी० लिट्० शोध-प्रबन्ध का मुद्रित संस्करण है। प्रबन्ध का शीर्षक है 'हिन्दी वैष्णव-साहित्य (सोलहवीं-सत्रहवीं शती) में रस-परिकल्पना'। यह एक संयोग ही रहा है कि विषय के चयन-निर्धारण में, आगरा विश्वविद्यालय की शोध-समिति द्वारा उसके स्वीकरण-पंजीकरण में, फिर परीक्षण में मेरा इसके साथ साक्षात् सम्बन्ध रहा है; और, आज भूमिका के रूप में भी दो शब्द इसके लिए लिख रहा हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन उभयपक्षीय है—सैद्धान्तिक भी, व्यावहारिक भी। हिन्दी का वैष्णव साहित्य अपनी नानामुखी विशेषताओं के कारण एक स्वर्ण-निधि है, जिसका प्राण उसकी अपनी विशिष्ट रस-परिकल्पना है। इसे आत्मसात् किये बिना इस साहित्य के मर्म में अवगाहन करना कठिन ही होता है। डॉ० प्रेमस्वरूप ने अपने इस ग्रन्थ में वैष्णव-साहित्य की इस रस-परिकल्पना को विभिन्न सैद्धान्तिक पहलुओं से देखने-समझने का प्रयास करते हुए साहित्य के व्यावहारिक धरातल पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।

वैष्णव रस-परिकल्पना का सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए डॉ० प्रेमस्वरूप ने त्रिदिक् प्रयास किया है: एक—'रस' का भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि में दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन। इस अध्ययन में उन्होंने अपनी पी-एच० डी० की उपलब्धियों का उपयोग करते हुए कतिपय नवीन स्थापनाएं भी प्रस्तुत की हैं; उदाहरणस्वरूप महिमभट्ट पर बौद्ध न्याय का प्रभाव, धनंजय-धनिक के रस-मत की मीमांसा दर्शन की सापेक्षता में व्याख्या आदि।

दूसरी दिशा है 'रस' को वैष्णव दर्शनों की सापेक्षता में देखने की। वैष्णव रस-परिकल्पना को समझने के लिए यह दिशा भी नितान्त अपेक्षित थी। डॉ० प्रेमस्वरूप का यह अध्ययन भी विभिन्न वैष्णव दर्शनों के आधारभूत मूल ग्रन्थों पर आश्रित है। रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ के ग्रन्थ इस अध्ययन के मूल आधार हैं। यों इन दर्शनों के सैद्धान्तिक पक्ष में कोई सर्वथा नई बात कहने का अवसर नहीं होता, सिद्धान्त पक्ष का अनाविल प्रस्तुतीकरण ही अपेक्षित होता है; किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्येता ने अनेक सूक्ष्म-स्थूल सैद्धान्तिक मान्यताओं को विशिष्ट दृष्टिकोण से परखकर निजी व्याख्यान से नवीकृत किया है। जो लोग वैष्णव दर्शनों में रुचि रखते हैं, उन्हें निःसन्देह यहाँ काफ़ी सामग्री मिलेगी। यह विवेचन ग्रन्थ के दूसरे अध्याय 'भक्ति-दर्शन और रस' में समायोजित किया गया है।

वैष्णव रस को परखने की तीसरी दृष्टि है चैतन्य सम्प्रदायी आचार्य रूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी की। प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में 'भक्ति-काव्यशास्त्र और रस' शीर्षक से

यह अध्ययन सन्निहित है। यहाँ भी एक ओर तो मूल ग्रन्थों पर आधृत रहकर उनके सिद्धान्त पक्ष का अनाविल प्रस्तुतीकरण है, दूसरी ओर ऐसे अनेक सूक्ष्म तथ्य प्रासंगिक रूप में सामने लाये गये हैं जिन पर अन्य अध्येताओं की दृष्टि नहीं गई।

काव्यशास्त्र, भक्ति-दर्शन और भक्ति-काव्यशास्त्र की पीठिका के साथ वैष्णव रस और उसकी विविध समस्याओं पर अनुसंधाता ने विचार किया है। वैष्णव रस के साम्प्रदायिक तथा सैद्धान्तिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कवि, साम्प्रदायिक भक्त और सामान्य सहृदय पाठक की दृष्टि से इस काव्य में अनुभूति का क्या स्वरूप रहता है तथा उसके सन्दर्भ में क्या-क्या समस्याएं उठती हैं, इसका विवेचन भी अत्यन्त स्थिर मति से किया गया है।

डॉ० प्रेमस्वरूप के इस शोध-ग्रन्थ में अनेग प्रसंग अत्यन्त गंभीर और रोचक हैं; साथ ही अनेक स्थलों पर मैं उनके निष्कर्षों अथवा तर्कों से सहमत नहीं हो सका। यह सहज संभव है कि मेरे समान ही अनेक विद्वान् उनके अनेक विचारों, तर्कों अथवा मान्यताओं से सहमत न हों, पर चिन्तन और ज्ञान मार्ग में यही स्वाभाविक है। उदाहरणस्वरूप डॉ० प्रेमस्वरूप का साधारणीकरण-सम्बन्धी दृष्टिकोण मुझे ग्राह्य नहीं है। मेरे प्रति आदर-भाव रखते हुए भी वे इस प्रसंग में मेरे विचारों से असहमत रहे हैं। मेरी मान्यताओं के विरोध में अपने पी-एच० डी० के प्रबन्ध में भी उन्होंने कुछ तर्क प्रस्तुत किये थे, प्रस्तुत प्रबन्ध में भी उन्होंने कुछ प्रौढ़तर तर्क दिये हैं। मैं ज्ञान-क्षेत्र में सद्भावना से प्रस्तुत किये गये इस प्रकार के विपक्षीय तर्कों का स्वागत करता हूँ। अपने 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ में साधारणीकरण का विवेचन करते हुए, उत्तर देने के लिए मैंने दो विद्वानों के आक्षेपों को चुना था। उनमें एक तो स्वर्गीय डा० गुलाबरायजी का आक्षेप था और दूसरा डॉ० प्रेमस्वरूप का जिसमें उन्होंने साम्प्रदायिक भक्तिकाव्य के 'सहचरीभाव' में साधारणीकरण का प्रश्न उठाया था।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में राम-काव्य और कृष्ण-काव्य को लेकर विद्वान् लेखक ने अपने सैद्धान्तिक अध्ययन को व्यावहारिक भूमिका प्रदान की है। प्रबन्ध का परीक्षक होने के नाते मैंने यह अनुभव किया था कि यह अध्ययन कुछ और अधिक आगमनात्मक होना चाहिए था। फिर भी यहाँ अध्येता की मौलिकता एवं विश्लेषक प्रतिभा के दर्शन होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

मैं वर्षों से डॉ० प्रेमस्वरूप के अध्ययनशील व्यक्तित्व से परिचित हूँ। इन्होंने मात्रा में कम लिखा है, पर जो लिखा है उसमें इनके गंभीर अध्ययन और अन्वेषण-वृत्ति की स्पष्ट छाप है।

मुझे विश्वास है कि काव्यशास्त्र, वैष्णव-दर्शन तथा वैष्णव-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
शिवरात्रि, २०२६ वि०

नगेन्द्र

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना १-१७

१. संस्कृत काव्यशास्त्र में रस

स्वरूप-सम्बन्धी विविध मत एवं दृष्टिकोण २१
दर्शन-निरपेक्ष रस-निरूपण २३
भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप २३
भरत का रस-स्वरूप २४
अलंकारवादी आचार्य : २६
भामह २६
दण्डी २७
उद्भट २८
वामन २९
रुद्रट २९
समीक्षा ३०
दर्शन-सापेक्ष रस-निरूपण ३०
लोल्लट ३१
न्याय-दर्शन और रस ३५
बौद्ध-न्याय और रस ३५
आचार्य श्री शंकुक ३६
आचार्य महिमभट्ट ४६
वैदिक-न्याय और रस ५४
रसगंगाधरस्थ नवीन मत ५५
सांख्य-दर्शन और रस ५७
अभिनवभारतीस्थ सांख्यवादी मत ५७
मीमांसा और रस ६०
लोल्लट और मीमांसा ६१
भट्टनायक और मीमांसा ६१
अभिनवगुप्त और मीमांसा ६२
धनंजय और धनिक ६३

कश्मीरी शैव-दर्शन और रस ६६
द्वैतवादी शैव-दर्शन और रस ६७
भट्टनायक ६७
अद्वैतवादी काश्मीरी शैव-दर्शन और रस ७९
अभिनवगुप्त ७९
मम्मट ८४
भोज ८५
वेदान्त-दर्शन और रस ८८
विश्वनाथ ८९
पंडितराज जगन्नाथ ९२
वेदान्ती नवीन मत ९८

२. भक्ति-दर्शन एवं रस

रामानुज-दर्शन एवं रस १०४
विशिष्टाद्वैतवाद १०४
रस का स्वरूप १०५
रस का आस्वादन-कर्ता ११२
रस की उपलब्धि का साधन एवं प्रक्रिया ११३
रसास्वादनकालीन अनुभूति ११७
मध्व दर्शन एवं रस ११९
द्वैतवाद ११९
आनंद १२१
रस १२१
जीव की आनन्दोपलब्धि १२२
निम्बार्क-दर्शन एवं रस १२२
द्वैताद्वैतवाद १२२
रस का स्वरूप १२७
रसानुभूति १२९
वल्लभ-दर्शन एवं रस १३२
शुद्धाद्वैतवाद १३२
आनन्द-तत्त्व १३९
रस-निष्पत्ति १५०
चैतन्य-दर्शन एवं रस १५३

३. भक्ति-काव्यशास्त्र में रस

भक्ति-काव्यशास्त्र १५५
भक्ति का स्वरूप १५७

रस १६५
रस और उसकी परिधि १६६
भाव और भावाभास १६७
रसभेद और उनके स्थायी भाव १६८
रस-सामग्री १७६
रसास्वादयिता १७७
रस का स्वरूप एवं निष्पत्ति १८१
रस की स्वयं-प्रकाशता और अखण्डता १८७
रस की आनन्दमयता १८८
उज्ज्वल रस १९०
उज्ज्वल रस की रहस्यता १९१
रति की क्रमिक भूमिकाएँ १९२
मधुरा रति और सम्भोग-भावना १९२
परकीयाभाव में प्रेम की पराकाष्ठा १९४
गोपियाँ १९६
महाभाव में विप्रलंभ और सम्भोग १९९
भक्तिरस एवं तत्सम्बन्धी समस्याएँ २०२
भक्तिरस की काव्यशास्त्रीय स्थिति २०२
भक्तिरस या वैष्णव रस २१०
वैष्णवरस की साम्प्रदायिकता २११
भक्तिरस और भक्तिकाव्यरस २१२
भक्तिरस के भोक्ता २१२
वैष्णव रस के भेद २१४
मधुर रस २१७
कान्ताभाव २१८
रस-तत्त्व २१९

४. हिन्दी वैष्णव कवियों की रस-विषयक आचार्य-चेतनाएँ

सूरदास २२३
परमानन्ददास २२५
कुंभनदास २२७
नन्ददास २२८
चतुर्भुजदास २३२
गोविन्दस्वामी २३३
छीतस्वामी २३४
श्रीभट्टजी २३५
श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी २३७

स्वामी हरिदासजी २४०
श्रीविट्ठलविपुलदेवजी २४१
श्रीहितहरिवंशजी २४२
श्रीहरिरामजी व्यास २४३
ध्रुवदासजी २४६
तुलसीदास २५०
केशवदास २५२
समीक्षा २५६
काव्यानुभूति की कुछ समस्याएँ २५७

५. कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

अष्टछापी कृष्णकाव्य में रस-परिकल्पना २६७
सम्प्रदाय की सामान्य रस-दृष्टि २६७
विशिष्टरस २७२
दास्यभक्ति रस २७२
सख्यभक्तिरस २७६
वात्सल्य भक्तिरस २८०
मधुरभक्तिरस २८४
निम्बार्क-सम्प्रदायी काव्य में रस-परिकल्पना २९४
सम्प्रदाय की सामान्य रस-दृष्टि २९५
विशिष्ट रस २९९
शान्तभक्तिरस २९९
दास्यभक्तिरस ३००
सख्यभक्तिरस ३०१
वात्सल्यभक्तिरस ३०२
मधुर रस ३०२
युगल रस ३०५
हरिदास-सम्प्रदायी काव्य में रस-परिकल्पना ३०८
सम्प्रदाय की सामान्य रस-दृष्टि ३०८
विशिष्ट रस ३०८
मधुर रस ३०९
शान्त रस ३१३
दास्यभक्तिरस ३१४
राधावल्लभ-सम्प्रदायी काव्य में रस-परिकल्पना ३१५
आलोच्यकाल का साहित्य ३१५
परिकल्पित रस ३१५
मधुर रस ३१६

काव्यशास्त्रीय स्थिति ३२९
राधावल्लभीय मधुर परिकल्पना और अन्य सम्प्रदाय ३२९
शान्त भक्तिरस ३३०
चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य में रस-परिकल्पना ३३३
साहित्य ३३३
रस-परिकल्पना ३३४
शान्त भक्तिरस ३३५
वात्सल्य रस ३३६
दास्य भक्तिरस ३३६
सख्य भक्तिरस ३३७
मधुरभक्तिरस ३३७
मीराँ के काव्य में रस-परिकल्पना ३४२
मधुर रस ३४४
शान्त भक्तिरस ३४८
रसखान के काव्य में रस-परिकल्पना ३४९
प्रेम-तत्त्व ३४९
रस-परिकल्पना ३५२

६. रामभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

दो धाराएँ ३५७
आदर्शवादी धारा ३५७
तुलसीदासजी ३५७
रस-दृष्टि ३५७
विनयपत्रिका ३५९
रामचरितमानस ३६४
कवितावली ३७६
गीतावली ३८३
केशवदास ३९३
रस-दृष्टि ३९३
भक्तिरस ३९४
काव्यरस ३९५
सेनापति ३९७
रस-दृष्टि ३९७
मधुर धारा ४०२
अग्रदासजी ४०६
नाभादासजी ४०६
रसानुभूति ४०७

७. उपसंहार

(क) वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना का तुलनात्मक विवेचन ४०९
(ख) परवर्ती-साहित्य में रस-परिकल्पना पर प्रभाव ४२१
(ग) निष्कर्ष ४२४

परिशिष्ट

(क) कबीर-काव्य में रस-परिकल्पना ४२६
(ख) सहायक-ग्रन्थ-सूची ४३५

संकेतिका

ना० शा०—नाट्य-शास्त्र
अ० भा०—अभिनव भारती
का० प्र०—काव्यप्रकाश
व्य० वि०—व्यक्ति-विवेक
शृं० प्र०—शृंगार-प्रकाश
द० रू०—दशरूपक
सा० द०—साहित्य-दर्पण
र० ग०—रसगंगाधर
स० द० सं०—सर्वदर्शनसंग्रह
शां० भा० – ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
अ० भा०—ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य
त० दी० नि०—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
ह० भ० र०—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
उ० नि० – उज्ज्वलनीलमणि
प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक
ई० प्र० वि० वि०—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति विमर्शिनी
त० सा०—तन्त्रसार
रा० सु०—राधासुधानिधि
यु० त० स०—युग्मतत्त्वसमीक्षा
हि० सं० पो०—हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स
सू० सा० – सूरसागर
नं० ग्रं०—नन्ददास ग्रन्थावली
नि० मा०—निम्बार्क माधुरी
मानस—रामचरितमानस
पत्रिका—विनय पत्रिका
क० ग्रं०—कबीर ग्रन्थावली
र० शा० अ०—रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन
क० र०—कवित्तरत्नाकर
अ० व० सं०—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है। इसका विषय है—'हिन्दी वैष्णव-साहित्य (सोलहवीं-सत्रहवीं शती) में रस-परिकल्पना'।

यहां 'परिकल्पना' शब्द का अंग्रेज़ी शब्द 'इमैजीनेशन' के पर्याय में हिन्दी में प्रयुक्त 'कल्पना' शब्द से विशेष सम्बन्ध नहीं है। परिकल्पना शब्द 'परि' उपसर्ग-पूर्वक 'क्लृप्' धातु से 'ल्युट्' तथा 'टाप्' प्रत्ययों से बना हुआ है।[1] इसमें रचना या निर्माण का भाव निहित है। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह एक बहु-प्रचलित शब्द रह चुका है। भरत ने बिना किसी उपसर्ग के तथा 'प्र', 'वि' और 'परि' आदि उपसर्गों के साथ अपने नाट्यशास्त्र में इस शब्द का क्रिया और संज्ञा के रूप में न जाने कितने बार प्रयोग किया है।[2] यों भरत के प्रयोगों में उपसर्गों के आधार पर विशिष्ट निश्चित अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी अधिकांश में उन्होंने बाह्य और स्थूल रचना-विधान के लिए निरुपसर्ग या 'प्र' उपसर्ग सहित इसका प्रयोग किया है, 'वि' उपसर्ग के साथ निर्धारण या निरूपण के लिए अधिक प्रयोग हुआ है; और मानसी रचना, उद्भावना से मिलते-जुलते अर्थों में 'परि' उपसर्ग के साथ। इस प्रकार 'परिकल्पना'

---

१. बी० एस० आप्टे : 'दी स्टुडेण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी', पृ० १६२।

२. नाट्यशास्त्र : भरत :

(क) "वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।" भा० १, अ० १, श्लो० १२०।
"यादृशं दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम्।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मन्त्रपुरस्कृतः।" भा० १, अ० २, श्लो० ४०–१।
"बाह्यं वा मध्यमं वापि तथैवाभ्यन्तरं पुनः।
दूरं वा सन्निकृष्टं वा देशं तु परिकल्पयेत्।" भा० २, अ० १३, श्लो० ८।
"देशादिभेदं कल्पयित्वा तत्र दूरादिभेदं परिकल्पयेत्" : अभि० भा० : भा० २, पृ० १९९।
"आर्याणां तु चतुर्मात्राप्रस्तारः परिकल्पितः।" ना० २, अ० १४, श्लो० १२२।
"यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते।
अनन्तरप्रयोगस्तु सार्थव्यक्तिरुदाहृता।" भा० २, अ० १६, श्लो० १०९।

(ख) "अपूजयित्वा रंगं तु प्रेक्षां यः कल्पयिष्यति।" अ० १, श्लो० १८३।
"सममर्धविभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत्।" अ० २, श्लो० ३४।
"अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि कल्पयेत्।" अ० २, श्लो० ९३।
"एवं व्यायामयोगे कार्यं मण्डलकल्पनम्।" अ० १२, श्लो० १।

(ग) "पूर्वरंगे मया ख्यातं तथा चांगविकल्पनम्।" अ० ५, श्लो० ५३।
"प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम्।" अ० ६, श्लो० ४।
"विकल्पयन्ते निश्चीयन्ते नेन तादृग्वाक्यं।" अभि० भा०, पृ० २६२, भा० १।
"अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मण्डलानां विकल्पनम्।" अ० १०, श्लो० १०४।
"इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डलविकल्पनं नामैकादशोऽध्यायः।"
अ० ११, ना० शा०, भा० २, पृ० १२८।

शब्द अपने लिए विदेशी अर्थ से युक्त नहीं है। इसके मूल धात्वर्थ को ध्यान में रखते हुए 'रस-परिकल्पना' का मुख्य अर्थ हुआ काव्य में कवि द्वारा रस-सृष्टि। इस प्रकार वैष्णव-काव्य में रस-परिकल्पना के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य हुआ इस काव्य में यह देखना कि कवि ने किस दृष्टि से, किस रस-तत्त्व की, किस रूप में तथा किस ढंग से सृष्टि की है? किन्तु काव्य-निष्ठ कवि-कृत रस-परिकल्पना यदि सहृदय-निरपेक्ष है तो उसका कोई अर्थ नहीं। अतः पूर्वोक्त निर्मातृ-पक्ष के साथ रस का भोग-पक्ष भी रस-परिकल्पना में आनुषंगिक रूप से अध्येय हो जाता है। वैष्णव-साहित्य में निहित रस-परिकल्पना का हमें इन्हीं दोनों दृष्टियों से, अर्थात् रस-विधान के निर्माण-पक्ष को प्रमुख बनाकर भोक्तृ-पक्ष की सापेक्षता में रखते हुए अध्ययन करना है।

इसी विशिष्ट दृष्टि से हमारा अध्येय विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शती का हिन्दी वैष्णव साहित्य है। विक्रम की ये शतियां हिन्दी के विविध भक्ति-काव्य के कारण साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। उक्त रस-दृष्टि से यह समूचा भक्ति-साहित्य इस शोध का विवेच्य विषय नहीं है। जैसा कि हम अभी विचार करेंगे, इसकी परिधि में केवल राम-भक्ति एवं कृष्ण-भक्ति का सगुण काव्य ही आता है। प्रेम-मार्गी सूफी काव्य एवं निर्गुण सन्त-काव्य दोनों इसकी परिधि में नहीं आते।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी दृष्टिकोण से अपने काल के उक्त साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यहां इस अध्ययन की प्रस्तावना के रूप में कुछ बातें निवेदन करनी हैं जिनसे इस शोध-प्रबन्ध में किये गये अध्ययन की दिशा, परिधि एवं दृष्टिकोण स्पष्ट हो सकें।

आलोच्यकालीन हिन्दी वैष्णव साहित्य

संक्षिप्त परिचय, वर्गीकरण एवं रस-परिकल्पना के लिए अध्येय साहित्य का चयन : सोलहवीं-सत्रहवीं शती हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्ण-युग है। यद्यपि इस युग का वैष्णवेतर साहित्य भी मात्रा में नगण्य नहीं है, तथापि वैष्णव साहित्य ही इस युग का प्राण एवं प्रतिनिधि साहित्य है।

इस युग के वैष्णव साहित्य को प्रभावित करने वाले प्रेरणा-स्रोत कई दिशाओं से प्रवाहित होकर आते हैं, इसीलिए यह साहित्य मूलतः भक्ति-साहित्य होते हुए भी विविध-रंगी हो गया है। इस युग की भक्ति-भावना प्रायः सम्प्रदाय-निष्ठ होकर प्रसृत हुई है। कई सम्प्रदाय पहले से ही पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुके थे, कई इस युग में प्रवर्तित हुए। यों तो इस युग के कई कवि इस प्रकार के हैं जिन्हें या तो किसी सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं कहा जा सकता, या जिनका सम्बन्ध एकाधिक सम्प्रदायों से जोड़ा जा सकता है, तथापि इन शतियों का साहित्य एक बड़ी दूरी तक सम्प्रदाय-चेतना को स्वीकार करके चला है। इसी कारण इस युग के साहित्य का अनुशीलन उसकी मूल सम्प्रदाय-चेतना के सापेक्ष्य में ही उचित भी होता है, सरल भी।

इस युग में प्रचलित प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं :

१. रामानुज सम्प्रदाय
२. माध्व सम्प्रदाय
३. निम्बार्क सम्प्रदाय
४. वल्लभ सम्प्रदाय
५. चैतन्य सम्प्रदाय
६. हरिदासी सम्प्रदाय

७. राधावल्लभीय सम्प्रदाय

८. रामानन्दी सम्प्रदाय

ये सम्प्रदाय एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। ये सभी एक प्रकार से अपने परिनिष्ठित रूप में शांकर अद्वैत के विरोध में खड़े हुए हैं; और उपास्य-रूप, उपासना-दृष्टि तथा सेवा-पूजा की प्रक्रिया आदि के आधार पर अपना स्वतन्त्र स्थान भी बनाते हैं। सभी अपनी स्वतन्त्र दर्शन-पीठिका नहीं बनाते। मूल रूप में चार वैष्णव सम्प्रदायों का नाम लिया जाता है—श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक। इन्हीं चार से क्रमशः रामानुज, मध्व, वल्लभ और निम्बार्क का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। सामान्य धारणा के अनुसार परवर्ती काल में विकसित सम्प्रदायों को इन चार से ही सम्बद्ध करके देखा जाता है। श्रीसम्प्रदायी रामानुज का ही विकसित रूप रामानन्दी सम्प्रदाय के रूप में आया है, माध्व सम्प्रदाय का विकसित रूप चैतन्य सम्प्रदाय है, रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रवर्तित विष्णुस्वामी सम्प्रदाय ही वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ है तथा हरिदासी सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय का ही विकसित रूप है, ऐसी मान्यता अनेक विद्वानों की भी है, और कई सम्प्रदायों के पुराने लोग भी अपना सम्बन्ध उनके पूर्ववर्ती कहे जाने वाले सम्प्रदायों से जोड़ते हैं। साथ ही परवर्ती सम्प्रदायों में, विशेषकर आधुनिक युग में, अपने सम्प्रदाय को पूर्ण, स्वतन्त्र विकसित सिद्ध कहने की भी प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति का समर्थन कुछ साहित्यिक समालोचक भी करते हैं। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में डॉ० स्नातक ने अपनी मान्यता इसी रूप में प्रस्तुत की है। उनके अनुसार ये सभी सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र आधार-भूमियों पर खड़े हुए हैं। उनकी ऐसी मान्यता में बहुत कुछ उद्देश्य यह भी है कि उनके अध्येय राधावल्लभ सम्प्रदाय को स्वतन्त्रतया विकसित-प्रतिपादित किया जा सके, और उस सम्प्रदाय के लोगों की भावना की अधिकतम सुरक्षा हो सके।

दर्शन की दृष्टि से इन सम्प्रदायों में पाँच ही उल्लेखनीय हैं—रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभीय और चैतन्य। यद्यपि चैतन्य ने स्वयं कोई दार्शनिक ग्रन्थ, या वेदान्त-भाष्य आदि नहीं लिखा, तथापि उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने विशाल दार्शनिक साहित्य की प्रतिष्ठा की है। यह दार्शनिक साहित्य संस्कृत की निधि है। हिन्दी की दृष्टि से रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, हरिदासी और राधावल्लभीय सम्प्रदायों का महत्त्वपूर्ण योग है। इधर बाबा कृष्णदास और श्री प्रभुदयाल मीतल के श्रम से कुछ चैतन्य सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य भी प्रकाश में आया है। माध्व सम्प्रदाय के हिन्दी भक्त-कवि बहुत थोड़े हैं, और वे अन्य सम्प्रदायों में घुल-मिल गये हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य कम तो नहीं है, किन्तु वह सब अभी साम्प्रदायिक महन्तों के यहां बन्द है। इधर राम-भक्ति के रसिक उपासकों के साहित्य को भी प्रकाश में लाने के कुछ प्रयास हुए हैं। इस प्रकार राम और कृष्ण की सेवा में समर्पित एक विशाल साहित्य-राशि सोलहवीं-सत्रहवीं शतियों में निर्मित हुई है, जो साम्प्रदायिक अनुदारता के कारण अभी तक भी समूची प्रकाश में नहीं आ सकी है। कृष्ण-काव्य में अब तक सर्वाधिक अध्ययन और प्रचार वल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य का हुआ है। इधर आकर अन्य सम्प्रदायों का साहित्य भी कुछ-कुछ विद्वानों की नज़र पड़ने लगा है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जो भी सामग्री काल के पंजों से अवशिष्ट रह गयी है, आज ऐसे लोगों के पास है जो उसे प्रकाश में लाने के लिए तैयार नहीं हैं। यदि यह समूचा साहित्य प्रकाश में आ जाए तो निस्सन्देह मध्यकालीन साहित्य के विषय में अनेक स्थापनाओं में परिवर्तन करना पड़ जाए।

भक्तिकाल के साहित्य को प्रायः समालोचकों द्वारा चार शाखाओं में वर्गीकृत किया गया

है—प्रेम-मार्गी निर्गुण शाखा, ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा, राम-भक्ति की सगुण शाखा और कृष्ण-भक्ति की सगुण शाखा। इनमें राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का वैष्णवता से सीधा सम्बन्ध है। कहना चाहिए, इस युग की वैष्णव चेतना हिन्दी-काव्य में राम और कृष्ण के प्रतीकों को लेकर ही नाना-रूपों में प्रसृत हुई है। प्रेम-मार्गी शाखा की चेतना वैष्णव नहीं है, न उसके प्रेमादर्श में वैष्णव संस्कार। ज्ञान-मार्गी निर्गुण शाखा भी मुख्यतः कुछ ऐसे बौद्धिक एवं क्रियात्मक संस्कार लेकर चली है कि उसमें वैष्णव चेतना अत्यन्त ही धुंधली रह गयी है। यद्यपि ज्ञान-मार्गी संत वैष्णव आदर्शों में से कुछ के प्रति अपनी आस्था प्रकाशित करते रहे हैं, तथापि उनका मूल स्वर भगवान् के सगुण-साकार रूपों के प्रति अनास्था रखने के कारण वैष्णव चेतना के मौलिक स्वर से विपरीत ही हो गया है। जिस प्रकार राम-भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि तुलसी हैं, उसी प्रकार ज्ञान-मार्गी निर्गुण सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कबीर हैं। यदि निर्गुण सन्तों में कहीं कुछ उल्लेखनीय दूरी तक वैष्णव चेतना पायी जाती है, तो वह कबीर में। किन्तु कबीर की वैष्णवता भी एक सीमित अर्थ में ही स्वीकार की जा सकती है। अतः हमारे वैष्णव साहित्य की परिधि सगुण भक्तों तक ही मुख्यतः जाती है।

कबीर के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वे वैष्णव थे या नहीं? यदि वे वैष्णव भक्त नहीं थे तो वे हमारे शोध-विषय की सीमा में नहीं आते। इस सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष दोनों में ही कई बातें कही जा सकती हैं। वे रामानन्द के शिष्य थे, वे अपने को स्पष्टतः वैष्णव न कहकर भी वैष्णवों के प्रशंसक हैं। कबीर ने जगह-जगह हरि, राम, कृष्ण, गोविन्द आदि वैष्णव नामों का प्रयोग किया है और इनके प्रति अपना निर्मल प्रेम प्रस्तुत किया है। ये सब बातें उनके वैष्णवत्व के पक्ष में हैं। अपने को कहीं भी खुलकर वैष्णव स्वीकार न करना, राम-कृष्ण के अवतारी रूप को साफ तौर पर अस्वीकार करना, चिन्तन की आधार-भूमि के रूप में शंकर के अद्वैतवाद को स्वीकार करना, नाथों और सिद्धों के प्रभाव से हठयोगी धारणाओं में विश्वास तथा सूफ़ी प्रभाव आदि ऐसी बातें हैं जो उनको वैष्णव स्वीकार करने में बाधक हैं। हम किसी भक्त के वैष्णव होने की तीन प्रमुख कसौटियां स्वीकार कर सकते हैं:

१. ब्रह्म के पर-रूप की स्वीकृति। यह रूप निर्गुण एवं उपनिषत्प्रतिपादित है। सभी वैष्णव भक्तों ने इसे स्वीकार किया है, भले ही सुग्राह्य होने के कारण वे सगुण रूप के गायक रहे हैं। प्रमुख-प्रमुख भक्ति-सम्प्रदायों में वेदान्तसूत्र के भाष्य मिलते हैं, और उनकी व्याख्या में इस उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण रूप को भी स्वीकार किया गया है।

२. पुराण-प्रतिपादित अवतारवाद में पूर्ण आस्था। वैष्णव भक्तों की प्रमुखतः यही चेतना आधार रही है। उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण रूप को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके भी उनकी भाव-साधना और आराधना का यही लीलामय सगुण रूप रहा है। इन रूपों में हमारे आलोच्य युग में राम और कृष्ण दो रूप ही भक्ति-भावना के क्षेत्र में छाये रहे। इस अवतारी रूप में बिना आस्था रखे कोई भी भक्त सच्चे अर्थों में वैष्णव नहीं स्वीकार किया जा सकता।

३. भारतीय भाव-साधना में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवाहित अनुराग-तत्त्व। इस अनुराग-तत्त्व की सगुण रूप के प्रति जितनी गहरी और सच्ची अनुभूति होती है, व्यक्ति उतना ही उच्च कोटि का वैष्णव स्वीकार किया जाता है। इसी अन्तर के कारण तुलसी और केशव दोनों वैष्णव कवि तो हैं किन्तु समान रूप से वैष्णव भक्त

नहीं। यह अनुराग चाहे जिस रूप में हो, पर उसमें लीलामय सगुण रूप की माधुरी का आकर्षण अवश्य होता है।

यदि कबीर को हम इन कसौटियों पर कसें तो उन्हें वैष्णव नहीं कहा जा सकता। इनमें से एक तत्त्व तो उनमें पूरा मिलता है—वे उपनिषत्प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म रूप में पूर्ण आस्थावान् हैं। वस्तुतः उन्हें इसी तत्त्व की स्वानुभूति है। दूसरा तत्त्व अनुराग का उनमें भारी मात्रा में है, पर वह पूरे अर्थ में वैष्णव अनुराग नहीं है। उनके प्रेम-तत्त्व के विषय में यह तो विवाद उठाया जा सकता है कि वह सूफ़ी पद्धति का है या भारतीय पद्धति का; किन्तु यह निर्विवाद है कि उस प्रेम में भगवान् के सगुण लीलामय रूप के प्रति आसक्ति नहीं है। राम और कृष्ण के नाम पर अभिव्यक्त होने के कारण यह प्रेम वैष्णवी न रहकर वैष्णवाभासी रह गया है। अतः इस तत्त्व को उनमें आधी मात्रा में ही स्वीकार किया जा सकता है। तीसरा तत्त्व है पुराण-प्रतिपादित अवतारी भगवद्रूप में विश्वास। कबीर इस रूप में आस्था नहीं रखते। उनका राम स्पष्टतः दशरथ-सुत राम नहीं है, भले ही वे भूले-बिछुड़े कोई ऐसी बात कह गए हैं जिसमें अवतारी रूप की स्वीकृति हो। इस प्रकार उक्त तीन कसौटियों में से आधी ही कबीर को वैष्णव कह सकती हैं, आधी स्पष्टतः इसके विरोध में हैं। अतः कबीर और उनके अनुयायी सन्त इस शोध-प्रबन्ध के विषय नहीं रह जाते। फिर भी उनमें एक हलके वैष्णव प्रभाव को स्वीकार कर हम यह कर सकते हैं कि उनकी रस-परिकल्पना का परिचय अत्यन्त संक्षेप में इस प्रबन्ध के परिशिष्ट रूप में रख लें। इससे हम उनकी और उनके अनुयायी सन्तों की, जिनमें कि कबीर से अधिक अन्तर नहीं है, रस-परिकल्पना का स्वरूप मोटे तौर पर समझ सकेंगे।

इस युग में रामभक्ति शाखा के निम्न कवि आते हैं :

महाकवि तुलसीदास, मुनिलाल, केशवदास, स्वामी अग्रदास, नाभादास, सेनापति, हृदयराम, प्राणचन्द चौहान, बल [illegible]स तथा लालदास।

ये नाम डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के आधार पर हैं। कोई एकाध सामान्य कोटि का नाम इधर-उधर और भी मिल सकता है, जैसे एक रायमल्ल पांडे का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है। पर इन सब नामों में तीन ही नाम ऐसे हैं जिन्हें रस-परिकल्पना की दृष्टि से महत्त्व दिया जा सकता है। ये नाम हैं—तुलसीदास, केशवदास और सेनापति। इनके अतिरिक्त अग्रदास और नाभादास के नाम राम-भक्ति की मधुर धारा की दृष्टि से उल्लेखनीय हो सकते हैं।

यहां रामभक्ति शाखा के उपर्युक्त कवियों का समय और रचनाओं का उल्लेख डॉ० राम-कुमार वर्मा के उक्त इतिहास के ही आधार पर किया जा रहा है :

१. तुलसीदास	सं० १५८९?—१६८०	रामचरितमानस, रामललानहछू, वैराग्य-संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्णगीतावली, विनयपत्रिका, कलिधर्माधर्म-निरूपण?।
२. मुनिलाल	सं० १६४२ रचनाकाल	रामप्रकाश।
३. केशवदास	सं० १६१२—	विज्ञानगीता, रतनबावनी, जहांगीर-जसचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, रसिक-

			प्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका।
४.	स्वामी अग्रदास	सं० १६३२ आविर्भावकाल	हितोपदेश उपाख्यान बावनी, ध्यान-मंजरी, अष्टयाम, पदावली।
५.	नाभादास	सं० १६५७ आविर्भावकाल	भक्तमाल, रामाष्टयाम।
६.	सेनापति	सं० १६४६—अठारहवीं श० प्रथम चरण	कवित्तरत्नाकर।
७.	हृदयराम	सं० १६२३ रचनाकाल	हनुमन्नाटक।
८.	प्राणचन्द चौहान	सं० १६६७ आवि० काल	रामायण महानाटक।
९.	बलदास	सं० १६८७ आवि० काल	चित्रावबोधन।
१०.	लालदास	सं० १७०० आवि० काल	अवधविलास।

रामभक्ति-शाखा के इन कवियों को दो धाराओं में विभक्त करके चला जा सकता है। एक धारा को मर्यादा और आदर्श का पालन करने के कारण हम आदर्शवादी धारा कह सकते हैं, दूसरी को कृष्णभक्ति की मधुरोपासना के मेल में होने के कारण मधुर धारा कह सकते हैं। इन दोनों धाराओं से उपर्युक्त कवियों का सम्बन्ध इस प्रकार निर्धारित होता है :

आदर्शवादी धारा	**मधुर धारा**
तुलसीदास	अग्रदास
मुनिलाल	नाभादास
केशवदास	लालदास
सेनापति	
हृदयराम	
प्राणचन्द चौहान	
बलदास	

इन दोनों धाराओं में पाँच नाम ही रस-परिकल्पना की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—तुलसीदास, केशवदास, सेनापति आदर्शवादी धारा में, और अग्रदास, नाभादास मधुर धारा में। मुनिलाल का 'रामप्रकाश' उपलब्ध नहीं है। रचना सामान्य कही जाती है। हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' संस्कृत के इसी नाम के नाटक पर लिखा हुआ कवित्त-सवैयों में एक सामान्य ग्रन्थ है। उसमें तुलसी की भावनाओं का ही आदर्श सामने है। रस-परिपाक न नाटक के नाते, और न ही काव्य के नाते बहुत अच्छा हुआ है। प्राणचन्द चौहान का 'रामायण-महानाटक' भी अत्यन्त सामान्य कोटि की रचना है। ये रचनाएं वस्तुतः नाटक नहीं हैं। नाटक के नाम पर इनमें केवल संवाद-तत्त्व है। रस-परिकल्पना भी उल्लेखनीय नहीं है। बलदास का 'चित्रावबोधन' तो ब्रह्म-सृष्टि-साधन पर एक विचार-प्रधान एवं योग-साधन-परक अत्यन्त साधारण कोटि की रचना है, जिसमें रस-परिकल्पना का अवकाश तिरोहित-प्राय है। लालदास का 'अवध-विलास' मधुरोपासना की सामान्य रचना है। इस प्रकार रस-परिकल्पना के अध्ययन के लिए प्रथम धारा के तीन और द्वितीय धारा के दो कवि ही उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण-भक्ति में हिन्दी-काव्य की दृष्टि से केवल पाँच सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं—निम्बार्क सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय और राधावल्लभीय सम्प्रदाय। माध्व सम्प्रदाय के भक्त प्रायः गौडीयों में या अन्य सम्प्रदाय के कवियों में घुल-मिल गये हैं। यद्यपि हरिदासी सम्प्रदाय निम्बार्क सम्प्रदाय का ही एक विकसित रूप है, किन्तु रस-कल्पना की

दृष्टि से उसके साहित्य पर अलग से ही विचार करना उपयुक्त है। वस्तुतः रस-दृष्टि की विशेषता के कारण ही तो हरिदासी सम्प्रदाय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है। काल-क्रम की दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय प्रथम आता है, मात्रा और महत्त्व की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय। मात्रा की दृष्टि से चैतन्य सम्प्रदाय का हिन्दी साहित्य अधिक नहीं है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हमारे आलोच्य काल में निम्न प्रमुख कवियों के नाम आते हैं :

१. श्रीभट्टजी, २. श्रीहरिव्यासजी, ३. श्रीपरशुरामदेवजी,
४. श्रीरूपरसिकदेवजी, ५. श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी।

'निम्बार्क-माधुरी' में इनका समय एवं रचनाएं इस प्रकार हैं :

श्रीभट्टजी	कविताकाल सं० १३५०-१४५०	श्रीयुगलशतक
श्रीहरिव्यासदेवजी	जन्म सं० १३२०	महावाणी
श्रीपरशुरामदेवजी	सोलहवीं शती	परशुरामसागर
श्रीरूपरसिकदेवजी	सोलहवीं शती	१. श्रीहरिव्यासयशामृत २. श्रावृहदुत्सवमणिमाल ३. श्रीनित्यविहारपदावली
श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी	सोलहवीं-सत्रहवीं शती	वाणी-संग्रह

इस प्रकार साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासजी का स्थिति-काल चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती है। किन्तु यह मान्यता समालोचक विद्वानों को मान्य नहीं है। 'ब्रज-माधुरीसार' में तथा आचार्य शुक्ल के इतिहास में श्रीभट्टजी का समय जन्म सं० १५९५ दिया गया है, तथा कविताकाल १६२५। इन आचार्यों की परस्पर गुरु-शिष्य परम्परा पर दृष्टि रखते हुए भी यही समय उचित प्रतीत होता है। इनमें गुरु-शिष्य क्रम इस प्रकार है :

श्रीभट्टजी
|
श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी
|
श्रीपरशुरामजी — श्रीरूपरसिकदेवजी — श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी

श्रीपरशुरामदेवजी तथा तत्त्ववेत्ताचार्यजी का समय सोलहवीं-सत्रहवीं शती के साथ सम्बद्ध किया गया है, तब उनके दो पीढ़ी पूर्व के श्रीभट्टजी को चौदहवीं शती में कैसे रखा जा सकता है, और भट्टजी के शिष्य श्रीहरिव्यासजी को तो स्वयं गुरु से भी प्राचीन कहा गया है। अतः श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासजी का सम्बन्ध भी सोलहवीं शती से ही उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार ये सभी लोग हमारे आलोच्य काल की परिधि में ही आते हैं।

श्रीहरिदासजी की परम्परा में अनेक भक्त कवियों ने जन्म लिया है। जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में सूर आदि आठ अष्ट-छापी भक्त प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय में अष्ट आचार्य। इनके नाम और समय इस प्रकार हैं :

१. श्रीविट्ठलविपुलदेवजी	पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती	४० पद
२. श्रीविहारिनदेवजी	सं० १५६१-१६५९	७०० साखियां, २०० पद
३. श्रीनागरीदासजी	सं० १६००-१६७०	२० साखियां, ७० पद

४. सरसदासजी	सं० १६११-१६८३	कुछ कवित्त, सवैये और पद
५. नरहरिदासजी	सं० १६४०-१७४१	कुछ पद और दोहे
६. श्रीरसिकदेवजी	सं० १६९२-१७५८	११ ग्रन्थ
७. ललितकिशोरीदासजी	सं० १७३३-१८२३	फुटकल वाणी
८. ललितमोहिनीदासजी	सं० १८२३-१८५८	फुटकल वाणी

इनमें से हमारे आलोच्य काल में केवल ये ही आते हैं—श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, श्रीविहारिनदेवजी, श्रीनागरीदासजी, श्रीसरसदासजी, श्रीनरहरिदासजी तथा श्रीरसिकदेवजी। इनके अतिरिक्त श्रीहरिराम व्यास के छोटे पुत्र और स्वामी हरिदासजी के शिष्य श्रीकिशोरीदासजी; श्रीनागरीदासजी के शिष्य श्रीकृष्णदासजी, श्रीनागरीदासजी के ही भतीजे और शिष्य श्रीनवलसखीजी, श्रीरसिकदेवजी के शिष्य श्रीरूपसखीजी भी इन्हीं शताब्दियों के भक्त हैं। परवर्ती काल में हरिदासी भक्तों की परम्परा में ये नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—श्रीरूपरसिकजी के शिष्य श्रीपीताम्बरदासजी (जन्म सं० १७३४), श्रीपीताम्बरजी के शिष्य श्रीकिशोरदासजी (अनुमानतः १७७०), श्रीललितमोहिनीदासजी के शिष्य श्रीभगवतरसिकजी (अनुमानतः १७९५), श्रीसीतलदासजी (उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध), श्रीसहचरिशरणजी (सं० १८३०)। हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तों के समय भी अन्य सम्प्रदाय के भक्तों के समान प्रायः विवादास्पद हैं। ऊपर के समय प्रायः श्रीकिशोरदास के 'निजमतसिद्धान्त' के आधार पर निर्धारित किये हुए हैं। स्वयं स्वामी हरिदासजी के समय के सम्बन्ध में आज भारी विवाद है। उनके अनुयायी ही स्वयं आज दो वर्गों में विभाजित हैं। विरक्त सन्तों की परम्परा उनका समय 'निजमतसिद्धान्त' के अनुसार सं० १५३७ भाद्रपद शु० ८, बुधवार—सं० १६३२ आश्विन शु० १५ मानती है। दूसरी गृहस्थ गोस्वामियों की परम्परा जो अपने को स्वामीजी का वंशज कहती है, उनका समय सं० १५६९-१६६४ मानती है। 'सिद्धान्त-रत्नाकर' की भूमिका में प्रो० गोविन्द शर्मा ने विरक्त परम्परा द्वारा मान्य समय को ही तर्कसम्मत स्वीकार किया है। स्वामीजी के समय के अनिश्चित होने से विट्ठलविपुलदेव आदि के समय भी विवादास्पद हो जाते हैं, किन्तु इन विवादों से हमारे विषय पर कोई बहुत बड़ा प्रभाव नहीं पड़ता। स्वामी हरिदासजी की रचनाओं में 'सिद्धान्त के पद' और 'केलिमाल' हैं। सिद्धान्त के १८ पद हैं, केलिमाल में १०८ या ११० पद। दोनों ही प्रकाशित हो चुके हैं।[1]

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की छाया में विशाल ब्रज-भाषा साहित्य की सृष्टि हुई है, जिसमें से बहुत बड़ा भाग अप्राप्य होता जा रहा है, तथा बहुत बड़ा भाग साम्प्रदायिक अधिकारियों के अधिकार में अप्रकाशित पड़ा है। थोड़ी-सी कृतियां प्रकाशित भी हो चुकी हैं। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस साहित्य का एक वैज्ञानिक शोधपूर्ण अध्ययन 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' के नाम से प्रस्तुत किया है। श्रीललिताचरण गोस्वामी कृत 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' नामक एक परिचयात्मक एवं समीक्षात्मक ग्रंथ 'वेणु प्रकाशन, वृन्दावन' से प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार इस साहित्य के अनुशीलन और अध्ययन की ओर विद्वानों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। श्री गोस्वामी ने राधावल्लभीय सम्प्रदाय के साहित्य को

---

१. श्रीकिशोरदास कृत निजमतसिद्धान्त, श्रीविहारीशरणजी-सम्पादित निम्बार्कमाधुरी, श्रीविश्वेशशरण-सम्पादित सिद्धान्तसार की श्री गोविन्द शर्मा की भूमिका तथा श्रीप्रभुदयाल मीतल की 'स्वामी हरिदासजी : जीवनी और वाणी' तथा अष्टाचार्यों एवं भक्त कवियों की जीवनी और रचनाएं आदि ग्रन्थों के आधार पर।

निम्न कालों में विभाजित करके रखा है :

१. श्रीहितहरिवंश काल सं० १५९० से १६५० तक।
२. श्रीध्रुवदास काल सं० १६५० से १७७५ तक।
३. श्रीहितरूपलाल काल सं० १७७५ से १८७५ तक।
४. अर्वाचीन काल सं० १८७५—

इन कालों के प्रमुख भक्त कवि उनके अनुसार निम्न हैं :

१. श्रीहितहरिवंशजी, श्रीहरिराम व्यास, नागरीदास, लाल स्वामी, श्रीकृष्णचन्द्र गोस्वामी, श्रीदामोदरदास 'सेवकजी', स्वामी चतुर्भुजदासजी।

२. श्रीध्रुवदासजी, श्रीदामोदर स्वामी, सहचरि सुखजी, श्रीकल्याण पुजारीजी, श्रीरसिकदासजी, हित अनूपजी, श्रीअनन्यअलीजी, श्रीकृष्णदासजी भावुक, श्रीसदानन्द गोस्वामी, श्रीदामोदरचन्द्र गोस्वामी, श्रीकमलनयन गोस्वामी, श्रीसुखलाल गोस्वामी, श्रीगुलाबलाल गोस्वामी, श्रीरसिकलाल गोस्वामी, श्रीजोरीलाल गोस्वामी, श्रीव्रजलाल गोस्वामी, श्रीगोविन्द-लाल गोस्वामी, श्रीहरिलाल गोस्वामी, श्रीसेवा सखी, श्रीचन्द्र सखी, श्रीअतिवल्लभजी, श्रीमोहनमत्तजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीमुकुन्दलाल गोस्वामी, श्रीकुंजलाल गोस्वामी।

३. श्रीहित रूपलालजी, चाचा हित वृन्दावनदासजी, श्रीचन्द्रलाल गोस्वामी, श्रीप्रेमदासजी, श्रीलाड़िलीदासजी, श्रीव्रजजीवनजी, श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी, श्रीरसिकानन्द-लाल गोस्वामी, वृन्दावनदासजी, रतनदासजी, प्रियादासजी, मीठाजी, भजनदासजी, श्रीचतुर शिरोमणिलाल गोस्वामी, श्रीसर्वसुखदासजी, श्रीरंगीलाल गोस्वामी।

४. श्रीभोलानाथजी हितभोरी आदि।

इनमें से सोलहवीं-सत्रहवीं शती से सम्बद्ध विशिष्ट व्यक्तित्व से युक्त वाणीकार निम्न हैं। इनके समयों के सम्बन्ध में प्रायः निश्चित सूचनाएं नहीं उपलब्ध होतीं। डॉ० स्नातक ने अन्तः-साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर इनके जो समय निर्धारित किये हैं, उन्हें यहां दिया जा रहा है :

१. श्रीहितहरिवंशजी	सं० १५५९-१६०९	संस्कृत—राधासुधानिधि, यमुनाष्टक। हिन्दी—हितचौरासी, स्फुट वाणी।
२. श्रीदामोदरदास 'सेवकजी'	सं० १५७७?-१६१०	सेवकवाणी।
३. श्रीहरिराम व्यास	सं० १५४९-१६५०	व्यासवाणी—७५८ पद, १४८ दोहे। रागमाला—संगीतशास्त्र सम्बन्धित
४. श्रीचतुर्भुजदास	सं० १५८५-१६९०	द्वादशयश फुटकल पद
५. श्रीध्रुवदास	सं० १६३०-१७००	ब्यालीसलीला
६. श्रीनेही नागरीदास	सं० १५९०-सत्रहवीं शती मध्य	सिद्धान्त दोहावली—९३५ दोहे। पदावली—१०२ पद। रस पदावली—२३२ पद।
७. श्रीकल्याणपुजारीजी	सं० १६००—	फुटकल वाणी—२०० पद।

इन कवियों की पूरी रचनाएं अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

श्रीचैतन्य सम्प्रदाय का साहित्य

चैतन्य सम्प्रदाय का ब्रजभाषा का साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है। साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में बहुत थोड़े ही कवियों के नामों के सामान्य उल्लेख मिलते हैं। हम पीछे कह चुके हैं कि अभी बाबा कृष्णदास ने कतिपय कवियों की वाणियां प्रकाशित करायी हैं, और श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' नामक एक ग्रन्थ बाबा कृष्णदास की सामग्री का उपयोग करते हुए तथा अन्य उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने कोई सौ से ऊपर चैतन्य मतानुयायी हिन्दी कवियों का परिचय प्रस्तुत किया है। प्रायः सभी कवियों का समय विवादास्पद है। श्रीमीतल ने प्रायः सभी का समय विभिन्न तथ्यों और प्रसंगों को ध्यान में रखकर निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनका प्रयास स्तुत्य है, भले ही परवर्ती शोध इन निर्णयों में कुछ परिवर्तन करे। हम यहां इसी सामग्री के आधार पर चैतन्य सम्प्रदाय के ब्रजभाषा कवियों की तालिका इस रूप में रख सकते हैं—

सोलहवीं-सत्रहवीं शती के कवि और उनका साहित्य

१. माधवनाथ जगन्नाथी	सं० १५४०—	इतिहास कथा-सार खंडित अंश नारायनलीला जगन्नाथ माहात्म्य ग्वालिन झगरौ मदालसा आख्यान परतीति परीच्छा एक हस्तलिखित प्रति में अन्य ७ लघु रचनाएं।	इनका प्रारम्भिक सम्बन्ध माध्व सम्प्रदाय से माना गया है।
२. आनन्दघन	सं० १५५०-१६००	कतिपय पद	
३. श्रीरामराय	सं० १५४०-१६२५	आदिवाणी गीतगोविन्द भाषा	इन्हें वल्लभ और चैतन्य दोनों सम्प्रदायों से सम्बद्ध माना गया है।
४. श्रीसूरदास मनमोहन	सं० १५७०—	दशमस्कन्ध अनुवाद ? स्फुट पद	
५. गदाधर भट्ट	सं० १५८०—	स्फुट पद लगभग १००	
६. चन्द्र गोपाल	सं० १५७२—	चन्द्र चौरासी अष्टयाम-सेवासुधा गौरांग-अष्टयाम ऋतु-विहार राधा-विरह	
७-१८. रामरायजी के १२ शिष्य—			
भगवानदास		इधर-उधर बिखरे लगभग १०० पद	

गरीबदास	श्रृंगारशतक, आनन्दशतक, वृन्दावनशतक
विष्णुदास	वैराग्यविज्ञान
जुगलदास	भक्तियोग
राधिकानाथ	महावाणी, प्रेमसंपुट, राधासुधानिधि, रसबिन्दु
किशोरीदास	कामकलेवर
केशवदास	गुरुपूर्णिमा, वैष्णवभेद, भक्तिवर्धिनी, लोक-दीपिका, क्रोधक्रूरता, तत्त्वत्रयी
मनोहरदास	
लाखादास	श्रीवृन्दावनकल्पद्रुम
मधुसूदनदास	सत्संगपचीसी, प्रेमदर्शन
हरिदास पटेल	
तीर्थराम	द्रव्यदोष, त्याग-तरणी, श्रीहरिलीला, श्रीरसिकाचार्य-चर्चा, ब्रजवास।

इनमें भगवानदास और राधिकानाथ ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन सबका समय सोलहवीं शती का उत्तरार्ध और सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध है।

१९. रसिकमोहनराय	सत्रहवीं शती पूर्वार्द्ध	रसिक-सेवक वाणी
२०. नारायणदास	१६००—	एक पद
२१. नागरीदास ?		
२२. नाथ भट्ट		एक सवैया
२३. हरिदास	१६१०-१६८०	युगल रस बोधिका
२४. माधव मुदित	१६२५—	
२५. माधुरी	१६५०-१७१५	संकलन—'श्रीमाधुरी वाणी'
२६. कृष्णदास	१६४०-१७००	श्रीगोरनाम रस चंपू लघुगोपाल चम्पू भाषा
२७. भगवत मुदित	१६५०-१७२०	वृन्दावनशतक-टीका इनका सम्बन्ध हित चरित्र राधावल्लभीय सेवक चरित्र सम्प्रदाय से भी रसिक अनन्य माल जोड़ा जाता है।

अठारहवीं शती तथा परवर्ती युग के कवि

सत्रहवीं शती के अनन्तर रचना करने वाले चैतन्य सम्प्रदाय के निम्न कवियों को 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' में सम्मिलित किया गया है :

२८. किशोरदास गोस्वामी, २९. किशोरीदास, ३०. गौरगणदास, ३१. वल्लभ रसिक, ३२. गोपाल भट्ट, ३३. तुलसीदास, ३४. मनोहर राय, ३५. जगन्नाथ, ३६. प्रियादास, ३७. चैनराय, ३८. वृन्दावनचन्द्र, ३९. दामोदरदास, ४०. सुबलश्याम, ४१. साधुचरण, ४२. वैष्णवदास

रसजानि, ४३. राधिकादास, ४४. गुणमंजरी, ४५. वृन्दावनदास, ४६. नीलसखी, ४७. रामहरि, ४८. रामकृपा, ४९. दक्षसखी, ५०. ललितासखी, ५१. गोकुलदास, ५२. ब्रह्मगोपाल, ५३. सदानन्द, ५४. हरिवल्लभ, ५५. चतुर शिरोमणि, ५६. जनदयाल, ५७. श्रीलाल, ५८. लाड़िलीदास, ५९. कल्याणराय, ६०. गोविन्दचरण, ६१. गौरकृष्ण, ६२. गोपालदास, ६३. हरिदेव, ६४. नन्दकिशोर, ६५. ब्रजकिशोर, ६६. कृष्ण चैतन्य, ६७. ललित किशोरी, ६८. गल्लूजी, ६९. ललितमाधुरी, ७०. ललित लड़ैती, ७१. हरिचरण, ७२. राधाचरण, ७३. छीतरमल, ७४. राधालाल, ७५. वासुदेव, ७६. शोभनलाल, ७७. बलवंतराय सिंधे, ७८. पन्नालाल, ७९. मधुसूदन गोस्वामी, ८०. राधाचरण गोस्वामी, ८१. लाल बलवीर, ८२. मनोहरदास, ८३. जगन्नाथदास रत्नाकर, ८४. बनमालीलाल, ८५. कृष्णचरण, ८६. यज्ञदत्त, ८७. प्रियतमलाल, ८८. लालमणि, ८९. बांकेपिया, ९०. बालकृष्ण, ९१. कृष्णनंददास, ९२. दामोदराचार्य, ९३. कृष्णचैतन्य, ९४. ब्रजरत्नदास, ९५. स्वरूपकृष्ण, ९६. ब्रजभूषणदास, ९७. गौरचरण, ९८. पियाचरणदास, ९९. यमसनावल्लभ, १००. कृष्णदास बाबा, १०१. मोहिनीदेवी, १०२. रामदास, १०३. अतुलकृष्ण ।

इनके अतिरिक्त १९ प्राचीन नवीन कवियों का अन्त में और उल्लेख किया गया है । इन सूचियों में कई नाम चर्चा भर के लिए सम्मिलित कर लिए गये हैं । कई की साम्प्रदायिक स्थिति विवादास्पद है । कई रूढ़ साम्प्रदायिक न होने के कारण एकाधिक सम्प्रदायों से भी सम्बद्ध हैं । कुछ लोग अन्य सम्प्रदायों के भी हो सकते हैं । वस्तुतः यह ग्रन्थ परिचयात्मक है, अभी इस क्षेत्र में वैज्ञानिक शोधपूर्ण कार्य होकर निर्णीत मान्यताएं स्थापित होनी शेष हैं । हमारा सम्बन्ध इस कठिनाई से सीधा नहीं है । हम मोटे रूप में इस साहित्य को आधार बनाकर इसकी रस-परिकल्पना का अध्ययन करने का उद्देश्य लेकर चले हैं, अतः व्यष्टि-रूप में इस साहित्य के काल-निर्णय आदि के प्रश्न हम से कुछ दूर पड़ते हैं । मोटे तौर पर अपने आलोच्य काल के साम्प्रदायिक कवियों को हम स्वीकार करके चले हैं ।

यों तो चैतन्य सम्प्रदाय के हमारे आलोच्य काल में २७ नामों का उल्लेख पीछे हुआ है, किन्तु उनमें सभी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । विशेष उल्लेखनीय नाम हैं—माधवनाथ जगन्नाथी, रामराय, सूरदास मदनमोहन, गदाधर भट्ट, चन्द्रगोपाल, भगवानदास, राधिकानाथ, रसिकमोहनराय, माधुरी, कृष्णदास और श्रीभगवत मुदित । माधवनाथ जगन्नाथी, रामराय, भगवतमुदित आदि को अन्य सम्प्रदायों से सम्बद्ध भी समझा जाता है । यह तथ्य इस बात का संकेत देता है कि गौडीय भक्तों ने रूढ़ साम्प्रदायिक सीमाओं को इन शताब्दियों में स्वीकार नहीं किया । चैतन्य महाप्रभु की भाव-मधुरता ने व्यापक रूप में कृष्णोपासकों को प्रभावित किया था । इस सम्प्रदाय की यह विशेषता रही है कि इसके अनुयायियों ने चिन्तन के लिए संस्कृत का ही क्षेत्र मुख्यतः चुना है । जन-भाषा को प्रायः भाव-धारा में बहने-बहाने के लिए ही रखा है । हिन्दी में अभिव्यक्ति कम ही हुई है ।

कृष्ण-भक्ति साहित्य में वल्लभ-सम्प्रदायी काव्य का अपना स्थान है । यों इस सम्प्रदाय में अन्य भी कुछ कवि हुए हैं । किन्तु इसके प्रमुख स्तम्भ कवि वे ही हैं जिन्हें हम अष्टछापी कवि के नाम से जानते हैं । इन कवियों का समय और प्रामाणिक साहित्य डॉ० दीनदयालु गुप्त के अनुसार 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १' में इस प्रकार निर्धारित किया गया है :

१. सूरदास	सं० १५३५—१६३९	सूरसागर, साहित्य-लहरी, सूर-सारावली
२. परमानन्ददास	सं० १५५०—१६४०	परमानन्द-सागर

३. कुंभनदास	सं० १५२५—१६३९	पद-संग्रह
४. कृष्णदास	सं० १५५२—१६३२	पद-संग्रह—अप्रकाशित
५. नन्ददास	सं० १५९०—१६३९	रस-मंजरी, अनेकार्थमंजरी, मान-मंजरी, दशम स्कन्ध, श्यामसगाई, गोवर्द्धनलीला, सुदामा-चरित्र, विरह-मंजरी, रूप-मंजरी, रुक्मिणीमंगल, रास-पंचाध्यायी, भंवर-गीत, सिद्धान्त-पंचाध्यायी, पदावली।
६. चतुर्भजदास	सं० १५९७—१६४२	पद-संग्रह
७. गोविन्दस्वामी	सं० १५६२—१६४२	पद-संग्रह
८. छीत-स्वामी	सं० १५६७—१६४२	पद-संग्रह

इन सम्प्रदाय-निष्ठ कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी हैं जिन्हें या तो किसी विशेष सम्प्रदाय से आबद्ध नहीं किया जा सकता, अथवा जिनमें एक से अधिक सम्प्रदायों के प्रति आस्था मिलती है। वस्तुतः ऐसे कवि सम्प्रदायों के सीमित दायरे में बंधकर कृष्ण-भक्ति के मधुर क्षेत्र में प्रवृत्त नहीं हुए, अपितु एक भक्त एवं भावुक होने के नाते अपने युग में प्रचलित इस भाव-साधना के क्षेत्र में आये। मीरांबाई, छीहल, कृपाराम, नरोत्तमदास, निपट निरंजन, लक्ष्मीनारायण, बलभद्र मिश्र, गणेश मिश्र, कादिर, मोहन, मुबारक, बनारसीदास, रसखान, व्रजभार दीक्षित, अहमद, भीष्म आदि अनेक नाम इस कोटि के भक्त कवियों के लिये जा सकते हैं।[1] ये नाम सामान्य कोटि के हैं। इनमें दो-तीन नाम ही उल्लेखनीय हैं—मीरांबाई, नरोत्तमदास और रसखान। नरोत्तमदासजी का एक 'सुदामाचरित' मिलता है, जो भावुकता और रसात्मकता की दृष्टि से सुन्दर रचना है। उसमें भक्ति से काव्य का परिपाक अधिक उभरा हुआ है। इस शोध-प्रबन्ध में रस-परिकल्पना के अध्ययन के लिए इन सभी कवियों को लेना सम्भव भी नहीं है और इनकी रस-कल्पना कोई अलग स्थान भी नहीं रखती। हम इन भक्त कवियों में से अत्यन्त उल्लेखनीय एवं अपरिहार्य दो नाम रस-परिकल्पना के लिए पाते हैं—मीरांबाई और रसखान के। अतः उपर्युक्त साम्प्रदायिक कृष्ण-साहित्य की रस-परिकल्पना के अध्ययन के साथ इन दो भक्त भावुकों की रस-कल्पना भी हमारे अध्ययन का विषय बनी है।

आलोच्य-साहित्य-गत रस-परिकल्पना की पृष्ठभूमि

काव्यशास्त्रीय, भक्ति-दर्शन-सम्बन्धी, भक्ति-काव्यशास्त्रीय : प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी आलोच्य-कालीन हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन करना अभीष्ट है। इसकी रस-परिकल्पना के अध्ययन के लिए हमें दो ओर को दृष्टि डालना अनिवार्य है—एक तो संस्कृत-काव्यशास्त्र की ओर, दूसरे वैष्णव-दर्शनों की ओर जिन्हें हम भक्ति-दर्शन कह सकते हैं। इस वैष्णव-काव्य में परिकल्पित रस वही नहीं है जिसका विवेचन काव्यशास्त्र किया करता है और जो सामान्य रसात्मक साहित्य में उपलब्ध होता है। इस काव्य में वह शाश्वत रस कवियों ने समाहित किया है जो वैष्णव-दर्शनों का प्रतिपाद्य है, भक्तों के साधनामय जीवन का परम उपेय है। केवल काव्यशास्त्र की आंख से देखने पर वैष्णव-रस का न तो अध्ययन ही हो

१. डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के आधार पर।

सकता है, न इस साहित्य के साथ न्याय ही हो सकता है। वैष्णव कवियों ने अपने काव्य में उसी रस को वाणी दी है जिसका स्वरूप उनके अभिमत साम्प्रदायिक आचार्यों ने उन्हें समझाया है, अथवा विभिन्न भक्ति-ग्रन्थों में जिसका प्रतिपादन किया गया है।

वैष्णव-रस एक शब्द में 'भक्ति-रस' है। किन्तु यह वह भक्तिरस है जिस तक केवल काव्य-रसिक की गति नहीं हो सकती। इस काव्य में उस नित्य लीलापुरुष का परिगायन है जो स्वयं रसमय है, जिसकी लीला रसमय है, और वह काव्य भी रसमय है जिसमें उसकी लीलाओं एवं चरितों का परिगायन है। अतः इस रस की परिकल्पना को इसके स्रष्टा कवि की मूल चेतना से समझने के लिए हमें विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक दृष्टि से रस-तत्त्व को समझना अनिवार्य है। क्योंकि इस वैष्णव-काव्य का निर्माण एक-न-एक सम्प्रदाय की छाया में ही प्रमुखतया हुआ है। दूसरी ओर यह वैष्णव काव्य कोरा भक्ति-साहित्य ही नहीं एक उच्च कोटि का काव्य भी है। इसमें मानव मन के अनुभूत एवं चिर-अभ्यस्त भाव-संस्कारों के उदात्तीकरण की ही साधना है। अतः काव्य-रसिक के आस्वादन के लिए भी इसमें पूरा-पूरा अवकाश है। अतः एक तो काव्य-रसिक के प्राप्य रस-तत्त्व को समझने के लिए, दूसरे इस काव्य में निहित रस-परिकल्पना को ठीक से समझने के लिए कि इसमें वस्तुतः कौन-सा रस-तत्त्व निहित है और कौन-सा रस काव्य के सामान्य सहृदय को मिलता है, यह आवश्यक हो जाता है कि पृष्ठभूमि के रूप में दोनों दिशाओं का अध्ययन किया जाय—काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी, और भक्ति-साहित्य की दृष्टि से भी।

वैष्णव-काव्य में काव्य होने के नाते चाहे दर्शन खुला हुआ न हो, किन्तु इसकी रस-परिकल्पना की मूल चेतना उन विभिन्न वैष्णव दर्शनों में निहित है जिनका प्रतिपादन विविध साम्प्रदायिक आचार्यों ने किया था। इस दार्शनिक अध्ययन के सन्तुलन के लिए काव्यशास्त्र प्रतिपादित रस का अध्ययन भी दार्शनिक दृष्टि से करने पर ही वैष्णव रस-परिकल्पना का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकेगा। रस-परिकल्पना के निर्माण-पक्ष के स्पष्टीकरण के लिए यदि वैष्णव-दर्शनों की दृष्टि से रस-तत्त्व का अध्ययन आवश्यक है, तो एक काव्य-सहृदय की इस काव्य में होने वाली अनुभूति को समझने के लिए रस-तत्त्व का निरूपण काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी आवश्यक है।

इसके साथ ही पृष्ठभूमि-रूप में एक ओर का अध्ययन और अपेक्षित है। चैतन्य-सम्प्रदायी आचार्य रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी ने श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि के रूप में काव्यशास्त्रीय उपलब्धियों का प्रयोग करते हुए जो सुन्दर भक्ति-रस-निरूपण प्रस्तुत किया है, वह भी वैष्णव-रस के किसी भी रसात्मक शास्त्रीय अध्ययन के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है। अतः वैष्णव-रस की परिकल्पना के अध्ययन के लिए पृष्ठभूमि-रूप अध्ययन की निम्न तीन दिशाएं बंधती हैं :

१. संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित रस-तत्त्व का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन।

२. वैष्णवीय भक्ति-दर्शनों की दृष्टि से रस-तत्त्व का स्वरूप समझना।

३. गोस्वामी आचार्यों की उपलब्धियों का अध्ययन।

इन्हीं तीनों दिशाओं की वैष्णव-रस की पृष्ठभूमि को हम काव्यशास्त्रीय, भक्ति-दर्शन-सम्बन्धी तथा भक्ति-काव्यशास्त्रीय—नाम देकर चले हैं। बिना इनके सुचारु अध्ययन के वैष्णव-रस को समझना कठिन है। विषय पर हुआ अध्ययन इस समन्वित दृष्टिकोण से ही सफल हो सकता है। प्रबन्ध में यही दृष्टि प्रमुख रही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की योजना

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की योजना के विषय में कुछ बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। इस प्रबन्ध में सब मिलाकर सात अध्याय हैं, जिनमें अध्ययन की दिशा, विवेच्य विषय एवं निरूपण उसी रूप में रखा गया है जिस रूप में इस विषय की रूपरेखा विषय-स्वीकृति के समय आगरा विश्वविद्यालय की 'विद्वत्परिषत्' ने स्वीकार की थी।

उसी स्वीकृत रूपरेखा के अनुरूप अन्तिम उपसंहार का अध्याय है, और शेष ६ अध्यायों में उसका अध्ययन।

प्रारम्भ के दो अध्यायों में रस-स्वरूप को काव्यशास्त्र और वैष्णव-दर्शनों की दृष्टि से अलग-अलग समझने का प्रयास है। दोनों अध्ययनों को तुलनात्मक बनाने के लिए प्रथम अध्याय के काव्यशास्त्रीय अध्ययन को भी दार्शनिक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया गया है। तीसरा अध्याय 'भक्तिकाव्य-शास्त्र में रस' है तो द्वितीय अध्याय का ही एक सहगामी, किन्तु उसे वास्तव में दोनों दृष्टियों का मिलन-बिन्दु समझना चाहिए। इस प्रकार तीन अध्यायों में वैष्णव-रस की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का प्रयास है, उसको समझने और आस्वादन करने की दिशाओं का स्पष्टीकरण है। वैष्णव-काव्य में कौन-सा रस-तत्त्व निहित है, यह द्वितीय अध्याय का दार्शनिक निरूपण बताता है, काव्य-सामाजिक के द्वारा अनुभूत रस-तत्त्व को संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्य किस रूप में समझाते हैं, इसका निरूपण भी विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में है। इस प्रकार इन तीन अध्यायों में वैष्णव-रस की परिकल्पना के लिए अनिवार्य पृष्ठभूमि-रूप अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

एक चौथा अध्याय स्वयं वैष्णव-कवियों की आचार्य-चेतनाओं में रस का स्वरूप निरूपित करता है। ये भक्त-कवि अपने काव्य में किस रस-तत्त्व को भरना चाहते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में निरूपित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही जहां सम्भव हो सका है, उनकी दृष्टियों का काव्यशास्त्रीय रस के मेल में रखकर भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार चतुर्थ अध्याय के द्वारा वैष्णव-रस की रस-परिकल्पना के निर्मातृ-पक्ष का ही अध्ययन पूर्ण किया गया है।

पाँचवें तथा छठे दो अध्यायों में क्रमशः कृष्णभक्ति-काव्य में तथा रामभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन सम्प्रदायों एवं धाराओं में कवियों को वर्गीकृत करके किया गया है। हमारे आलोच्य काल के वैष्णव कवि प्रायः एक धारा-बद्ध रस-दृष्टि लेकर चलते हैं। अतः उनकी रस-परिकल्पना के अध्ययन में किसी कवि-विशेष का प्रश्न कम ही रह जाता है। फिर भी अनेक कवियों के व्यक्तित्व अपने में महिमापूर्ण हैं। उनके व्यक्तित्व की छाप अलग से झलकती है। ऐसे महाकवियों की रस-परिकल्पना पर प्रासंगिक रूप से उन-उन सम्प्रदायों की रस-परिकल्पना का अध्ययन करते हुए ही विशिष्ट प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

स्वीकृत रूपरेखा के अनुसार रस-परिकल्पना का व्यावहारिक अध्ययन दो अध्यायों में ही सीमित किया गया है। अतः सामान्य कवियों को छोड़ दिया गया है और तथ्य-निरूपण का प्रयास अधिक किया गया है। प्रत्येक कवि के काव्यों से उद्धरणों को लेकर कलेवर को बढ़ाने का प्रयास प्रायः नहीं किया गया।

यों चार अध्यायों में वैष्णव-रस-परिकल्पना की पृष्ठभूमि और दो में उसके व्यवहृत रूप का अध्ययन अपने में कुछ अटपटा लग सकता है। किन्तु इस शोध-प्रबन्ध में अध्ययन की दिशा जान-बूझकर इसी रूप में रखी गयी है। इस प्रबन्ध का उद्देश्य दो दिशाओं में अध्ययन करना

है—एक तो काव्यशास्त्र में निरूपित रस-स्वरूप का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत करना, दूसरे वैष्णव रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करना। इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में कुछ विस्तार से काव्यशास्त्र-निरूपित रस का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन में अपने पी-एच० डी० के लिए किये गये कार्य 'रस-गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' की उपलब्धियों का उपयोग अवश्य हुआ है, किन्तु यह अध्ययन उससे पर्याप्त आगे बढ़ा हुआ है। इसमें शुद्ध दार्शनिक दृष्टि उभरकर सामने आयी है।

अतः एक ओर काव्यशास्त्र-निरूपित रस के दार्शनिक अध्ययन का उद्देश्य, दूसरी ओर वैष्णव दर्शनों की दृष्टि से रस-तत्त्व के निरूपण का उद्देश्य, साथ ही गोस्वामी आचार्यों की मान्यताओं का पर्यालोचन—यह सब इस प्रबन्ध में अध्ययन करना अभीष्ट था। इसी कारण वैष्णव-काव्य में निहित रस-परिकल्पना के व्यवहृत स्वरूप के अध्ययन के लिए दो ही अध्याय प्रस्तुत प्रबन्ध में रखे गये हैं।

अन्तिम अध्याय में उसी रूपरेखा के अनुसार वैष्णव-काव्य में रस-परिकल्पना पर तुलनात्मक दृष्टिपात तथा इस रस-परिकल्पना के परवर्ती साहित्य में निहित रस-परिकल्पना पर पड़े प्रभाव की रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए निष्कर्ष की ओर आया गया है।

दृष्टिकोण : इस विवेचन से इस शोध-प्रबन्ध के अध्ययन की दिशा और दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है। हम इसीलिए अपने काल-क्षेत्र और दृष्टि-क्षेत्र में सीमित रहने का प्रयास करते रहे हैं, और जो समस्याएं अन्यत्र बहु-अधीत हो चुकी हैं, या जिनका निरूपण-अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक नहीं है, हमने उनसे बचने का प्रयास ही किया है। उदाहरणस्वरूप वैष्णव साहित्य के काल-निर्णय और प्रामाणिकता का प्रश्न है। इस विषय पर बहुत लिखा जाकर भी कुछ पक्ष अब भी अनिर्णीत हैं। हमारे प्रमुख अध्ययन में उन समस्याओं से बिना उलझे भी काम निकल सका है अतः हम उनके विषय में अन्य विद्वानों की उपलब्धियों का उपयोग करते हुए ही आगे बढ़े हैं। यदि हम उन बातों में फंसते तो निश्चय ही अपने उद्देश्य को विश्रृंखल पाते।

वैष्णव-साहित्य के अध्ययन के विषय में एक बहुत भारी कठिनाई यह है कि उसका बहुत बड़ा भाग अप्रकाशित है और उन सम्प्रदायाचार्यों के हाथ में है जो अभी भी उसे प्रकाशित नहीं कर रहे। जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन पर भी शोध तो सन्देह कर ही सकता है कि अमुक ग्रन्थ मौलिक है, प्रामाणिक है या नहीं। जो नव-प्रकाश में लाया हुआ साहित्य है उसके काल और प्रामाणिकता पर इस युग की साम्प्रदायिक रूढ़ दृष्टि को ध्यान में रखते हुए सन्देह अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। पर हमारे पास उसके विश्वास के सिवा तब तक कोई चारा नहीं जब तक वैज्ञानिक आधार पर उसकी परीक्षा न कर ली जाए। इस शोध-प्रबन्ध की वह प्रमुख दिशा न होने के कारण यहां जो भी उपलब्ध साहित्य है उसी पर विचार को आधारित किया गया है। अनेक कवियों की वाणियां सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित स्वतन्त्र ग्रन्थों या संकलित ग्रन्थों से ही लेनी पड़ी हैं।

पर जैसा कि हम अभी इंगित कर चुके हैं, इससे हमारे अध्ययन के निष्कर्षों में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। हम वैष्णव-काव्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन व्यापक दृष्टि से करने चले हैं। यदि कोई कवि समझे हुए काल से दस-बीस साल आगे-पीछे का भी सिद्ध हो, या उसके समझे हुए वचन उसके न होकर उसके सम्प्रदाय के किसी दूसरे व्यक्ति ने भी मिलाये हों, तो भी हमारे अध्ययन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्ततोगत्वा वह वाणी उस सम्प्रदाय की मूल चेतना को, मौलिक रस-परिकल्पना को प्रकाशित करती है, और इसी दृष्टि से हमने उसका

उपयोग किया है। जो ग्रन्थ मौलिक रूप में प्राप्त नहीं हो सके, उनके उद्धरण भी कभी-कभी दूसरे विद्वानों से ग्रहण किये गये हैं। पर सामान्यतः ऐसा बहुत ही कम हुआ है। यथासम्भव हम प्रामाणिक समझी हुई मूल सामग्री पर ही आधारित रहे हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र एवं दर्शन के ग्रन्थों में यह कठिनाई इस रूप में नहीं थी। जिन आचार्यों की जो सामग्री नहीं मिलती, उसके विषय में तो प्रत्येक शोधक मजबूर है। शेष उपलब्ध सामग्री को मौलिक रूप में ही प्रयोग में लाया गया है और प्रमुख आधारभूत ग्रन्थों पर ही अध्ययन को आधारित किया गया है। दूसरों के ऊपर आक्षेप एवं उनके मतों के खण्डन की ओर न जाकर अपने मत के प्रस्थापन और अपने अध्ययन को प्रस्तुत करने का ही प्रयास लेखक का रहा है। वैसे भी, इस दृष्टिकोण से कोई दूसरा अध्ययन न होने के कारण किसी से इस प्रकार टकराने की नौबत भी नहीं आयी।

आभार-प्रदर्शन

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों का हृदय से आभार प्रकट करना चाहता हूं जिनसे साक्षात् रूप में मैंने प्रकाश पाया है, और जिनके अमूल्य ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए मैं अपने कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ हुआ हूं। यहां मैं उन अपने कृपालुओं, शुभचिन्तकों एवं अभिभावकों के नाम न देकर ही उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूं। वे मेरे गुरु-जन एवं गुरुकल्प-जन सदा आराध्य हैं। उनकी कृपा मुझे सदा प्राप्त है।

और, मैं विनीत हृदय से अपने विद्वान् समीक्षकों के समक्ष अपने इस लघु प्रयास को लेकर उपस्थित हो रहा हूं। सफलता का श्रेय परमपिता की अहैतुकी कृपा को ही है।

—प्रेमस्वरूप गुप्त

हिन्दी वैष्णव-साहित्य

में

रस-परिकल्पना

१

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस

स्वरूप-सम्बन्धी विविध मत एवं दृष्टिकोण

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों की अनेक मान्यताएं उपलब्ध होती हैं। उनके विकास का एक अपना इतिहास है। "रस क्या है ?" इस प्रश्न पर विचार आचार्य भरत से बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गया था, यह तथ्य भरत द्वारा उद्धृत किये गये उन वंश-परंपरा से प्राप्त हुए आनुवंश्य श्लोकों पर दृष्टिपात करने से प्रमाणित हो जाता है, जिन्हें आधार बनाकर भरत ने अपना रस-सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक अनेक प्रतिभावान् विद्वानों ने इस समस्या के समाधान प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से कई सर्वथा मौलिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा करते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए रस-चिन्तन पर एक सरसरी दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस का प्रश्न पहले-पहल नाट्य के सन्दर्भ में उठाया गया, फिर कुछ आचार्यों ने उसे काव्य के सन्दर्भ में भी सोचना प्रारम्भ किया। इन आचार्यों में प्रमुखता अलंकारवादी आचार्यों की थी। कई शताब्दियों तक यह प्रश्न दर्शन के परिवेश से दूर ही रहा। धीरे-धीरे उसमें दर्शन का समावेश हुआ। यह कार्य नाट्यशास्त्र के टीकाकारों द्वारा प्रारम्भ हुआ। आठवीं शती से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रश्न एक दर्शन का सा प्रश्न बन गया। यह स्वाभाविक ही था। रस का प्रश्न अनुभूति के या कहिए चेतना के एक विशिष्ट स्तर के विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। अतः बिना दर्शन की सहायता के उसे हल करना कठिन ही था। आज के कतिपय विद्वान् उसे मनोविज्ञान के सहारे सुलझाते हैं। पर भारतीय दृष्टि में मनोविज्ञान भी दर्शन के बाहर की वस्तु नहीं रहा।

आठवीं शती से आगे के रस-चिन्तन पर दर्शन की बहुत गहरी छाप है। सत्य तो यह है कि जब तक किसी रस-चिन्तक आचार्य की दार्शनिक आधार-भूमि का संकेत न मिल जाय तब तक उसका इस विषय में क्या वक्तव्य है, यह जानना भी असम्भव हो जाता है। बिना इन दार्शनिक आधार-भूमियों को पहचाने उनके सम्बन्ध में निकाले निष्कर्ष भी निर्भ्रान्त नहीं हो पाते। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए रस-स्वरूप सम्बन्धी चिन्तन को ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टि से अधिक समझा जाय। इस दृष्टि को प्रमुखता देकर चलने पर यह अनिवार्य नहीं रह जाएगा कि संस्कृत आचार्यों के चिन्तन पर काल-क्रम से ही विचार किया जाए। हमें इस चिन्तन को विभिन्न दर्शनों के अनुरूप वर्गीकृत करना होगा। संस्कृत काव्यशास्त्र के समस्त रस-चिन्तन को हम सामान्यतः दो वर्गों में रखकर चल सकते हैं—एक दर्शन-निरपेक्ष, दूसरे दर्शन-सापेक्ष। दर्शन-सापेक्ष विवेचन में हम उन दर्शनों के आधार पर उपवर्ग बना सकते हैं जिनका विभिन्न चिन्तकों ने रस-स्वरूप का समाधान खोजते समय उपयोग किया है।

यहां एक बात और उल्लेखनीय है। हम यहां संस्कृत काव्यशास्त्र के कुछ प्रमुख आचार्यों की मान्यताओं को ही ले सकेंगे। यों तो संस्कृत काव्यशास्त्र आचार्यों की एक लम्बी परम्परा लिये है। टीका-प्रटीकाओं के रूप में अनेक छोटे-बड़े आचार्यों के विचार रस-विषय पर मिलते हैं। सबमें कुछ न कुछ दृष्टि-भेद भी मिल सकता है। पर उन सब पर विचार करना न तो यहां सम्भव है, और न अभीष्ट ही। अपने प्रबन्ध के उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमारे लिए यही आवश्यक है कि हम उन्हीं आचार्यों के विचारों तक सीमित रहें, जिनके विचार उल्लेखनीय हों या जिनके विचारों का विश्लेषण करके हम कुछ उल्लेखनीय निष्कर्ष निकाल सकें।

इस दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र में हुए रस के स्वरूप-सम्बन्धी निरूपण को निम्न रूप में रखकर हम यहां चलेंगे :

क—दर्शन-निरपेक्ष निरूपण

भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप

भरत-निरूपित रस-स्वरूप

अलंकारवादी आचार्यों द्वारा निरूपित रस-स्वरूप

भामह; दण्डी; उद्भट; रुद्रट

ख—दर्शन-सापेक्ष निरूपण

—लोल्लट का रस-निरूपण और दर्शन का समावेश

१. न्याय-दर्शन और रस

क—बौद्ध न्याय

शंकुक

महिमभट्ट

ख—वैदिक न्याय

आचार्यों द्वारा रस-निरूपण में न्याय का प्रयोग

रसगंगाधरस्थ नवीन मत

२. सांख्य-दर्शन और रस

अभिनवभारती में सांख्यवादी मत

३. मीमांसा-दर्शन और रस

धनिक और धनंजय

४. शैव-दर्शन और रस

द्वैतवादी काश्मीरी शैव-दर्शन——भट्टनायक

अद्वैतवादी काश्मीरी शैव-दर्शन——अभिनवगुप्त, मम्मट

भोज ?

५. वेदान्त-दर्शन और रस

विश्वनाथ

पण्डितराज जगन्नाथ

इस मोटी-सी रूपरेखा को स्वीकार करके हम संस्कृत काव्यशास्त्र में निरूपित रस-स्वरूप का परिचय पा सकते हैं। यहां हमने अति प्रमुख आचार्यों का ही उल्लेख किया है और उन्हें उनकी दार्शनिक चेतना के अनुरूप वर्गीकृत किया है। जिस दर्शन का रस-व्याख्या में प्रभावपूर्ण प्रयोग हुआ है उसी के अन्तर्गत किसी आचार्य को रखा गया है, भले ही उसने एकाधिक

दर्शनों की मान्यताओं का उपयोग किया हो।

निरूपण के इस ढांचे को स्वीकार करते हुए हम आगे बढ़ सकते हैं।

दर्शन-निरपेक्ष रस-निरूपण

आज संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। नाट्यशास्त्र में अनेक प्रकार की पूर्ववर्तिनी मान्यताएं विविध विषयों पर गुंथी हुई मिलती हैं। इन सभी विषयों का केन्द्र है अभिनय। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के ग्रथन के अनुरूप ही रस की समस्या पर विचार भी अभिनय-परक दृष्टि से ही हुआ है। अलंकारवादी आचार्यों के निरूपण में नाट्य की अपेक्षा पठ्य काव्य दृष्टि के सामने हैं। पर उनकी प्रेरणा के मूल स्रोत भरत ही प्रायः रहते हैं।

प्रारम्भिक शताब्दियों के इस रस-स्वरूप में स्थूल व्यावहारिक दृष्टि की प्रधानता है। इसमें दर्शन का संस्पर्श नहीं है। अतः इस काल के अनेक आचार्यों की रस-दृष्टि में पर्याप्त भेद होते हुए भी हम उन सबके विचारों को एक दर्शन-निरपेक्ष वर्ग में रख सकते हैं।

भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप

जैसा कि हम कह चुके हैं, भरत से पूर्व का कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं। तथापि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के छठे-सातवें अध्यायों में अपना रस-भाव विवेचन करते समय अनेक पूर्ववर्तिनी बातें आनुवंश्य श्लोकों के रूप में प्रस्तुत की हैं। ये आनुवंश्य श्लोक आर्या तथा श्लोक वृत्तों में हैं और इनकी संख्या लगभग १३२ है।[1] इन्हें देखने से पता चलता है कि भरत ने किस प्रकार अपनी पूर्ववर्तिनी धारणाओं को ही व्यवस्थित करके अपना रस-स्वरूप निर्धारित किया है। इन आनुवंश्य श्लोकों में हम भरत-पूर्ववर्ती युग की रस-चेतना का एक बहुत स्पष्ट रूप पाते हैं। रस की समस्या से सम्बन्धित अनेक बातों पर इनमें प्रकाश पड़ता है।

रस-स्वरूप के सम्बन्ध में इस सामग्री में निम्न श्लोक उपलब्ध होते हैं :

"यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥" अ० ६, श्लो० ३२-३।
"योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥" अ० ७, श्लो० ७।

भरत ने अपना रस-स्वरूप अपने पूर्व की इसी मान्यता के ऊपर स्थिर किया है। भरत के शब्द इन आनुवंश्य श्लोकों के व्याख्यान भर हैं। अतः भरत-पूर्ववर्ती रस-स्वरूप तथा भरत के रस-स्वरूप को एक ही करके देखा जा सकता है। इन पूर्ववर्ती श्लोकों की व्याख्या भी भरत की दृष्टि को छोड़ किसी अन्य दृष्टि से नहीं की जा सकती। इनकी चेतना के समीप जितने भरत थे उतने परवर्ती आचार्य नहीं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अतः इन पर अलग से विचार करना आवश्यक नहीं। भरत के सम्बन्ध में निकाले गये निष्कर्ष उनके पूर्ववर्ती युग के

---

१ 'रस-सिद्धान्त की भरत-पूर्ववर्ती रूपरेखा', जन-भारती, रस-अंक, संख्या २०१७, वर्ष ८, अंक ४।

विषय में भी समान रूप से समझे जा सकते हैं। जहां अन्तर या विशेषता होगी, हमें देखने का अवसर मिलेगा।

भरत का रस-स्वरूप

आचार्य भरत ने रस का स्वरूप इन शब्दों में निरूपित किया है :

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

को दृष्टान्तः ? अत्राह—यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद् रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।

कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।"[1]

भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के साथ स्थायी भावों का संयोग होने पर रस निष्पन्न होता है। इस बात को वे पाक-रस का दृष्टान्त सामने रखकर समझाते हैं। गुडादि द्रव्यों, दधि आदि व्यंजनों[2] और सोंठ-इलाइची आदि ओषधियों के संयोग से भात-रोटी आदि भोज्य पदार्थों के अपने स्वाद[3] रस बन जाते हैं, इसी प्रकार विभावादि के संयोग से स्थायी भाव रस बन जाते हैं। पाक-रस के इस निदर्शन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भरत का रस एक आस्वाद्य पदार्थ है, आस्वादन-कर्ता की चेतना नहीं। वे रस-पद की व्युत्पत्ति भी इसी दृष्टि से करते हैं—"रस इति कः पदार्थः ?" रस इस शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर है—"आस्वाद्यत्वात्।" अर्थात् रस्य या आस्वाद्य होने के कारण इसे 'रस' कहते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार रस शब्द की निरुक्ति हुई—"रस्यते, आस्वाद्यते इति रसः।" जिन्हें निरुक्तकार की शैली से परिचय है, वे भरत के शब्दों का मन्तव्य सहज समझ सकते हैं। इस प्रकार भरत का रस एक विषयात्मक पदार्थ है।

---

१. नाट्यशास्त्र, भाग १, अध्याय ६, पृ० २७२, २८७–९।

२. व्यंजन के अन्तर्गत दही, दाल, शाक, खारी अर्थात् छुहारा या छुहारे की सोंठ आदि जैसे पदार्थ लिये जाते हैं, जिनके संयोग से चावल-रोटी आदि भोज्य पदार्थों के निजी स्वाद और निखर जाते हैं। यहां भरत की दृष्टि में पाक-रस में भक्त या भात का उदाहरण प्रतीत होता है। उसे ध्यान में रखकर व्यंजन का अर्थ दधि लिया गया है। गुड़, दही, और सोंठ-इलाइची आदि को मिलाकर शिखरन बना कर उसके साथ चावलों को आज भी भारत के अनेक भागों में खाया जाता है। अभिनव ने इस शिखरन को ही दधिकांजी कहा है। व्यंजन शब्द के विशेष विवेचन के लिए देखिए—'रस-गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' पृ० १०८। आन्ध्र और कर्नाटक के एक बड़े भाग में आज भी 'व्यंजन' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। वहां भोजन 'भक्त' चावल है, उसे अन्न माना जाता है और चावल के साथ उपयोग में लाये जाने वाले दही, दाल, सांभर आदि 'व्यंजन'। सम्भावना की जा सकती है कि उक्त मूल श्लोकों का प्रणयन या तो किसी दाक्षिणात्य विद्वान् द्वारा हुआ था, या फिर व्यंजन और अन्न शब्दों का उक्त अर्थ आज दक्षिण के कुछ प्रदेश में तो वैसा ही बना रहा, अन्यत्र देश में विस्तार पा गया।

३. यहां भरत के 'षाडवादि' शब्द का अर्थ 'भोज्य पदार्थों के अपने विशिष्ट स्वाद' लिया गया है। वैसे षाडव शब्द का अर्थ है एक गान-विशेष जिसमें छहों स्वरों का योग रहता है। मेदिनी-कोशकार इसे रस का पर्यायवाची भी मानते हैं। शब्दकल्पद्रुम, का० ५, पृ० १९३। विशेष के लिए देखिए—'रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १०८, टि० ३।

इस पदार्थ-रूप रस की निष्पत्ति का अर्थ भी आस्वादन नहीं, उत्पत्ति है। पाक-रस जैसे निष्पन्न अर्थात् पदार्थ रूप में उत्पन्न होता है, वैसे ही यह रस भी उत्पन्न होता है। अपने विवेचनों में निष्पत्ति के स्थान पर उत्पत्ति शब्द का प्रयोग भरत ने अनेकत्र खुलकर किया है।[1]

यहां एक प्रश्न उठता है, भरत के इस वस्तु-रूप रस की अवस्थिति कहां है? जब उनका रस वस्तु-रूप है, तो उसको सामाजिक में तो माना नहीं जा सकता। विषय पक्ष में उसकी तीन जगह सम्भावना की जा सकती है—अनुकार्य रामादि में, अनुकर्ता नट में, नाट्य में। भरत ने यहां इस समस्या का स्पष्टीकरण नहीं किया, न अन्यत्र ही किन्हीं स्पष्ट शब्दों में इसे उठाया है। परन्तु उनके समस्त विवेचनों पर सामंजस्यात्मक दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि वे विभावादि-व्यंजित स्थायी रूप रस की अवस्थिति नाट्य में मानते हैं।[2] यहां भी वे उसे इसी दृष्टि से नाट्य-रस कहकर चलते हैं—"तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।" "तस्मान्नाट्य-रसा इत्यभिव्याख्याताः।"

जिस प्रकार पाक-रस समस्त भोजन में परिव्याप्त होता है, उसी प्रकार नाट्य-रस भी समस्त नाट्य में परिव्याप्त होता है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तीनों ही स्थायी भावों को नाट्य में परिव्याप्त करते हैं। इस प्रकार विभावादि परिव्यापक या भावक तत्त्व हैं[3], स्थायी परिव्याप्य या भाव्य, और नाट्य परिव्यापन-भूमि। इस प्रकार भरत का रस एक नाटकीय भावात्मक परिस्थिति (Dramatic Emotional Situation) है, जिसका आस्वादन सामाजिक करता है और हर्षादि भावों की उपलब्धि करता है।

और, इस आस्वाद्य पदार्थ-रूप रस का आस्वादन किस प्रकार होता है, भरत अब इस प्रश्न की ओर आते हैं—"कथमास्वाद्यते रसः?" रस के आस्वादन को निष्पत्ति से अलग करके विवेचित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत की निष्पत्ति आस्वादन से भिन्न है। जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत भात-रोटी आदि पदार्थों को खाने वाले सुमनस् लोग पाक-रसों का आस्वादन करते हैं, और हर्षादि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सुमनस् प्रेक्षक भी विविध विभावादि से व्यंजित या संस्कृत स्थायी भावों को जो कि उनके समक्ष वाचिक, सात्विक, आंगिक अभिनयों से युक्त होकर आते हैं, आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि की प्राप्ति करते हैं। भरत कहते हैं, रसों की इन विशिष्टताओं के कारण ही उन्हें नाट्य-रस कहा जाता है।

---

१. ना० शा०, अ० ६, रसों का विवेचन।

२. 'भरत के रस की अवस्थिति':
'चार मूल रस': अभिनवभारती।

३. भरत का 'भाव' शब्द आज से बहुत व्यापक है। उसका प्रयोग चित्तवृत्तिरूप भावों के लिए भी हुआ है, और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्विक तथा स्थायी सभी के लिए भी। इसी व्यापक दृष्टि के कारण भरत ने सातवें भावाध्याय में इन सभी विषयों का निरूपण किया है। 'भाव' को इस व्यापक अर्थ में अपनाते हुए ही भावाध्याय के प्रारम्भ में उन्होंने भाव का लक्षण इस प्रकार किया है:

"भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किंवा भावयन्तीति भावाः? उच्यते—वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति। भू इति करणे धातुः, तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्—अहो, ह्यनेन गन्धेन रसेन व सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।"
ना० शा० : भा० १, पृ० ३४३-५। अ० ७

यहां स्पष्ट ही भावों को करणार्थक भू धातु से निष्पन्न मानकर व्याप्त्यर्थक माना गया है।
विशेष के लिए देखिए—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० ११०-२।

भरत के इस विवेचन से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :

१. भरत का रस नाट्य-रस है, अर्थात् नाट्य में परिव्याप्त है। वह एक नाटकीय भावात्मक परिस्थिति (Emotional Situation) है। इस प्रकार रस एक आस्वाद्य पदार्थ है। उसकी स्थिति विषय-रूप है।

२. विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के साथ संयुक्त होकर अर्थात् इनसे संस्कृत या व्यंजित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते हैं। रस विभावादि सामग्री द्वारा नाट्य में परिव्याप्त स्थायी भाव हैं। यही रस-निष्पत्ति है, जो कि उत्पत्ति का पर्याय है।

३. प्रसन्नमन सामाजिक इन नाट्य-रसों का आस्वादन करता है, और हर्षादि की उपलब्धि करता है। रस और आनन्द पर्यायवाची नहीं, आनन्द रसास्वादन का फल है।

४. भरत के अनुसार प्रेक्षक सुमनस् होना चाहिए। शोक-क्लान्त व्यक्ति न तो पाक-रस के आस्वादन से हर्ष पा सकता है, न ही नाट्य-रस के से।

५. नाट्य-रसों के आस्वादन से केवल हर्ष की ही प्राप्ति नहीं होती। भरत 'हर्षादि' की प्राप्ति कहते हैं। इसका अर्थ है वे यह मानते हैं कि नाट्य में प्रेक्षक को यथाप्रसंग हर्ष-शोक की विविध अनुभूतियां होती हैं, किन्तु उनमें प्रधानता हर्ष की होती है।

६. प्रेक्षक के आस्वादन का विश्लेषण करते हुए भरत ने किसी प्रकार की दार्शनिक सहायता नहीं ली। आनुवंश्य श्लोकों में कहा क्या है—"आस्वादयन्ति मनसा" कुशल प्रेक्षक स्थायि-भावों को मन से अर्थात् मानसेन्द्रिय से आस्वादित करते हैं। यह बात भी बड़े सामान्य ढंग से कही गयी है, किसी दर्शन का सहारा लेकर नहीं।

संक्षेप में, भरत-पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भरत के रस का स्वरूप है—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के द्वारा नाट्य में परिव्याप्त स्थायी भाव। प्रेक्षक इसी नाट्य-परिव्याप्त रस का आस्वादन करता हुआ हर्षादि पाता है। सामाजिक के आस्वादन की दृष्टि से यह रस नाट्य-निष्ठ होने के कारण विषय-रूप या पदार्थ-रूप है। भरत और उनके युग ने इस रस और उसके आस्वादन की व्याख्या में किसी दर्शन का सहारा नहीं लिया। उनका निरूपण सर्वथा दर्शन-निरपेक्ष रहा।

अलंकारवादी आचार्य

रस के इतिहास में भरत से कुछ आगे बढ़ने पर हमें कुछ अलंकारवादी आचार्यों के दर्शन होते हैं, जिनमें भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के नाम प्रमुख हैं। इन आचार्यों की रस-चेतना में पर्याप्त अन्तर है, तथापि कुछ बातें समान भी हैं। ये आचार्य रस को प्रमुखतया पठ्य काव्य के सन्दर्भ में देखते हैं, उसे अलंकार-रीति-गुण आदि के साथ मिलाकर समझना चाहते हैं, तथा किसी दर्शन का उपयोग भी आवश्यक नहीं समझते। ये लोग अपने युग की चेतना तथा भरत की मान्यताओं से विभिन्न रूपों में प्रभावित हुए हैं। हम यहां उनकी दृष्टि से रस का स्वरूप समझने का प्रयास करेंगे।

भामह

भामह रस को अलंकार-चारुत्व में अन्तर्भूत करते हुए 'रसवदलंकार' कहते हैं। वे केवल विभाव-विधान में ही रस मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने रसवद् का स्वरूप इस प्रकार दिखाया है :

"रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।
देवी समागमद् धर्ममस्करिण्यतिरोहिता ॥"

भामह के अनुसार रसवदलंकार वहां होता है जहां शृंगारादि रसों की स्पष्ट रूप में उत्पत्ति दिखायी पड़ती है। उदाहरण है—धर्मवेष को धारण किये हुए देवी अतिरोहित अर्थात् बिना किसी पर्दे आदि के उपस्थित हुईं।

भामह के इस उदाहरण में न कोई आश्रय है, न कोई संचारी, न कोई उद्दीपन, और न किसी अनुभाव की योजना। देवी के रूप में केवल विभाव का उल्लेख भर है, और इसी के आधार पर भामह यहां शृंगार रसवद् मानते हैं।

भामह का यह दृष्टिकोण भरत-विरोधी है। भामह केवल विभाव-विधान में रस मानते हैं, जबकि भरत विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी सबको अपेक्षित समझते हैं। भामह सम्भवतः उस वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जो अभिनव और पण्डितराज के उल्लेखों के अनुसार केवल विभाव-विधान में ही रस-निष्पत्ति मानता है।[1] पण्डितराज इस वर्ग को भरत-विरोधी मानते हैं।[2] भामह स्पष्ट रसोदय की मान्यता सामने रखकर अपने युग के अनुरूप उत्पत्तिवाद का ही समर्थन करते हैं। वे ध्वनिवाद की स्थापनाओं से अपरिचित हैं। रस को वे इसीलिए स्पष्ट-दर्शित कह सके हैं। भामह ने सहृदय की अनुभूति से सम्बन्धित समस्याओं का स्पर्श नहीं किया, अतः उन्हें किसी दर्शन का सहारा इस विषय में लेना आवश्यक नहीं हुआ।

दण्डी

दण्डी भी भामह के समान ही रस को रसवदलंकार के अन्तर्गत रखते हैं, किन्तु वे भरत-विरोधी नहीं, अपितु भरत के समान ही विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी की समग्रता में रस परिपोष मानते हैं। उनकी रस-चेतना भामह से बहुत जागरूक है। वे आचार्य ही नहीं, एक रस-सिद्ध कवि भी थे। अतः जो उदाहरण रसवद् के उन्होंने दिये हैं उन्हें आज भी ध्वनिवाद की दृष्टि से भी व्यंजना-परक रस के उदाहरण कहा जा सकता है। किन्तु दण्डी की आचार्य-चेतना यह नहीं जानती कि उनके उदाहरणों में ध्वनि भी है।

दण्डी के अनुसार काव्य के दो मार्ग हैं—वैदर्भ और गौड़। इनमें प्रथम इष्ट है। वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता आदि दस गुण उसके प्राणरूप हैं। इनमें मधुर गुण का सम्बन्ध रस से है। वे काव्य में रस की महत्ता से पूर्ण परिचित हैं।[3]

दण्डी ने रस का लक्षण तो नहीं किया किन्तु सभी रसों के काव्यात्मक उदाहरण प्रस्तुत करके उनका विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री के द्वारा परिपुष्ट होकर स्थायी रत्यादि भाव ही शृंगारादि रसों के रूप में परिणत होते हैं।[4] इस प्रकार दण्डी भी रस के उत्पत्तिवाद को मानते हैं। भरत ने जिस प्रकार रस को नाट्य-निष्ठ माना

---

१. "अन्ये तु शुद्धं विभावं···रसमाहुः" ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८६।
"भाव्यमानो विभाव एव रसः इत्यन्ये।" रसगं०, पृ० २८।

२. "तदेवं पर्यवसितरिक्तषु मतेषु सूत्रविरोधः"। रसगं०, पृ० २८।

३. काव्यादर्श : १। श्लो० ४०–२, ५१।

४. वही : २। श्लो० २८०–७। २८२ तथा २८५।

उसी प्रकार दण्डी उसे काव्य-निष्ठ समझते हैं। काव्य-वचनों को उन्होंने स्पष्ट ही 'रसवद्' कहा है,[1] और उनके वे कथन औपचारिक नहीं हैं।

अभिनवगुप्त ने लोल्लट तथा दण्डी को एक ही वर्ग में दिखाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार लोल्लट विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस कहते हैं, उसी प्रकार दण्डी भी सामग्री-परिपुष्ट स्थायी को रस कहते हैं :

"चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथाहि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायिरतिः शृंगारतां गता, रूपबाहुद्ययोगेनेति, इत्यारुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः इत्यादि च।"[2]

इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट स्थायी को रस कहने में दण्डी और लोल्लट दोनों समान हैं। किन्तु अभिनव ने इस साम्य को दिखाकर इनके अन्तर का उल्लेख नहीं किया। जहां तक उत्पत्तिवाद का सम्बन्ध है—भरत, भामह, दण्डी, लोल्लट सभी रसोत्पत्ति मानते हैं। भरत, दण्डी, लोल्लट तीनों सामग्री की समग्रता में उपचयवाद स्वीकार करते हैं। किन्तु भरत का उपचित रस नाट्य-निष्ठ है, दण्डी का काव्य-निष्ठ, लोल्लट का अनुकार्य-निष्ठ। अवस्थिति की दृष्टि से तीनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। दण्डी की प्रेरणा के स्रोत भरत हैं। वे भरत के सिद्धान्त को ही नाट्य की अपेक्षा पठ्य काव्य में लागू करके चलते हैं।

इस प्रकार दण्डी के अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से परिपुष्ट हुए काव्य-निष्ठ स्थायी भाव ही रस हैं। ये रसवदलंकार में आते हैं। सामाजिक की अनुभूति की समस्या दण्डी ने भी नहीं उठायी। उन्होंने भी अपनी किसी रस-सम्बन्धित मान्यता की व्याख्या के लिए कहीं किसी दर्शन का प्रयोग नहीं किया। दण्डी का रस भी भरत के समान ही वस्तु-रूप है।

उद्भट

उद्भट ने रस का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है :

"रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।"[3]

इस लक्षण का पूर्वार्ध भामह से लिया हुआ है। उद्भट भामह और दण्डी के समान ही रस को रसवदलंकार कहते हैं तथा रसोत्पत्ति मानते हैं। किन्तु जहां भामह ने केवल विभाव-विधान में रसोदय माना था, उद्भट रसोदय के लिए पाँच बातें सामने रखते हैं :

१. स्वशब्द से रस का अभिधान। २. स्थायी भाव का निरूपण।
३. संचारी भावों का विधान। ४. विभावों का विधान।
५. अभिनय अर्थात् अनुभावों की योजना।

इस प्रकार भामह के काव्य-परक दृष्टिकोण को अपनाकर उद्भट काव्य में रसोदय के लिए भरत की सामग्री को स्थान देते हैं। वे अभिधावादी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होकर स्वशब्दाभिधान में भी रसोदय की सम्भावना समझते हैं। भामह का व्यक्तित्व तथा भरत का व्यक्तित्व दोनों ही उद्भट को प्रभावित करते हैं। उद्भट ने एक ओर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, दूसरी ओर भामह के काव्यालंकार पर 'भामहविवरण'। उद्भट के रस-स्वरूप में

---

१. काव्यादर्श : २। श्लो० २८२-२८५। "रसवत्त्वं गिरामासां" " "तदिदं रसवद्वचः"।

२. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७४।

३. काव्यालंकारसारसंग्रह : उद्भट : अ० ४।४।

इसीलिए भरत और भामह का प्रभाव अपने युग की सापेक्षता में प्रकट हुआ है। उन्होंने भी किसी दर्शन को नहीं अपनाया।

वामन

वामन ने रस के प्रश्न को स्थान-निर्धारण की दृष्टि से ही उठाया है, स्वरूप-विवेचन के विषय में वे मौन हैं। किसी दर्शन के प्रयोग का अवसर वामन के सामने नहीं आया।

दण्डी ने रसों का सम्बन्ध वैदर्भ मार्ग के प्राण-भूत गुणों के साथ स्थापित तो किया था, किन्तु उन्होंने उन्हें अलंकार-क्षेत्र से बाहर नहीं निकाला था। दण्डी ने रसों को रसवदलंकार ही कहा था। वामन ने इस मान्यता में परिष्कार किया। उन्होंने ऐसी रीति को काव्य की आत्मा कहा जो विभिन्न गुणों से विशिष्ट थी। और, इन्हीं गुणों में से एक 'कान्ति' नामक गुण से रसों का सम्बन्ध जोड़ा।[1] यद्यपि वामन काव्य में दीप्तरसता की बात करते हैं, किन्तु उन्होंने अपने विवेचन में केवल एक शृंगार का उदाहरण देकर प्रसंग को चलता कर दिया है। इससे उनकी रस-विषयक उपेक्षा परिलक्षित होती है। इसी उपेक्षा के कारण वे अन्य अलंकारवादियों के साथ एक वर्ग में रखे जाते हैं।

रुद्रट

जहां तक रस-विवेचन के विस्तार का प्रश्न है, रुद्रट ने सभी अलंकारवादी आचार्यों की अपेक्षा रस-विषय का विस्तृत विवेचन किया है। रस के भेदों-प्रभेदों, उसके नायक-नायिका-भेदादि की विस्तार से चर्चा की है। रस-संख्या के विषय में उन्होंने भरत-मान्य आठ रसों के साथ शान्त और प्रेयान् को भी रस माना है। साथ ही वे यह भी प्रतिपादित करते हैं कि न केवल स्थायी भाव ही, अपितु विभावादि सामग्री से परिपुष्ट होकर निर्वेदादि व्यभिचारी भाव भी रस-कोटि तक पहुंच जाते हैं, अतः वे सभी रस हैं।[2]

रस के स्वरूप के विषय में रुद्रट का कोई उल्लेखनीय दृष्टिकोण सामने नहीं आता। सामान्यतः वे भरत का ही अनुगमन करते हैं। जैसे भरत ने रस्यमानता के आधार पर रसों को रस कहा है, वैसे ही रुद्रट ने भी माना है।[3] भरत के समान ही रुद्रट विभिन्न रसों में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी की समग्रता अपेक्षित समझते हैं। रुद्रट रस को अलंकार-क्षेत्र से अलग करके देखते हैं। वे उसे रसवदलंकार कहकर नहीं चलते। उनके विवेचन में सर्वाधिक विस्तार शृंगार को ही मिला है।

रुद्रट का रस भी पाक-रस के समान काव्य-निष्ठ होता हुआ वस्तु-रूप है।[4] कवि रसों को विभावादि सामग्री का विभाग करके अपने काव्य में संनिविष्ट कर सकता है।[5] सामाजिक की अनुभूति की समस्या को रुद्रट ने भी नहीं उठाया, और न ही किसी दर्शन का सहारा

---

१. वामन : काव्यालंकारसूत्र : ३।२।१, ३।२।

२. काव्यालंकार : रुद्रट : अ० १२ : श्लो० ३-४।

३. "रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममरतीति तेपि रसाः।" वही : १२।४।

४. वही : १२।४।

५. "एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः सम्यग् विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।" वही : १५।२१।

लिया है।

समीक्षा : इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत-पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भरत के समान ही इन अलंकारवादी आचार्यों का रस भी वस्तु-रूप रहता है। अन्तर केवल इतना ही है कि भरतादि आचार्य उसे नाट्य-निष्ठ सोचते हैं, ये आचार्य काव्य-निष्ठ। इस दृष्टिकोण को, जो कि उस युग का प्रचलित दृष्टिकोण था, रुद्रभट्ट ने अपने शृंगारतिलक में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :

"प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते॥"[1]

"भरतादि आचार्यों ने रस की स्थिति प्रायः नाट्य-निष्ठ बतायी है।
मैं यथामति उस रसस्थिति को काव्य-निष्ठ रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं।"

अलंकारवादी आचार्यों ने रस के आस्वादन का प्रश्न नहीं उठाया। यदि भरत के शब्दों को अपना लें तो कह सकते हैं कि वे काव्य-रस की निष्पत्ति तक सीमित रहे, उसके आस्वादन की समस्या की ओर नहीं गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उन्हें किसी दर्शन की सहायता आवश्यक नहीं हुई।

इन सभी आचार्यों में प्रायः उत्पत्तिवादी दृष्टिकोण की प्रधानता रही, जो भरत के पहले से चला आ रहा था। भामह को छोड़ अन्य सभी आचार्य विभावादि सामग्री की समग्रता से परिपुष्ट स्थायी भाव को रस मानते रहे, और उसे नाट्य-निष्ठ या काव्य-निष्ठ स्वीकार करते रहे। पाक-रस इस युग का निदर्शन रहा।

अब तक हमने रस के दर्शन-निरपेक्ष विचारकों की दृष्टि से रस का स्वरूप समझा है। अब हम उन आचार्यों की ओर आते हैं जिन्होंने इस समस्या को कुछ दार्शनिक संस्पर्श से सुलझाने का प्रयास किया है।

दर्शन-सापेक्ष रस-निरूपण

रस के प्रश्न में दर्शन के उपयोग की आवश्यकता अलंकारवादी आचार्यों को नहीं हुई। कारण हम देख चुके हैं कि उन्होंने सामाजिक के आस्वादन का प्रश्न नहीं उठाया। किन्तु भरत के टीकाकारों को नाट्यशास्त्र के आस्वादन-सम्बन्धी स्थल की व्याख्या के अवसर पर यह आवश्यक था कि वे उसके लिए कुछ दार्शनिक हल ढूंढ़ते। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में दर्शन का प्रवेश सामाजिक के आस्वादन के प्रश्न को लेकर नहीं हुआ, अपितु रस की निष्पत्ति की व्याख्या को लेकर अर्थात् रस कैसे बनता है, इस प्रश्न को लेकर ही हुआ।

रस की समस्या में कुछ भी दर्शन का संस्पर्श लाने वालों में पहला नाम लोल्लट का आता है। सम्भव है, उद्भट ने नाट्यशास्त्र की टीका करते समय इस ओर प्रयास नहीं किया। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में तो रस के प्रसंग में अनेक मत एवं दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है, किन्तु अभिनवभारती में केवल पाँच मतों को ही चुना है। इनमें लोल्लट, शंकुक, एक सांख्यवादी, तथा भट्ट नायक—इन चार का ही चुनाव हुआ है। सम्भवतः अभिनव ने इन चार को इसीलिए छांटा है कि इनमें कुछ दार्शनिक विवेचन आता है। दर्शन-निरपेक्ष विवेचनों को उन्होंने यहां नहीं लिया।

---

१. शृंगारतिलक : रुद्रभट्ट : १.५, ६। 'दी थियरीज़ ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि', पृ० ३२ टि०।

लोल्लट

लोल्लट का नाम नाट्यशास्त्र के टीकाकारों में आता है, पर आज उनकी टीका उपलब्ध नहीं। उनका रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण अभिनव ने तथा मम्मट ने दृष्टिभेद से स्वल्प अन्तर के साथ प्रस्तुत किया है। अभिनवभारता में लोल्लट का मत इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

"विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः।

तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्।

तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः, स्थायी भावस्त्वनुपचितः। स चोभयोरपि, अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्।"[1]

लोल्लट के अनुसार अनुकार्य रामादि के रत्यादि स्थायी भाव ही विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से उपचित या पुष्ट होकर रस बन जाते हैं। इस प्रकार उनका रस अनुकार्य-निष्ठ है।

रस की व्याख्या में लोल्लट का यही योग-दान है। अब तक रस की अवस्थिति भरतादि आचार्यों ने नाट्य-निष्ठ मानी थी, अलंकारवादियों ने काव्य-निष्ठ। लोल्लट ने उसे अनुकार्य-निष्ठ कहा। अब तक रस पाक-रस के समान एक पदार्थ था, किसी की अनुभूति या चेतना न था। सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से वह एक विषय था। किन्तु लोल्लट के हाथों में आकर वह केवल पदार्थ न रह गया, रामादि अनुकार्य पात्रों की चेतना के रूप में प्रस्तुत किया गया। यद्यपि सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से वह अभी भी 'विषय' ही रहा, 'विषयी' नहीं बना। फिर भी लोल्लट द्वारा उसकी पदार्थ-मात्रता छुड़ा कर उसे चेतना-रूपता प्रदान की गयी।

लोल्लट ने रस का विश्लेषण बिलकुल लौकिक भावोदय के रूप में किया। उन्होंने अनुकार्य रामादि में रत्यादि भावों की दो स्थितियां मानीं। एक वासना रूप में सुप्त एवं अनुपचित, दूसरी कारण-सामग्री द्वारा उभारी हुई उपचित। पहली को उन्होंने स्थायी भाव कहा, दूसरी को रस। इस प्रकार उनके अनुसार लौकिक रामादि अनुकार्य व्यक्तियों के उद्बुद्ध या उपचित रत्यादि भाव ही 'रस' हैं।

लोल्लट यह भी प्रतिपादित करते हैं कि यह उद्बुद्ध भावों की स्थिति, जिसे 'रस' कहा गया है, अनुकार्य रामादि में तो होती ही है, अनुकर्ता नट में भी होती है। "अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्" कहकर वह यह बताना चाहते हैं कि नट जिस समय अभिनय करता है, वह नटी को सीतादि के रूप में ग्रहण करता है, स्वयं को रामादि के रूप में, और इस प्रकार के अनुसंधान से उसका अपना स्थायी भाव जो कि अब तक वासना-रूप में सुप्त पड़ा था, उद्बुद्ध

---

१. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७२।

पाठ—अपितु भावानामेव। (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च···

तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिताः।

स्थायी भवत्वनुपचितः। (मुख्यया वृत्त्या रामादौ) अनुकार्ये···

हो जाता है। उद्बुद्ध भाव-स्थिति ही तो रस है। अतः अनुसन्धान के सहारे रस नट में भी होता है।

लोल्लट नट में भी अनुसंधान के सहारे रस की अवस्थिति मानते हैं, यह तथ्य मम्मट के शब्दों से उभर कर नहीं आता। वे लोल्लट के मत को इस रूप में प्रतिपादित करते हैं :

".....रत्यादिको भावो.....उपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः।"[1]

"विभावादि से उपचित स्थायी भाव रस है। यह मुख्यतया रामादि अनुकार्यों में अवस्थित होता है। नट को रामादि रूप में समझने के कारण सामाजिक को वह नट में भी प्रतीत होता है।"

मम्मट के इन शब्दों में अनुसन्धान का कर्ता सामाजिक है। अभिनवभारती के उल्लेख में अनुसन्धान का कर्ता नट है। अभिनव का उल्लेख सामाजिक की प्रतीति के प्रति मौन है। लोल्लट का नट के सम्बन्ध में। कारण है, मम्मट ने लोल्लट के मत को सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से अपने शब्दों में ढाल कर प्रस्तुत किया है।

किन्तु लोल्लट स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि रस नट में भी हो सकता है। उनका तर्क है कि नट में भी वासनात्मतया रत्यादि भाव होते हैं। अनुसन्धान के सहारे वे ही उद्बुद्ध हो जाते हैं, फिर नट में रस-भाव की स्थिति क्यों न स्वीकार की जाए ? जो लोग नट में रस की स्थिति नहीं मानते उनके प्रमुख तर्क हैं कि यदि नट में रस-भाव का सम्बन्ध माना जाएगा तो मरणादि के प्रसंग में नट में वास्तविक मरणादि होने चाहिए, दूसरे भावाविष्ट होने के कारण वह संगीत की लय आदि का अनुसरण भी नहीं कर सकेगा। ऐसे लोगों को उत्तर देते हुए लोल्लट ने कहा है कि जब नट में वासना का आवेश है तो उसमें रस-भाव भी हो सकते हैं। रही लयानुसरण की बात, तो समूचे अभिनय की ऐसी सम बंध जाती है कि भाव में डूबकर भी नट लयादि का अनुसरण अक्षुण्ण रूप में करता चला जाता है :

"रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवात्, अनुबन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात्....."[2]

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि लोल्लट नट में भी भाव और रस की स्थिति स्वीकार करते हैं। अतः उनकी दृष्टि से अनुसन्धान के बल से नट में भी रस होता है, यही निष्कर्ष निकलता है। किन्तु इस रस को वे अनुसन्धान-जन्य होने के कारण अमुख्य कहना चाहते हैं, अनुकार्य रामादि के भावोद्बोध को ही वास्तविक या मुख्य रस मानते हैं।

अनुकार्य के वासना-रूप स्थायी को उद्बुद्ध होने के लिए कुछ उद्बोधक कारण-सामग्री चाहिए। यह सामग्री है विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव। इन तीनों के सम्बन्ध में लोल्लट कुछ टिप्पणियां प्रस्तुत करते हैं।

विभावों के सम्बन्ध में उनका कथन है कि ये वासनारूप स्थायी की उत्पत्ति के कारण होते हैं। कारण-शब्द के साथ किसी पारिभाषिक शब्द उपादान, सहकारी, निमित्त आदि का प्रयोग नहीं किया गया।

अनुभावों के विषय में उनका दृष्टिकोण विशेषतः उल्लेखनीय है। वे दो स्थान पर

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ८७, उ० ४।

२. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २६४।

अनुभावों की सम्भावना करते हैं—एक तो आश्रय पात्र रामादि में, दूसरे विभाव पात्र सीतादि में। राम के रस में राम के ही अनुभाव कारण कैसे बन सकते हैं ? अतः वे सीतादि विभावों के अनुभावों को ही रस-सूत्र के अन्तर्गत रस की कारण-सामग्री में लेने की बात कहते हैं—"अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपितु भावानामेव येऽनुभावाः ।" यहां भाव शब्द विभावों के लिए ही आया है। भरतादि प्राचीन आचार्यों ने भाव शब्द को चित्तवृत्ति-रूप अर्थ से अलग विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी-सात्विक-स्थायी के लिए भी प्रयुक्त किया है। लोल्लट का 'भाव' शब्द भी यहां उसी व्यापकता के आधार पर है।

व्यभिचारियों के सम्बन्ध में आकर एक प्रश्न उठाया गया है, जिसमें कुछ दार्शनिक ढंग की सी चर्चा है। कहा गया है, जब व्यभिचारी भाव भी चित्तवृत्ति-रूप हैं, और स्थायी भाव भी चित्तवृत्ति-रूप हैं, तो व्यभिचारियों द्वारा स्थायी भावों का परिपोष कैसे बन सकता है ? एक काल में एक चित्तवृत्ति दूसरे का पोषण कैसे कर सकती है ? इस शंका का आधार न्याय-दर्शन की यह मान्यता है कि मन एक विशिष्ट क्षण में किसी एक रूप को ही अपना सकता है :

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्"[1]

मन का यह स्वभाव है कि वह एक साथ दो ज्ञान नहीं कर सकता। इसका अर्थ है कि दो चित्तवृत्तियां एक साथ नहीं रह सकतीं। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि व्यभिचारी चित्तवृत्तियां स्थायी वृत्तियों को पुष्ट करके रस बना देती हैं ? इसका समाधान लोल्लट की ओर से यह दिया गया है कि हम स्थायी भाव को वासना रूप में मानते हैं, व्यभिचारियों को उद्भूत रूप में। योगदर्शन की मान्यता है कि वासना रूप में अनेक भाव चित्त में अवस्थित पड़े रहते हैं, समय आने पर सहायक सामग्री की सहायता से उद्बुद्ध हो जाते हैं।[2] तो जिस क्षण में व्यभिचारी वृत्ति उदित होती है, स्थायी वृत्ति वासना रूप में अन्तर्निहित रहती है। पीछे वह अन्य क्षण में उद्भूत रूप में उभर कर आती हैं, तब रस कहलाती है। लोल्लट इस बात को भरत के पाक-रस के निदर्शन में भी दिखाते है। पाक-रस की निष्पत्ति में गुड-दही-सौंठ-इलाइची आदि से बने शिखरन आदि व्यंजन का स्वाद उभरा रहता है, रोटी-चावल आदि अन्न का स्वाद दबा रहता है। इस प्रकार किसी का स्वाद स्थायी के समान वासनात्मतया दबा, तो किसी का व्यभिचारियों के समान उद्भूत रहता है। फलतः व्यभिचारियों के द्वारा स्थायी चित्तवृत्तियों के परिपोष मानने में कोई सैद्धान्तिक बाधा नहीं।

कुल मिलाकर लोल्लट के विवेचन में निम्न बातें ऐसी आती हैं जिनका किसी दर्शन से सम्बन्ध माना जा सकता है :

१. "विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् ।"
—स्थायी भावों को चित्तवृत्ति-रूप मानना, तथा विभावों के साथ उनका कारण-कार्य सम्बन्ध जोड़ना।

२. "अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् ।"
—अनुभावों और रस के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध जोड़ते हुए 'जन्य' तथा 'कारण' शब्दों का प्रयोग।

---

१. न्यायसूत्र, १।१।१६।

२. "तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।" यो० सू० ४।१०। "अनादिवासनानुविद्धं चित्तं निमित्त-वशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्ये पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।" व्या० भा०।

३. "व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मतेह तस्य विवक्षिता।"
—व्यभिचारियों को चित्तवृत्तिरूप मानना।
—दो चित्तवृत्तियों की युगपद् अवस्थिति पर आपत्ति स्वीकार करना।
—वासना-रूप तथा उद्भूत-रूप में दो चित्तवृत्तियों की युगपद् अवस्थिति सम्भव मानना।

४. "स चोभयोरपि, अनुकार्येनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात्।"
—अनुसन्धान का उपयोग।

ये ही वे स्थल हैं जिनमें लोल्लट ने कतिपय दार्शनिक मान्यताओं का सहारा लिया है। किन्तु इनके आधार पर यह निर्धारित करना कि लोल्लट अमुक दर्शन के अनुयायी थे, सर्वथा भ्रमात्मक होगा। स्थायी तथा संचारी भावों को चित्तवृत्ति-रूप मानना लगभग सभी दर्शनों के लिए सामान्य बात है। 'कारण', 'कार्य', 'जन्य' आदि शब्दों का प्रयोग भी विभिन्न दर्शनों में समान मिलता है। 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न दार्शनिकों ने किया है। स्वयं अभिनव को यह शब्द बड़ा प्रिय है। अतः उसके आधार पर भी कुछ कहना कठिन है। इस प्रकार किन्हीं विशिष्ट शब्दों के प्रयोग के आधार पर लोल्लट की दार्शनिक आधार-भूमि निर्धारित नहीं हो सकती।

व्यभिचारियों के सम्बन्ध में न्याय की मान्यता के आधार पर उठायी आपत्ति को देखते हुए लोल्लट का झुकाव न्याय-दर्शन की ओर कहा जा सकता है। इस धारणा को बनाने में उनके द्वारा कारण-कार्य के सम्बन्धों की दृष्टि से विभावादि सामग्री और रस के बीच किया गया विचार और जन्य, कारण आदि शब्दों का प्रयोग भी सहायक हो सकता है। किन्तु न्याय की दृष्टि से उठायी गयी आपत्ति का उत्तर ठीक नैयायिक पदावली में नहीं दिया गया। वासना-सम्बन्धिनी मान्यता प्रमुखतया योग-दर्शन की है। यों तो यही बात न्याय-दर्शन भी लगभग स्वीकार करता है। वह भी संस्कार रूप में अन्य वृत्तियों की सम्भावना मन में स्वीकार करता है। किन्तु उसका प्रचलित शब्द 'संस्कार' है, इस विषय में 'वासना' नहीं। फिर न्याय के सहारे से किया आक्षेप पूर्वपक्ष में पड़ जाता है।

इस प्रकार यदि वासना और संस्कार शब्दों की ओर भेदक दृष्टि न डाली जाय तो कहा जा सकता है कि लोल्लट ने न्याय और योग-दर्शन की स्थापनाओं का उपयोग किया है। फिर भी निर्णयात्मक रूप में कुछ कहना कठिन है। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि वे वैदिक दर्शन के ही अनुयायी थे। कभी-कभी उन्हें मीमांसक कहा जाता है। किन्तु उनके रस-विवेचन में मीमांसा का कोई साक्षात् या असाक्षात् प्रयोग दिखायी नहीं पड़ता।

लोल्लट की दार्शनिक दृष्टि को किसी विशेष दर्शन के साथ आबद्ध न किये जा सकने के कारण उनके मत को किसी दर्शन-विशेष के अन्तर्गत न रखना ही उचित है। वस्तुतः लोल्लट ने जो भी दर्शन का उपयोग किया है, लौकिक भाव के उद्बोधन से सम्बन्ध रखता है। सामाजिक की अनुभूति के सम्बन्ध में यदि उन्होंने किसी दर्शन का सहारा लिया होता तो उसका रस से सीधा सम्बन्ध होता। अतः उनका रस-मत भी दर्शन-शून्य ही है। तथापि उसके विवेचन में कुछ दार्शनिक चर्चा आ जाने के कारण उसे दर्शन-निरपेक्ष वर्ग में भी नहीं रखा जा सकता।

इस प्रकार लोल्लट हमारे सामने रस की समस्या के समाधान में दर्शन का प्रवेश कराने वाले प्रथम आचार्य के रूप में आते हैं, भले ही उनकी दार्शनिक चर्चा बड़ी हलकी हो, और

उसका अनुभूति से सीधा सम्बन्ध न हो।

संक्षेप में लोल्लट के अनुसार अनुकार्य के वासना-रूप स्थायी भावों का विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामग्री द्वारा परिपुष्ट होते हुए उपचित हो जाना ही रस है। यह रस मुख्यतया अनुकार्य-निष्ठ है, अमुख्यतया अनुकर्तृ-निष्ठ भी। यद्यपि वह अब पदार्थ-मात्र नहीं, अनुकार्य की अनुभूति या चेतना है, तथापि सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से विषय-रूप ही है। उसकी विषय-पक्षीय व्याख्या में कुछ न्याय-दर्शन की मान्यताओं का उपयोग है, किन्तु विषयि-पक्ष की व्याख्या में किसी दर्शन का सहारा नहीं है। वे भरत के समान ही उत्पत्तिवादी हैं। किन्तु भरत और दण्डी की अपेक्षा उनके रस की अवस्थिति भिन्न है। उनका 'रस' दर्शन पर आधारित नहीं, पर 'रस' की समस्या में 'दर्शन' का प्रवेश कराने वालों में उन्हीं का नाम प्रथम आता है।

न्याय-दर्शन और रस

हमने अभी देखा कि रस की व्याख्या में लोल्लट के द्वारा सर्वप्रथम किस प्रकार न्याय-दर्शन की मान्यताओं का प्रवेश हुआ। किन्तु यह उपयोग बड़े ही साधारण ढंग का है। लोल्लट के अनन्तर कई आचार्यों के द्वारा रस को न्याय की आधार-भूमि में रखकर जांचा गया।

मोटे तौर पर हमारा न्याय-साहित्य तीन प्रमुख धाराओं में विभाजित किया जाता है—वैदिक न्याय, बौद्ध न्याय, जैन न्याय। वैदिक न्याय को प्राच्य एवं नव्य दो रूपों में विभाजित किया जाता है। रस की समस्या का हल जैन न्याय के सहारे खोजने का प्रयास किसी जैन या जैनेतर आचार्य ने नहीं किया। जैन हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में रस के विषय में पर्याप्त विस्तार से चर्चा की, किन्तु उनकी स्वरूप-सम्बन्धिनी चर्चा के मूलाधार अभिनव के ही ग्रन्थ रहे। हेमचन्द्र ने अभिनव के ही शब्दों को जहां-तहां अपनी ओर से कुछ व्याख्या भी करते हुए प्रस्तुत किया। इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी रस-स्वरूप विश्लेषण के लिए जैन-दर्शन का आधार नहीं पकड़ा। अतः हमारे लिए बौद्ध और वैदिक नैयायिकों द्वारा किये हुए रस-विवेचन का ही परिचय शेष रह जाता है।

लोल्लट के अनन्तर किसी दर्शन की व्यवस्थित आधार-भूमि अपनाकर रस पर विचार करने वालों में प्रथम नाम आचार्य शंकुक का आता है। शंकुक एवं महिम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने बौद्ध न्याय की मान्यताओं के आलोक में रस की समस्या का हल खोजने का प्रयास किया। शेष न्यायानुगामी आचार्यों के विवेचन वैदिक न्याय के अन्तर्गत आते हैं। अतः न्याय-दर्शन और रस पर विचार करते हुए हमारे लिए यह उपयुक्त होगा कि हम बौद्ध-दर्शन तथा वैदिक न्याय के सम्बन्ध से रस पर अलग-अलग विचार करें।

बौद्ध न्याय और रस

जैसा कि हमने अभी कहा, बौद्ध न्याय के आलोक में रस पर विचार करने वाले आचार्य श्रीशंकुक एवं महिमभट्ट हैं। उनके विचारों में बौद्ध मान्यताओं की गहरी छाप है। प्रथम नाम शंकुक का है। उनकी बौद्ध आधार-भूमि से अभिनव के गुरु आचार्य भट्टतोत तथा स्वयं अभिनव भली-भांति परिचित हैं। सम्भवतः मम्मट से भी यह तथ्य तिरोहित नहीं। किन्तु मम्मट ने शंकुक का मत इतने संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है कि केवल उस पर आधारित रहकर ही कोई निश्चित धारणा बनाना कठिन हो जाता है। मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों की दृष्टि से शंकुक की दार्शनिक आधार-भूमि तिरोहित हो जाती है, और उनके शब्दों की व्याख्याएं सामान्यतः

वैदिक न्याय की उपलब्धियों के अनुसार की जाने लगती है। किन्तु यह एक तथ्य है कि शंकुक के रस-विवेचन को उसके सही रूप में तब तक नहीं समझा जा सकता, और उनके शब्दों की समंजस व्याख्या तब तक नहीं हो पाती जब तक उनके विचारों की बौद्ध न्याय की आधार-भूमि न अपना ली जाय।[1]

आचार्य श्रीशंकुक

आचार्य शंकुक का रस-विवेचन अभिनवभारती, ध्वन्यालोक-लोचन, काव्यप्रकाश, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन और माणिक्यचन्द्र की काव्यप्रकाश की संकेत नामक टीका में मिलता है। उनकी निजी कृति आज अप्राप्य है। ये ही प्राचीन उल्लेख उनके परिचय के लिए आधार हैं। इनमें हेमचन्द्र के आधार अभिनव हैं, माणिक्यचन्द्र के हेमचन्द्र। अतः अभिनव और मम्मट दो ही व्यक्ति रह जाते हैं जिनके माध्यम से हम शंकुक की मान्यता समझ सकते हैं। इनमें मम्मट ने शंकुक का मत उसी प्रकार सामाजिक की दृष्टि से प्रस्तुत किया है जिस प्रकार उन्होंने लोल्लट का मत प्रस्तुत किया है। अतः उनका विवेचन अभिनव के समान मूलाश्रयी प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार शंकुक के विवेचन के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक व्यक्ति अभिनव-गुप्त ही रह जाते हैं।

अभिनवभारती में जो शंकुक का रस-विवेचन आता है, उसके दो प्रधान भाग किये जा सकते हैं—प्रथम में उनके द्वारा किया हुआ लोल्लट की मान्यता का खण्डन आता है, दूसरे में शंकुक का अपना मत। इसके पीछे अभिनव के गुरु भट्ट तोत द्वारा किया हुआ शंकुक के मत का खण्डन आता है। इन तीनों ही विवेचनों में शंकुक की बौद्ध आधार-भूमि के संकेत मिलते हैं। तीनों भाग शंकुक से ही सम्बद्ध हैं, अतः उन पर अलग-अलग यहां दृष्टिपात करना असमीचीन न होगा।

लोल्लट का खण्डन

लोल्लट के मत का खण्डन करते हुए शंकुक ने निम्न सात तर्क प्रस्तुत किये हैं[2] :

१. विभावाद्ययोगे लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्तेः।
२. भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसंगात्।
३. स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्।
४. मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः।
५. हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः।
६. कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसंगात्।
७. शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वात्।

इनमें से अधिकांश तर्क शंकुक की बौद्ध धारणा के स्पष्ट परिचायक हैं। लोल्लट की

---

१. 'आचार्य शंकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' : हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४, अंक १, जनवरी-मार्च १९६१।
'अभिनवभारती में श्रीशंकुक का रस-विवेचन'.....एक व्याख्या।

२. अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७२।

मान्यता थी कि रस अनुकार्य-गत स्थायी की परिपुष्ट अवस्था का नाम है। अनुकार्य की अनुपचित भावदशा का नाम स्थायी भाव है, उपचित का रस। विभावादि सामग्री द्वारा परिपुष्ट होकर रसोत्पत्ति होती है। बौद्ध धारणा अपनाने के कारण शंकुक को इस मान्यता में निम्न बातें असह्य थीं :

१. अनुपचित भाव को केवल भावदशा मानना।

२. इन भावों को स्थायी स्वीकार करना।

३. इन्हें स्थायी मानते हुए सामग्री द्वारा इनकी उत्पत्ति या परिपोष मानना।

बौद्ध क्षणिकवादी हैं, अतः उनके अनुसार कोई भाव स्थायी नहीं। वे किसी भाव की सत्ता तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वह 'अर्थक्रियाकारी' न हो। उनके अनुसार कोई सत्तावान् अर्थक्रियाकारी भाव 'स्थायी' नहीं हो सकता। किसी स्थायी माने भाव में 'अर्थक्रिया' नहीं रह सकती। सामग्री की सहायता से भाव स्थायी रहता हुआ अर्थक्रियासमर्थ नहीं रह सकता। इन बौद्ध धारणाओं को अपनाने के कारण लोल्लट की उपर्युक्त मान्यताएं शंकुक के लिए स्वाभाविकतया असह्य थीं। इन सात तर्कों में इसी दृष्टि से लोल्लट का खण्डन किया गया है। पहले तीन तर्क तो अनुपचित भाव की केवला स्थिति का खण्डन करते हैं, अगले चार तर्क अर्थक्रियाकारिता के सिद्धान्त को बीच में लाकर भाव की स्थायिता और उसके परिपोष को अस्वीकार करते हैं। एक बात ध्यान देने की और है। बौद्ध न्याय के ग्रन्थों में जो पदार्थ-सम्बन्धी विवेचन मिलता है, उसमें पदार्थ के लिए 'भाव' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। जैसे बीजादि 'भाव' हैं, वैसे ही चित्तवृत्तियां भी 'भाव' हैं। निःसन्देह शंकुक को बौद्धों के पदार्थ-विवेचन से रस-विवेचन के लिए सहज मार्ग-दर्शन मिल सका होगा। हम बौद्ध दृष्टिकोण की छाया में उपर्युक्त सातों तर्कों का मन्तव्य संक्षेप में इस रूप में समझ सकते हैं :

प्रथम तीन तर्कों में अनुपचित भाव की केवलात्मिका स्थिति पर आक्षेप किया गया है :

१. लोल्लट द्वारा मान्य भाव की कोई अनुपचित मात्र भावदशा जैसी स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। विभावादि संयोग के विना भाव के आश्रय पात्र में कोई अनुभावात्मक प्रतिक्रिया ऐसी नहीं हो सकती जो उसके हृदय के भाव का पता दे सके। बिना लिंग के उसके भाव का अनुमान नहीं किया जा सकता। भाव का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, लिंगों के अभाव में अनुमान होगा नहीं। बौद्धों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़ अन्य वस्तु-साधक प्रमाण मान्य नहीं। अतः यह मानना होगा कि ऐसी कोई भावदशा होती ही नहीं। फिर ऐसी भावदशा अर्थक्रियाशून्य होगी। बौद्धों के अनुसार 'भाव' सत् होते हैं, सत्ता का अर्थ है, अर्थक्रियासमर्थ। अर्थक्रियाशून्य की सत्ता उन्हें स्वीकार्य नहीं। अतः केवल भावदशा अर्थक्रियाशून्य होने के कारण असत् एवं अस्वीकार्य ही होगी।

२. यदि ऐसी कोई भावदशा रसदशा से पूर्ववर्तिनी भरत को भी मान्य होती तो उन्होंने छठे अध्याय में रस-विवेचन न करके पहले भाव-विवेचन किया होता। किन्तु उन्होंने पहले छठे अध्याय में रस-विवेचन किया है। पीछे सातवें में भाव-विवेचन। यह उन्होंने सामाजिक की दृष्टि से किया है। सामाजिक पहले रसानुमान करता है, पीछे अनुकार्य के भावों के विषय में अनुमान करता है। अतः रसों से भाव होते हैं, भावों से रस नहीं।

३. यदि भरत को लोल्लट की अभिप्रेत केवला भावदशा मान्य होती तो उन्होंने सातवें अध्याय में जो भाव-विवेचन किया है, वह इसी रूप में न किया होता। भरत ने छठे अध्याय में विभावादि सामग्री के साथ रस-विवेचन किया है, फिर सातवें में उसी सामग्री के साथ कुछ

संक्षेप में वैसे ही शब्दों में भाव-विवेचन। यदि भावों की विभावादि से शून्य केवला दशा होती तो भरत दूसरे लक्षण कदापि न करते। भरत का विवेचन बताता है कि छठे अध्याय में सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से रस-निरूपण है, पीछे सातवें में अनुकार्य के लौकिक भावों का निरूपण।

अगले चार तर्कों में बौद्धों की क्षणिकवाद की धारणा अपनाकर रत्यादि स्थायी भावों के स्थायित्व का खण्डन किया गया है। इनमें वही प्रक्रिया अपनायी गयी है जो बौद्ध बीजादि भावों के स्थायित्व का खण्डन करने के लिए अपनाते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में बीजादि भावों के स्थायित्व का निराकरण करते हुए इनके क्षणिकत्व का प्रतिपादन जिन तर्कों द्वारा किया गया है, वे ही तर्क यहां शंकुक द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में बड़े ऊहापोह के साथ भावों (पदार्थों) के स्थायित्व का खण्डन करके उन तर्कों को इस प्रकार निष्कर्ष-रूप में प्रस्तुत किया गया है :

"तस्माद् विपक्षे क्रमयौगपद्यव्यावृत्त्या व्यापकानुपलम्भेनाधिगतव्यतिरेकव्याप्तिकं प्रसंगतद्विपर्ययबलाद् गृहीतान्वयव्याप्तिकं च सत्त्वं क्षणिकत्वपक्ष एव व्यवस्थापयतीति सिद्धम्।"[1]

ये तर्क कोई सर्वदर्शनसंग्रहकार के अपने नहीं, बौद्ध ग्रन्थों के ही बहु-प्रचलित तर्क हैं। उन्होंने भी इन्हें चुना है, और शंकुक ने भी। इन तर्कों में व्यतिरेक व्याप्ति तथा अन्वय व्याप्ति दोनों के द्वारा भावों की क्षणिकता प्रतिपादित की गयी है। व्यतिरेक व्याप्ति में अर्थक्रिया के 'क्रम' और 'यौगपद्य' का प्रश्न उठाया गया है, अन्वय व्याप्ति में प्रसंग और विपर्ययानुमानों का सहारा लिया गया है। शंकुक के ये चारों तर्क भी ठीक इसी प्रक्रिया का अनुगमन करते हैं। इनमें तर्क सं० ४ तथा ५ तो व्यतिरेक व्याप्ति के उदाहरण हैं, जिनमें पहले में अर्थक्रिया के 'क्रम' को सामने किया गया है, दूसरे में 'यौगपद्य' को। तर्क सं० ६ तथा ७ में अन्वय व्याप्ति है जिनमें 'प्रसंग' और 'विपर्यय' अनुमानों का प्रयोग हुआ है। इनमें 'प्रसंग' तथा 'विपर्यय' शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। बौद्ध धारणा के साथ इन तर्कों का मन्तव्य संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है :

४. लोल्लट की भावों को स्थायी मानने की बात भी ठीक नहीं। स्थायी पदार्थ में कोई अर्थक्रिया नहीं होती। न क्रम से ही, न यौगपद्य से ही।

यदि 'क्रम' से अर्थक्रिया मानी जाय तो किसी एक ही रस में विकास-क्रम के अनुसार अनन्त क्रमिक स्थितियां माननी होंगी। अनेक क्रमिक स्थितियां मानकर भाव को अनेक अर्थक्रियाकारी मानना होगा। और इस प्रकार भाव 'एक' तथा 'स्थायी' न होकर क्षणिक ही माना जाएगा।

५. और यदि 'अर्थक्रिया' को यौगपद्य से माना जाए तो भाव को समस्त अर्थक्रिया एक साथ ही सम्पादित कर देनी चाहिए। फिर किसी रस की ऊंची-नीची क्रमिक दशा मानने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। तब हास्य के भरत-प्रणीत छः भेद भी नहीं माने जा सकेंगे। फिर, भाव किसी एक विशिष्ट क्षण में ही अर्थक्रियाकारी होगा, जिस क्षण में वह यौगपद्य से क्रिया-सम्पादन कर रहा होगा, अन्य क्षणों में अर्थक्रियाशून्य हो जाएगा।

इस प्रकार 'स्थायी' माने भाव में 'अर्थक्रिया' न 'क्रम' से सम्भव है, न 'यौगपद्य' से। क्रम-यौगपद्य अर्थक्रिया के व्यापक होते हैं, अर्थक्रिया व्याप्य। जब व्यापकों का अभाव है तो

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह : बौद्धदर्शन, पृ० २५-६।

व्याप्य का अभाव स्वतः सिद्ध है। यह व्यतिरेक व्याप्ति की प्रक्रिया से भाव की क्षणिकता का प्रतिपादन हुआ। अगले दो तर्कों में अन्वय व्याप्ति से यही बात प्रतिपादित की गयी है।

६. भाव में किसी एक क्षण की अर्थक्रिया सम्पादित करते समय अतीत अनागत अर्थक्रियाओं के सम्पादन की क्षमता नहीं होती। यदि यह क्षमता उसमें मानी जाय तो काम की दश दशाओं में से किसी एक ही दशा के काल में ही अतीत अनागत की अनन्त काम दशाएं उत्पन्न होने का प्रसंग उठ खड़ा होगा। पर एक अर्थक्रिया के समय अर्थात् किसी एक काम दशा में अन्य अर्थक्रियाओं को मानना, अन्य दशाओं की सम्भावना करना वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल होगा।

७. और यदि भाव में यह क्षमता सर्वथा न मानी जाए तो यह भी ठीक न होगा। कारण, यह स्पष्ट देखा जाता है कि भाव में परवर्तिनी अर्थक्रिया पाई जाती है। एक प्ररूढ एवं चरम अवस्था पर पहुंचे हुए भाव में ह्रास होता पाया जाता है। शोक कालान्तर में क्षीण होता है, उत्साह-रति-क्रोध क्रमशः स्थैर्य-सेवन-अमर्ष की कमी होने पर कम होते पाये जाते हैं। भावों की इस परवर्तिनी अर्थक्रिया को देखते हुए किसी भाव को अतीत अनागत की समस्त अर्थ-क्रियाओं से सर्वथा शून्य कैसे कहा जा सकता है।

इस प्रकार अर्थक्रिया के सामर्थ्य एवं असामर्थ्य दो विरोधी धर्मों का आश्रय एक ही स्थायी भाव नहीं हो सकता। यही मानना होगा कि पहला भाव समाप्त हो जाता है और उसकी जगह दूसरा अर्थक्रिया-क्षम भाव उत्पन्न हो जाता है।

तर्क सं० ६ में वस्तु-स्थिति के प्रतिकूल सम्भावना होने से प्रसंगानुमान का तथा सं० ७ में वस्तु-स्थिति के अनुरूप सम्भावना करने से विपर्ययानुमान का प्रयोग हुआ है। प्रसंग तथा विपर्यय अनुमानों का यद्यपि अन्य नैयायिकों ने भी प्रयोग किया है, तथापि बौद्धों की यह विशेषता है। सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी इनका प्रयोग बौद्ध-सिद्धान्त के प्रसंग में किया है।

इन सभी तर्कों की मूल धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि शंकुक भावों को क्षणिक मानते हैं। ध्वन्यालोकलोचन में शंकुक के द्वारा किये गये लोल्लट के निराकरण में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में इस ओर संकेत किया गया है:

"प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः ?"[1]

शंकुक का लोल्लट से प्रश्न है कि जब चित्तवृत्ति 'प्रवाहधर्मिणी' हैं तो फिर एक चित्त-वृत्ति का दूसरी से परिपोष का सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है? अभिनव ने शंकुक के इस तर्क को लोचन में अभिनवभारती के उपर्युक्त तर्कों के स्थानापन्न रूप में प्रस्तुत किया है, जो समस्त तर्कों की मूल-चेतना को प्रस्तुत करता है। चित्तवृत्ति को 'प्रवाहधर्मिणी' मानने का सिद्धान्त केवल बौद्धों का है। वैदिक नैयायिकों का नहीं। काव्यप्रकाश में मम्मट ने भी जो शंकुक का मत प्रस्तुत किया है उसमें रत्यादि भावों के लिए 'स्थायी' शब्द न लाकर 'स्थायित्वेन सम्भाव्यमानः'[2] (जिस भाव की स्थायी रूप में सम्भावना की जाती है) शब्दों का प्रयोग किया है। इन उल्लेखों के रहते शंकुक के उपर्युक्त तर्कों की चेतना बौद्ध आधार-भूमि से अलग ली ही नहीं जा सकती।[3]

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १८४।

२. काव्यप्रकाश, उ० ४, पृ० ९०।

३. शंकुक के इन तर्कों की विशेष व्याख्या तथा बौद्ध सिद्धान्तों के साथ समंजस संगति के लिए देखिए—'अभिनवभारती में श्रीशंकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या।'

अब तक हमने शंकुक कृत लोल्लट का खण्डन देखा। अब हम शंकुक के द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप की ओर आते हैं।

शंकुक का रस-स्वरूप

अभिनवभारती में शंकुक का रस-स्वरूप इन शब्दों द्वारा निरूपित हुआ है :

"तस्माद् हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।"[1]

"क्योंकि लोल्लट का मत अनुपपन्न है, अतः रस का स्वरूप हमारी दृष्टि में यह होगा —जो रामादि मूल पात्रों की दृष्टि से कारण-कार्य-सहचारी हैं किन्तु नाट्य की दृष्टि से जिन्हें विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी कहा जाएगा, जो नट के द्वारा शिक्षा और अभ्यास के सहारे प्रयत्नपूर्वक प्रदर्शित किये जाने के कारण कृत्रिम होते हैं तथापि सामाजिक द्वारा कृत्रिम समझे नहीं जाते, ऐसे विभावादि लिंगों के बल से सामाजिक को नट-गत रूप में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस है। यह वस्तुतः रामादि मूल पात्रों के स्थायी भाव का अनुकरण है, और अपनी इसी अनुकरण-रूपता के कारण इसे 'भाव' न कहकर 'रस' कहा जाता है।"

लोल्लट ने रस-स्वरूप के निरूपण में लौकिक भाव-स्थिति पर दृष्टि रखी थी, शंकुक ने लौकिक तथा नाट्य दोनों स्थितियों को अलग करके देखा। लोल्लट के अनुसार लौकिक रामादि का ही उपचित स्थायी-रस है, परन्तु शंकुक के अनुसार वह नहीं, उसका 'अनुकरण' रस है। इस प्रकार शंकुक के अनुसार रस स्थायी भावों का अनुकरण है।

नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी रस है, इसका अर्थ यह हुआ कि शंकुक का रस नट-निष्ठ है। तथापि रस की नट-निष्ठता का यह अर्थ नहीं कि नट रस का आस्वादन करता है। रस भावों का अनुकरण है, और अनुकरण नट-कृत है, बस इसी अर्थ में रस नट-निष्ठ है। कहा जा सकता है, शंकुक के अनुसार भाव तो अनुकार्यगत है, पर रस अनुकर्तृगत। वस्तुतः वह अनुकर्तृस्थ नहीं, अनुकर्तृस्थ रूप में प्रतीत होने वाला है। फिर भी, सामाजिक की दृष्टि से रस एक 'विषय' ही है। सामाजिक की चेतना नहीं, एक वस्तु है।

सामाजिक को इस रस की प्रतीति कतिपय लिंगों के आधार पर होती है। लिंगों पर आधारित होने के कारण इस प्रतीति को अनुमिति-रूप मानना होगा। जिन लिंगों के आधार पर सामाजिक नट में रस का अनुमान करता है, वे हैं विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव। शंकुक के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि विभाव शकुन्तलादि नटी आदि के रूप में रंगमंच पर अनिवार्यतः उपस्थित हों हीं हों। नट के काव्य-पाठ से ही सामाजिक को विभावों की प्रतीति हो सकती है। अनुभावों को नट-शिक्षा के आधार पर प्रदर्शित करता है। व्यभिचारी भावों को भी उन अनुभावों के आधार पर प्रदर्शित करता है जो उसने अपने जीवन में अनुभूत किये हैं, किन्तु यहां कृत्रिम रूप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इसीलिए शंकुक इन अनुभावों को कृत्रिम-निज कहते हैं। इस प्रकार समस्त लिंग-सामग्री शंकुक के अनुसार वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनय के रूप में आ जाती है। ये लिंग नट के लिए कृत्रिम होते हैं, तथापि सामाजिक इन्हें कृत्रिम रूप में ग्रहण नहीं करता, और इन लिंगों के आधार पर नट में हर्ष-शोकादि का अनुमान

---

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

कर पाता है। ये अनुमित भाव जो सामाजिक को रामादि से अभिन्न समझे हुए नट में प्रतीत होते हैं, शंकुक के अनुसार 'रस' हैं।

अपना रस-स्वरूप प्रतिपादित कर चुकने पर शंकुक ने लिंगों से सम्बन्धित तीन महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उठाये हैं। प्रश्नों की कल्पना करते हुए उन्होंने इनके समाधान प्रस्तुत किये हैं। ये प्रश्न हैं :

१. लिंग किस रूप में आते हैं ?

२. लिंगों के साथ रस का क्या सम्बन्ध है ?

३. कृत्रिम लिंगों के मिथ्या ज्ञान से रसानुमिति की अर्थक्रिया कैसे सम्भव होती है ?

प्रथम प्रश्न के समाधान में जो शंकुक का उत्तर है, ऊपर दिया जा चुका है। विभाव काव्य-बल से सामाजिक की प्रतीति योग्य हो जाते हैं, अनुभाव शिक्षा से, व्यभिचारी नट के उन अनुभावों के द्वारा जो निजी होते हुए भी कृत्रिम ही होते हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव ये तीनों ही लिंग एक प्रकार से अभिनय-रूप होकर ही आते हैं। विभाव काव्य-पाठ के रूप में वाचिक अभिनय में, अनुभाव और व्यभिचारी आंगिक और सात्विक अभिनय में।

दूसरी समस्या है, इन लिंगों के साथ रस के सम्बन्ध की। बौद्धों के अनुसार लिंगों के साथ जब तक साध्य का कोई निश्चित सम्बन्ध न दिखाया जाए, कोई लिंग साध्य-सिद्धि नहीं कर सकता। अतः शंकुक रस और लिंगों के बीच सम्बन्ध दिखाना आवश्यक समझते हैं। बौद्धों के अनुसार जिन पदार्थों की उपलब्धि होती है, उनके लिंग दो प्रकार के हो सकते हैं—एक स्वभाव लिंग, दूसरे कार्य लिंग। साध्यों का 'स्वभाव लिंग' से 'तादात्म्य' सम्बन्ध होता है, 'कार्य लिंगों' के साथ 'तदुत्पत्ति'। प्रश्न उठता है, रस के साथ इन विभावादि लिंगों का क्या सम्बन्ध है ? शंकुक दो पृथक् दृष्टियों से 'तादात्म्य' तथा 'तदुत्पत्ति' दोनों सम्बन्ध सम्भव मानते हैं। बौद्धों की प्रायः यह प्रक्रिया है कि वे अनेक विषयों पर 'परमार्थ सत्य' तथा 'संवृति सत्य' की दृष्टि से अलग-अलग विचार करते हैं, फल यह होता है कि वस्तु-विवेचक तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि से वस्तु का रूप अलग होता है, सामान्य व्यवहारी व्यक्तियों की दृष्टि से अलग। शंकुक का सामाजिक एक व्यवहारी पुरुष है, जिसका क्षेत्र है 'संवृति सत्य'। वह वस्तु के कृत्रिम धरातल से प्रभावित होता है। उसके लिए कृत्रिम लिंग 'कृत्रिम' नहीं होते, और वह उनके द्वारा सामने उपस्थित राम-रूप समझे नट में उन्हीं लिंगों से हर्ष-शोक का अनुमान कर लेता है। दूसरी ओर वस्तु-तत्त्व के जानकार की दृष्टि में रस भी अनुकरण-रूप है, और लिंग भी अभिनय के अंग हैं, अर्थात् अभिनय-रूप हैं।

इस प्रकार यदि लिंगों और रस के सम्बन्ध पर वस्तु-तत्त्व विवेचक व्याख्याता की दृष्टि से विचार किया जाए तो दोनों में 'तादात्म्य' सम्बन्ध होगा। अनुकरण या अभिनय-रूप रस के साथ अभिनय-रूप लिंगों का 'तादात्म्य' उसी प्रकार बनेगा जैसे वृक्षत्व और शिंशपात्व में धर्मकीर्ति ने दिखाया है।[1] यदि इनके सम्बन्ध पर सामाजिक की दृष्टि से देखा जाए तो उसके लिए तो ये लिंग कार्य-लिंग का काम करते हैं। जैसे शोक के सच्चे आंसू किसी के हृदयगत शोक का पता देने में कार्य-लिंग होते हैं। वैसे ही नट के आंसू भी उस राम समझे हुए नट के शोक का अनुमान करा देते हैं। इस प्रकार सामाजिक की दृष्टि से रस और लिंगों के बीच

---

१. "स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। यथा वृक्षोयं शिंशपात्वात्।" न्यायबिंदु, पृ० ४०।

'तदुत्पत्ति' या 'तत्प्रभवत्व' सम्बन्ध होगा।

तीसरा प्रश्न शंकुक के सामने यह हो सकता है कि जब लिंग ही मिथ्या हैं तो उनके आधार पर सामाजिक को रसानुमान की अर्थक्रिया कैसे करा सकते हैं ? वस्तुतः कोई वैदिक दार्शनिक मिथ्या ज्ञान को अर्थक्रियाकारी नहीं मानता। इसका समाधान शंकुक बौद्ध धर्मकीर्ति की कारिकाएं प्रस्तुत करते हुए देते हैं। बौद्धों के अनुसार सभी मिथ्या ज्ञान अप्रमाण नहीं होते। वे उन मिथ्या ज्ञानों को भी प्रमाण मानते हैं जो अविसंवादी होते हैं।[1] उनके प्रमाण का लक्षण है[2]—"अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" दो दिशाओं में मणि-प्रभा और दीप-प्रभा को देखकर उन्हें मणि समझ कर दौड़ने वालों का ज्ञान समान रूप से मिथ्या है, किन्तु एक को उससे मणि मिलने की अर्थक्रिया हो जाती है, दूसरा खाली लौटता है। तो पहले का मिथ्या ज्ञान भी अर्थक्रियाकारी है और अविसंवादी होने के कारण 'प्रमाण' है। अतः शंकुक का तीसरे प्रश्न के समाधान में उत्तर है कि यहां भी मिथ्या लिंगों के द्वारा भावानुमान की अर्थक्रिया सम्भव है, और उसे अप्रामाणिक मानने की आवश्यकता नहीं।[3]

इन तीनों प्रश्नों के समाधान अभिनवभारती में इन शब्दों में देखे जा सकते हैं[4] :

१. "विभावा हि काव्यबलादनुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिम-निजानुभावार्जनबलात्।"

२. "स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। रतिः शोक इत्यादयो हि शब्दा रत्यादि-कमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। न हि वागेव वाचिकम्, अपितु तया निर्वृत्तम् अंगैरिवांगिकम्।.....। अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। .....। **तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्।**"

३. अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टा :

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।"

इन तीनों समाधानों में पिछले दोनों शुद्ध बौद्ध दृष्टि के परिचायक हैं। तीसरे तर्क में तो धर्मकीर्ति को स्पष्टतः उद्धृत ही किया गया है। यह कारिका धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक स्वर्थानुमान परिच्छेद, २, ५, ५७ से ली गयी है। प्रज्ञाकर गुप्त ने इसे अपने वार्तिकालंकार में पृ० २१८ पर एक प्रसंग में प्रस्तुत किया है।

और अन्त में शंकुक ने एक सम्बद्ध समस्या पर और विचार किया है। इन लिंगों के आधार पर होने वाली सामाजिक की प्रतीति कैसी होती है ? सामाजिक नट को इन लिंगों के आधार पर हर्ष-शोक से युक्त रामादि के रूप में ग्रहण करता है। शंकुक ने इसकी व्याख्या बौद्धों के चित्र-न्याय के आधार पर की है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प-न्याय वेदान्तियों की विशेषता है, वैसे ही चित्र-न्याय का प्रयोग बौद्धों की विशेषता है। इस चित्र-न्याय का निरूपण धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में इस प्रकार किया है :

---

१. "भ्रान्तमपि प्रमाणमविसंवादात्।" वार्तिकालंकार, पृ० २।

२. वही, पृ० १।

३. विशेष के लिए देखिए—'अभिनवभारती में श्रीशंकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या।'

४. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२-३।

"नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्यदर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥"[1]

इसी चित्र-न्याय के आधार पर शंकुक ने समझाया है कि जिस प्रकार दर्शक चित्र के रंग-रेखाओं के अश्व को अश्व ही समझता है, वैसे ही सामाजिक राम का अभिनय करने वाले नट को लिंगों के आधार पर हर्ष-शोक से युक्त राम समझता है।[2] इसी राम समझे नट में अनुमित रत्यादि, जो अनुकरण-रूप हैं, यथार्थ नहीं, रस हैं।

इस प्रकार शंकुक के अनुसार रस भावानुकरण-रूप है, जो सामाजिक को नट द्वारा अभिनीत विभावादि लिंगों द्वारा नट-गत रूप में प्रतीत होता है। सामाजिक चित्र-न्याय से नट को रामादि रूप में ग्रहण करता है, और उसे लिंगों के अनुसार हर्ष-शोकादि से युक्त जानता है।

अभिनवभारती में शंकुक के इस रस-स्वरूप के उपस्थापन के अनन्तर अभिनव ने अपने गुरु भट्टतोत द्वारा किया शंकुक के मत का खण्डन प्रस्तुत किया है, जिसके कतिपय तर्क शंकुक की बौद्ध आधार-भूमि को ध्यान में रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं। हम यहां केवल उन्हीं तर्कों की चर्चा करेंगे जिनमें बौद्ध आधार-भूमि की स्वीकृति का पता चलता है।

भट्टतोत कृत शंकुक के मत का खण्डन

शंकुक की सर्वप्रमुख मूल मान्यता है—रस भावानुकरण-रूप है। आचार्य तोत का समस्त आग्रह रस की अनुकरणरूपता के खण्डन की ओर ही है। उन्होंने चार विकल्पों की सम्भावना करते हुए रस की अनुकरणरूपता का खण्डन किया है। वे चार तर्क निम्न हैं :

१. रस सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से अनुकरण-रूप नहीं हो सकता।
२. रस नट के अभिप्राय से भी अनुकरण-रूप नहीं कहा जा सकता।
३. रस को वस्तुवृत्त के विवेचक व्याख्याताओं की दृष्टि से भी अनुकरण-रूप सिद्ध नहीं किया जा सकता।
४. और, स्वयं भरत के वचनों का अनुसरण करते हुए भी रस अनुकरण-रूप सिद्ध नहीं होता।

हम पीछे संकेत कर चुके हैं कि शंकुक ने अपने रस-विवेचन में अनेक बिन्दुओं पर सामाजिक और वस्तुस्थिति से परिचित विवेचक की दृष्टि से अलग-अलग विचार किया है। यह दृष्टि उन्हें बौद्ध विवेचन-प्रणाली से ही मिली है। वे लोग पदार्थ सत्य तथा संवृति सत्य को अलग-अलग लेकर चलते हैं। भट्टतोत उनकी इस आधार-भूमि से परिचित हैं और अपने विकल्पों में 'सामाजिक' और 'वस्तुतत्त्व-विवेचक व्याख्याता' का भी एक विकल्प रखते हैं :

"किंवा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन, यथाहुः—'व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति' इति।"[3]

आचार्य धर्मकीर्ति ने 'सामान्य' की समस्या पर 'व्यवहारी व्यक्ति' और 'वस्तुतत्त्व विवेचक व्याख्याता' दोनों की दृष्टि से अलग-अलग विचार करते हुए लिखा है :

---

१. परमार्थसार, पृ० १९।
२. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७३।
३. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७४।

"व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति, न तु व्यवहर्तारः"[1]

भट्ट तोत के शब्द शंकुक के प्रति आक्षेप करते हुए सीधे उनकी मूल चेतना के आधार धर्मकीर्ति की ओर हैं। "व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति" ये शब्द धर्मकीर्ति के शब्दों का उद्धरण मात्र हैं।

भट्ट तोत के इस प्रकार शंकुक और धर्मकीर्ति को मिलाकर एक साथ आक्षेप करने का कारण है। शंकुक ने अपने सिद्धान्त की स्थापना में धर्मकीर्ति के सामान्य विवेचन से प्रेरणा ली है। धर्मकीर्ति ने अपना सामान्य विवेचन इस प्रकार किया है :

"पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।
एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः॥
तया संवृतनानार्थाः संवृत्या भेदिनः स्वयम्।
अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित्॥
तस्या अभिप्रायवशात् सामान्यं सत् प्रकीर्तितम्।
तदसत् परमार्थेन यथा संकल्पितं तथा॥"[2]

धर्मकीर्ति की इस मान्यता के अनुसार बाह्य स्वलक्षण परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। एकार्थता का प्रतिभास दृष्टा की विकल्पिका बुद्धि द्वारा आरोपित होता है। एकार्थता प्रतिभास पदार्थ का 'विकल्पित' रूप है। इसे ही अन्यत्र 'विप्लव', 'संप्लव', 'उपप्लव' आदि शब्दों से भी कहा गया है।[3] सामान्य व्यवहारी पुरुष 'दृश्य' तथा 'स्वलक्षण' में भेद करके नहीं चलता। वह 'विकल्प' से अभिन्न माने हुए 'स्वलक्षण' को ही अर्थक्रिया-योग्य समझता है, और उसे इससे अर्थक्रिया होती भी है। किन्तु वस्तुतत्त्व से परिचित 'व्याख्याता' उस विकल्प को विवेचित करके चलता है।[4] कहना चाहिए, व्यवहारी व्यक्ति के लिए विकल्प या संप्लव अविवेचित रह जाता है, व्याख्याता के लिए वह विवेचित होता है, अलग-अलग रहता है।

शंकुक का सामाजिक एक व्यवहारी पुरुष ही तो है। वह नट को राम से भिन्न करके नहीं देखता। वस्तुतः नट और राम दोनों भिन्न हैं, तथापि उसकी विकल्पिका बुद्धि उनमें एकार्थता का प्रतिभास करके चलती है। विकल्पिका बुद्धि के इस 'संप्लव' को वह विवेचित करके अर्थात् अलग-अलग करके नहीं चल पाता, यह तो तत्त्व से परिचित व्याख्याता ही है जो दोनों में भेद करके चलता है। शंकुक ने चित्र-न्याय से सम्बन्धित निम्न कारिकाओं को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। सम्भावना है, ये कारिकाएं किसी बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी हैं :

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितसंप्लवः॥
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥"[5]

---

१. धर्मकीर्ति : प्रमाणवार्तिक : स्वार्थानुमानपरिच्छेद, पृ० १७०।
२. वही : सामान्यचिन्ता, कारिका ७०-७२, पृ० १६६।
३. सर्वदर्शनसंग्रह : बौद्धदर्शन, पृ० ३३।
४. विशेष के लिए देखिए—'आचार्य शंकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' हिन्दी अनुशीलन : वर्ष १४, अंक १, जनवरी-मार्च, ६१।
५. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

इन कारिकाओ में बताया गया है कि सामाजिक नट को जिस समय लिंगों के आधार पर सुख-दुःखादि संवलित रामादि के रूप में ग्रहण करता है, उस समय 'यह सुखी या दुःखी राम है' बस ऐसी चेतना होती है। उसका यह अनुभव संप्लव-रूप है। और इस संप्लव में कोई विरोधिनी बुद्धि अनुभूति-काल में सामाजिक की चेतना में नहीं आती है, अतः इस अनुभव में यह 'संप्लव' अविवेचित रह जाता है। सामाजिक के इस स्फुरित अनुभव को किस युक्ति से अस्वीकार किया जा सकता है ?

स्पष्ट है, शंकुक ने अपनी स्थापना में धर्मकीर्ति के सामान्य-विवेचन से सीधी सहायता ली है। भट्ट तोत ने इसीलिए शंकुक की मूल चेतना के स्थल की ओर संकेत करते हुए धर्मकीर्ति के शब्दों को शब्दतः उद्धृत करके शंकुक पर आक्षेप किया है। इस प्रकार वस्तुवृत्त के विवेचक व्याख्याताओं का एक विकल्प बनाना शंकुक की बौद्ध आधार-भूमि की ओर निश्चित संकेत करता है।

और, इस विकल्प को मानकर जो रस की अनुकरणरूपता का खण्डन किया गया है, उसमें भी यही बात है। कहा गया है :

"नापि वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः।"[1]

वस्तुवृत्त का अर्थात् वास्तविक स्थिति का ध्यान करके भी रस की अनुकरणरूपता नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'रस' सामाजिक की अनुभूति का 'विषय' है, 'अनुसंवेद्यमान' है। सामाजिक की अनुभूति के समय उसके समक्ष वस्तुवृत्तता नहीं आती।"

भट्ट तोत कहना चाहते हैं कि रस अनुभूति का विषय है, और रसानुभव के समय वस्तुवृत्तता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार वस्तुवृत्त की दृष्टि से रस की अनुकरण-रूपता सम्भव नहीं। वस्तुतः भट्ट तोत का यह उत्तर उचित नहीं। शंकुक की दृष्टि से तो वस्तुतत्त्व का विवेचक व्याख्याता संवेदन की स्थिति से अलग होता है। अतः उसकी दृष्टि से रस की अनुकरणरूपता कही जा सकती है। किन्तु भट्ट तोत और अभिनव वस्तुवृत्तता को शंकुक की दृष्टि से लेना ही नहीं चाहते। अतः अभिनव कहते हैं, जो वस्तुवृत्त है, हम उसे आगे दिखाएंगे :

"यच्च वस्तुवृत्तं तद् दर्शयिष्यामः"[2]

किन्तु 'वस्तुवृत्त' को उसी रूप में न लेकर जिस रूप में शंकुक ने लिया, अपनी दृष्टि से लेना और फिर वस्तुवृत्त-विवेचक व्याख्याता की दृष्टि से रस की अनुकरणरूपता का खण्डन करना उचित नहीं कहा जा सकता।

भट्ट तोत ने शंकुक पर एक और आक्षेप किया है, जो शंकुक को निश्चित रूप में बौद्ध मानकर चलता है :

"नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमस्तीति प्रतिपत्तिरस्ति। ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम्॥"[3]

भट्ट तोत का कहना है कि सामाजिक एक ही नट को लिंगों के आधार पर राम नहीं समझता, अन्य नटों को भी राम रूप में ग्रहण करता है, कर सकता है। इस प्रकार अनेक

---

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

२. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७४।

३. वही, पृ० २७५।

राम-रूपा प्रतीतियों में एक रामत्व मानना होगा, और इस प्रकार रामत्व सामान्य को स्वीकार करना होगा।

यहां उल्लेखनीय यह है कि यह तर्क बिलकुल स्वतन्त्र है, और इसका ऊपर-नीचे की चर्चाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम जानते हैं कि बौद्ध 'सामान्य' को नहीं मानते। वे उसे अभाव-रूप कहते हैं। वैदिक नैयायिक सामान्य को भाव-रूप मानते हैं, और अनेक तर्कों से बौद्धों की मान्यता को उपहासास्पद दिखाते हैं। भट्टतोत किसी प्रकार घुमा-फिराकर शंकुक के सामने एक सामान्य का पचड़ा लाकर खड़ा कर देते हैं। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक शंकुक को सामान्य का विरोधी बौद्ध न माना जाए।

आचार्य महिमभट्ट

महिमभट्ट का समय अभिनव और मम्मट के बीच समझा जाता है। वे एक कट्टर ध्वनि-विरोधी आचार्य थे, और उन्होंने अपने व्यक्तिविवेक की रचना ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करके ध्वनि को अनुमान में ही अन्तर्भूत करके दिखाने के लिए की थी।[1] फिर भी वह काव्य की आत्मा रस को ही मानते थे।[2] इस प्रकार वे ध्वनि-विरोधी होते हुए भी रस-वादी थे।

जहां तक शब्द-शक्तियों का प्रश्न है, महिम केवल एक शब्द-शक्ति मानते हैं—अभिधा। तात्पर्या, लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियां नहीं, अपितु अर्थ-व्यापार हैं। ये सभी अर्थ-व्यापार वाच्य अर्थ और उससे निकलने वाले दूसरे अर्थ के बीच हैं। इन सबको वे एक ही गम्य-गमक-भाव से गतार्थ मानते हुए अनुमान में ही अन्तर्भूत दिखाते हैं।[3]

महिम ने रस-स्वरूप का विवेचन अलग से नहीं किया। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को अन्य ध्वनि-भेदों के समान अनुमान द्वारा गतार्थ दिखाते हुए रस-स्वरूप के सम्बन्ध में प्रासंगिक चर्चा आयी है।

रस-स्वरूप

प्रासंगिक रूप से एक स्थल पर रस का स्वरूप महिम ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है:

"तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्य-लोकविषयतया च स्वरूपभेदे विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येषु एव प्रतीतिरूपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्य-वृत्त्योपपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।"[4]

इन शब्दों में रस का स्वरूप प्रासंगिकतया असाक्षात् रूप से ही निरूपित है। इसे समझने के लिए महिम की कतिपय अन्य मान्यताएं इस सन्दर्भ में जान लेनी चाहिएं जिन्हें उन्होंने अन्यत्र प्रस्तुत किया है।

---

१. "अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा पदं वाचम्॥" व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० १।

२. "काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः", वही, पृ० १०५।

३. "शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।" वही, पृ० १०५।
"सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साध्यसाधनभावगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः" वही, पृ० २१।

४. व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० ७३।

१. विभावादि की लौकिक एवं काव्यनिष्ठ स्थिति में अन्तर होता है। लौकिक रूप में ये कारण, कार्य, सहकारी होते हैं और अकृत्रिम होते हैं। किन्तु काव्य में ये कृत्रिम होते हैं, कवि द्वारा चित्रित। इसीलिए इनके लौकिक नाम हेत्वादि हैं, काव्यगत नाम विभावादि। अतः हेत्वादि और विभावादि में विषयात्मक तथा स्वरूपात्मक भिन्नता है।

२. इन विभावादि से रत्यादि की अनुमानात्मक प्रतीति होती है। अतः विभावादि और रत्यादि के बीच गम्यगमक-भाव सम्बन्ध होता है। विभावादि और रत्यादि की प्रतीति साथ-साथ नहीं होती, अपितु आगे-पीछे होती है। उसमें कालिक क्रम अवश्य होता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण लक्षित नहीं होता। इसी कारण उसे असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है। इस कालिक अन्तर के कारण ही दोनों के बीच साध्यसाधन-भाव या गम्यगमक-भाव उपपन्न हो जाता है।[1]

३. लोक में जब हम अकृत्रिम हेत्वादि के आधार पर किसी व्यक्ति में रत्यादि का अनुमान करते हैं तो वह सद्भूत रत्यादि का अनुमान होता है, किन्तु काव्य द्वारा जब हम कृत्रिम विभावादि से किसी पात्र-विशेष में रत्यादि का अनुमान करते हैं तो वह असद्भूत रत्यादि का ही अनुमान होता है।

इस प्रकार महिम के अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के द्वारा गम्यगमक-भाव से असत्यभूत रत्यादि स्थायी भावों की अनुमानात्मक प्रतीति ही रस है। सत्ता की दृष्टि से रत्यादि असत्यभूत होते हैं, क्योंकि उनके आधार विभावादि भी सत्तारूप में कृत्रिम अतः असत्य होते हैं। इन रत्यादि की सत्ता केवल अनुमानात्मक प्रतीति के रूप में ही होती है, यही रस है। इन्हीं अनुमित रत्यादि की प्रतीति का परामर्श ही 'रसास्वाद' है। 'परामर्श' से महिम कहना चाहते हैं कि इन अनुमीयमान रत्यादि की चमत्कारपूर्ण उपस्थिति को सामाजिक प्रमाता अनुभव करता है और आनन्दित होता है।

'असत्यभूत रत्यादि का परामर्श रस है' इस मान्यता के सम्बन्ध में यह शंका उठना स्वाभाविक है कि असत् वस्तु का ज्ञान भ्रान्ति है, और भ्रान्ति-रूप ज्ञान से किसी को आनन्दलाभ कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में महिम के पास अपना कुछ उत्तर नहीं है, वे शंकुक द्वारा प्रस्तुत धर्मकीर्ति की कारिका को शंकुक से लेकर ही प्रस्तुत कर देते हैं:

"भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा इति—
मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।"[2]

दूसरी शंका वही है जो प्रायः उठा करती है कि जब लौकिक रूप में हम इसी प्रकार की सामग्री से इन्हीं रत्यादि भावों का अनुमान करते हैं तब ये एकान्त रूप में आनन्दात्मक नहीं होते, प्रायः कष्टात्मक भी होते हैं। तब काव्यरूप में तो ये मिथ्या-प्रतीति के रूप में और आ रहे हैं। इनकी अनुभूति या परामर्श आनन्दात्मक ही कैसे हो सकती है?

इसका समाधान महिम ने काव्यानुभूति की प्रकृति को श्रेय देते हुए किया है। काव्यानुमिति लौकिक हेत्वादि द्वारा नहीं, काव्यनिष्ठ विभावादि द्वारा आती है। प्रत्यक्ष अनुभूतियां

---

१. "वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्यगमकभावः तथा तेनैव व्यक्तिवादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेनापि उक्तम्।" व्यक्तिविवेक, विमर्श १, भाग १, पृ० ६३।

२. वही, पृ० ७४।

भले ही दुःखात्मक होती हैं, काव्य से रत्यादि की उपलब्धि परोक्ष रत्यादि की होती है। इस परोक्षता तथा कवि की सर्जना के कौशल का प्रभाव काव्यानुभूति को सुखात्मक ही बनाते है—

(क) "यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदय इति वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदवीमवतरति प्रामाणिकानाम्।"[1]

(ख) "आस्तां वा रत्यादिर्नित्यपरोक्षः। प्रत्यक्षोपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। ... ...। सोपि च तेषां न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमेयतां नीतः इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोगमर्हति। तदुक्तम्—

नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
न सुखयति वाच्योर्थः प्रतीयमानः स एव यथा।" इति।[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि महिम रस को सुख-रूप मानते हैं। उनकी दृष्टि से रत्यादि की सत्यासत्यता का प्रश्न अनावश्यक है। बल्कि यह असत्यता और परोक्षता काव्य-निष्ठ वैषयिक चारुत्व से मिलकर भावानुमिति को चमत्कारपूर्ण बनाते हैं और उनकी दुःखात्मकता का अवकाश समाप्त करती हैं।

महिमभट्ट और शंकुक

महिमभट्ट ने शंकुक से रस-निरूपण में पर्याप्त प्रेरणा ली है। हेत्वादि और विभावादि की लौकिक और काव्यनिष्ठ स्थिति का पार्थक्य और अकृत्रिमता तथा कृत्रिमता, विभावादि और रत्यादि के बीच गम्यगमक सम्बन्ध की स्वीकृति, लौकिक-अनुमान और काव्यानुमान में वैलक्षण्य, मिथ्याभूत रत्यादि की प्रतीति से सुखास्वाद की अर्थक्रिया और उसके लिए मणि-प्रदीपप्रभा वाला उदाहरण ये सभी बातें महिम में शंकुक के प्रभाव से ही आयी हैं। इस प्रकार समस्त ध्वनिभेदों तथा अन्य लक्ष्यार्थ इत्यादि को अनुमान से गतार्थ दिखाने के व्यापक प्रयास की मौलिकता का श्रेय भले ही महिम को दिया जा सके, पर रस के स्वरूप, व्याख्या और अनुमेयत्व विषयक मान्यताओं के सम्बन्ध में तो उनकी एकान्त मौलिकता स्वीकार नहीं की जा सकती।

महिम के रस-विवेचन का दार्शनिक आधार

महिम ने रस-विवेचन में न्याय का आधार लिया है, यह बात स्पष्ट है। किन्तु शंकुक के समान ही उनके विषय में भी यह कहना सहज नहीं कि वे किस न्याय-पद्धति के अनुसर्ता थे। उनके समूचे निरूपण पर ध्यान देते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन पर भी शंकुक के समान ही बौद्ध न्याय का भारी ऋण है। पहले हम उन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो उन्हें बौद्ध मानने से रोकती हैं:

बौद्ध-प्रभाव के विपक्षी सूत्र

१. महिम ने लोक, वेद और अध्यात्म इन तीनों को प्रामाणिक माना है, तथा वेद के

---

१. व्यक्तिविवेक, विमर्श १, पृ० ६६।
२. वही, पृ० ७३-४।

अन्तर्गत इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि को भी स्वीकार किया है।[1] वेद-शास्त्रों के प्रति यह आस्था एवं प्रमाण-दृष्टि बौद्धों में नहीं पायी जाती।

२. महिम ने शिव और पार्वती का उल्लेख प्रसंग आने पर आस्थापूर्ण शब्दावली में किया है।[2]

३. उन्होंने शैव-दर्शन की कतिपय मान्यताओं को भी सिद्धान्त-पक्ष में प्रस्तुत किया है। इन मान्यताओं की व्याख्या जयरथ ने भी शैव दृष्टिकोण के अनुरूप ही की है।[3]

४. रत्यादि भावों को महिम ने 'स्थायी भाव' स्वीकार किया है।[4] शंकुक ने इस स्थायित्व को अस्वीकार करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से ही इन्हें स्थायी कहा है, हम यह देख चुके हैं।

५. महिम ने पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय भेद मानते हुए नाम के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार भेद दिखाये हैं। एक मत केवल क्रियावादी भी प्रस्तुत किया है।[5] ये दोनों वैयाकरणों की मान्यताएं हैं और इनका उल्लेख वाक्यपदीय में इसी रूप में हुआ है। पर इस प्रसंग में महिम ने बौद्धों का अपोहवादी मत कहीं प्रस्तुत नहीं किया।

इन सूत्रों पर ध्यान देने से लगता है कि महिम की आस्था बौद्ध-दर्शन की ओर नहीं थी। पर बात ऐसी नहीं है। हम अभी देखेंगे कि बौद्ध न्याय का प्रभाव उन पर बहुत दूर तक है।

इन विपक्षी सूत्रों में भी वेदादि को प्रमाण-पक्ष में रखने की बात जहां तक है, वह तो महिम ने अनुमान-प्रक्रिया में अपेक्षित साध्यसाधनभाव के अंगरूप में स्वीकृत की है :

"साध्यसाधनभावश्चानयोरविनाभावावसायकृतोऽवगन्तव्यः। स च प्रमाणमूलः। तच्च त्रिविधम्। यदाहुः—"लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।"[6] इति

शिव और पार्वती के उल्लेख भी इसी शास्त्रप्रमाण के अन्तर्गत आये हैं। कहा जा सकता

---

१. "लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।" "वेदग्रहणमितिहासपुराणधर्मशास्त्राद्युपलक्षणं तेषां तन्मूलत्वोपगमात्।" व्यक्तिविवेक, पृ० ४२ तथा ४३।

२. "अत्र हि कारणभूतस्य भगवद्गतस्य सम्प्रेदानत्व ...।" "सा चानुमीयमाना सती भगवती भवे भर्तरि रतिमनुमापयेति।" वही, पृ० क्रमशः ४४ तथा ५१।

३. "मूलंच तस्याश्चित्रार्थाभासाविष्कृतिरीशितुः।" वही, पृ० ३३।
"सत्तायां व्यापृतिश्चैषा चित्रत्वपरिनिष्ठितेः।
संगच्छते जडस्यापि घटादेर्घटनादिवत्।" वही, पृ० ३५।
"इह खलु घटादीनां पदार्थानां बहिः सिद्धावपि प्रतिपत्तर्यसिद्धेरेव, बहिः सत्तामात्रेणासत्कल्पेन व्यवहर्तॄणां व्यवहारासिद्धेः। प्रतिपत्तरि सिद्धिः प्रकाश एव। स चा प्रकाशमानानां प्रकाशं प्रति ताटस्थ्येनावस्थितानां न भवन्ति, सम्बन्धानुपपत्तेः। प्रकाशमानत्वं च प्रकाशाविशिष्टत्वेन प्रकाशरूपतयैव। प्रकाशश्च निष्परामर्शत्वेन स्फुरत्वाज्जडकल्प एव। परामर्शः स्वातन्त्र्याख्यं कर्तृत्वम्। तदिहैकैकोपि पदार्थः प्रकाशात्मतया लब्धस्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वरः कर्तृत्वमनुभवत्येवः...। ततश्च विश्वस्याविष्करणक्रिया स्वतन्त्रस्वभावपरमेश्वरसम्बन्धिनीं चित्राभासाविष्कृतिं मूलत्वेनावष्टभ्य घटादयोपि प्रकाशैकात्मानः सत्ताव्यापृतौ स्वतन्त्रतामनुभवन्त्येव।...। एतदेव प्रकटीकरिष्यति "सत्तायां व्यापृतिश्चेयमित्यत्र।" जयरथ, व्यक्तिविवेकव्याख्यानम्, वही, पृ० ३३-३४।

४. "ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्थेमभाजोवस्थाविशेषाः" वही, पृ० ६८। व्यक्तिविवेक।

५. व्यक्तिविवेक, पृ० २२ तथा २३।

६. व्यक्तिविवेक, पृ० ४४।

है, महिम अपने सिद्धान्त को उपलब्ध काव्य-साहित्य के लिए मानदण्ड बनाना चाहते थे। यदि वे इनमें प्रतिपादित आस्थाओं को ही मूल से अस्वीकार कर देते तो उनके सिद्धान्त की उपयोगिता ही क्या रह जाती ?

शैव-दर्शन की मान्यताएं भी सीधे-सीधे उनमें आती प्रतीत नहीं होतीं। उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी मान्यताओं को ज्यों का त्यों व्याकरण के प्रामाणिक ग्रन्थों से प्रस्तुत किया है, विशेषतः वाक्यपदीय से, जिस पर शैव आस्थाओं का गहरा प्रभाव है। यह मान्यता भी वाक्य-पदीय-स्थित क्रिया-सत्तावादी मत को प्रस्तुत करते हुए ही प्रस्तुत की गयी है। बौद्धों के पास अपना अलग से कोई व्याकरण नहीं था। उसके अनुयायी विद्वान् भी पाणिनीय-परम्परा को ही अपनाते थे।

रत्यादि भावों को स्थायी कहने वाली बात भी शंकुक के समान ही व्यवहार-दृष्टि से कही जा सकती है।

शब्द-चतुष्टय-वाद के सम्बन्ध में भी यही माना जा सकता है कि महिम ने वैयाकरण मान्यता को ही तटस्थतया स्वीकार करके प्रस्तुत किया है। व्याकरण-सम्बन्धी मान्यताओं के विषय में उन्होंने पग-पग पर भर्तृहरि आदि को प्रस्तुत किया है। यह बात भी वैसी ही माननी चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त विपक्षी सूत्र अपने में निर्णायक नहीं हैं। विशेषकर तब, जबकि उनके निरूपण में उनकी न्याय-सम्बन्धी मान्यताओं में बौद्ध धारणाओं का अधिक स्पष्ट प्रति-फलन दिखाई पड़ता है।

बौद्ध-प्रभाव के प्रतिपादक सूत्र

१. अनुमान-लक्षणों की शब्दावली—महिम भट्ट ने प्रासंगिक रूप से जो अनुमान के लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनकी शब्दावली सीधी बौद्ध आचार्यों से आयी हुई है। महिम ने अनु-मान को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है :

(क) "लिंगाच्च लिंगिनः प्रतीतिरनुमानम्।"[१]

"अविनाभावावसायपूर्विका ह्यन्यतोऽन्यस्य प्रतीतिरनुमानमित्यनुमान-लक्षणनम्।"[२]

इन दोनों लक्षणों की शब्दावली सामान्य है, और इस प्रकार से किसी भी दर्शन के ग्रन्थों में पायी जा सकती है। पर निम्न लक्षण कुछ विशेष रूप रखते हैं।

(ख) "त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।"[३]

(ग) "त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थानुमानम्।"[४]

(घ) "सामान्येन सम्बन्धिनार्थप्रतिपत्तिरनुमानम्।"[५]

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान का लक्षण क्रमशः इन

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ११६।

२. वही, पृ० १११।

३. वही, पृ० ६४, १०५।

४. वही, पृ० ७८।

५. वही, पृ० ७९।

शब्दों में किया है :

(क) "तत्र स्वार्थं-त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।"[१]

(ख) "त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थानुमानम् ।"[२]

महिम भट्ट के ऊपर के 'ख' और 'ग' के अन्तर्गत आये लक्षण धर्मकीर्ति से ही लिये गये हैं । इस पदावली में अन्य दर्शनों के नैयायिकों ने अनुमान-लक्षण प्रायः नहीं किये ।

धर्मकीर्ति ने अनुमान को 'सामान्य-लक्षण' कहा है ।[३] यह सामान्य शब्द जाति-वाचक नहीं जिसे अन्य दार्शनिक नित्य पदार्थ मानते हैं । इसे अनेक पदार्थों में पाया जाने वाला ऐसा साधारण रूप कहा गया है जो तात्त्विक दृष्टि से समारोपित और कल्पित है ।[४] ऊपर महिम भट्ट का अन्तिम अनुमान-लक्षण इसी सामान्य रूप के माध्यम से किया गया है—"सामान्येन सम्बन्धिना अर्थप्रतिपत्तिरनुमानम् ।" अतः वह भी बौद्ध धारणा के अनुरूप है ।

२. **अनुमान की ज्ञानरूपता एवं वचनरूपता**—धर्मकीर्ति ने स्वार्थानुमान को ज्ञान-रूप और परार्थानुमान को वचनात्मक माना है ।[५] महिम के लक्षणों में भी धर्मकीर्ति से ही लिये जाने के कारण यह बात मौजूद है । "त्रिरूपाल्लिगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।" तथा "त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थानुमानम्" लक्षणों में एक को 'ज्ञानरूप' दूसरे को 'आख्यानरूप' कहा गया है । वैसे अनुमान को स्वार्थानुमान और परार्थानुमान रूप में वर्गीकृत करना कदाचित् बौद्धों की ही उपलब्धि है, जो प्राच्य न्याय में नहीं मिलती । नव्य न्याय के परवर्ती ग्रन्थों जैसे न्याय-मुक्तावली, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि में तो पायी जाती है । ये नव्यन्याय के ग्रन्थ महिम से परवर्ती हैं । नव्यन्याय का विकास गंगेश उपाध्याय से बारहवीं शती से माना जाता है ।

३. **अनुमान की त्रिरूपता**—महिम के अनुमान की एक विशेषता है—हेतु का त्रैरूप्य मानना । मम्मट ने उनका निराकरण करते समय उनकी इस मान्यता को दुहराते हुए कदाचित् यह संकेत किया है कि महिम एक विशिष्ट प्रकार की न्याय-पद्धति मानते हैं, गौतमीय न्याय की नहीं ।[६] गौतमीय न्याय में हेतु को पंचरूपी ही माना गया है । हेतु के तीन रूप हैं—पक्षसत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्ष-असत्त्व । सांख्य[७] वैशेषिक[८] और बौद्ध[९] नैयायिक हेतु को त्रिरूप मानते हैं, शेष चार और प्रायः पाँच रूप वाले हेतु को ही ठीक समझते हैं । महिम की त्रिरूपता बौद्धों से आयी हुई है, सांख्य या वैशेषिक से नहीं । अन्य बातें सांख्य और वैशेषिक में नहीं मिलतीं ।

---

१. न्यायबिन्दु : द्वितीय परि०, पृ० २१ ।

२. वही, पृ० ४६, परि० ३ ।

३. "अत्यत्सामान्यलक्षणम् ।" वही, पृ० १७, प्रथम परि० ।

४. "सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम् । साधारणं रूपमित्यर्थः । समारोप्यमाणं हि रूपं सकलवह्नि-साधारणम् । ततस्तत्सामान्यलक्षणम् ।" धर्मोत्तराचार्यकृत टीका : वही, पृ० १७-१८ ।

५. 'न्यायबिन्दु' धर्मोत्तरटीका, पृ० २१—"परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्था० तु ज्ञानात्मकम्" ।

६. काव्यप्रकाश, उ० ५, पृ० २५२—"...व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिगाल्लिगिज्ञानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति ।"

७. सांख्यकारिका, माठरवृत्ति, कारिका ५ की वृत्ति ।

८. "यदनुमेयेन सम्बद्धं, प्रसिद्धं चतदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव, तल्लिगमनुमापकम् ।" वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २००, विजयनगर सं० सी०, १८९५ ई० ।

९. न्यायबिन्दु, द्वितीय परिच्छेद ।

४. उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव—महिम ने उपमानादि को पृथक् प्रमाण न मानते हुए अनुमान में ही उन्हें अन्तर्भूत माना है।[1] गौतमीय न्याय उपमान को पृथक् प्रमाण मानता है। इसे अनुमान में अन्तर्भूत मानने वाले दर्शन हैं—सांख्य-योग, वैशेषिक और बौद्ध। अतः गौतमीय न्याय से महिम का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

५. दो प्रमाण—महिम ने प्रत्यक्ष और अनुमान केवल द्विप्रमाणवादी मान्यता को प्रामाणिक माना है। गौतमीय न्याय चार प्रमाण मानता है। सांख्य-योग उपमान को न मानते हुए भी तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं। द्विप्रमाणवादी केवल दो दर्शन हैं—वैशेषिक और बौद्ध।[2]

६. दृष्टान्त का महत्त्व-शैथिल्य—महिम भट्ट ने दृष्टान्त को वह महत्त्व नहीं दिया जो वैदिक नैयायिक दिया करते हैं। गौतमीय न्याय में तो पंचावयवी अनुमान वाक्य ही स्वीकार किया गया है। सांख्य और मीमांसा के अनुयायी तीन ही अवयव स्वीकार करते हैं। ये अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त। दृष्टान्त के महत्त्व के विषय में सभी एकमत हैं। केवल बौद्ध ग्रन्थों में उसके प्रति उपेक्षा बरती गयी है। वैशेषिक नैयायिक तो पाँच अवयव ही मानते हैं।[3]

महिमा ने दृष्टान्त को अनिवार्य न मानते हुए प्रमाणस्वरूप एक कारिका प्रस्तुत की है जो कदाचित् किसी बौद्ध ग्रन्थ से ली गयी है। कारिका इस प्रकार है :

"तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव तु केवलः॥"[4]

धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को पृथक् अवयव न मानते हुए कहा है :

"तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्।"[5]

उनके अनुसार यदि कहीं दृष्टान्त है भी तो वह हेतु में ही अन्तर्भूत है। इस दृष्टि से उन्होंने सदृष्टान्त हेतु और शुद्ध हेतु के रूप में अपने 'स्वभाव हेतु' को प्रस्तुत किया है।[6] दृष्टान्त के विषय में यही दृष्टिकोण महिम ने अपनाया है।

इस प्रकार लिंग को त्रिरूप मानना, उपमान को अनुमान में अन्तर्भूत मानना, दृष्टान्त को अनावश्यक मानना तथा दो प्रमाण मात्र स्वीकार करना—ये बातें ऐसी हैं जिनके कारण महिम का न्याय गौतमीय न्याय नहीं रह जाता।

---

१. "उपमानादीनां च तत्रैवान्तर्भावात्" व्यक्तिविवेक, पृ० ७८।

२. वैशेषिक—"शब्दादीनामनुमानान्तर्भावः समानविधत्वात्।" वैश० द०, प्रश०, पृ० २१३।
"एतेन शाब्दं व्याख्यातम्।" अ० ९, आ० २, स० ३, पृ० ३३१ वही।
बौद्ध—"द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्, प्रत्यक्षमनुमानं च" न्यायबिन्दु, पृ० ७-८।

३. "पंचावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्।"
पंचावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं ज्ञेयम्।"
वैशेषिक दर्शन : वही, पृ० २३।
"अवयवाः पुनः प्रतिज्ञोपदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः।" वही, पृ० २३३।

४. व्यक्तिविवेक, पृ० ६५।

५. न्यायबिन्दु, वही, पृ० ९१।

६. "तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः—यत्सत्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति। शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः—यदुत्पत्तिमत् तदनित्यम्।" न्यायबिन्दु, पृ० ४९-५०।

उपमान को न मानकर तथा हेतु को त्रिरूप मानकर भी सांख्य महिम को प्रभावित करता हुआ इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह द्विप्रमाणवादी नहीं है, तथा दृष्टान्त के प्रति जागरूक है।

वैशेषिक द्विप्रमाणवादी, और लिंग के त्रैरूप्य को मानकर भी दृष्टान्त के प्रति उपेक्षा नहीं करता। वैशेषिक में भक्ति या लक्षणा की स्वीकृति है, पर महिम ने लक्षणा को भी पृथक् शब्द-शक्ति न मानकर अनुमान-प्रक्रिया में ही अन्तर्भूत किया है। लिंग-त्रैरूप्य, दृष्टान्त-शैथिल्य, द्विप्रमाणत्व आदि सब बातें मिलकर महिम को वैशेषिक अनुयायी भी नहीं रहने देतीं।

७. **स्वभाव और कार्यहेतुओं की स्वीकृति**—बौद्ध न्याय में हेतु के तीन प्रकार माने गये हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इनमें पहला अभावात्मक है और अभावात्मक अनुमेय का ज्ञान कराता है, शेष दो भावात्मक हैं और भावात्मक अनुमेय का ज्ञान कराते हैं।[1] स्वभाव हेतु में 'तादात्म्य' सम्बन्ध आधार होता है, कार्य हेतु में 'तदुत्पत्ति' सम्बन्ध। इनके उदाहरण धर्मकीर्ति ने दिये हैं—"वृक्षोयं शिंशपात्वात्।" तथा "अग्निरत्र धूमात्।"[2]

महिम ने दृष्टान्त के सम्बन्ध में जो कारिका प्रस्तुत की है उसमें आये "तद्भावहेतुभावौ" शब्दों का अर्थ जयरथ ने "तादात्म्य और तदुत्पत्ति" ही किया है।[3] यह इस बात का संकेत है कि यह कारिका किसी बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी है।

महिम के निरूपण में अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य-हेतुओं की मान्यता एवं उल्लेख बहुशी मिलते हैं। मम्मट ने उनकी समीक्षा में 'भम धम्मिअ' वाले उदाहरण में सिंहोपलब्धि को इस अनुपलब्धि के विरुद्ध प्रस्तुत किया है।[4]

महिम में स्वभाव और कार्य हेतु के धर्मकीर्ति के दोनों उदाहरण और तादात्म्य-तदुत्पत्ति वाली बात ज्यों की त्यों मिलती हैं।[5] महिम ने एक और कारिका प्रस्तुत की है, जो कदाचित् बौद्ध ग्रन्थ से ही ली गयी है। उसमें भी इन उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है, केवल शिंशपा की जगह छन्द के अनुरोध से आम्र का प्रयोग किया गया है :

"पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात्।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः।"[6]

८. **शंकुक का अनुसरण**—हम एक मात्रा तक महिम में शंकुक का अनुसरण पाते हैं।

---

१. "त्रीण्येव लिंगानि" "अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति" "अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ" "एकः प्रतिषेधहेतुः" "ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यां वस्तुसिद्धिः"। न्यायबिन्दु : द्वितीय परिच्छेद, पृ० २५, २९, ३१।

२. वही, पृ० २८।

३. व्यक्तिविवेक : धर्मोत्तराचार्यटीका, पृ० ६५ : "तद्भावहेतुभावौ तादात्म्यतदुत्पत्ती।"

४. "अत्र गृहे श्वनिवृत्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति।" काव्यप्रकाश : उ० ५, पृ० २५३। ये शब्द मम्मट ने महिम के पक्ष से प्रस्तुत किये हैं। इसे मम्मट ने 'व्यापक-विरुद्धोपलब्धि' कहा है—"यत् यत् भीरु भ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।" वही, पृ० २५४। धर्मकीर्ति के अनुसार अनुपलब्धि के ११ प्रकार होते हैं। जिनमें व्यापकविरुद्धोपलब्धि भी एक प्रकार है—"व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेः।" न्यायबिन्दु, पृ० ३९।

५. "तयोश्च व्याप्यव्यापकभावलक्षणः सम्बन्धः—" यथा वृक्षशिंशपयोः।" वही, पृ० ४१४।

६. व्यक्तिविवेक : पृ० १०६।

दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो महिम ने भी रस की व्याख्या में उसी समस्या के हल के लिए जो शंकुक के सामने थी, आचार्य धर्मकीर्ति की कारिका प्रस्तुत की है जिसमें मणि-प्रदीप-न्याय के आधार पर मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया मानी गयी है। दूसरे महिम ने शंकुक के इस मत को भी उपस्थित किया है कि रस स्थायी भावों का अनुकरण है।

९. सत्ता की असाध्यता—महिम ने एक स्थल पर एक कारिका प्रस्तुत की है जिसमें सत्ता की असाध्यता प्रतिपादित की गयी है। कदाचित् यह कारिका भी किसी बौद्ध आचार्य से ली गयी है। कारिका इस प्रकार है :

"नासिद्धो भावधर्मोऽस्तिव्यभिचार्युभयाश्रयः।
धर्मो विरुद्धो भावस्य, सा सत्ता साध्यते कथम्।"[1]

१०. मम्मट का विवेचन—मम्मट ने जो महिम की समीक्षा की है उसमें महिम की उन मान्यताओं को उभारा गया है जिनमें बौद्धत्व की छाया मिलती है। लिंग की त्रिरूपता के आधार पर अनुमान का स्वरूप, बौद्धों के स्वीकृत केवल तीन हेत्वाभासों के आधार पर ही महिम में दोष-प्रदर्शन, इन हेत्वाभासों के वैसे ही रूप जैसे कि धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में अपनाये हैं, तथा समीक्षा में 'प्रतिबद्ध', 'अप्रतिबद्ध' आदि कतिपय ऐसे शब्दों का प्रयोग जिन्हें अपने विवेचन में धर्मकीर्ति ने प्रयुक्त किया है, यह बताते हैं कि मम्मट के सामने महिम के न्याय पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट था। पर अपने स्वभावानुसार मम्मट ने उसे रूढ़ पारिभाषिक रूप नहीं दिया जैसा कि शंकुक, भट्टनायक, अभिनव आदि के निरूपण में भी नहीं दिया है। मम्मट का निरूपण सामान्यतः किसी न्याय को सामने रखकर समझा जा सकता है, पर यदि कोई चाहे तो उसमें बौद्ध मान्यताओं का स्पष्ट उभार भी समझ सकता है। सम्भव है, मम्मट के युग के लिए इन छाया-संकेतों का पकड़ना दुरूह नहीं रहा होगा।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि महिम भट्ट की न्याय-पद्धति पर एक लम्बी दूरी तक बौद्ध मान्यताओं, विशेषतः धर्मकीर्ति की उपलब्धियों का प्रभाव है। यद्यपि वे अन्य दर्शनों एवं बौद्ध-विपक्षी क्षेत्रों से भी सामग्री का उपयोग करते हैं, पर इस बौद्ध ऋण को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि वे स्वयं कट्टर बौद्ध न रहे हों, किन्तु ध्वनिवाद के खंडन-भर के लिए उन्होंने शंकुक के आदर्श पर बौद्ध न्याय का मार्ग पकड़ा हो। उनके न्याय-प्रयोग में बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है, और इसी दृष्टि से उनके रस-निरूपण को हमने दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध न्याय के अन्तर्गत रखना उचित समझा है।

अब तक हमने बौद्ध न्याय से प्रभावित आचार्यों के रस-स्वरूप का परिचय प्राप्त किया है। इनमें शंकुक और महिम भट्ट को हमने बौद्ध धारणाओं से प्रभावित पाया है। अब हम उन आचार्यों या मतों की ओर आना चाहते हैं जिनमें वैदिक न्याय का उपयोग किया गया है।

वैदिक न्याय और रस

न्याय की मान्यताओं का सहारा लेकर रस के विषय में कुछ कहने का सबसे पुराना संकेत हमें नाट्यशास्त्र के उन आनुवंश्य श्लोकों में मिलता है जिनमें रस का स्वरूप बताते हुए

---

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ४०७।

उसे मानसेन्द्रिय से आस्वाद्य कहा गया है :

"भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥"[1]

किन्तु यह मानसेन्द्रिय से आस्वादन की बात इतने हलके ढंग से कही गयी है कि इसमें न्याय की दार्शनिकता का समावेश प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर न्याय की मान्यताओं का कुछ व्यवस्थित उपयोग हमें लोल्लट में मिलता है जिसकी चर्चा हम पीछे यथास्थान कर चुके हैं। न्याय-दर्शन का अपना इतिहास हमें बताता है कि वह शनैः-शनैः प्रक्रिया-प्रधान एवं निरूपण शैली द्वारा अन्य क्षेत्रों को प्रभावित करने वाला दर्शन बनता गया है। यही बात काव्यशास्त्र की अन्य चर्चाओं तथा रस-चर्चा के सम्बन्ध में भी ठीक है। भावोत्पत्ति की लौकिक व्याख्या में सामाजिक के लौकिक अनुभव के अभ्यास की व्याख्या में तथा इसी प्रकार की चर्चाओं में वे आचार्य भी न्याय की सामान्य उपलब्धियों का उपयोग करते रहे हैं जिन्होंने रस-निष्पत्ति की व्याख्या किसी अन्य दर्शन-विशेष के सहारे की है। इस भांति का न्याय-दर्शन की मान्यताओं का उपयोग हमें स्वयं अभिनवगुप्त और मम्मट में भी मिल जाता है।[2] यहां हम उन सभी चर्चाओं के विस्तार में नहीं जाना चाहते।

रस-स्वरूप की व्याख्या में न्याय की उपलब्धियों का सुव्यवस्थित प्रयोग हमें काव्यप्रकाश की विभिन्न टीकाओं में भी मिलता है। इनमें प्रायः शंकुक के मत को न्याय के अनुरूप समझते हुए तथा मम्मट की अपनी रस-स्वरूप-निरूपक कारिकाओं की व्याख्या करते हुए न्याय का सहारा लिया गया है। शंकुक और महिम न्याय को व्यवस्थित प्रवेश इस क्षेत्र में दे ही चुके थे। इस प्रकार व्याख्या और शैली में न्याय रस-स्वरूप की चर्चा में धीरे-धीरे प्रविष्ट होकर एक मत के रूप में हमें पंडितराज जगन्नाथ के एक 'नव्य मत' के रूप में मिलता है।

रसगंगाधरस्थ नवीन मत

पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में रस-निरूपण में दो नवीन आचार्यों के मत प्रस्तुत किये हैं। हमारा अनुमान है कि वे मत स्वयं पण्डितराज ने तटस्थ दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों में रस को एक भ्रमात्मक ज्ञान माना गया है और एक में तो व्यंजना के सहारे उसे अनिर्वचनीय कहकर स्वरूप-निरूपण किया गया है, दूसरे में व्यंजना को बिना अपनाये उस भ्रमात्मक ज्ञान की न्याय-दर्शन के सहारे व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।[3] इन दोनों नव्य मतों में प्रथम का सम्बन्ध तो वेदान्त से अधिक है, किन्तु दूसरा न्याय के अन्तर्गत आता है। यहां उस द्वितीय मत को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है :

दर्शन की दृष्टि में रस एक ज्ञान-विशेष है, और जब वह एक विशेष प्रकार का ज्ञान है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह यथार्थ ज्ञान है या अयथार्थ। रस को तत्त्व-ज्ञान तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह एक कल्पना के क्षेत्र की अनुभूति है। अतः उसे अयथार्थ या

---

१. ना० शा० अ० ६, श्लो० ३३।

२. "तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मकचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवाद्.....।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २८४।
"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च। रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्योः।....." काव्यप्रकाश, उ० ४, का० २७।

३. विशेष निरूपण के लिए देखिए—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० २०९-२१७।

भ्रमात्मक ज्ञान ही कहा जायेगा। इसी दृष्टिकोण को आधार बनाते हुए रस का स्वरूप रसगंगाधर में निम्न शब्दों में निरूपित किया गया है :

"व्यंजनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्या विलक्षणविषयताशाली रसः।"[१]

"काव्य के प्रभाव और सहृदय की सहृदयता के योग से सहृदय के भावना या कल्पना शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है, जिसे प्रथम मत के प्रसंग में दोष-रूप कहा गया है।[२] इसी के फलस्वरूप प्रमाता सहृदय का काव्य-गत दुष्यन्तादि के साथ तादात्म्य हो जाता है। प्रमाता को इस तादात्म्य के कारण यह चेतना होती है कि मैं शकुन्तलादि-विषयक रति-आदि भावों को अनुभव करने वाले व्यक्ति से अभिन्न हूं। इस प्रकार रस उस प्रमाता सहृदय का एक मानस बोध है जिसमें शकुन्तलादि-सम्बन्धिनी रति का भ्रम प्रमाता को अपने में होता है—"दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः।"

"नटादि की चेष्टाओं-रूप लिंगों के आधार पर अनुमान से सामाजिक को शकुन्तलादि-विषयक रति का दुष्यन्तादि में ज्ञान होता है। फिर उसकी भावना या कल्पना रूप दोष से सहृदय की भेद-प्रतीति समाप्त हो जाती है, और वह शकुन्तला-विषयक रति से विशिष्ट दुष्यन्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस रतिमान् के साथ अभेद-भावना के आते ही उसमें वस्तुतः अविद्यमान भी रति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। यही 'मानस रतिमदभेद बोध' रस है।"[३]

व्यंजना के स्थान पर अनुमान का समावेश इस मत में निम्न शब्दों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है :

"तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यंजनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिंगकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानम् अभ्युपेयम्।"[४]

व्यंजनावादी मत में दुष्यन्तादि में रत्यादि का ज्ञान व्यंजना से होता है, इस मत में अनुमान से। और तब, जिस दुष्यन्तादि को रत्यादिविशिष्ट समझ लिया जाता है उससे सहृदय का तादात्म्य हो जाता है। इस प्रकार इस मत में सहृदय में रत्यादि भावों की लौकिक स्थिति के समान वास्तविक अवस्थिति नहीं होती। यह भी जरूरी नहीं कि इस कल्पित और भ्रमात्मक अनुभूति के उदय के लिए विषय-सामग्री ही वास्तविक रूप में उपस्थित हो।[५]

इस मत में न्याय का सहारा दुष्यन्तादि-निष्ठ रति के अनुमानात्मक ज्ञान के लिए ही नहीं लिया गया अपितु इस दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही रस को एक मानस-बोध भी कहा गया है। साथ ही इस भ्रमात्मक ज्ञान को अनिर्वचनीय न रखकर उसके निर्वचन का प्रयास भी किया गया है जो न्याय-दर्शन के ही समीप है।

यों रस की असत्यता की ओर संकेत महिम भट्ट ने भी किया है यह हम देख चुके हैं।

---

१. रसगंगाधर, पृ० २७।
२. "सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने....." वही, पृ० २५।
३. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २१७।
४. रसगंगाधर, पृ० २७।
५. विशेष के लिए देखिए—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', 'द्वितीय नवीन मत', पृ० २१५-२१७।

किन्तु उसकी व्याख्या में जो अनुमान उपयोग में लाया गया है वह बौद्ध न्याय के अनुरूप पड़ता है। पण्डितराज के इस न्यायानुगामी मत में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता जिसके आधार पर इसे बौद्ध न्याय आदि से जोड़ा जा सके। अतः यह वैदिक न्याय के ही अन्तर्गत आता है।

विशुद्ध रूप में वैदिक न्याय का उपयोग करके एक मत के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास रसगंगाधर के इस निरूपण में ही हमें मिलता है। और जो भी उपयोग न्याय का यत्र-तत्र हमें मिलता है, वह प्रक्रिया में अधिक है, स्वरूप-निरूपण में बहुत ही कम।

सांख्यदर्शन और रस

सांख्यदर्शन की मान्यताओं का सहारा लेकर रस की व्याख्या के विषय में तीन प्रकार के प्रयास हमारे सामने आते हैं। एक तो अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शंकुक के विवेचन के बाद और भट्टनायक के मत से पूर्व एक सांख्यवादी रस-व्याख्या प्रस्तुत की है। यह बड़ी संक्षिप्त है, किन्तु सांख्य का पूर्ण आश्रय लेकर रस को समझाने का रस के इतिहास में यह अकेला प्रयास है। इसके अनन्तर भट्टनायक ने सांख्य के त्रिगुणवाद की सहायता से रसानुभूतिकालीन चित्तदशा का विश्लेषण किया है। किन्तु यह प्रयास सीधे सांख्य से नहीं आया है। सांख्य एक ऐसा दर्शन रहा है जिसकी आत्मा और प्रकृति के स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध की मान्यताओं से सहमत न होते हुए भी उसके त्रिगुणवाद और प्रकृति-विकार सम्बन्धी दृष्टिकोणों को अन्य अनेक दर्शनों ने लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। अतः दूसरे दर्शन भी उसी शब्दावली में समान बातें करते दिखाई पड़ते हैं। शैव दर्शन और वेदान्त ने भी सांख्य के त्रिगुणवाद को लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। अतः भट्टनायक में जो त्रिगुणवाद के अनुसार रसानुभूतिकालीन चित्त का विश्लेषण है, वह सीधे सांख्य से नहीं, शैव दर्शन के माध्यम से आया है। तीसरे प्रकार के वे प्रयास हैं जिनमें भट्टनायक के रस-विवेचन में प्रयुक्त उक्त त्रिगुणवाद को सीधा सांख्य पर ही आधारित समझ कर, या उससे प्रेरणा लेकर रस की व्याख्या सांख्य की पदावली में की गई है। इस प्रकार के प्रयास आज भी दिखाई पड़ते रहते हैं, और कभी-कभी प्राचीन संस्कृत आचार्यों में भी मिल जाते हैं। हम यहां अभिनव द्वारा उल्लिखित रस की सांख्य-परक व्याख्या का परिचय प्रस्तुत करेंगे। भट्टनायक द्वारा जो त्रिगुणवाद का सहारा लिया गया है, उसे उनके विवेचन तक के लिए उठा रखेंगे। तीसरे प्रकार के प्रयास का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

अभिनवभारतीस्थ सांख्यवादी मत

अभिनवभारती में यह सांख्यवादी मत इस प्रकार वर्णित है :

"येन त्वभ्यधायि-सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव। सांख्यदृशा सुखदुःख स्वभावो रसः। तस्यां च सामग्रयां दलस्थानीया विभावाः। संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावाः इति। तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचारमंगीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वत्यन्तं नः प्रतीतिवैषम्यप्रसंगादि तत्किं यदत्रोच्यते।"

किन्तु हेमचन्द्र ने अपने अलंकार-चूड़ामणि में इस प्रसंग को बिना किसी टिप्पणी या व्याख्या के साथ इस रूप में प्रस्तुत किया है :

"येन त्वभ्यधायि-सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सांख्यदृशा सुखदुःख-स्वभावा रसः। तस्यां च सामग्रयां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः,

स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति । तेन स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यादावुपचारमंगीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेनदूषणाविष्करणमौखर्यात् प्रामाणिक-जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते । यत्त्वन्यत्तत्प्रतीतिवैषम्यप्रसंगादि तत्कियदत्रोच्यताम् ।"

इन दोनों उल्लेखों में हेमचन्द्र का पाठ अधिक विश्वसनीय और संगत प्रतीत होता है। अभिनवभारती के पाठों की अशुद्धियों से विद्वान् परिचित हैं। अभिनवभारती के पाठ में सबसे बड़ी विसंगति यह आती है कि अभिनव ने इस सांख्यवादी पर आक्षेप करते हुए बताया है कि यह स्थायी भाव और रस में अन्तर मान कर चलता है, और भरत के उन वचनों को जिनमें यह कहा गया है कि "हम स्थायी-भावों को रसत्व प्राप्त करता दिखाएँगे" औपचारिक मानता है। भरत ने ऐसे वचनों में रस और भावों को एक माना है, किन्तु यह सांख्यवादी दोनों में तात्त्विक अन्तर मानता है—"तेन स्थायिभावान् रसत्वमित्यादावुपचारमंगीकुर्वता···" इस प्रकार सांख्यवादी के मत में स्थायी और रस में स्वरूपात्मक अन्तर होना चाहिए। किन्तु अभिनवभारती के पाठ में दोनों का उल्लेख इस प्रकार है :

(क) "सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः ।"

(ख) "स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति ।"

इस प्रकार अभिनवभारती के पाठ के अनुसार रस और स्थायीभाव में कोई अन्तर नहीं, दोनों 'सुखदुःखस्वभाव' हैं। जब ऐसी बात है तो यह तो भरत के अनुकूल ही है, फिर "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः" जैसे भरत के वचनों में उसे उपचार मानने की क्या आवश्यकता पड़ी थी। अतः यह अभिनवभारती का पाठ काव्यानुशासन के पाठ के समान संगत नहीं है। काव्यानुशासन के पाठ में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, ऐसी कोई विसंगति नहीं, प्रत्युत वह सांख्य-सिद्धान्त के अनुरूप ही पड़ता है। अतः हम उक्त सांख्यवादी आचार्य की रस-व्याख्या को काव्यानुशासन के पाठ के अनुसार ही स्वीकार करके चलेंगे।

इस सांख्यवादी व्याख्या के अनुसार बाह्य विषय-सामग्री, जो कि स्वतः सुख-दुःख-मय है, तथा भोक्ता के अंतःकरण में सुख-दुःख उत्पन्न करने की क्षमता रखती है, रस है। इस प्रकार यह व्याख्या स्थायी भावों को रस नहीं कहती, अपितु बाह्य विषय-सामग्री को ही रस कहती है। स्थायी भाव तो भोक्ता अन्तःकरण में उस सामग्री से उत्पादित सुख-दुःख हैं, जो कि स्पष्ट ही आन्तर हैं। ये आन्तर सुख-दुःख-रूप स्थायी भाव बाह्य सामग्री-रूप रस की अनुभूति के फल हैं।

हम पीछे देख चुके हैं कि इस व्याख्या से पूर्व के आचार्य रस को वस्तु-रूप मानते चले आ रहे थे। भरत का रस भी वस्तु-रूप था, वह नाट्य-निष्ठ था। अलंकारवादियों का रस भी वस्तुरूप था, वह काव्य-निष्ठ था। यह सांख्यवादी आचार्य भी जब बाह्य विभावादि सामग्री को ही रस कहता है तो कोई नई बात नहीं करता। उसकी यह मान्यता अपने युग की दृष्टि से प्रभावित है। वह केवल सांख्य की दृष्टि से उसकी व्याख्या करता है।

सांख्य की दृष्टि से बाह्य विषय-सामग्री को रस कहते हुए उसके दो विशेषण दिये गये हैं—'सुखदुःखजननशक्तियुक्ता' और 'सुखदुःखस्वभावा।' यह दृष्टिकोण सांख्य के सर्वथा अनुरूप ही है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये गुण हैं सत्त्व, रजस्, तमस्। सत्त्व प्रकाशात्मक तथा सुख-रूप है। रजस् प्रवृत्तिकारी, दुःख-रूप है। तमस् नियमनकारी, आवरक

तथा मोहरूप है।[1] सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति और उसके विकारभूत तत्त्वों में कोई स्वभावात्मक अन्तर नहीं है।[2] इस प्रकार समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वरूपतः सुख-दुःख-मोह-स्वभाव होते हैं, यह सांख्य की मान्यता है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक पदार्थ भोक्ता अन्तःकरण में तद्गत सत्त्व-रजस्-तमस् की स्थिति के अनुरूप सुख-दुःख-मोह उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। एक ही रमणी अपने प्रिय के लिए सुखात्मक, सपत्नियों के लिए दुःखात्मक तथा अन्य वासना-प्रधान लोगों के लिए मोहात्मक होती है।[3] यह अन्तर गुणों की ऊँची-नीची स्थिति के अनुरूप हो जाता है।[4] इस प्रकार, जहां तक बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध है, वे सांख्य की दृष्टि में एक ओर 'सुख-दुःख-मोह-स्वभाव' भी हैं, दूसरी ओर 'सुख-दुःख-मोह-जनन-शक्ति-युक्त' भी। यही बात इस सांख्यवादी व्याख्याकार ने विभावादि सामग्री के लिए कही है। उसके युग तक विभावादि को नाट्य-निष्ठ या फिर काव्य-निष्ठ ही देखा जा रहा था, अतः उसने भी विभावादि सामग्री को बाह्य रूप में ही स्वीकार करके उस पर विचार किया है।

इस वस्तु-रूप रस की निष्पत्ति की बात भी इस व्याख्या में उसी प्रकार दिखाई गई है, जैसे भरत ने पाक-रस के निदर्शन पर दिखाई है। कहा गया है, विभाव दलों के स्थान पर हैं और अनुभाव तथा व्यभिचारी संस्कारकों के स्थान पर। यह व्याख्याकार सम्भवतः पाक-रस के स्थान पर ओषधि-रस के निदर्शन पर काव्य-रस को समझाना चाहता है। ओषधि-रस में कतिपय दलों या वनस्पति-पत्रों को अन्य वनस्पतियों के निष्यन्द से संस्कृत करके भावना देने का आयुर्वेदिक विधान आता है। इस क्रिया के लिए 'भावना' या 'संस्कार' शब्दों का प्रयोग आता है। भरत ने व्यंजनों के द्वारा अन्न पदार्थ के संस्कार की बात कही थी—"यथाहि नाना व्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना···" सम्भवतः भरत के इस अन्न-संस्कार की बात से इस सांख्यवादी व्याख्याकार को ओषधि-रस के संस्कार की बात सूझी है। या फिर दल शब्द का अर्थ दाल लिया जा सकता है। वे अन्न जिनके दो दल या दो टुकड़े होते हैं, दल कहे जाते हैं। इन अन्नों को दालों के रूप में प्रयोग किया जाता है। मिर्च-मसाले इनके संस्कारक द्रव्यों के रूप में माने जा सकते हैं, और सांख्यवादी की इस व्याख्या को भरत के पाक-रस का ही एक रूप माना जा सकता है। कुछ भी हो, दोनों अर्थों में से कोई भी लेने पर कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

यह विषयात्मक सामग्री भोक्ता अन्तःकरण में हर्ष-शोक के, रति-उत्साह के भावों को जन्म देती है। ये स्थायी भाव इस सामग्री से जन्य हैं, आन्तर हैं, सुख-दुःख-स्वभाव हैं। इस प्रकार स्थायिभाव स्वयं रस नहीं, विभावादि-सामग्री रूप रस की अनुभूति के परिणाम हैं।

सांख्य के अनुसार विषय इन्द्रिय प्रणालिकाओं के द्वारा चित्त में उपस्थित होकर चित्त के अंग बनते हैं। यह स्वरूप भी चित्त की वृत्ति-रूप ही होता है। इसके अनन्तर चित्त में पौरुषेय बोध उत्पन्न होता है, जिसके अनुसार वे विषय ज्ञानात्मिका बुद्धि-वृत्ति के अंग बन जाते हैं। प्रथम रूप प्रमाण होता है, दूसरा प्रमा। इस प्रकार ज्ञान में आई हुई वस्तुएँ स्वानुरूप सुख-दुःख-मोह की प्रतिक्रियाएं चित्त पर उत्पन्न करती हैं। सांख्य के सत्कार्यवाद के

---

१. सांख्यकारिका : कारिका १२-३।

२. वही, का० ८।

३. वही, का० १३ : तत्त्वकौमुदी।

४. वही, का०।

सिद्धान्त के अनुसार कोई नई उत्पत्ति नहीं होती, पूर्वतः तत्त्वों की अभिव्यक्ति ही 'उत्पत्ति' है। अतः सुख-दुःख के उत्पन्न होने का अर्थ है अन्तःकरण के सुख-दुःखों का बाह्य सामग्री के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त हो जाना।

बाह्य विषय सामग्री ही रस है, स्थायी भाव उसके द्वारा उत्पन्न भोक्ता अन्तःकरण के सुख-दुःख-मय परिणाम हैं। इस मान्यता में भरत की दृष्टि से बहुत दूर का अन्तर नहीं पड़ता था। दोनों में रस को वस्तु-रूप तथा बाह्य-निष्ठ माना गया है। भरत ने भी हर्षादि को नाट्य-रस की अनुभूति का परिणाम माना है, यह हम पीछे देख ही चुके हैं। किन्तु अभिनव ने भरत की मान्यता को उस मौलिक रूप में न मानकर अपनी दृष्टि के अनुरूप माना है। अतः उनके अनुसार भरत स्थायी भाव तथा रस में कोई जातीय भेद नहीं मानते। किन्तु उपर्युक्त सांख्यवादी व्याख्याकार के अनुसार स्थायी तथा रस में जातीय भेद पड़ता है। रस बाह्य है, स्थायी उसकी अनुभूति के आन्तर परिणाम। अतः अभिनव इस स्थूल दृष्टि पर विचार करना भी असंगत समझते हैं। निश्चय ही इस सांख्यवादी को भरत के उन शब्दों में औपचारिकता दिखानी पड़ी होगी जिनमें स्थायी और रस की एकजातीयता तथा एकरूपता दिखाई पड़ती थी। अभिनव का कहना है कि यह 'सांख्यवादी' तो स्वयं समझ रहा है कि मैं भरत के विपरीत बात कह रहा हूँ। अतः ऐसे भरत-विरोधी व्यक्ति में दोष निकालने से हमें सहज छुट्टी मिल गई।

इस मान्यता की एक कमी की ओर अभिनव ने और संकेत किया है। कहा है, ऐसा मानने पर प्रतीति-वैषम्य का प्रसंग उठेगा। अभिनव रसों की प्रतीति आनन्द-रूप मानते हैं। किन्तु सांख्यवादी के अनुसार रसों की प्रतीति भी सुख-दुःख-मोह रूप होगी। सभी दर्शकों को समान नहीं होगी। उनकी मात्राओं में भी अन्तर होगा। इस प्रकार अनेक प्रश्न उठेंगे, जिनका समाधान इस मान्यता में नहीं है।

वस्तुतः यह व्याख्या रस को वस्तु-रूप मानकर चलती है। साथ ही लौकिक अनुभव और काव्यात्मक अनुभव में कोई अन्तर नहीं करती। उसके रस की अनुभूति के परिणाम स्थायी भाव सुखरूप ही नहीं, लौकिक अनुभवों के समान ही सुख-दुःखरूप हैं। सांख्य की दृष्टि से रस-व्याख्या करना पाप नहीं था। किन्तु उसमें रस का स्वरूप और अनुभूतिकालीन सामाजिक चेतना का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाना चाहिए था, जैसा कि आगे चलकर भट्टनायक ने किया। विभावादि सामग्री से सामाजिक किस प्रकार प्रभावित होता है, उसके अन्तःकरण के सत्त्व-रजस्-तमस् का उस समय क्या अनुपात होता है, सत्त्व का किस प्रकार उद्रेक होता है, अनुकार्य के भावों के साथ सामाजिक की समानुभूति किस मात्रा तक और कैसे होती है, लोकानुभूति और रसानुभूति में क्या अन्तर है, आदि समस्याओं पर सांख्य-दृष्टि से विचार किया जाता तो आज यह सांख्यवादी का बड़ा योगदान होता। किन्तु उस वस्तुवादी दृष्टिकोण के युग में इस व्याख्याकार के सामने ये समस्याएं थीं ही नहीं। इस व्याख्या का यदि कुछ महत्त्व है तो इतना ही कि हम यह जान लेते हैं कि भट्टनायक से पूर्व ही लोगों की दृष्टि रस की समस्या के समाधान के लिए सांख्य के तत्त्वों की ओर जा चुकी थी।

मीमांसा और रस

सांख्य के समान ही मीमांसा दर्शन का उपयोग करते हुए रस की व्याख्या करने के प्रयास भी कम ही हुए हैं। यों मीमांसा के कतिपय सिद्धान्तों का रस-व्याख्या में उपयोग भट्ट

नायक और अभिनवगुप्त में भी मिलता है, किन्तु उनकी व्याख्याओं में आधार चेतना मीमांसा की नहीं है। मीमांसा का सर्वाधिक सहारा लेकर रस की व्याख्या का प्रयास हमें दशरूपक में दिखाई पड़ता है। हम यहां मीमांसा के सम्बन्ध से हुए रस-व्याख्या के प्रयासों की चर्चा करेंगे।

लोल्लट और मीमांसा

मीमांसा एक उत्पत्तिवादी दर्शन है, सम्भवतः इसी साम्य को देखकर उत्पत्तिवादी लोल्लट को कतिपय लोग मीमांसक समझते हैं। ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं, जिसके आधार पर लोल्लट का मीमांसक होना निश्चित रूप में प्रतिपादित किया जा सके। हम पीछे लोल्लट के मत का विश्लेषण करके देख चुके हैं। उसमें मीमांसा की मान्यताओं का कहीं संस्पर्श भी नहीं है। लोल्लट ने कतिपय न्याय-मान्यताओं का ही उपयोग किया है। अतः लोल्लट के मत में मीमांसा की सम्भावना करना व्यर्थ है।

भट्टनायक और मीमांसा

भट्टनायक मीमांसा की मान्यताओं से प्रभावित थे, इसके कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उन्हें अभिनव ने कई स्थानों पर मीमांसक माना है। नीचे तीन स्थल प्रस्तुत किये जा रहे हैं:[1]

१. प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भाग ३, पृष्ठ ९६ पर अभिनव उन्हें 'मीमांसकाग्रणी' कहते हैं:

"यथाह मीमांसकाग्रणीर्भट्ट नायकः।"

२. अभिनवभारती, भाग ३, अध्याय २७, पृष्ठ ३०९-३१० पर सिद्धियों के विवेचन में अभिनव भट्टनायक को जैमिनि की मान्यताओं का अनुसरण-मात्र करते हुए बताते हैं:

"यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—सिद्धेरपि नटादेरङ्गत्वं व्रजन्त्यास्तत्पक्षे यमिति, तेन नाट्याङ्गता समर्थितफलं च (समर्थिता फलं च ?) पुरुषार्थत्वादिति केवलं जैमिनिरनुसृत इत्यलमनेन।"

३. ध्वन्यालोक-लोचन में "निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते" इस पद्य पर भट्टनायक के दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं:

"न च···कल्पना युक्ता। जैमिनिसूत्रे ह्येवं योज्यते, न काव्येपीत्यलम्।"

मीमांसा के प्रभाव के कारण ही भट्टनायक ने रस-व्याख्या में अपने भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा में इस दर्शन का सहारा लिया है। इतना ही नहीं, अभिनवगुप्त ने उनके भावकत्व व्यापार का जो खण्डन किया है, वह भी मीमांसा की भाषा में ही किया है। हम उस विवेचन को यहां न करके भट्टनायक के मत-विवेचन के प्रसंग में ही करेंगे। यहां इतना ही संकेत अपेक्षित है कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमांसा की प्रेरणा पर प्रतिष्ठित है। फिर भी उनकी रस-व्याख्या मीमांसा पर ही आधारित नहीं है। हम उनके रस-स्वरूप का विश्लेषण करके देखेंगे कि उसकी दार्शनिक आधार-भूमि मूलतः द्वैतवादी शैव दर्शन की है।

---

१. संदर्भ: हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स: पी० वी० काणे, पृ० २१४-५।

अतः उनके रस-स्वरूप का परिचय उसी दर्शन के सन्दर्भ में पाना उचित होगा।

अभिनवगुप्त और मीमांसा

रस-विवेचन में भट्टनायक के भावकत्व व्यापार का खण्डन करने के लिए अभिनव ने जो मीमांसा की भाषा अपनाई है, वह तो भट्टनायक के उस व्यापार की आधार-भूमि मीमांसा की होने के कारण है; किन्तु उनके अपने रस-विवेचन में भी एक स्थल पर मीमांसा की मान्यता का उपयोग हुआ है। अभिनव यह बताना चाहते हैं कि सहृदय को काव्य-शब्दों के अर्थ-ज्ञान के अनन्तर शब्दार्थ से अधिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। कवि के शब्दों में वर्णित विभावादि किसी विशेष देश-काल-जाति के होते हैं। यदि पदार्थ तक ही सीमित रहा जाय तो सहृदय की प्रतीति देश-काल की सीमाओं में आबद्ध होगी। पर काव्यानुभूति में होता यह है कि जैसे ब्राह्मण-वचनों में मीमांसा के अनुसार सर्वत्र क्रिया-परकता मानी जाती है, और वचनों के काल-पुरुष आदि सबका पर्यवसान लिङ्लकार-परक विधि-रूप होता है, इस प्रकार कालादि परिवर्तित हो जाते हैं वैसे ही काव्यानुभूति में भी काव्य-वर्णित पदार्थों के देश-काल सहृदय के लिए भी बदल जाते हैं।

"यथाहि 'सत्रमासत'[1] 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते प्रददानीत्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावनाविधिनियोगादि[2] भाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।"[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है—"वनस्पतयः सत्रमासत" "प्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत्, तामग्नौ प्रादात्"। यहां प्रथम उद्धरण में कहा गया है कि वनस्पति-आदि यज्ञ में बैठे। दूसरे में कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी वपा निकाली और उसे अग्नि में डाला। ये वाक्य अर्थवाद-रूप हैं। मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि वेद का कोई वाक्य ऐसा नहीं जिसकी क्रियापरकता न हो—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्"[4] और यह क्रियापरकता विधि-रूप या निषेध-रूप होती है। अतः जिन वाक्यों में कोई सीधा क्रिया-सम्बन्धी आदेश नहीं, उनका अर्थ भी क्रिया-विधि के रूप में ही लिया जाता है। इस प्रकार वेद-वचन चाहे किसी काल में हो, चाहे किसी पुरुष में हो, उसका अर्थ मध्यम पुरुष के लिए विधिलिङ् के रूप में ही लेना होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त वेद-वाक्यों का अर्थ 'आसत' और 'प्रादात्' अर्थात् बैठे और दिया न लेकर बैठो और दो, यही लेना होता है। इस विधि-रूप अर्थ को भी जब अधिकारी व्यक्ति अपने सन्दर्भ में लेता है तो इनका अर्थ यही लेता है कि 'बैठूं' और 'दूं'। 'आसे' तथा 'प्रददानि'। अभिनव का कहना है कि यहां मीमांसा के अनुसार वेद-वाक्यों के लकार और पुरुष का, जो कि प्रथम ही पदार्थ रूप में सामने आते हैं, तिरस्कार हो जाता है और पदार्थ-मात्र से अतिरिक्त प्रतीति

---

१. आचार्य विश्वेश्वर : हिन्दी अभिनवभारती : पाठ संशोधित। अभि० भा० पाठ—'रात्रिमासत', पृ० ४७२।

२. आ० विश्वेश्वर-कृत पाठ-संशोधन। अभि० भा० पा० 'विध्युद्योगादि'। हिन्दी अभि० भा०, पृ० ४७०।

३. अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७८।

४. मीमांसा-सूत्र : जैमिनि।

सामने आती है। इसे मीमांसा की भाषा में भावना, विधि, नियोग आदि शब्दों से कहा गया है। काव्य में भी यही प्रक्रिया चलती है। सहृदय को पहले काव्यात्मक शब्दों की पदार्थावगति होती है। उस अवगति में देश-काल-भूत-आदि के होते हैं। पर इसके अनन्तर उसके मानस-पटल पर देश-काल की सीमा से रहित इन पदार्थों का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कारात्मिका प्रतीति भी पदार्थावगति से अतिरिक्त होती है।

इस प्रकार अभिनव ने सामाजिक की विभावादि-प्रतीति की व्याख्या में मीमांसा की मान्यता का उपयोग किया है। पर उनका रस-स्वरूप मीमांसा पर आधारित नहीं। उसकी मूल चेतना काश्मीरी शैव दर्शन की है, यह हम आगे देखेंगे।

धनंजय और धनिक

दशरूपक तथा उसकी टीका अवलोक के कर्ताओं के रूप में धनंजय और धनिक के नाम जुड़े हुए हैं। धनिक ने धनंजय के दृष्टिकोण को अपनी विद्वत्तापूर्ण टीका 'अवलोक' के द्वारा स्पष्ट किया है, और आज हम धनंजय को धनिक से अलग करके नहीं देख सकते। अतः दशरूपक के रस-विवेचन को दोनों की मान्यताओं के सम्मिलित रूप में ही समझना होगा। डा० काणे के अनुसार दशरूपक की रचना दशम शती के अन्त में हुई थी तथा अवलोक की एकादश शती के आरम्भिक दशकों में। ये आचार्य तथा अभिनव एक-दूसरे का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते।[१]

इन आचार्यों के अनुसार रस विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी से भावित हुआ सहृदय का स्थायी भाव है :

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[२]

उनके समय तक यह निर्धारित हो चुका है कि रस सहृदय-निष्ठ है, नाट्य-निष्ठ, काव्य-निष्ठ या अनुकार्य-निष्ठ नहीं।[३] साथ ही नर्तक को भी सहृदय-कोटि में लाकर रस का आस्वादयिता माना गया है।[४] धनंजय का कथन है कि जिस प्रकार मिट्टी के खिलौनों से खेलते हुए बालक अपने ही उत्साह का आस्वादन करते हैं वैसे ही सामाजिक भी काव्य के विभावादि के माध्यम से अपने ही स्थायी भावों का आस्वादन करता है।

"क्रीडतां मृणमयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोणामर्जुनादिभिः।"[५]

विभावादि और स्थायी के बीच इन आचार्यों को व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध के स्थान पर भाव्य-भावक सम्बन्ध अभीष्ट है। काव्य भावक है, स्थायी भाव्य। और इस मान्यता का आधार भी मीमांसा है, यह भी धनिक बता कर चलते हैं :

"अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः, किंतर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः।

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स : पी० वी० काणे, पृ० २३६-७।
२. दशरूपक : प्र० ४, का० १।
३. वही, प्र० ४, का० ३८।
४. वही, प्र० ४, का० ४२।
५. वही, प्र० ४, का० ४१।

काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते। न च शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्, भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्।"[१]

धनिक इस 'भावन' व्यापार के सूत्र भरत में भी पाते हैं :

"किंच मा चान्यत्र तथास्तु, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात्। तदुक्तं :

"भावाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥[२]

मीमांसक भावनाक्रियावादी कहलाते हैं। उनके अनुसार समस्त वाक्य क्रियापरक होते हैं। क्रिया ही भावना है। इस प्रकार क्रिया ही वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ है, फिर चाहे वह वाक्य में शब्दोपात्त हो, चाहे प्रकरणादि से जानी जाए। अन्य कारक उसी क्रिया से मिलकर उसके वाक्यार्थ बनने में सहयोग करते हैं। ठीक यही प्रक्रिया उन्होंने रसों के सम्बन्ध में मानी है। काव्य में भी कहीं तो विभावादि शब्दोपात्त होते हैं, कहीं प्रकरणादि से जाने जाते हैं। इनके द्वारा वाक्यार्थ-रूप स्थायी भाव सामाजिक के आस्वादन में आते हैं।

"वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥"[३]

इन आचार्यों ने अभिहितान्वयवादियों का मार्ग अपनाया है, जो पदोपस्थिति के अनन्तर पदार्थोपस्थिति और फिर अन्वय-रूप वाक्यार्थोपस्थिति मानते हैं। काव्य के विभावादि-वाचक शब्द पद-स्थानीय हैं, विभावादि अर्थों का ज्ञान पदार्थ-स्थानीय, और रत्यादि वाक्यार्थ-स्थानीय :

"तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।"[४]

भट्ट मतानुयायी अभिहितान्वयवादी होने के कारण रस को तात्पर्या शक्ति से साध्य माना गया है। पदावली और शैली सब मीमांसा के ग्रन्थों से उधार ली हुई है :

"न चापदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्—**कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्य** शक्तेः। तथाहि—पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्, **अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्त**वाक्यवत्। काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृतिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः **स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेन**—अवधार्यते। तदुद्भूति-निमित्तत्वं च विभावा दिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते। अतो वाक्यस्या**भिधानशक्तिस्तेन** तेन रसेनाकृष्यमाणा **तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरव्यापारविभावादि** प्रतिपादनद्वारा स्वपर्य-वसायितामानीयते।"[५]

इस प्रकार वाक्य की अभिधान शक्ति, जिसे अभिहितान्वयवादी तात्पर्या कहते हैं, विभावादि को अवान्तर व्यापार के रूप में पदार्थ-स्थानीय बनाकर उपस्थित करती हुई

---

१. दशरूपकावलोक, पृ० १५८-९।
२. वही, पृ० १५९।
३. दशरूपक, प्र० ४, का० ३७। तथा उस पर अवलोक।
४. दशरूपकावलोक, पृ० १५५।
५. दशरूपकावलोक, पृ० १५५।

रत्यादि भावों को तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ के रूप में प्रतिपादित करती है। और जिस प्रकार मीमांसक क्रियापरक वाक्यों के किसी फल की सम्भावना करता है, उसी प्रकार यहां भी सामाजिक की आनन्दोद्भूति को फल के रूप में दिखाया गया है। धनिक की भाषा में यह आनन्दोद्भूति एक 'कार्य' है। मम्मट ने रस के इस कार्यतावाद का साग्रह खण्डन किया है।[1]

मीमांसा अद्वैतवादी दर्शन नहीं, अतः रस और उसका आस्वाद दोनों एक नहीं। रस तो विभावादि के द्वारा स्वाद्य कोटि में लाया हुआ स्थायी भाव है। किन्तु आनन्दोद्भूति इस का 'कार्य' है :

"काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः **स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं** च विभावादिसंसृष्टस्य **स्थायिन** एवावधार्यते।"

इस प्रकार विभावादि पदार्थों का संसर्ग-रूप स्थायी निमित्त है, आनन्दोद्भूति कार्य। पहला रस है, दूसरा उसका फल। रस और आनन्द में यह भेद-दृष्टि मीमांसा की द्वैत-दृष्टि का ही स्वाभाविक परिणाम है।

फिर भी, रस-स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा का इतनी दूर तक सहारा लेकर भी, ये आचार्य आनन्द के स्वरूप के विषय में मीमांसा की मान्यताओं से ही अपने को सीमित रखते प्रतीत नहीं होते। उक्त स्थल पर विभावादि संसृष्ट स्थायी और आनन्दोद्भूति के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध बड़े स्पष्ट शब्दों में दिखाया गया है, किन्तु इस रस को 'निर्भरानन्दसंविदात्मक' और 'आत्मानन्दास्वाद' के रूप में भी देखा गया है :

१. "श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम् निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः।"[2]

२. "रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।[3]

"रत्यादिः स्थायी भावः·····स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्।"[4]

३. "स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।[5]

"काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति **प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः**।"[6]

इस प्रकार रस के स्वाद को, जिसे आनन्दोद्भूति कहा गया है, 'स्वात्मानन्दसमुद्भव' बताया गया है। मीमांसा के अनुसार आनन्द आत्मा का स्वरूप नहीं जैसा कि वेदान्ती मानते हैं। प्रभाकर के अनुसार आत्मा जड़ है, वह ज्ञान-सुख-रूप नहीं, ज्ञान और सुख का आश्रय है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व और विभुत्व आत्मा में माने गये हैं, किन्तु आनन्द उसका स्वरूप नहीं।[7] अतः उसकी दृष्टि से आनन्द को आत्मानन्द कहा ही नहीं जा सकता। कुमारिल के अनुसार

---

१. काव्यप्रकाश : उ० ४, पृ० ९३-४। "स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्।"
२. दशरूपकावलोक, पृ० १२१।
३. दशरूपक : प्र० ४ : का० ३८।
४. द० अव०, पृ० १६०।
५. दश० : प्र० ४ : का० ४३।
६. द० अव०, पृ० १६२।
७. इंडियन फिलासफी : डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४०९।

आत्मा का मुक्त स्वरूप 'सम्बन्धाक्षेपपरिहार' वाला है, जिसमें न तो दुःख का सम्पर्क होता है, और न ही आनन्द की अनुभूति ।[1] इस प्रकार आनन्द आत्मा के स्वरूप न होने के कारण कुमारिल की दृष्टि से भी रसास्वाद स्वात्मानन्दसमुद्भव नहीं कह सकते ।

सम्भवतः वेदान्त के प्रभाव से कुमारिल के कतिपय अनुयायी मुक्ति में आत्मानन्द की अनुभूति मानते हैं—'चित्तेन स्वात्मसौख्यानुभूति' । यह मान्यता कुमारिल की मूल मान्यता से विपरीत पड़ती है ।[2] बहुत सम्भव है, धनंजय और धनिक भी इसी वर्ग के व्यक्ति रहे हों जो वेदान्त से प्रभावित होकर आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ते हों ।[3]

धनिक ने कभी-कभी मीमांसा की मान्यताओं का बेढंगा प्रयोग भी किया है । प्रश्न उठाया गया है कि काव्य में स्थायी भावों के वाचक शब्द न होने पर भी कतिपय चेष्टादि के वर्णन द्वारा ही जो भाव-प्रतीति की जाती है, उसे तात्पर्या के द्वारा कैसे माना जा सकता है । धनिक ने यहां उन चेष्टादि और स्थायी भावों में लक्षणा का प्रयोग दिखाया है । विशिष्ट चेष्टाएं किसी विशिष्ट भाव के बिना नहीं रहतीं । उनके इस अविनाभाव सम्बन्ध से ही उनके जन्मदाता भावों का ज्ञान हो जाता है । क्योंकि कुमारिल ने अविनाभाव-मूलक प्रतीति को लक्षणा माना है—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते', अतः यह प्रतीति भी लक्षणा द्वारा ही कही जाएगी :

"कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टा-युक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रति-पादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः ।"[4]

इस प्रकार रत्यादि चेष्टादि-वर्णन से लक्षणा-गम्य हैं । दूसरी ओर वे वाक्यार्थ-रूप होने के कारण तात्पर्या के क्षेत्र में भी दिखाये गये हैं । तीसरी ओर उन्हें स्वाद्य-कोटि में लाते हुए विभावादि का भाव्य कहकर उनसे भाव्य-भावक-सम्बन्ध भी जोड़ा गया है । यों इन बातों की व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दिखाकर संगति बिठाई जा सकती है, तथापि ये बातें विवेचन की शिथिलता तथा किसी दर्शन के अतिवादी प्रयोग के प्रति आग्रह की सूचक तो हैं ही ।

संक्षेप में धनंजय और धनिक के रस का स्वरूप है विभावादि सामग्री से वाक्यार्थ-रूप में सामाजिक की चेतना में उद्बुद्ध हुआ तथा स्वाद्य-कोटि में आकर निर्भर आत्मानन्द रूप में परिणत स्थायी भाव । और इस स्वरूप की व्याख्या रस को मीमांसा के अनुसार 'भाव्य' मान-कर तथा 'तात्पर्या' शक्ति के क्षेत्र में रखकर की गई है ।

कश्मीरी शैव-दर्शन और रस

रस-स्वरूप के निर्णय में कश्मीरी शैव-दर्शन का योग-दान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इस दर्शन का सहारा लेकर इस विषय में जो मान्यताएं स्थिर की हैं, वे आज भी सम्मान के साथ देखी जाती हैं । अभिनव के निर्णय ही आज सर्वाधिक मान्य हैं ।

---

१. इंडियन सिलासफी : डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ४२३ ।

२. वही, पृ० ४२३ ।

३. वही, पृ० ४२३ ।

४. दशरूपकावलोक, पृ० १५९ ।

यों तो कश्मीर में शैव मत की जड़ें बहुत पुरानी हैं, और इसके अन्तर्गत अनेक आगमों और तन्त्रों की रचना हुई है, किन्तु इसे गहरा दार्शनिक रूप ईसा की नवम शती के प्रारम्भ से प्राप्त हुआ है। आज जो कश्मीरी शैव-दर्शन का साहित्य उपलब्ध होता है वह अद्वैती साहित्य है। आज कश्मीरी शैव-दर्शन के नाम से अद्वैती शैव-दर्शन ही समझा जाता है। किन्तु कश्मीर में ही इस दर्शन की द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी धाराएं भी प्रचलित थीं, यह तथ्य अभिनव के उल्लेखों से ही आज प्रमाणित है। जिस प्रकार वेदान्त-सूत्र की अद्वैत-परक, विशिष्टाद्वैत-परक तथा शुद्धाद्वैत-परक आदि व्याख्याएं हुईं, उसी प्रकार शैवागमों और तन्त्रों की विविध व्याख्याओं से इन धाराओं का विकास हुआ। क्षेमराज के उल्लेख से पता चलता है कि द्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी व्याख्याएं अद्वैतवादी व्याख्याओं से पहले सामने आ चुकी थीं। आज इन धाराओं का साहित्य हमें उपलब्ध नहीं, केवल अद्वैती धारा का ही साहित्य मिलता है। हम अद्वैतवादी धारा के आधार पर ही इतर धाराओं के रूप का अनुमान भले कर सकें। अद्वैती धारा का विकास नवम शती के प्रारम्भिक दशकों से होता है, अन्य धाराएं उससे पुरानी हैं, किन्तु आज लुप्त हैं।[1]

नवम शती के प्रारम्भ में वसुगुप्त ने शिवसूत्रों की उद्भावना की। शताब्दी के मध्य में उनके शिष्य कल्लट ने वसुगुप्त की स्थापनाओं को कुछ और प्रौढ़ता प्रदान की। शताब्दी के अन्त में आकर सोमानन्द द्वारा 'शिवदृष्टि' की रचना हुई, और उनके शिष्य उत्पल के द्वारा अद्वैती शैव-दर्शन का एक व्यवस्थित ढांचा 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के नाम से खड़ा किया गया। वसुगुप्त और कल्लट के आधार पर 'स्पन्द शाखा' और सोमानन्द तथा उत्पल के आधार पर 'प्रत्यभिज्ञा शाखा' प्रतिष्ठित हुई। दोनों ही शाखाएं मूलतः अद्वैत-परक हैं, और मूल-मान्यताओं में समान हैं। प्रत्यभिज्ञा को एक चरम प्रौढ़ दर्शन का रूप अभिनवगुप्त के हाथों आकर प्राप्त हुआ। इन शताब्दियों में कश्मीर की चिन्तन-धारा इन शैव-दृष्टियों से बहुत गहरी प्रभावित हुई।[2]

भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इसी शैव-दर्शन की सहायता से रस की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। इनमें भट्टनायक का सम्बन्ध द्वैतवादी धारा से है, अभिनव का अद्वैतवादी धारा से।

द्वैतवादी शैव-दर्शन और रस

भट्टनायक

अन्य अनेक आचार्यों के समान भट्टनायक का भी कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। अभिनव के उल्लेखों के आधार पर ही हमें उनके मत का पता चलता है। उनके रस-स्वरूप की व्याख्या शैव-दर्शन के आलोक में ही ठीक-ठीक की जा सकती है। भट्टनायक के रस-निरूपण में कुछ ऐसी रेखाएं प्राप्त होती हैं जिनके कारण उनकी स्थापनाओं में वह सूक्ष्मता नहीं आ पाती जो अभिनव की स्थापनाओं में आती है। उन रेखाओं के आधार पर यही अनुमान होता है कि भट्टनायक ने रस की व्याख्या अपने युग में वेग से प्रवाहित शैवाद्वैत के आलोक में की तो सही, किन्तु वे अपने द्वैतवादी संस्कारों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके थे। आज यदि शैव-दर्शन

१-२. के० सी० पांडे : अभिनव० : पृ० ६९-१४३। अर्ली० हि० आ० का० : डा० चौधरी, पृ० १४१-१८९। शैवमत : डा० यदुवंशी : अ० ५-६-७।

की द्वैत-परक धारा का कोई आधार-ग्रन्थ हमें उपलब्ध हो सकता तो हम भट्टनायक के विवेचन के मूल सूत्र सम्भवतः उसमें पा सकते। उसके अभाव में हमारे पास यही एक मार्ग है कि हम उनके निरूपण और मान्यताओं को अद्वैती शैव-दर्शन की उपलब्धियों के आलोक में परखें और अद्वैती मान्यताओं से मेल न खाती हुई स्थूल रेखाओं के आधार पर यह अनुमान कर सकें कि भट्टनायक का सम्बन्ध अद्वैती धारा की अपेक्षा द्वैतवादी धारा से था। इसी मार्ग का अवलम्बन करते हुए यहां भट्टनायक को द्वैतवादी शैव-दर्शन के अन्तर्गत रखा गया है।

भट्टनायक शैव थे, इस तथ्य के प्रमाण-स्वरूप कई उल्लेख प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

१. अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती, भा० १, अध्याय १, पृ० ६ पर भट्टनायक का एक श्लोक उनके हृदय-दर्पण से प्रस्तुत किया है। डॉ० काणे[1] के अनुसार यह हृदय-दर्पण का मंगल-श्लोक होना चाहिए। यह श्लोक शिव-स्तुति-परक है :

"नमःस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥"

२. अभिनव ने ही प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भा० ३, पृ० ९६ पर भट्टनायक का शिव-स्तुति-परक एक और श्लोक निम्न रूप में उद्धृत किया है :

"महान्ति पातकान्याहुर्यदाज्ञावशतः सुराः।
पावनानि नमस्तस्मै स्वच्छान्दाय हराय ते।"

इस श्लोक में शिव के लिए दिया हुआ 'स्वच्छन्द' विशेषण विशेषतः ध्यान देने योग्य है। शिव को 'स्वतन्त्र' या 'स्वच्छन्द' कहकर चलना कश्मीर के शैव-दर्शन की अपनी विशेषता है। इसी विशेषता के कारण कश्मीर के आधुनिक शैव आचार्य इस दर्शन को 'शैवाद्वैतवाद' कहने की अपेक्षा 'स्वातन्त्र्यवाद' या 'स्वच्छन्दवाद' कहना अधिक समीचीन समझते हैं।

३. क्षेमराज ने स्पन्द-निर्णय, पृ० १८ पर भट्टनायक का एक शिव-परक स्तोत्रांश प्रस्तुत किया है। ध्यान देने की बात यह है कि क्षेमराज इसे शैव-दर्शन के सिद्धान्त-पक्ष में उत्पलाचार्य के वचनों के समान ही प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं, और वेदान्त के विपरीत शैव-दृष्टि से इसकी संगति लगाते हैं :

"नपुंसकमिदं नाथ परं ब्रह्म फलेत् कियत् ?
त्वत्पौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात् त्वद्भक्तिसुन्दरी।"

इस प्रकार क्षेमराज भी भट्टनायक को शैव मानकर चलते हैं।

फिर सबसे बड़ी बात यह है कि भट्टनायक के रस-भोग का स्वरूप सीधे शैव-दर्शन से आया हुआ है। उसकी जितनी संगत व्याख्या इस दर्शन की छाया में होती है उतनी किसी अन्य दर्शन की छाया में नहीं। उनके विवेचन की पदावली सीधे इसी ओर संकेत करती है। उनका 'भोग' शैव-दर्शन से ही आया है। यों तो 'भोग' शब्द का प्रयोग कतिपय अन्य दर्शनों ने भी किया है, किन्तु भट्टनायक के भोग की चेतना शैव-दर्शन में ही निहित है। शैव ग्रन्थों में 'भोग' बहु-चर्चित शब्द है। एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि यह दर्शन 'भोगवादी' है। द्वैतवादी सद्योज्योति शिव ने तो एक 'भोग-कारिका' नामक ग्रन्थ की ही रचना की थी। सद्योज्योति का समय अभिनव से निश्चित रूप से पहले है।[2] इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा

---

१. डॉ० पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २१४।

२. डॉ० के० सी० पांडे : अभिनवगुप्त, पृ० १०४।

सकता है कि भट्टनायक निस्सन्देह शैव थे।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे ने अभिनवभारती के एक उद्धरण के आधार पर भट्टनायक को वेदान्त से प्रभावित सिद्ध किया है।[1] स्थल इस प्रकार है :

"भट्टनायकस्तु ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्याविरचितनिस्सारभेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यं.....। इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्। यदाह—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः।"[2]

किन्तु डॉ० पाण्डे का यह निर्णय स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके विरुद्ध चार बातें सामने आती हैं :

१. किसी एक ही स्थल के आधार पर कुछ निर्णय नहीं लिया जा सकता, जबकि दूसरे पक्ष में जाने वाले एकाधिक प्रमाण विद्यमान हों।

२. इस स्थल की भी व्याख्या शैव दृष्टि से सहज ही की जा सकती है।[3]

३. डॉ० पाण्डे ने पूरे प्रसंग पर ध्यान नहीं दिया। स्वयं इसी प्रसंग में अन्त में शिव-स्तुति-परक भट्टनायक का श्लोक दिया गया है।

४. जैसा कि पीछे दिखाया है, क्षेमराज ने भट्टनायक को वेदान्त के विपरीत शैव पक्ष में प्रमाण रूप में उपस्थित किया है।

भट्टनायक की इस शैव आधार-भूमि से परिचय प्राप्त कर लेने पर अब हम उनके विवेचित रस-स्वरूप को समझ सकते हैं।

भट्टनायक का रस-स्वरूप

अभिनवभारती[4] में भट्टनायक का रस-स्वरूप इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

"काव्ये दोषाभावगुणालंकारलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटता-निवारणकारिणा[5] विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।"

भट्टनायक के अनुसार काव्य-शब्दों में तीन व्यापार होते हैं—अभिधा, भावकत्व एवं भोगकृत्व। जहां तक अभिधा का सम्बन्ध है, वह काव्य को छोड़ अन्य शास्त्रादि में भी पायी जाती है। किन्तु उनकी अभिधा तथा काव्य की अभिधा में अन्तर होता है। शास्त्रादि की अभिधा बस अपने वाच्यार्थ तक ही सीमित रह जाती है, जबकि काव्य की अभिधा क्रमशः भावना और भोग में परिणत हो जाती है। इसी कारण वह 'शुद्ध' अभिधा न होकर भट्टनायक

---

१. डॉ० पाण्डे : हिस्ट्री आफ़ इंडियन इस्थेटिक्स, पृ० ६०-१।

२. अभि० भा० : भा० १, पृ० ५-६।

३. व्याख्या के लिए देखिए—'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १६५ टि०।

४. वही, पृ० २७७।

५. संकटकारिणा। हेम० संकटताका०।

के शब्दों में 'विलक्षण' अभिधा होती है।[1]

इस अभिधा व्यापार से वाच्यार्थोपस्थिति होकर भावकत्व व्यापार की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। भावकत्व व्यापार विशिष्ट विभावादिक को साधारणीकृत करता हुआ प्रमातृ-चेतना के मोह-संकट की निवृत्ति करता है, और रस को 'भावित' करता है। रस को भावित करके भावकत्व का कार्य समाप्त हो जाता है और तीसरा भोग नामक व्यापार उदित होता है। इस व्यापार द्वारा पूर्वोक्त भावित रसों का भोग होता है। इस प्रकार अभिधा वाच्य-विषयक व्यापार है, भावकत्व रसादि-विषयक, भोगकृत्व सहृदय-विषयक।[2]

इनमें पहला अभिधा व्यापार तो पद-पदार्थ की सीमा में रहता है। काव्यानुभूति का वास्तविक कार्य शेष दो व्यापारों से ही होता है। रस का वास्तविक स्वरूप-निरूपण भोग-व्यापार के अन्तर्गत आता है, इसीलिए उसे भट्टनायक ने सहृदय-विषयक व्यापार माना है। रसादि-विषयक भावकत्व व्यापार रस के स्वरूप नहीं, अपितु उसकी निष्पत्ति-प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। इन दोनों व्यापारों की कल्पना में भट्टनायक ने दो भिन्न दर्शनों से सहायता ली है। भावकत्व की प्रतिष्ठा मीमांसा के आधार पर हुई है और भोगकृत्व की शैव-दर्शन के आधार पर।

भावकत्व व्यापार और मीमांसा

भावकत्व व्यापार का स्वरूप अभिनवभारती के इन शब्दों में निरूपित हुआ :

"काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोह-संकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो·····भोगेन परं भुज्यते।"

इस निरूपण में भावकत्व व्यापार के चार विशेषण दिये गये हैं जिनके आधार पर उसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है :

१. "काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण।" काव्य में दोषों का अभाव तथा गुण-अलंकारों का सद्भाव और नाटक में आंगिक-वाचिक-सात्विक-आहार्य चतुर्विध अभिनय; एक शब्द में कहें तो पठ्य काव्य में भाषा का कलात्मक प्रयोग और नाट्य में अभिनय-कौशल भावकत्व व्यापार की सफलता के हेतु हैं। कलात्मक भाषा और कुशल अभिनय ही काव्य-शब्दों में भावकत्व की प्रतिष्ठा करते हैं, अतः एक प्रकार से ये दोनों तत्त्व भावकत्व के कारण हैं।

२. "अभिधातो द्वितीयेन अंशेन।" भावकत्व अभिधा के अनन्तर अवकाश पाने वाला द्वितीय व्यापार है।

३. "निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा।" भावकत्व सामाजिक की चेतना में पड़े मोहावरण को भंग करने वाला है। इस प्रकार भावकत्व का एक फल है प्रमातृ-चेतना के मोहावरण का नाश। सामान्यतया व्यक्ति-चेतना अपने राग-द्वेष से अभिभूत होती है। यही मोह-संकटता है। जब तक यह निवृत्त न हो, सामाजिक को रसानुभूति हो ही नहीं सकती।

---

१. "तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्, तत्तन्त्रादिभ्यो शास्त्रयान्येभ्यः श्लेषालंकाराणांको भेदः ?···तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणैव।" ध्व० लो०, पृ० १८२।

२. वही, पृ० १८२।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार काव्यानुभूति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला व्यापार है। भावकत्व 'संकटतानिवारणकारी' है, अतः मोहसंकटतानिवारण उसका 'कार्य' ही कहा जा सकता है, उसका अंग या कोई अवान्तर व्यापार नहीं।

४. "विभावादिसाधारणीकरणात्मना।" भावकत्व व्यापार में आत्म-रूप प्रधान व्यापार है विभावादि का साधारणीकरण। काव्य की अभिधा से विभावादि अपनी देश-काल-व्यक्ति की सीमाओं के साथ उपस्थित होते हैं। कलात्मक भाषा और अभिनय-कौशल की क्षमताओं वाला भावकत्व व्यापार उन विभावादि को निर्विशेष बनाता हुआ इस रूप में ला देता है कि वे सामाजिक के भावोद्बोधन का कार्य कर सकें, उसके विभाव बन सकें। भट्टनायक के अनुसार विशिष्ट विभावादि में विभावन-क्षमता नहीं होती। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठ सकते हैं, जैसे सीता सामाजिक की रति-विभाव कैसे होंगी? साधारणीकरण इन उलझनों को दूर कर देता है।

साधारणीकरण भावकत्व का एक अंग-भूत व्यापार है।[1] भावकत्व विभावादि को साधारणीकृत करता हुआ प्रमातृ-चेतना के मोह का नाश करता है, और चरम फल के रूप में रसों का भावन करता है। भावकत्व भट्टनायक के शब्दों में रसादि-विषयक व्यापार है, जबकि साधारणीकरण विभावादि-विषयक है। साधारणीकरण विशिष्ट विभावादि की विशिष्टता छुड़ा-कर उन्हें काव्यानुभूति के लिए उपयुक्त बनाकर निवृत्त हो जाता है जबकि भावकत्व उन साधारणीकृत विभावादि के प्रति सामाजिक के स्थायी भावों को उद्बुद्ध करता है। यह रस-भावन का कार्य साधारणीकरण से नहीं, भावन व्यापार से ही होता है। अतः साधारणीकरण उसी प्रकार भावकत्व का एक अंग है जिस प्रकार किसी एक व्यापक व्यापार के अंग अनेक छोटे-छोटे व्यापार हो सकते हैं।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार भाषा के कलात्मक प्रयोग और अभिनय-कौशल का फल है। यह विभावादि का साधारणीकरण करता हुआ सामाजिक की चेतना को प्रभावित करता है। वह उसमें मोह-संकट को दूर कर उसके शुद्ध भावों के उद्बोधन का अवकाश प्रदान करता है। ये उद्बुद्ध भाव ही भावकत्व द्वारा भावित रस हैं। इन्हें भावित करके इस व्यापार का काम समाप्त हो जाता है और इनके भोग का भार भट्टनायक के अनुसार भोगकृत्व नामक तीसरा व्यापार सम्हालता है।

भट्टनायक को इस व्यापार की प्रतिष्ठा की प्रेरणा मीमांसा-दर्शन से प्राप्त हुई है। मीमांसक क्रिया को 'भावना' कहता है, इसी से उसे भावनाक्रियावादी कहा जाता है। 'स्वर्ग-कामो यजेत' इस श्रुति-वाक्य में मीमांसक के अनुसार बताया गया है कि यजन-क्रिया से स्वर्ग भावित होता है। भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी तथा आर्थी। शाब्दी भावना की साध्य आर्थी भावना ही होती है। सीधे शब्दों में कह सकते हैं—शब्दों के साध्य अर्थ होते हैं। आर्थी भावना का साध्य फल होता है। जैसे यजन-भावना का साध्य स्वर्ग है। भावना के साध्य के विषय में तीन प्रश्न उठाये जाते हैं—(१) किं भावयेत्? अर्थात् क्या भावित या सिद्ध करना है? इसे साध्याकांक्षा कहा जाता है। (२) केन भावयेत्? अर्थात् किन साधनों से भावित किया जाय? इसे साधनाकांक्षा कहा जाता है। (३) कथं भावयेत्? अर्थात् किस प्रकार भावित किया जाय? इसे इतिकर्तव्यताकांक्षा कहा जाता है। इन तीन आकांक्षाओं की

---

१. 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', पृ० १४८-४९।

दृष्टि से 'स्वर्गकामो यजेत' श्रुतिवाक्य का विश्लेषण इस प्रकार किया जाएगा :

१. साध्याकांक्षा किं भावयेत्	स्वर्ग ।
२. साधनाकांक्षा केन भावयेत्	याग ।
३. इतिकर्तव्यताकांक्षा कथं भावयेत्	प्रयाजादि कर्म-कलाप ।

भट्टनायक की भी यही प्रक्रिया है। उनका काव्य 'भावक' है, रस 'भाव्य' है।[1] उपर्युक्त श्रुतिवाक्य की प्रक्रिया से भट्टनायक के दृष्टिकोण को इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. साध्याकांक्षा किं भावयेत्	रस।
२. साधनाकांक्षा केन भावयेत्	भावकत्व व्यापार।
३. इतिकर्तव्यताकांक्षा कथं भावयेत्	गुणालंकार आदि द्वारा भाषा का कलात्मक भाव-प्रवण प्रयोग, अभिनय-कौशल; विभावादि का साधारणीकरण, प्रमातृ-चेतना का मोह-संकटता-निवारण।

अभिनवगुप्त भट्टनायक के भावकत्व व्यापार की मूल विचार-भूमि से परिचित हैं। अतः वे इसका निराकरण मीमांसा की शैली में ही इसे विभाजित करके देते हैं। अभिनव का कहना है कि भाषा के कलात्मक प्रयोग रूप गुणालंकारादि के परिग्रह के रूप में तो भावकत्व हमें भी स्वीकार्य है, किन्तु इसको अलग एक स्वतन्त्र व्यापार मानना अनावश्यक है। व्यंजना काव्य की अनेक आवश्यकताओं को सम्पादित करने वाला एक अनिवार्यतः स्वीकृत व्यापार है। करण या साधन की आकांक्षा उसी से पूर्ण होगी। अतः भावकत्व मानना व्यर्थ है। मीमांसा शैली में अभिनव अपनी मान्यता इस प्रकार रखते हैं :

१. साध्याकांक्षा किं भावयेत् 'भाव्य'	रस।
२. साधनाकांक्षा केन भावयेत् 'करण'	व्यंजना व्यापार।
३. इतिकर्तव्यताकांक्षा कथं भावयेत् 'प्रकार'	समुचित गुण अलंकार आदि का प्रयोग। भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग, अभिनय का कौशल आदि।

अभिनव का यह खंडन इस बात का निश्चायक है कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमांसा की आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित हुआ है। अभिनव ने भट्टनायक पर इन शब्दों में आक्षेप किया है :

"भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम् ? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तं "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यंक्तः" इत्यत्र। तस्माद् व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं रसान् भावयति, इति व्यंशायां भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति।"[2]

---

१. अर्थसंग्रह : लौगाक्षिभास्कर, पृ० ८-२२। भावना-विवेचन के आधार पर।

२. ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १८८-९।

भट्टनायक की मीमांसानुवर्तन की धारणा को ध्यान में रखकर ही उपर्युक्त शब्दों में अभिनव ने उन पर एक और आक्षेप किया है—"काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः।" काव्य को भावक मानकर उसकी भावना से रस को भाव्य मानने का अर्थ यह हुआ कि रस उत्पन्न होता है। क्योंकि मीमांसा एक उत्पत्तिवादी दर्शन है। उसके अनुसार स्वर्गादि फल यागादि भावना से भाव्य होकर उत्पन्न होता है। उसकी मान्यता है कि श्रुतियों में आये समस्त सिद्ध पदार्थ भी क्रियार्थ ही होते हैं। अतः वे भी एक प्रकार से साध्यायमानता को प्राप्त हो जाते हैं। इन धारणाओं के साथ जब रस को भावना-भाव्य कहा जायेगा तो उसका स्पष्ट यही अर्थ होगा कि रस भावना-व्यापार से उत्पन्न किया जाता है। किन्तु इसके विपरीत भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद का खंडन किया है। अभिनव का आक्षेप है कि भावकत्व व्यापार को स्वीकार करने का तो यह अर्थ होगा कि आप स्वयं अपने द्वारा निराकृत उत्पत्तिवाद को ही पुनः उज्जीवित कर रहे हैं। अभिनव का यह आक्षेप भी इस बात का प्रमाण है कि वह भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को मीमांसा पर ही आधारित मानते हैं।

हम मीमांसा दर्शन के सन्दर्भ में रस-समस्या को सुलझाने वाले आचार्यों के प्रसंग में भट्टनायक की चर्चा कर चुके हैं और यह संकेत कर चुके हैं कि भट्टनायक का भावकत्व व्यापार मीमांसा पर ही आधारित है तथा अभिनव ने उसका खण्डन भी मीमांसा की प्रक्रिया का सहारा लेकर ही किया है। किन्तु भट्टनायक में मीमांसा का प्रभाव भावकत्व व्यापार से आगे बढ़कर नहीं जाता। भावकत्व व्यापार से भावित हुए रसों के भोग का विश्लेषण वे शैव-दर्शन के आलोक में ही प्रस्तुत करते हैं। भट्टनायक के इस भावकत्व का परिचय प्राप्त कर चुकने पर अब हम उनके भोग की ओर आते हैं।

रस-भोग

रस-भोग का स्वरूप अभिनवभारती के निम्न शब्दों में निरूपित है :

".....भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते।"[1]

लोचन में यही निरूपण इन शब्दों में आता है :

"भाविते च रसे तस्य भोगः। योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूपः इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति।"[2]

इन दोनों उल्लेखों को ध्यान में रखकर कुछ प्रमुख बातें हमारे सामने आती हैं :

१. अभिनवभारती में कहा गया है—"भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो..... भोगेन परं भुज्यते।" भावकत्व व्यापार से भावित होता हुआ रसवाद को भोग व्यापार से भोगा जाता है। लोचन में कहा गया है—"भाविते च रसे तस्य भोगः" रस के भावना-व्यापार से भावित हो चुकने पर उसका भोग होता है। इस प्रकार भट्टनायक सिद्ध या निष्पन्न रस का भोग

---

१. अभिनवभारती : भा० १, पृ० २७७।
२. लोचन : पृ० १८३।

मानते हैं। लोचन में 'भाविते' शब्द में क्त-प्रत्यय का प्रयोग हुआ है जो भोग व्यापार की प्रवृत्ति से पूर्व ही रस की सिद्धता की ओर संकेत करता है। अभिनवभारती में यद्यपि 'भाव्यमानो रसः' कहा है जिसमें शानच् प्रत्यय है, जो निष्पन्नता नहीं, निष्पद्यमानता का द्योतक है, तथापि उसमें 'परं' शब्द का प्रयोग बताता है कि इस भाव्यमान रस का भोग भावकत्व व्यापार के कार्य की समाप्ति के अनन्तर ही होता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टनायक सिद्ध रस का भोग मानते हैं। तब उनके अनुसार 'ओदनं भुज्यते' के समान रस-भोग की बात कही जायेगी, न कि 'ओदनं पचति' के समान। अभिनव इस दृष्टिकोण से असहमति प्रकट करते हैं। उनकी मान्यता है—"रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः। प्रतीयमान एव हि रसः।"[1]

२. रस-विवेचन के इतिहास में भट्टनायक ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रस को सामाजिक की चेतना के रूप में देखा है। उनसे पूर्व के आचार्यों की दृष्टि में रस किसी न किसी रूप में एक पदार्थ रहा है। भरत, लोल्लट, शंकुक आदि किसी में उसकी वस्तुरूपता पूर्णतः नहीं छूटी थी। भट्टनायक ने उसे विशुद्ध सामाजिक की अनुभूति के रूप में लिया है। उन्होंने सामाजिक के ही भावित रत्यादि के भोग का विश्लेषण किया है।

३. भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद-सविध कहा है। उनके भोग का अर्थ है आस्वाद। रसास्वादकालीन प्रमातृ-चेतना का स्वरूप उन्होंने इस प्रकार बताया है—"द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति लक्षणेन" चेतना के इस स्वरूप में दो अंश हैं—एक तो द्रुतिविस्तारविकासात्मक सत्त्वोद्रेकी चित्त का, दूसरा प्रकाशानन्दमय संविद् की विश्रान्ति का। इस प्रकार कहना चाहिए कि रसानुभूति भट्टनायक के अनुसार चित्त की एक उत्कृष्ट भूमिका में होने वाली अनुभूति है। शुद्ध ब्रह्मानन्द के आस्वाद में चेतना का स्वरूप केवल 'प्रकाशानन्दमयसंविद्' रूप होता है, किन्तु रसास्वाद में चित्त का भी योग रहता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भट्टनायक के रस की अनुभूति मनोमय कोश की सीमा में ही होती है। किन्तु इस अनुभूति में मनोमय कोश अत्यन्त प्रांजल होता है और इससे परिच्छिन्न चेतना अपने पूर्ण विश्रान्त स्वरूप में अवस्थित होती है। चित्त के इस योग के कारण ही भट्टनायक ने रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद न कहकर ब्रह्मास्वादसविध कहा है।

४. रसास्वाद अन्य लौकिक अनुभव, स्मृति आदि ज्ञान के प्रकारों से भी भिन्न है। उन सबसे यहां दो बातें विशेष हैं। एक तो इस भूमिका में संविद् की विश्रान्ति होती है। दूसरे अनुभवों में संविद् अविश्रांत रहती है, क्योंकि वह विषयोन्मुखी रहती है। दूसरी बात यह कि अन्य अनुभावों में चित्त में सत्त्व की अपेक्षा रजस् और तमस् का आवेश अधिक रहता है। सत्त्व की स्थिति दबी रहने के कारण उस स्थिति को भट्टनायक ने मोह-संकट कहा है। इसकी निवृत्ति उनके अनुसार भावकत्व व्यापार से होती है। किन्तु रस-भोग में सत्त्व का आवेश प्रधान रहता है। फिर भी चित्त मूलतः त्रिगुणात्मक है। उसके सत्त्वोद्रेक की दशा में भी रजस् और तमस् का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। दूसरे काव्यानुभूति में ऐसा मानना अव्यावहारिक भी है। काव्यास्वादन में सुख-दुःख की नाना परिस्थितियां आती हैं। सभी स्थायी भावों के अनुभव सुखात्मक ही नहीं हैं। अतः रजस् और तमस् का भी योग उद्रिक्त सत्त्व के साथ

---

१. लोचन, पृ० १८७।

रहता है। किन्तु यह योग भट्टनायक के शब्दों में 'अनुवेध' मात्र होता है। इस प्रकार सत्त्वोद्रेकी चित्त में रजस् और तमस् के हलके संस्पर्श से उसकी तीन स्थितियां सम्भव हो जाती हैं—द्रुति, विस्तार और विकास। अतः माणिक्यचन्द्र और विश्वनाथ जैसों की यह मान्यता ठीक नहीं कि रसानुभूति में सत्त्वोद्रेक की दशा में रजस् और तमस् का सर्वथा अस्पर्श होता है। उन लोगों ने माना है "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते"।[1] रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन को इस प्रसंग में सत्त्व नाम दिया गया है। किन्तु भट्टनायक के द्वारा माने हुए इस रजस् और तमस् के अनुवेध या संस्पर्श का यह अर्थ नहीं कि कहीं सत्त्व प्रधान होता है, कहीं रजस् और कहीं तमस्। उद्रेक तो सत्त्व का ही होता है। अन्यों का अनुवेध-मात्र ही होता है। इस अनुवेध के कारण ही चित्त की तीन दशाएं हो जाती हैं। अतः ये तीनों दशाएं क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् के फलस्वरूप नहीं, अपितु केवल सत्त्वोद्रिक्त चित्त की हैं। हां यह सत्त्वोद्रिक्त चित्त एक हलकी मात्रा में अन्यों से अनुविद्ध चित्त होता है। अतः माणिक्यचन्द्र आदि का तीन गुणों से तीन दशाओं का सम्बन्ध जोड़ना भ्रामक है। माणिक्यचन्द्र ने द्रुति का सम्बन्ध रजस् से, विस्तार का तमस् से और विकास का सत्त्व से जोड़ा है।[2] वस्तुतः इन तीन दशाओं का तीन सत्त्वादि गुणों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अभिनवगुप्त भट्टनायक की इस अवस्था-त्रय की मान्यता का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यदि रसों पर ध्यान रखकर चित्त की अवस्थाएं माननी हों तब तो जितने रस हैं उतनी अवस्थाएं माननी चाहिए। और यदि सत्त्वादि गुणों के परस्पर मिश्रण और अंगांगिभाव के आधार पर उनका निर्णय करना है तो फिर यह मिश्रण तो अनन्त प्रकार से बन सकता है, फिर तो तीन रूपों में ही इयत्ता की परिसमाप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार चित्त-दशा को तीन रूपों में विभाजित करना अभिनव को असंगत लगता है।[3]

सम्भवतः भट्टनायक ने चित्त की तीन दशाओं की कल्पना आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुणों के आधार पर की है। प्राचीन आचार्यों ने गुणों को शब्द, अर्थ, रचना आदि से सम्बद्ध किया था। आनन्दवर्धन ने उनका सम्बन्ध रस से स्थापित करते हुए उनकी संख्या तीन निर्धारित की। रसों की संख्या चाहे नौ थी, पर उनमें माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों की ही सम्भावना आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित की। इनमें माधुर्य में चित्त की द्रुति, ओज में दीप्ति या विस्तार और प्रसाद में वैमल्य या विकास था। भट्टनायक ने सभी रसों की इन तीन चित्त-दशाओं को अपनी व्याख्या में सामने रखा और इनका दार्शनिक समाधान देना चाहा। भट्टनायक का सीधा और ठीक समाधान है कि विभिन्न रसों में उनके स्थायी भावों के स्वरूप के अनुसार रजस्, तमस् का अनुवेध अलग-अलग मात्रा में होता है। उसी अनुवेध के कारण चित्त की तीन दशाएं हो जाती हैं। किन्तु इन सभी दशाओं में प्राधान्य सत्त्व का ही होता है। किन्तु यह समाधान अभिनव को नहीं जंचा, जैसा कि हम अभी दिखा चुके हैं।

---

१. (क) काव्यप्रकाश।
(ख) साहित्यदर्पण, पृ० ६६, परि० ३।

२. काव्य : संकेत : पृ० ४७। "यदा हि रजसो गुणस्य द्रुतिस्तमसो विस्तरः सत्त्वस्यातिविकासस्तदानीं भोगः स्वरूपं लभते।"

३. अभि० भा० : भा० १, पृ० २७७। "यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चांगांगिभावैर्वैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता।"

इस प्रकार रस-भोग-कालीन प्रमातृ-चेतना के एक पक्ष चित्त की स्थिति एक शब्द में 'सत्त्वोद्रिक्त' कही जा सकती है। हां, यह नहीं भुलाना चाहिए कि यह सत्त्वोद्रेक अनुवेध-युक्त है।

चित्त की इस स्थिति का विश्लेषण जो भट्टनायक ने किया है वह सर्वथा सांख्य के अनुरूप है। इसमें एक ओर तो आनन्दवर्धन के माधुर्यादि गुण-त्रय-वाद का प्रभाव है, दूसरी ओर सांख्य के सत्त्वादि गुण-त्रय-वाद का। किन्तु इस गुण-त्रय-वाद को संधि सांख्य से आता हुआ नहीं माना जा सकता। कारण, प्रमातृ-चेतना का प्रमुख अंश 'प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति' शैव-दर्शन के अनुसार निरूपित हुआ है। शैव-दर्शन ने सांख्य के समस्त तत्त्वों को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अत्यन्त स्वल्प हेर-फेर करके ज्यों का त्यों अपना लिया है। तब यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की स्थिति का यह गुणात्मक विश्लेषण सांख्य से सीधे नहीं आया, अपितु शैव-दर्शन की मान्यताओं के माध्यम से आया है, और इस प्रकार यह भी शैव-दर्शन के अनुसार ही है, न कि सांख्य के अनुसार। और, कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा मानना ही अधिक संगत होगा।

अब हम रस-भोग-कालीन प्रमातृ-चेतना के दूसरे पक्ष 'प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति' की ओर आते हैं, जिसे लोचन में 'निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षण' कहा गया है। इस स्वरूप को समझने के लिए हमें कश्मीरी शैव-दर्शन की कतिपय मान्यताओं की ओर दृष्टिपात करना होगा।

कश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार आत्म-तत्त्व-रूप परम शिव से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उससे प्रसूत होने के कारण सब-कुछ 'सत्' है।[1] इस परम तत्त्व के दो रूप हैं—एक विश्वोत्तीर्ण, दूसरा विश्वमय। प्रथम रूप वेदान्त के ब्रह्म के समान ही अतर्क्य है। विश्वात्मक रूप प्रकाश-विमर्श-मय है।[2] वस्तुतः विमर्श के बिना प्रकाश विचार की सीमा से परे है। यही रूप शिव-शक्ति-मय है। विमर्श या शक्ति पक्ष प्रकाश से पृथक् नहीं, उसी का एक पक्ष-मात्र है। प्रकाश-पक्ष दर्पण के समान आधार-पक्ष है, विमर्श उसमें पड़ा उसी का उससे अभिन्न प्रतिबिम्ब है।[3] इसी प्रकाशात्मक आधार पक्ष में शक्ति अपने नाना रूपों में विकसित होती हुई अवस्थित रहती है, इसी में लीन होती है। उसकी यह प्रक्रिया उन्मीलन और निमीलन कही जाती है।

शक्ति के असंख्य रूप हैं, और वह सूक्ष्म-स्थूल नाना धरातलों में बिखरी हुई है।[4] फिर भी उसके पांच प्रमुख रूप माने गये हैं—चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति।[5] इनमें मूल शक्ति 'चित् शक्ति' ही है, अन्य सब उसकी ही विकसित अवस्थाएं हैं। यह चित् शक्ति ही अनुत्तर विमर्श और स्वतन्त्र कही गयी है। यह प्रकाश का ही एक

---

१. "आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।
शिवदृष्टि : प्र० आ० : २।

२. अभिनवगुप्त : के० सी० पाण्डे, पृ० १९९।

३. "सर्वमेव भावजातं बोधगगने प्रतिबिम्बमात्रं प्रतिबिम्बलक्षणोपेतत्वात्। इदं हि प्रतिबिम्बलक्षणं यद् भेदेन भासितं अशक्तम् अन्यव्यामिश्रितत्वेनैव भाति तत्प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे।" तन्त्रसार : अभिनवगुप्त, पृ० १०।

४. तन्त्रसार : आ० ४ : कश्मीर शैविज़्म : जे० सी० चटर्जी, पृ० ४३।

५. तन्त्रसार : आह्निक १, पृ० ६।

रूप होने के कारण प्रकाश-रूप है। वस्तुतः प्रकाश की प्रकाश-रूप ही चित् शक्ति है।[१] इसी के सन्दर्भ में परम शिव 'शिव' कहे जाते हैं।[२] इस प्रकार 'चित् शक्ति मय शिव' ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। यही उसका 'स्व-भाव' है, और यही परम उपादेय है।[३] 'स्वभाव' प्रकाश-रूप और स्वतन्त्र है।[४]

जिस प्रकार प्रकाश की प्रकाशरूपता को चित् शक्ति कहा गया है, ठीक उसी प्रकार इस 'स्वतन्त्र' के 'स्वातन्त्र्य' को आनन्द शक्ति कहा गया है। इसे यों भी कहा गया है कि अनुत्तर विमर्श रूप चित् शक्ति में विश्रान्ति ही आनन्द है—"अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः"[५]। यही संविद् की विश्रान्त अवस्था है। इस प्रकार शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द का मूल रूप है संविद्विश्रान्ति।

आनन्द का स्वरूप जो संविद्विश्रान्ति है, उसके सम्बन्ध में एक जिज्ञासा उठ सकती है—इस दर्शन में संविद् को अनेक धरातलों पर स्वीकार किया गया है, तब किस धरातल पर संविद् की विश्रान्ति आनन्द है? जब परा भगवती संवित् ही उन्मिषित होती हुई नाना रूपों में फैल जाती है, तब शुद्ध प्रकाश भी एक परा 'संवित्' है, और विश्व का स्थूलतम पदार्थ भी उसी 'संवित्' का एक रूप है। इस प्रकार संवित् की अनेक भूमिकाएं मानकर इस दर्शन में विकासमान संवित् की संतति स्वीकार की गई है।[६] तब आनन्दमयी स्थिति को बताने के लिए यह बताना भी अपेक्षित होगा कि यह विश्रान्ति संवित् के किस स्तर की विश्रान्ति है।

विशुद्ध आनन्द, जिसे ब्रह्मानन्द कह सकते हैं, पारिभाषिक शब्दों में आनन्द-शक्ति की भूमिका है। यह चित् शक्ति या अनुत्तर विमर्श के धरातल पर होने वाली विश्रान्ति है। इसी धरातल को 'स्वभाव' या 'स्व-स्वभाव' भी कहा गया है, और उत्पलाचार्य ने इसी को 'निर्वृता चित्' भी कहा है।[७] चित् शक्ति जब परानपेक्ष एवं पूर्ण होती है, 'निर्वृत' कहलाती है। जब यह क्रियोन्मुख होती है तो कर्मावच्छिन्न होती है। जब चित् कर्मावच्छिन्न न होकर विश्रान्त एवं निर्वृत होती है तब इसी को आनन्दशक्ति कहा गया है। इसीलिए चित् शक्ति में होने

---

१. "तस्य च प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः"। तन्त्रसार : आ० १, पृ० ६।
२. कश्मीर शैविज़्म : जे० सी० चटर्जी, पृ० ४३-४।
३. "तत्र इह स्वभाव एव परमोपादेयः।" तन्त्रसार : आ० १, पृ० ५।
४. "स च सर्वभावानां प्रकाशरूप एव,·····एक एव प्रकाशः, स एव च संवित्।···स च प्रकाशो न परतन्त्रः,·····न च प्रकाशान्तरं किंचिदस्ति इति स्वतन्त्रः एकः प्रकाशः।" तन्त्रसार : आ० १, पृ० ६।
५. तन्त्रसार : आ० १, पृ० १२।
६. (क) "—इति एता द्वादश भगवत्यः संविदः प्रमातॄन् एकं वापि उद्दिश्य ··।" वही, १।३०
"इयं तुरीया संविद्भट्टारिका·····स्थिता।" प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४७।
"तथाहि परापरावस्थायां·····संविदि स्फुरति।" शिवदृष्टि : उत्पल : प्र० आ०, पृ० १४।
(ख) "संविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तिस्थानम्।" त० सा० : आ० १, पृ० १२।
(ग) "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः।" प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ४०। तथा वही, पृ० ४४।
(घ) "तत्तद्दुष्यसंविसंतत्यासूत्रणमिति सृष्टिस्थितिसंहारमेलनरूपा इयं तुरीया संविद्भट्टारिका" वही, पृ० ४६।
७. "परावस्थायां पुनः पूर्णोहमित्येव स्वस्वभावः प्रकाशते"। शि० दृ० : उ० वृ०, पृ० ७।
"निर्वृता वेद्यनिराकांक्षा पूर्णा चिद्यस्य सः"। वही, 'निर्वृतचित्' की व्याख्या।

वाली विश्रान्ति को आनन्द शक्ति कहा गया है ।[1]

शैव-दर्शन की इन मान्यताओं पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायक का रस-भोग ठीक इसी दर्शन के अनुसार प्रणीत हुआ है । जहां तक आनन्द के स्वरूप का सम्बन्ध है, वह भट्टनायक के अनुसार 'प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति' है । यह आनन्द-शक्ति की भूमिका में संविद् की विश्रान्त अवस्था है । लोचन में इसे चित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्ति कहा गया है। हम देख चुके हैं कि निर्वृता चित् भी अनवच्छिन्ना चित् है जो आनन्दशक्ति का पर्याय भर है—"अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति" कहकर उत्पल ने निर्वृत-चित् का स्वरूप समझाया है, यही चित् का 'स्व-भाव' बताया है ।[2] अतः अभिनवभारती और लोचन दोनों के उल्लेख पर्यायवाची शब्दों में एक ही बात कहते हैं ।

किन्तु भट्टनायक का रस-भोग यह शुद्ध या मात्र अनवच्छिन्न चित् नहीं, उसके साथ उद्रिक्त सत्त्व के रूप में चित्त का भी योग है । शैव-दर्शन के अनुसार चित्त भी चित् शक्ति का ही एक संकुचित रूप है । यह विषय संपर्क से संकुचित हुई चिति है ।[3] वस्तुतः यह पशु-दशा या जीव-दशा से सम्बन्धित है । इस दशा में सत्त्व, रजस्, तमस् का स्फुरण रहता है—

"चितिरेव चेतनपदावरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।"[4]

"स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मकतया स्फुरतीति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम् ।"[5]

भट्टनायक ने रस-भोग को एक व्यक्ति की चेतना के रूप में विश्लेषित किया है, जबकि अभिनव ने उसे व्यापक भूमि में रखकर सकलसहृदयसंवादभाक् के रूप में सोचा है । यह निस्सन्देह आत्मैकत्व एवं अद्वैतपरक दृष्टिकोण का फल था । भट्टनायक ने इसी व्यष्टि-चेतना के आनन्द को, जिसमें चित्त की भूमिका में आनन्द की व्याख्या की, और चित्त में रजस् तमस् का हलका संस्पर्श मात्र स्वीकार करके सत्त्व का उद्रेक बताया, रस-भोग कहा है । इस प्रकार भट्टनायक का रस-भोग चित्त की भूमिका में, जो कि सामान्य दशाओं से निस्सन्देह निर्मल चित्तभूमिका है, आनन्दशक्तिमयी संविद् की विश्रान्ति है । इसीलिए उनका रस-भोग मात्र 'प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति' नहीं, अपितु 'रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय' 'प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति' है । इस प्रकार रस-भोग संविद् की उस भूमिका में विश्रान्ति है जिसमें अनुविद्ध किन्तु निर्मल चित्त का परिवेष है ।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के इस रस-भोग को कतिपय अल्प सुधारों के साथ स्वीकार कर लिया है । उन्हें बीच में मीमांसा का अड़ंगा स्वीकृत नहीं है, अतः भावकत्व व्यापार मान्य नहीं है । भोग के पर्याय में व्यंजना स्वीकार्य है, वह तो नामान्तर मात्र है । चित्त की दशाओं को तीन की संख्या में बांधना अनावश्यक मानते हैं । यदि रसानुसार चित्तदशाओं की संख्या देखी जायेगी तो सत्त्वादि के परस्पर संस्पर्श को ध्यान में रखकर अनन्त चित्त-रूप हो सकेंगे । अतः चित्त वाली बात उन्हें रुचती नहीं । वे रस का स्वरूप व्यष्टि चेतना के रूप में नहीं,

---

१. "कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिर्गौणमुख्यम्, अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति" वही, पृ० १७ ।
"अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः ।" त० सा०, पृ० १२ ।

२. शिवदृष्टि : उत्पलवृत्ति, पृ० १७, १० ।

३. प्रत्यभिज्ञाहृदय : ५, पृ० ३४ ।

४. वही, ५, पृ० ३४ ।

५. वही : वृत्ति, पृ० ३४ ।

समष्टि-चेतना के रूप में सोचते हैं, और व्यष्टि सामाजिक को समष्टि चेतना का अंग मानते हुए उसके आस्वद की बात स्वीकार कर सकते हैं। ये सब बातें अभिनव में अद्वैती दृष्टिकोण की परिपूर्णता के कारण आयी हुई प्रतीत होती हैं।[1]

यद्यपि भट्टनायक का रस अद्वैती शैव-दर्शन की मान्यताओं के अनुसार निरूपित प्रतीत होता है, क्योंकि हमने उसकी व्याख्या अद्वैत शैव-दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर उसी के ग्रन्थों से उद्धरण लेते हुए की है। किन्तु भट्टनायक के रस-विवेचन में यह अद्वैती दृष्टि पूरी नहीं उतरती। भट्टनायक भावित या सिद्ध रस का भोग मानते हैं। इसीलिए अद्वैती अभिनव के एक व्यंजना व्यापार के स्थानापन्न उन्हें दो व्यापार भावकत्व और भोजकत्व मानने पड़े हैं। भावकत्व मीमांसा का परिणाम है। मीमांसा से समझौता अद्वैती दृष्टि की अपेक्षा द्वैतवादी दृष्टि से ही अधिक बनता है। अपने द्वैतवादी दृष्टिकोण के कारण ही वे रस को व्यष्टि की अनुभूति तक रख सके थे, 'निजसंविद्विश्रान्ति' के रूप में ही अपना सके थे। यद्यपि यह दृष्टि-कोण अधिक व्यावहारिक है, तथापि उनके द्वैतवादी दृष्टिकोण का पता देता है। द्वैतवादी शैव-दर्शन के ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण हमें भट्टनायक के शब्दों की व्याख्या के लिए अद्वैती ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ा है। अन्यथा मीमांसा और अद्वैती शैव-दर्शन की मान्यताओं का यह घोल द्वैतवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है, ऐसा सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

अभिनवगुप्त

रस के इतिहास में अभिनव की व्यवस्था सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आज तक उनकी मान्यताएं आदर्श समझी जा रही हैं। वे काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के एक महान् आचार्य थे। जिस प्रकार रस का स्वरूप उनके द्वारा एक चरम एवं पूर्ण व्यवस्था को प्राप्त हुआ, उसी प्रकार यह दर्शन भी एक प्रौढ़ दर्शन का रूप पा गया। अभिनव ने रस का स्वरूप अपने इसी दर्शन के अनुरूप निर्धारित किया है।

अभिनव की रस-सम्बन्धिनी मान्यताएं अभिनवभारती और लोचन में बिखरी हुई हैं। अन्य ग्रन्थों में भी वे यथा-प्रसंग इस विषय में बहुत कुछ कह गये हैं। अभिनवभारती और लोचन में भी एक ही स्थान पर सब-कुछ नहीं कह दिया गया। अतः उनकी विचारधारा को पूर्वापर बातों से मिलाकर निर्धारित करना पड़ता है।

अभिनवभारती में भरत के रस-सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में एक स्थल पर रस का स्वरूप इन शब्दों में निर्धारित हुआ है—

"तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमाना-भ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानु-भावनासमुपरंजकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूप-संस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुण-प्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिक-

---

१. (क) लोचन, पृ० १८९।
(ख) अभिनवभारती, भाग १, पृ० २७७।
(ग) अभिनवभारती, भा० १, पृ० २७९।

निर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकावलम्बी स्थायिलक्षण एव रसः।"[1]

मम्मट ने इसी स्थल के आधार पर अपने काव्यप्रकाश में अभिनव का मत प्रस्तुत किया है। इस विवेचन में मुख्यतः विभावादि की स्थिति स्पष्ट की गयी है, और उनके द्वारा रस का स्वरूप संक्षेप में बताया गया है। इस विवेचन को इस प्रकार संक्षिप्त किया जा सकता है—"विभावादिभिः निर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः स्थायिलक्षण एव रसः।" विभावादिकों के द्वारा सामाजिक की चर्वणा का गोचर बनाया हुआ स्थायी रूप अर्थ ही रस है। चर्वणा का गोचर होने का अर्थ यह कदापि नहीं कि किसी सिद्ध रस की चर्वणा होती है, उसकी चर्व्यमाणता ही चर्वणागोचरता है, अतः 'रसः स्वाद्यते' का अर्थ 'ओदनं पचति' के समान समझना चाहिए, न कि 'ओदनं भुज्यते' के समान।

भावों की कारण सामग्री है विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव। इस सामग्री से भावों का जो कारण-कार्य सम्बन्ध है, उसका परिचय सामाजिक को लोक-व्यवहार के आधार पर अनुमान से हुआ रहता है। किसी के अश्रु से उसके शोक का और मुस्कान से हर्ष का अनुमान प्रत्येक लोक-व्यवहारी व्यक्ति को सहज ही हो जाता है। यही सामग्री जब काव्य या नाट्य में आती है तो उसका काम विभावन, अनुभावन और संचारण के रूप में रह जाता है। यह सामग्री सहृदय के हृदय में भाव को विभावित, अनुभावित और संचारित करती है, कारणादि के समान व्यक्तिगत रूप में भावों को उत्पन्न नहीं करती। यह सामग्री काव्य शब्दों से या नाट्य में अभिनय से सामाजिक की चेतना में उपस्थित होती है। सामाजिक की बुद्धि के पटल पर इस समस्त सामग्री का एकाग्रता के साथ समंजस रूप में उपस्थित होना ही उसका 'संयोग' है जिसकी चर्चा अभिनव के अनुसार भरत ने अपने रस-सूत्र में की है। इसी सामग्री के द्वारा सामाजिक की चेतना में वासना-रूप से अवस्थित स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाता है, और चर्वणा का गोचर बन जाता है। यह चर्वणा ही संविद् की निर्विघ्न स्थिति है, जिसका गोचर स्थायी भाव बनता है। यही रस है।

इसी मान्यता को अभिनव ने कालिदास के शाकुन्तल नाटक से भयभीत हरिण वाला चित्र लेकर समझाया है। कालिदास का श्लोक इस प्रकार है :

"ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चादर्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।"[2]

इस श्लोक का सामान्य अर्थ यह है कि दुष्यन्त के बाण के लगने के भय से हरिण भागा जा रहा है। लौट-लौटकर पीछे की ओर रथ पर नजर डालता जाता है। मुड़ते समय लगता है उसका अगला शरीर-भाग पिछले भाग में घुसा जा रहा है। दौड़ने के श्रम से उसका मुँह फट गया है और उससे अध-रौंथे दर्भ मार्ग में बिखरते जाते हैं। चाल ऐसी लम्बी उछालों-भरी है कि भूमि पर तो बहुत थोड़ा ही पैर पड़ता है, प्रायः आकाश में ही चल रहा है।

---

१. अ० भा०, भा० १, पृ० २८४।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अं० १।

यह इस श्लोक का शब्दार्थ है। जब सामाजिक के समक्ष यह श्लोक आता है तो सबसे पहले इस श्लोक का पद-पदार्थ-सम्बन्धी यही अर्थ, जिसे वाक्यार्थ कह सकते हैं, उसकी चेतना में आता है। इस अर्थ में दुष्यन्त एक विशेष काल का विशेष व्यक्तित्व से सम्पन्न एक विशिष्ट व्यक्ति है। हरिण का भी देश-काल की विशेषताओं से सम्बन्ध है। वन एवं परिस्थितियां भी सभी विशिष्ट हैं। श्लोक वाक्य की वाक्यार्थ-प्रतीति में यह सभी कुछ 'विशिष्ट' है जिसमें देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाएं समाहित हैं।

इस वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर सामाजिक को इसके ही आधार पर दूसरी प्रतीति होती है, जिसमें वाक्यार्थ-प्रतीति के धरातल की समस्त विशेषताएं छूट जाती हैं। अभिनव के शब्दों में यह प्रतीति 'साक्षात्कारात्मिका' होती है। आधुनिक पदावली में हम कह सकते हैं, प्रथम प्रतीति अर्थ-ग्रहण रूप होती है, दूसरी बिम्ब-ग्रहण रूप होती है। और इस बिम्बात्मिका प्रतीति में देश-काल-व्यक्तित्व की विशेषताएं नहीं होतीं। भट्टनायक के साधारणीकरण की यही भूमिका है। यह बिम्बात्मिका प्रतीति अभिनव के अनुसार अर्थ-ज्ञान से उपलब्ध पदार्थों को चेतना का अंग बना लेना है। इसे उन्होंने 'वर्णनीय-तन्मयीभवन' कहा है, अर्थात् वर्णनीय विषय का संविद् का अंग बन जाना। अभिनव सहृदय में वर्णनीय के साथ तन्मयीभवन की योग्यता की विशेष अपेक्षा करते हैं।

सामाजिक के मानस-पट पर उपस्थित यह सामग्री विशेषता-मुक्त कैसे होती है, इसके सम्बन्ध में अभिनव ने मुख्यतया दो कारण दिये हैं। इनमें एक मनोवैज्ञानिक है दूसरा दार्शनिक। एक बात तो वे यह कहते हैं कि विशेष रामादि पात्रों का सम्बन्ध अतीत काल से होता है, यहां वे वर्तमान के रूप में सामने आते हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति के हिसाब से वे वर्तमान नहीं होते। अतः वे निर्विशेष होकर आते हैं।[1] दूसरे, सामाजिक जब नट को राम के रूप में अध्यसित करके देखता है तो उसके सामने दो प्रकार के विशिष्ट पदार्थ होते हैं। काव्य के शब्दों के द्वारा उपस्थापित देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाओं में आबद्ध रामादि, और सामने रंगमंच पर उपस्थित विशेष वेषादि धारण करने वाला वर्तमान से सम्बद्ध विशिष्ट नट। ये दो प्रकार के विशेष सामाजिक की चेतना में एक साथ उपस्थित होते हैं। किसी पदार्थ को विशेष की सीमा में नियमन करने वाले काल, देश, व्यक्तित्व आदि के तत्त्व इस प्रकार दो ओर से सामाजिक की चेतना के फलक पर आकर एक-दूसरे से टकराते हैं। एक ओर तो वह जानता है कि यह मेरे सामने उपस्थित नट है, दूसरी ओर उसकी कल्पना-प्रवणता सामने उपस्थित व्यक्ति को रामादि के रूप में ग्रहण कराती है। इस प्रकार यथार्थ और कल्पना के दो क्षेत्रों की ओर से आते हुए दो प्रकार के विशेष आपस में टकरा कर निर्विशेष हो जाते हैं :

"तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।"[2]

इस प्रकार सामाजिक के मानस-पटल पर एक भीत मृग का बिम्ब प्रत्युपस्थित होता

---

१. "तदा विशेषबुद्धिः यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियात्मकसालक्षण्यपर्यवसानात्। न च तेषां वर्तमानतेत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः।" अ० भा०, भा० १, पृ० ३५-३६। तेत्युपगता।

२. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७९।

है। अर्थ-ग्रहण के रूप में जो मृग बुद्धि-पट पर आया था, देश-काल-व्यक्ति की विशेषताओं वाला था, यह साक्षात्कारात्मक मृग-बिम्ब निर्विशेष होता है।

मीमांसा का उपयोग—काव्यशब्दों से वाक्यार्थ-रूपा तथा साक्षात्कारात्मिका दो प्रकार की प्रतीतियां होती हैं। पहली देश-काल-व्यक्ति की विशेषता वाली, दूसरी देश-कालादि के विशेषों के परिवर्तन के साथ। लगभग ऐसी ही अर्थ-प्रतीति का ढंग मीमांसा में अपनाया गया है। मीमांसा के अनुसार समस्त वैदिक वाक्य विधि-रूप होते हैं। अतः उनमें अधिकारी के लिए एक कर्म का आदेश होता है। कर्म साध्य होता है, सिद्ध नहीं होता। अतः वेद के वे वचन भी जिनमें किसी विशेष व्यक्ति और विशेष काल के सूचक शब्द भी होते हैं, परिवर्तित होकर अधिकारी के लिए लिङ्लकार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप "प्रजापतिरात्मने वपामुदाखिदत्, तामग्नौ प्रादात्" यह उपनिषद् का वाक्य है। इसका शब्दार्थ है, प्रजापति ने अपनी वपा या चर्बी निकाली और उसे अग्नि में डाला। इस वाक्य में कर्ता प्रजापति, देश, काल, अग्नि-वपा-होम सभी कुछ सविशेष हैं। किन्तु वेद के वाक्य इतिहासरूप तो होते नहीं, उनका तो मीमांसा के अनुसार अधिकारी के लिए विधि-रूप अर्थ लेना है। अतः अधिकारों को, जो किसी फल की कामना से इस यज्ञ में प्रवृत्त होना चाहता है, उक्त वाक्य का यही अर्थ होगा कि मैं वपा को अग्नि में डालूं। यहां 'ताम् अग्नौ प्रादात्' का अर्थ 'अहं अग्नौ प्रददानि' लिया गया। इस अधिकारी की प्रतीति में वाक्यार्थ-प्रतीति के देश-काल-व्यक्ति सभी बदल गये। अभिनव का कथन है कि यह मीमांसा की मान्य अधिकारी की प्रतीति शाब्द-प्रतीति तो है पर शब्दार्थ से अतिरिक्त प्रतीति है। ठीक इसी प्रकार से काव्य के शब्दों से वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर सामाजिक को साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है, जिसमें देश-काल-व्यक्ति की विशेषताएं नहीं होतीं। अभिनव ने इस प्रक्रिया के साम्य को दिखाने के लिए ही, न कि सिद्धान्ततः आधार बनाने के लिए, मीमांसा का सहारा लिया है :

"यथा हि सत्रमासत, तामग्नौ प्रादात् इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवा 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावनाविधिनियोगदिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।"[1]

इस प्रकार सामाजिक की चेतना में इस साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के रूप में जो मृग-बिम्ब उपस्थित होता है, वह एक 'भीत' मात्र का बिम्ब होता है, न कि किसी काल-देशादि से विशिष्ट व्यक्ति-विशेष भीत हरिण का। इस भीत हरिण के भय का कारण भी वास्तविक नहीं, यह सामाजिक की चेतना जानती है। शिकारी दुष्यन्त के रूप में कोई वास्तविक शिकारी हरिण के पीछे नहीं दौड़ रहा। अतः इस 'भीत-मात्र' के आधार पर सामाजिक की चेतना में मात्र 'भय' का उदय होता है। यह 'भय' विशेष नहीं होता, जिसका किसी विशिष्ट देशकालादि से सम्बन्ध हो। यह साधारणीभूत भय होता है। वस्तुतः यह सामाजिक की वासनाओं में रहने वाला उदित भय ही होता है। जो विशेष भय होते हैं और देशकाल-व्यक्ति की विशेषताओं से युक्त होकर आते हैं, वे दुःख-सुख की विशिष्ट अनुभूतियों से प्रमाता की चेतना को आबद्ध करते हैं। उनके सामने होने पर प्रमाता की चेतना उनसे बचने के उपायों की ओर मुड़ती है। कहना चाहिए, वे प्रमाता की सविघ्न प्रतीति से ग्राह्य होते हैं। किन्तु यहां वे विघ्न

---

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७८।

नहीं होते। सविघ्न प्रतीतियों में चेतना अविश्रान्त होती है अतः वे प्रतीतियां लौकिक दुःख-सुखमय होती हैं, त्याग और ग्रहण की चेतनाओं में संविद् को अविश्रान्त किये रहती हैं। किन्तु यहां चेतना विश्रान्त होती है, और इसी विश्रान्त चेतना की भूमिका में गृहीत भय 'भयानक' रस होता है। इस अनुभूति में न तो प्रमाता का व्यक्तित्व उस रूप में विशेषताओं के साथ उभरा होता है जिस प्रकार अन्य लौकिक अनुभवों में रहता है, और न ही बिलकुल तिरस्कृत और संविन्मात्र होता है जैसा कि पारमार्थिकी ब्रह्मानुभूति में होता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार विभावादि सामग्री, उनसे उदित होने वाले भाव, प्रमाता का व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति—सभी में एक साधारणत्व की भूमिका रहती है। इतना ही नहीं, प्रमातृ-चेतना तो एक अभिन्न एवं व्यापक अद्वैत तत्त्व है अतः अनेक सामाजिक भी एक ही काल में एक ही विभावादि सामग्री से एक-सी ही अनुभूति कर सकते हैं। कालिदास के उक्त श्लोक का विश्लेषण अभिनव इस प्रकार करते हैं :

"तस्य च ग्रीवाभंगाभिरामम् इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्य अपारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्, तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्तं तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि। तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री, यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय, सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्।"[1]

दार्शनिक दृष्टि से काव्य का यह रस अभिनव के अनुसार साधारणीभूत भावों की भूमिका में हुआ आत्म-परामर्श है। इसे ही भाव-भूमि में होने वाली आत्म-संविद् की विश्रान्ति कहा जा सकता है। अभिनव इसे 'चर्वणा', 'रसना', 'निर्वृति', 'प्रतीति', 'भोग', 'प्रमातृता-विश्रान्ति' आदि विविध नामों के द्वारा समझाते हैं। वास्तव में यही 'सहृदयता' है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में आनन्द का स्वरूप उन्होंने आत्म-संविद् के पूर्ण प्रकाशन और विश्रान्त परामर्श की बात कहकर ही समझाया है :

"स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इत्युच्यते।"[2]

वे आनन्द के तीन वर्ग बनाते हैं। एक लौकिक विषयों का आनन्द, दूसरा काव्यानन्द, तीसरा परमानन्द। एक विषय की भूख मिटने पर जो अल्पकालीन आत्म-विश्रान्ति होती है, वह भी आत्मा या संविद् का ही आनन्द है। किन्तु इन वैषयिक आनन्दों में चेतना एक क्षण को विश्रान्त होकर अन्य वैषयिक अभावों की ओर दौड़ जाती है। अतः वह निर्विघ्न प्रतीति

---

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७९।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी : भा० २, पृ० १७९।

नहीं होती। शुद्ध परमानन्द में समस्त उपचार और उपाधियों से शून्य-मात्र संवेदन की परिपूर्ण एवं पूर्ण विश्रान्त स्थिति होती है। काव्य-रस की स्थिति दोनों के बीच की है। जहां वैषयिक आनन्द में विषयों का संस्पर्श रहता है, वहां परमानन्द में उनका आत्यन्तिक अभाव। किन्तु काव्यानुभूति में विषयों का नहीं, उनके संस्कारों का अनुवेध मात्र होता है। इस प्रकार काव्यानन्द एक उत्कृष्ट कोटि की वीतविघ्ना संविद् की विश्रान्तिमयी प्रतीति होती है :

"यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिसम्भाव्यमानविघ्नान्तर-निरासात् वैषयिकानन्दविलक्षणश्रृंगारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ रसना चर्वणा निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृताविश्रान्तिरेव, तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यत इति निर्विघ्नाः स्वादरूपाश्च रसनागोचरीकार्याश्चित्तवृत्तयो रसा नव इत्यमर्थोऽभिनवभारत्यां नाट्यवेदविवृतौ वितत्य व्युत्पादितोऽस्माभिरिति।

तस्मादनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्य रसनैकघनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते।

मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम्। ततोऽपि काव्यनाटकादौ तद्व्यवधानशून्यता तद्व्यवधानसंस्कारानुवेधस्तु। तत्रापि तु तथोदितव्यवधानांशतिरस्क्रियासावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्।"[1]

अभिनव के रस-विवेचन की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि निर्धारित करने के लिए हमें आज अधिक प्रयास करना अपेक्षित नहीं है। उनका प्रत्यभिज्ञा-दर्शन विषयक जो विशाल साहित्य काश्मीर में मिला है, उसके रहते और उन्हीं मान्यताओं का अपने रस-सिद्धान्त के विषय में अनेकशः प्रयोग और उल्लेख करने के कारण उनके अपने रस-स्वरूप की दार्शनिक आधार-भूमि आज निर्विवाद रूप से कश्मीरी शैवाद्वैत के रूप में स्वीकृत है।

मम्मट

काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट उसी परम्परा के आचार्य थे जिसके अभिनवगुप्त। उनका काव्यप्रकाश आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की उपलब्धियों की ही व्यवस्थित प्रतिष्ठा है। रस-स्वरूप के विषय में उन्होंने लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव के चार मतों को उपस्थित किया है और सिद्धान्त रूप में अभिनवगुप्त के ही मत को मान्यता दी है। मम्मट के विवेचन की विशेषता यह है कि उसमें दार्शनिक अतिवाद का कोई आग्रह नहीं है। फिर भी प्रत्येक मत की मूल विचारधारा और उनकी दार्शनिक आधार-भूमि सुरक्षित रहती है। लोल्लट और शंकुक के मतों के उपस्थापन में उन्होंने कुछ हेर-फेर किया है, जो मतों को सामाजिक की दृष्टि से उपस्थित करने के कारण उन्हें करना पड़ा है। वे रस का स्वरूप इन कारिकाओं में निरूपित करते हैं :

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनीः भा० २, पृ० १७८-९।

विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्वरूप अभिनव के विवेचन का सार-मात्र ही है ।

काव्यप्रकाश अपने परवर्ती युग के लिए एक आदर्श ग्रन्थ रहा है । उसका एक अनिवार्य परिणाम यह भी हुआ है कि पाठकों की दृष्टि से मूल ग्रन्थ हटते चले गये हैं । मम्मट ने चारों आचार्यों के मत अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किये थे, उनकी व्याख्या और उनकी दार्शनिक आधार-भूमि को समझाने के लिए मम्मट ने अपने शब्द व्यय नहीं किये । अतः परवर्ती युग के टीकाकारों को यह गुंजाइश बहुत दूर तक हो गयी कि वे किसी मत की व्याख्या अपनी मनमानी दृष्टि से कर सकें और मत की मूल चेतना का ध्यान न रह पाये । यह बात सबसे अधिक इन मतों की दार्शनिक आधार-भूमियों के सम्बन्ध में हुई । अभिनवगुप्त का मत शैवाद्वैत को छोड़ कर वेदान्त के अनुरूप समझा जाने लगा । इस प्रकार विभिन्न मतों के विवेचन की पदावली के अनेक शब्द तो मूल आचार्य द्वारा प्रयुक्त ही बने रहे, किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में सन्निहित दार्शनिक चेतनाएं भिन्न हो गयीं । 'प्रकाश', 'आनन्द', 'संविद्', 'सत्त्वोद्रेक', 'संवेदन', 'स्व' आदि ऐसे ही शब्द थे जिनको कई दर्शनों की छाया में व्याख्यात किया जा सकता था । हम विश्वनाथ के रस-स्वरूप को देखते हुए देखेंगे कि उन्होंने किस प्रकार अनेक शब्दों को वेदान्ती चेतना से अनुप्राणित समझा है ।

भोज

यहां शैव-दर्शन के प्रसंग में हम भोज के मत का भी उल्लेख करना चाहते हैं । यद्यपि भोज के रस-मत के विवेचन से यह स्पष्ट तो निर्णीत नहीं होता कि उसका आधार शैव-दर्शन ही है, तथापि दो बातों से यह अनुमान बंधता है कि भोज की मान्यता शैवानुकूल है । एक तो भोज ने श्रृंगार-प्रकाश के मंगल-श्लोक के रूप में शिव-स्तुति करके अपनी शिव-रति का परिचय दिया है, दूसरे उन्होंने जिस 'अहंकार-तत्त्व' को रस कहा है, वह सांख्य, वेदान्त आदि के अनुरूप न होकर शैव-दर्शन के ही समीप प्रतीत होता है ।

रस-स्वरूप—भोज रत्यादि चित्तवृत्तियों को नहीं, वृत्त्यात्मक चित्त के कारण तत्त्व 'अहंकार' को रस कहते हैं । इस अहंकार तत्त्व और रत्यादि चित्तवृत्तियों में उनके अनुसार वही सम्बन्ध है जो वह्नि-तत्त्व और उसकी द्युतियों में होता है । रत्यादि भाव की भूमिका से ऊपरी भूमिका 'अहंकार-तत्त्व' की है । इस अहंकार-तत्त्व के भोज ने 'अहंकार', 'अभिमान', 'मान', 'रस' और 'श्रृंगार' ये सभी नाम स्वीकार किये हैं । इनमें श्रृंगार नाम पारिभाषिक और इसलिए भ्रामक है कि काव्यशास्त्र के भीतर ही इसका दूसरा पारिभाषिक अर्थ प्रचलित और स्वीकृत हो चुका है—वह है रति-भाव का परिपाक । भोज ने 'श्रृंगार' शब्द को दो अर्थों में लिया है—एक तो अहंकार तत्त्व के पर्याय रूप में, दूसरे रति-स्थायी के परिपाक रूप प्रचलित श्रृंगार-रस के रूप में । पहले अर्थ में उन्होंने श्रृंगार को 'पर' कहा है, दूसरे अर्थ में 'अपर' ।

तो, भोज के अनुसार 'अहंकार-तत्त्व' ही रस है । रस इसलिए कि इसी का रसन या आस्वादन होता है । यह रसन या आस्वादन चित्त-वृत्ति के द्वारा ही होता है जो स्वरूपतः एक आत्म-शक्ति है । यह निरूपण भोज के इन शब्दों में देखा जा सकता है :

---

१. काव्यप्रकाश : मम्मट : उल्लास ४ : का० ४-५ ।

"आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य
शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ।
तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्वं
युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ।"[१]
"अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादे-
र्यत्संविदोनुभवहेतुरिहाभिमानः ।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयाऽऽत्मशक्ते
रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ।"[२]
"रत्यादयोर्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधभावभुवो भवन्ति ।
शृंगारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।"[3]

"न रत्यादिभूमौ रसः किन्तर्हि शृंगारः । शृंगारो हि नाम विशिष्टेष्टदृष्टचेष्टाभिव्यंजकानाम् आत्मगुणसम्पदाम् उत्कर्षबीजं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोऽहंकारविशेषः । स चेतसा रस्यमानो रस इत्युच्यते ।"[४]

इस अहंकार-तत्त्व को ही रस मान लेने से भरत की स्वीकृत यह मान्यता कि रस संख्या में नौ हैं, तथा रत्यादि नौ स्थायी-भाव हैं अन्य तैंतीस संचारी,आठ सात्त्विक बिखर जाती है । भोज के अनुसार रस तत्त्वतः एक है, वह है 'अहंकार-तत्त्व' जिसका नाम है 'शृंगार' । इस प्रकार एक ही रस शृंगार है, यह मान्यता प्रतिष्ठित हो जाती है । उसी तत्त्व के द्युतिचय रूप सभी भावों को स्वीकार कर लेने पर यह कहा जा सकता है कि वे भाव-मात्र हैं, उनमें से रस कोई नहीं हैं, यदि विभावादि से परिपुष्ट होने पर उनमें से किसी को रस कहा जा सकता है तो उनचास के उनचास भी रस कहे जा सकते हैं ।[५]

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया भोज निम्न शब्दों में स्पष्ट करते हैं :

"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते भावनया स भावः ।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
साहंकृतो हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ।"[६]

१, २, ३. शृंगारप्रकाश, भोज, प्रथमप्रकाश, श्लोक क्रमशः ३, ८, ९ ।

४. शृंगारप्रकाश, भा० २, अ० ११, पृ० ३५२-५, उद्धृत डॉ० संकरन्, सम् आस्पेक्ट्स आफ़ रस इत्यादि ।

५. "शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ।"
शृंगारप्रकाश, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ६ पर उद्धृत प्रथम प्रकाश, श्लो० ६ ।
"रत्यादयो यदि रसाः स्युरिति प्रकर्षे हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः ।
अस्थायिनस्त इति चेद् भयहासशोकक्रोधादयो वद कियच्चिरमुल्लसन्ति ।" वही, ११ ।
"स्थायित्वमत्र विषयातिशयान्मतं चेच्चिन्तादयः कुत उत प्रकृतेर्वशेन ।
तुल्यैव सात्मनि भवेदथ वासनायाः सन्दीपनात्तदुभयत्र समानमेव ।" वही, श्लो० १२ ।

६. शृंगारप्रकाश, भाग १, प्रस्तावना पृ० ६ पर उद्धृत प्रथम प्रकाश, श्लो० १० ।

नाटक में विदग्ध शैलूषों के द्वारा और काव्य में महाकवियों के शब्दों द्वारा विषय-वस्तु विद्वान् सामाजिकों के मानस-पटल पर अवतरित होती है। यह सामग्री लोक में प्रत्यक्ष देखने पर इतनी सुन्दर और प्रभाविनी नहीं होती जितनी कुशल कवियों की वाणियों से निरूपित होकर होती है। नाटक में नट सब-कुछ का अभिनय नहीं कर सकता, कवि उस कमी को वर्णन-चित्रण से पूरा कर सकता है अतः भोज की दृष्टि में सामाजिक के मानस-पटल पर वस्तु-अवतारणा करने में कवि का कर्म पठ्य-काव्य के रूप में अधिक उपयोगी है।[1] इस प्रभाविनी वस्तु-प्रत्युपस्थिति से सामाजिक की भावना-शक्ति उदित हो जाती है जिससे उसके रत्यादि भाव 'भावित' हो जाते हैं। सामाजिक अनन्य-धी होकर उनमें लीन हो जाता है। इन रत्यादि को 'भाव' इसीलिए कहा जाता है कि भावना के उदय होते ही सामाजिक अनन्य-धी होकर उसी भावना-शक्ति द्वारा इनका भावन करता है—"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते भावनया स भावः।" यह भावोदय की भूमिका है। यह भावना का पथ है। इस भावना के क्षेत्र से आगे 'अहंकार-तत्त्व' अवस्थित है। चित्त-रूप आत्मशक्ति के द्वारा उसी का रसन होता है। अतः रस्यमान अहंकार-तत्त्व ही रस है, जिसका नाम शृंगार है।

आनन्द मन की एक अप्रातिकूलिक अनुभूतिमयी संविद् है जिसके अनुभव का हेतु है अहंकार-तत्त्व—"अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यस्संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।" अतः रसानुभूति में सामाजिक द्वारा अनुभूत आनन्द अन्तःकरण के स्तर की एक सुखात्मिका अनुभूति है। इस अनुभूति का मूल स्रोत अभिमान-तत्त्व ही है जिसे कि शृंगार कहा गया है।

अहंकार को सांख्य महत्तत्त्व से उद्भूत एक प्राकृत विकार मानता है, इस महत्तत्त्व को ही बुद्धि-तत्त्व कहा गया है। किन्तु भोज ने अपने अहंकारतत्त्व को प्राकृत विकार न मानकर एक आत्म-गुण, आत्म-रूप कहा है[2] और सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-संस्कारादि के साथ 'बुद्धि' का भी हेतु-तत्त्व माना है।[3] इस प्रकार भोज का अहंकार-तत्त्व सांख्य के मेल में नहीं बैठता। सांख्य चित्त को प्राकृत त्रिगुणात्मक विकार कहता है। किन्तु जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, भोज ने चित्त को एक आत्म-शक्ति के रूप में देखा है। चित्त, उसकी वृत्तियों एवं उनके कारण तत्त्व अहंकार का स्वरूप सांख्य में पुरुष-निरपेक्ष प्राकृत तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। वेदान्त में इन सबका कारण अज्ञान तत्त्व के आधार पर सांख्य के समान ही है। पर आत्मा के साथ इनमें से किसी का सीधा सम्बन्ध इन दोनों दर्शनों में नहीं माना गया। आत्मा की विभिन्न-स्तरीय शक्ति के रूपों में इनसे सीधा सम्बन्ध शैव-दर्शन में तो

---

१. शृंगारप्रकाश, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ७:
"स चानुभवैकगम्यत्वादसर्वविधयत्वाच्च दुरवसेयः सम्यगभिनयेषु वा विदग्धशैलूषैः प्रदर्श्यमानः सामाजिकैरवधार्यते, प्रबन्धेषु वा महाकविभिर्यथावदाख्यायमानो विदुषां मनीषापथमवतरति। तत्र न तथा पदार्थाः प्रत्यक्षेण प्रतीयमानाः स्वदन्ते यथा वाग्मिनां वचोभिरावेद्यमानाः।.....। अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे, अभिनेतृभ्यश्च काव्यमेवेति।"

२. "आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।" शृं० प्र०, प्र० १, श्लो० ३।
"शृंगारो हि नाम.....आत्मनोऽहंकारविशेषः।" वही, भा० २, अ० १, पृ० ३५२।

३. "बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोहंकारविशेषः।" वही।
"तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्वं" वही, भा० १, प्र० १, श्लो० ३।
"स चेतसा रस्यमानः रस उच्यते।" वही, भाग २, अ० ११, पृ० ३५२ उद्धृत डॉ० सांकरन।
"ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्तेः।" वही, प्रकाश १, श्लो० ८।

हमें मिलता है। वहां संविद् के भी विविध स्तरों की स्वीकृति है। भोज ने आनन्द को एक मानसी स्तर की संविद् के रूप में देखा है। भोज कहते हैं विविध प्रकार की मानसी प्रतिक्रियाएं, अनुभूतियां, ज्ञान, सुख, दुःखादि ये सब आत्मा की गुण-सम्पत्ति हैं और इस सम्पत्ति का एक ही उदय और उत्कर्ष का हेतु है—अहंकार।[1] यह दृष्टिकोण न सांख्य का हो सकता है न वेदान्त का।

फिर भी, इस अहंकार-तत्त्व का उदय मीमांसा के ढंग पर कुछ-कुछ दिखाया गया है। यह अहंकार अनादि एवं जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले 'धर्म' का कार्य है :

"सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थः।
सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुर्जागर्ति कोपि हृदि मानमयो विकारः।"[2]
"असाधारणं तु प्रत्यगागतानादिवासनानुबन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति।
तं चात्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूमः। स शृंगारः, सोऽभिमानः, स रसः।"[3]

इस प्रकार सात्त्विक पुरुषों के हृदय में जन्मान्तरीय एवं अनादि वासनाओं के फलस्वरूप एक धर्म-कार्य के रूप में प्रादुर्भूत-परिणत अहंकार-तत्त्व पूरा-पूरा शैव-दर्शन के मेल में भी नहीं बैठता।

किसी विशिष्ट दर्शन से नियत सम्बन्ध निर्धारित न किये जा सकने पर भी भोज की मान्यता कुछ दृष्टियों से उल्लेखनीय है। उन्होंने रत्यादि की भूमिका में रसत्व नहीं माना, यह बात तो वेदान्ती और शैव दोनों ही प्रतिपादित करते हैं। रत्यादि की भूमिका में आनन्द या रसत्व का प्रकाशन आत्मा की भीतरी स्थिति से जोड़ा जाता है। आत्मा की उस भीतरी भूमिका से रसत्व का सम्बन्ध जुड़ जाने पर रसों की नौ संख्या का प्रश्न भी नहीं रह जाता। रस एक ही रह जाता है। फिर भी भोज ने उस रसत्व को आत्मा की अधिक ऊंची भूमिकाओं में ले जाकर नहीं देखा, अभिमान या अहंकार के धरातल पर रखकर स्वीकार किया है।

वेदान्त दर्शन और रस

रस-स्वरूप के प्रश्न को हल करने के लिए वेदान्त का प्रवेश शैव-दर्शन के अनन्तर होता है। अभिनवगुप्त के द्वारा रस के स्वरूप की कश्मीरी शैवाद्वैत के आधार पर प्रतिष्ठा कर देने पर उनकी उपलब्धियां ही सर्वमान्य बनीं। यों कुछ विवादी स्वर उठते रहे। मम्मट ने उनमें से अनेक का मुख-मुद्रण किया। परवर्ती युग में मम्मट का ग्रन्थ काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए एक प्रमुख आधार-ग्रन्थ बना। उस पर अनेक टीकाएं लिखी गयीं। उधर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, कश्मीरी शैव-दर्शन का परिचय लोगों से दूर होता गया। स्वयं कश्मीर में ही उसका अध्यापन-अध्ययन विरल होता गया। रस की कश्मीरी व्याख्याएं तो भारत के इतर प्रदेशों में सहज पहुंच सकीं, किन्तु उनके साथ उनके पीछे सन्निहित उनकी मूल दार्शनिक आधार-भूमि यात्रा न कर सकी। उत्कल के विश्वनाथ के लिए अभिनव के रस-स्वरूप को

---

१. "सर्वात्मसंपदुदयातिशयैकहेतुः।" शृं० प्र०, भा० १, प्रकाश १, श्लो० ४।
"आत्मगुणसम्पदां उत्कर्षबीजं बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराद्यतिशयहेतुरात्मनोहंकारविशेषः।"
शृं० प्र०, भा० २, अ० ११, पृ० ३५३, उद्धृत डॉ० सांकरन।

२. शृंगारप्रकाश, भा० १, प्रकाश १, श्लो० ४।

३. वही, भा० २, पृ० ३५२-३, उद्धृत डॉ० सांकरन।

कश्मीरी शैवाद्वैत की चेतना में पकड़ना कठिन ही था। रस-विवेचन में जो शब्दावली चल रही थी उसकी मूल चेतना शैव-दर्शन की होते हुए भी वह इस प्रकार की थी कि उसकी व्याख्या वेदान्त की चेतना के साथ सहज ही की जा सकती थी। वेदान्त एक बहु-प्रचलित तथा बहु-अधीत दर्शन था। अतः वह अज्ञात रूप में ही रस की व्याख्या में प्रविष्ट होने लगा। किन्तु यह वेदान्त का प्रवेश वस्तुतः भ्रम-मूलक था। अभिनव के मत को वेदान्त की चेतना से अनुप्राणित समझते हुए उनके शब्दों या काव्यप्रकाश में उपस्थित उनके मत के शब्दों की वेदान्ती संगतियां लगाना भ्रम ही कहा जायेगा। इसीलिए अभिनव के शब्दों की पूर्ण सामंजस्यात्मक संगति इन व्याख्याओं में नहीं मिल पाती।

हम यहां वेदान्त के प्रसंग में केवल दो आचार्यों के रस-विवेचन का उल्लेख करना चाहते हैं। एक विश्वनाथ, दूसरे पण्डितराज जगन्नाथ। दोनों के रस-विवेचन में वेदान्त का गहरा प्रभाव होते हुए भी एक बड़ा भारी अन्तर भी है। विश्वनाथ का विवेचन वेदान्त का उखड़ा-उखड़ा सा प्रयोग करता हैं। इसका कारण वही नासमझी है जिसके कारण अभिनव का मत और उसके शब्द वेदान्त की चेतना से अनुप्राणित समझे गये हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का विवेचन जान-बूझकर वेदान्त की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठापित किया हुआ है। उनका विवेचन ही सच्चे अर्थों में अभिनव की दृष्टि का वेदान्तीकरण कहा जा सकता है। इस प्रकार पण्डितराज पर नासमझी का आरोप नहीं लगाया जा सकता। पण्डितराज जगन्नाथ अभिनव की शैव आधार-भूमि से परिचित थे या नहीं, इसके लिए हमारे पास आज कोई प्रमाण नहीं। किन्तु उन्होंने जो अभिनव के मत का वेदान्तीकृत रूप दिया है वह इतना समंजस है कि अभिनव के रस-स्वरूप के पीछे से दार्शनिक चेतना का परिवर्तन बिना समझा-बूझा नहीं कहा जा सकता। पहले हम विश्वनाथ के रस-स्वरूप-विवेचन की ओर आते हैं।

विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने रस का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है :

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥"[1]

विश्वनाथ के इस रस-स्वरूप में भट्टनायक तथा अभिनव दोनों की मान्यताओं का योग है। मम्मट के शब्दों में भट्टनायक ने कहा था :

".....भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति-सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते"।[2]

विश्वनाथ के निरूपण की 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः' यह शब्दावली भट्टनायक की ही प्रेरणा लिए हुए प्रतीत होती है।

सामान्यतः विश्वनाथ रस को विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव से व्यक्त हुआ सहृदय का स्थायी भाव ही मानते हैं :

---

१. साहित्यदर्पण : परिच्छेद ३, पृ० ६५।

२. काव्यप्रकाश : उ० ४, पृ० ९०।

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ।।"[1]

यह मान्यता अभिनव के ही अनुरूप है । किन्तु विश्वनाथ के इस व्यक्तिवाद में न तो आनन्दवर्धन की व्यंजना है, और न अभिनवगुप्त की दार्शनिक चेतना । उन्होंने 'व्यक्त' होने का अर्थ इस प्रकार किया है :

"व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते ।"[2]

"व्यक्त होने का अर्थ है स्थायी भाव ही रस बन जाता है, जैसे दूधदही के रूप में परिणत हो जाता है । रस कोई सिद्ध पदार्थ नहीं जो घट के समान दीप से प्रकाशित हो सके" ।

इस 'व्यक्ति' में परिणामवाद की झलक है । सम्भव है, विश्वनाथ ने भट्टनायक के विवेचन में आयी सत्त्वोद्रेक की बात को सांख्य के आधार पर समझा है, और इस 'व्यक्ति' को भी वे सांख्य के परिणामवाद के अनुसार ग्रहण करते हैं ।

विश्वनाथ ने 'सत्त्वोद्रेक', 'अखण्ड', 'प्रकाश', 'आनन्द', 'चित्', 'चमत्कार' और 'स्वाकार' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु इन शब्दों की चेतना शैव विचारधारा के अनुरूप नहीं है । इन शब्दों की जो व्याख्याएं उन्होंने की हैं, उनके आधार पर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इनकी शैव चेतनाओं से सर्वथा अपरिचित हैं । इन शब्दों के अर्थ या व्याख्याएं उन्होंने इस प्रकार दी हैं :

सत्त्वोद्रेक : "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादको कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्, तस्योद्रेकः रजस्तमसी अभिभूयाविर्भावः ।[3]

सत्त्व मन की वह स्थिति है जिसमें रजस् और तमस् का संस्पर्श नहीं रहता । रजस् और तमस् को अभिभूत करके पूर्णतः इस स्थिति का आविर्भाव 'सत्त्वोद्रेक' है ।

यहां भट्टनायक की प्रेरणा से सत्त्वोद्रेक को अपनाया तो गया है किन्तु यहां उनकी मूल चेतना नहीं है । भट्टनायक ने शैव-दर्शन में परिगृहीत सांख्य की मान्यताओं के अनुरूप सत्त्वोद्रेक की बात कही थी । उसमें उन्होंने रजस् और तमस् का अनुवेध भी माना था । पर विश्वनाथ ने रजस् और तमस् का असंस्पर्श की बात कही है ।

अखण्ड : "अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः ।"[4]

विश्वनाथ का अखण्ड शब्द समूहात्मकता का द्योतक है, जिसमें विभावादि-रत्यादि-प्रकाश-आनन्द और चमत्कार की सामूहिक प्रतीति होती है । जिस प्रकार वेदान्त में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की एकाकारा प्रतीति अखण्ड कही जाती है, उसी प्रकार विश्वनाथ ने रत्यादि के ज्ञान के साथ तादात्म्य होने के कारण रस-प्रतीति को अखण्ड कहा है :

"रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति ।।"[5]

---

१. साहित्यदर्पण : परि० ३, पृ० ६४ ।
२. वही, पृ० ६४ ।
३. वही, पृ० ६६ ।
४. वही, पृ० ६६ ।
५. वही, पृ० ८६ ।

प्रकाश : 'प्रकाश' शैव-दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है, जिसकी चर्चा उसके ग्रन्थों में पदे-पदे आती है। किन्तु विश्वनाथ का प्रकाश शब्द ज्ञान का पर्याय है। यह "रत्यादिज्ञान···" इस कारिका से स्पष्ट है। उन्होंने प्रकाश को ज्ञान के पर्याय में लिया है, और वह भी वेदान्त के अनुरूप, यह बात उनके निम्न शब्दों से स्पष्ट हो जाती है :

"ज्ञानस्य स्वप्रकाशतामनंगीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः"।[1]

चमत्कार : 'चमत्कार' को विश्वनाथ ने 'विस्मय' के पर्याय-मात्र के रूप में लिया है :

"चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपयायः।"[2]

जबकि अभिनवगुप्त का चमत्कार आत्म-विश्रान्ति या निर्वृति का पर्याय है :

"तस्मादनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयकत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकधनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कारः।[3]

स्वाकार : 'स्वाकार' को विश्वनाथ ने भट्टनायक के समान 'स्व-स्वभाव' या 'स्वभाव' के अर्थ में नहीं लिया, वेदान्त के अखण्ड ज्ञान के रूप में लिया है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अभिन्न होकर रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ के विवेचन की चेतना शैव-दर्शन की नहीं, वेदान्त की है। यद्यपि शब्द-प्रयोग प्राचीन आचार्यों के ही अनुरूप है। उनकी वेदान्ताश्रितता स्वयं उनके शब्दों से स्पष्ट है :

"ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः"।[4]

वे किसी वेदान्ती रस-व्याख्याकार आचार्य के शब्द अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं :

परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्ध-ब्रह्मतत्त्ववद् वेदितव्यः"।[5]

वे अभिनव के शब्द, जिनकी मूल चेतना शैव-दर्शन की है, उपस्थित करते हैं :

"रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः"।[6]

और इन शब्दों में निहित सिद्धान्त का प्रयोग भी करते हैं :

"यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्, तदेवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिद्ध्येत्"[7]

किन्तु लेते प्रकाश को ज्ञान के पर्याय में ही हैं, जैसा कि इस विषय में प्रस्तुत की गयी उनकी इस कारिका से स्पष्ट है :

"रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति।"[8]

वैसे विश्वनाथ का रस-स्वरूप अभिनवगुप्त के ही अनुसार है। संक्षेप में हम उनकी विचारधारा को इस प्रकार रख सकते हैं। भावोदय के लौकिक कारण, कार्य और सहकारी काव्यानुभूति में विभावन, अनुभावन और संचारण का कार्य करने के कारण विभाव, अनुभाव

---

१. साहित्यदर्पण : परि० ३, पृ० ८८।
२. वही, पृ० ६७।
३. प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी : भा० १, पृ० १७९।
४. साहित्यदर्पण, पृ० ८८।
५. वही, पृ० ८९।
६. वही, पृ० ६८।
७. वही, पृ० ८७।
८. वही, पृ० ८६।

और व्यभिचारी कहलाते हैं। इनके द्वारा सहृदय का रत्यादि स्थायी भाव व्यक्त होकर रस बन जाता है। यह रस बनना दुग्ध के दधि बनने के समान स्थायी की ही रूपान्तरपरिणति है। विभावादि में साधारणीकरण नामक एक व्यापार होता है, जिससे विभावादि अपनी विशेषताओं से मुक्त हो जाते हैं। इस विशेषतामुक्ति का यह परिणाम होता है कि सामाजिक काव्य के आश्रय पात्र से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सामाजिक एक भावनाशील व्यक्ति होता है। काव्यार्थ के परिशीलन से उसके चित्त का रजस् और तमस् अभिभूत होकर सत्त्व उद्रिक्त हो जाता है। आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण सामाजिक उसी भाव की अनुभूति करता है जिसकी आश्रय पात्र को होती है। ये रत्यादि इस प्रकार सामाजिक की चेतना में उपस्थित होते हैं। चेतना स्वयं प्रकाश-रूप या ज्ञान-रूप है। रत्यादि उसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। आत्मचेतना स्वरूपतः आनन्दमय होती है। काव्यानुभूति में सत्त्व उद्रेक के कारण आत्मानन्द के प्रकाशन का अवसर हो जाता है। इस अनुभूति में उसकी अलौकिकता के कारण विस्मय का तत्त्व भी मिला होता है जिसमें चित्त फैल जाता है। इस प्रकार रसानुभूति के समय सामाजिक की चेतना में पांच बातें होती हैं—विभावादी के साधारणीकृत रूप की उपस्थिति, ज्ञान के साथ तादात्म्य को प्राप्त रत्यादि स्थायी भाव, प्रकाशात्मक ज्ञान, आनन्द और विस्मय। इन पांचों की खण्डात्मक अनुभूति नहीं होती, समूहालम्बनात्मक और अखण्ड चेतना होती है। इसी कारण खण्ड सामग्री से मिलने वाली भी रसानुभूति अखण्ड होती है। प्रकाशात्मक होती है और आनन्दरूप होती है। इस रस का आस्वाद भी ब्रह्मास्वाद के समान अखण्ड ही होता है, उसमें ज्ञेय और ज्ञाता का भेद नहीं होता। अतः रस की निष्पत्ति कहना औपचारिक है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर के प्रथम आनन में रस-स्वरूप के सम्बन्ध में ग्यारह मतों का उल्लेख किया है। इनमें कई तो सूचना-मात्र जैसे हैं। केवल प्रथम छः मत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं—अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत, भट्टनायक का भुक्तिवादी मत, दो नवीन आचार्यों के मत, लोल्लट का उत्पत्तिवादी मत और शंकुक का अनुमितिवादी मत।[2] इनमें भी वेदान्त का सम्बन्ध केवल दो मतों से है—एक अभिनव के मत से, दूसरे प्रथम नवीन मत से। हम यहां इन्हीं दो की चर्चा करेंगे।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत

पण्डितराज ने सर्वप्रथम सिद्धान्त रूप में मान्य अभिनवगुप्त का मत प्रस्तुत किया है। इस रस-स्वरूप में सिद्धान्त अभिनवगुप्त का है, किन्तु उसकी दार्शनिक आधार-भूमि वेदान्त की बदली हुई है। अतः इस मत को अभिनव के मत का वेदान्तीकरण कहना ही उपयुक्त है। पण्डितराज इस तथ्य का संकेत देते हुए चलते हैं :

"इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।"[3]

---

१. साहित्यदर्पण : परि० ३, पृ० ६४-८९।
२. 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' : रस-विवेचन।
३. रसगंगाधर : प्रथम आनन, पृ० २३।

पण्डितराज के ये शब्द यह बताते हैं कि उन्होंने अभिनव और मम्मट के ग्रन्थों का स्वरस निकालकर, सिद्धान्त-मात्र लेकर, यह रस-स्वरूप प्रस्तुत किया है। 'स्वारस्य' शब्द बताता है कि सिद्धान्त-स्वरस अभिनव और मम्मट का है, दर्शन पण्डितराज का।

पण्डितराज ठीक ही अभिनव और मम्मट की मान्यताओं को एकाकार करके चले हैं। उन्होंने दोनों के ही शब्दों को वेदान्ती चेतना प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।[1] जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न है, अभिनव और मम्मट की स्थापना एक है, यह हम पीछे देख चुके हैं। अभिनव के अनुसार उन्होंने रस का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

"समुचितललितसन्विवेशचारुणा काव्येन समर्पितः सहृदयहृदयं प्रविष्टेस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।"[2]

इस निरूपण के अनुसार अपने आत्म-चैतन्य के ही स्वरूप-भूत आनन्द के साथ गोचर किये हुए, प्रमाता के अपने ही वासना-रूप में निहित रहने वाले, रत्यादि स्थायीभाव ही रस हैं। "प्रमात्रा निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः···रत्यादिरेव रसः।" अभिनव के शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द शिव की शक्ति है, स्वरूप नहीं। जबकि वेदान्त के अनुसार आनन्द आत्मा का स्वरूप है। यों तो समस्त शक्तियां भी शिव से भिन्न नहीं, अतः वे शिव की स्वरूप ही हैं, तथापि शैव-दर्शन शक्तिरूपों की चर्चा अलग से करता ही है। शिव की असंख्य शक्तियों में पांच प्रमुख हैं—अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अनुत्तर या चित्त शक्ति में शिव की विश्रान्ति आनन्द-शक्ति की भूमिका है। वेदान्त आत्मा को परमार्थतः 'सच्चिदानन्द' मानता है। पण्डितराज अभिनव के इस सिद्धान्त को तो अपनाते हैं कि आत्मानन्द के प्रकाश में आस्वादित रत्यादि रस हैं, किन्तु आनन्द को शक्ति के रूप में नहीं, स्व-रूप के रूप में लेते हैं—"निजस्वरूपानन्देन सह।"

रति आदि स्थायीभाव जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के फल-स्वरूप हमारे अन्तःकरणों में वासना-रूप में अवस्थित चले आते हैं। जब-जब इनकी उद्बोधक सामग्री जुट जाती है, ये उद्बुद्ध हो जाते हैं। काव्य-सामग्री द्वारा एक विशेष प्रक्रिया से उद्बुद्ध ये ही स्थायी भाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। "प्रमात्रा निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः रत्यादिरेव रसः"। काव्य के संविधान में दो ऐसी विशेषताएं होती हैं जो सहृदय प्रमाता को प्रभावित करती हैं—ये हैं औचित्य और लालित्य। काव्य के सन्निवेश में औचित्य पहली आवश्यकता है। शब्द अथवा अर्थ में से किसी का भी अनौचित्य विषय में प्रमाता की चेतना को लीन ही नहीं होने देता।[3] औचित्य के समान ही लालित्य भी काव्य की प्रभविष्णुता के लिए अनिवार्य तत्त्व है। अभिनव के अनुसार इसी लालित्य के कारण प्रमातृ-चेतना सांसारिक भाव-भूमि के

---

१. 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' : रस-विवेचन, पृ० १९४-२०७।

२. रसगंगाधर : प्रथम आनन, पृ० २१-२।

३. संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्यं संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति, का तत्र विश्रान्तिः? अभि० भा०, भा० १, पृ० २८२।

झंझटों से ऊपर उठने का अवसर पाती है। औचित्य एवं लालित्य दोनों काव्य की वे विषय-पक्षीय आवश्यकताएं हैं जो सहृदय को यथार्थ के संकुचित धरातल से उठाकर कल्पना के रमणीय धरातल पर पहुंचाने में सहायता करती हैं। अभिनव ने जो कई प्रकार के रस-प्रतीति के विघ्नों की चर्चा की है, उनमें से कई के निवारण का श्रेय अभिनय-संविधान के ललित उपकरणों को ही दिया है।[1] काव्य में यह स्थान शब्दार्थ-संविधान के औचित्य एवं लालित्य को प्राप्त है।[2]

इस समुचित एवं ललित सन्निवेश से चारु काव्य के द्वारा समर्पित किये गये ही विभावादिक सहृदय के हृदय में पूर्ण विभावन की क्षमता प्राप्त कर पाते हैं। "समुचितललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः।"

सन्निवेश-चारुता अनुभूति की विषय-पक्षीय आवश्यकता है। किन्तु प्रमाता में जब तक 'सहृदयता' न हो, काव्य-चारुत्व भी व्यर्थ होगा। निर्मल दर्पण में ही पदार्थ प्रतिफलित हो सकते हैं, काष्ठ भित्ति अथवा पाषाण में तो नहीं।[3] सहृदय-संवाद की भूमि में आकर ही विभावादि सामग्री लोकोत्तर रूप में रसोपयोगिनी बनती है।[4]

इस प्रकार काव्य-चारुत्व की विषय-पक्षीय ग्राह्यता तथा सहृदय में सहृदयता की विषयि-पक्षीय ग्राहकता, दोनों के कारण प्रमाता की चेतना में एक विशेष प्रकार की 'भावना' उद्बुद्ध हो जाती है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं, सामाजिक की कल्पना-शक्ति क्रियाशील हो जाती है। इसी भावना-विशेष की कृपा से विभावादि का साधारणी-करण सम्भव हो जाता है। "तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभिः"।

जगत् के यथार्थ धरातल पर नायिकादि कारण-कार्य-सहचारी नाम से अभिहित होते हैं, काव्य-क्षेत्र में उन्हें विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी नाम दिये जाते हैं। कारण स्पष्ट है—काव्य द्वारा समर्पित एवं सहृदय की सहृदयता से गृहीत, उसकी कल्पना-भूमि में उपस्थित होकर ये उसके भाव-जागरण के काम में कारण-कार्य सम्बन्ध से काम नहीं करते, विभावन-अनुभावन और संचारण का काम करते हैं। यही इनकी अलौकिकता या लोकभिन्नता है। इस लोक-भिन्नता का प्रमुख कारण है इनका साधारणीकृत रूप में उपस्थित होना। काव्य-चारुत्व, सहृदय की अपनी सहृदयता तथा उसकी उद्बुद्ध कल्पना-शक्ति की महिमा से उसके मानस-पटल पर उपस्थित ये विभावादि किन्हीं भी विशेष सम्बन्धों से रहित हो जाते हैं। "काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्त-रमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः।"

यथार्थ जगत् में भले ही भाव-जागरण की सामग्री की असंभूयकारिता हो, काव्या-नुभूति की प्रक्रिया में तो विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी सामाजिक के मानस-पटल पर समग्रतया ही उपस्थित होकर प्रभाव डालते हैं। उनके इस समग्र प्रभाव से ही प्रमाता की चेतना में एक विशिष्ट प्रक्रिया का उदय होता है, जो सामाजिक की चेतना को रसानुभूति तक पहुंचाती

---

१. अभि० भा० : भा० १, पृ० २८२-३।

२. "काव्येपि·····इयमेव रसवार्ता"। लोचन, पृ० १८६।

३. साहित्यदर्पण : परि० ३, पृ० ७३।

४. "तन्निदानभूताया हृदयसंवादद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्" लो०, पृ० १८७।

है। यह प्रक्रिया सामान्य लौकिक अनुभवों में नहीं होती, अतः इसे अलौकिक व्यापार कहा गया है। "···सम्भूय प्रादुर्भावितेन अलौकिकव्यापारेण।"

इस अलौकिक प्रक्रिया से प्रमाता के आनन्द-स्वरूप चैतन्य पर पड़े हुए अज्ञान का आवरण आंशिक रूप से निवृत्त हो जाता है। "अलौकिकव्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दाशावरणाज्ञेनेन·····प्रमात्रा।"

वेदान्त के अनुसार आत्मा सत्-चित् आनन्द-स्वरूप है। वह पूर्ण, अखण्ड एवं प्रकाशमय है, तथापि अज्ञान से आच्छादित होकर संसारी पुरुष के रूप में प्रतीत होती है। अज्ञान सत्-असत् से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, अनादि एवं भावात्मक पदार्थ है, जिसकी सत्ता प्रातिभासिक होती है, पारमार्थिक नहीं। जगत् उसी की सृष्टि है। मुक्ति का अर्थ है आत्म-ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति, जो आत्मा की विशुद्ध स्थिति ही है। यह दशा अखण्ड आनन्दात्मक होती है जिसमें अज्ञान की आत्यन्तिकी एवं पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[1]

काव्य की विभावित सामग्री के द्वारा जो अलौकिक प्रक्रिया उदित होती है, उससे भी चैतन्य के आवरण-रूप अज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु वह आत्यन्तिकी नहीं होती, न ही पूर्ण होती है। अज्ञान की ऐसी निवृत्ति की कल्पना इस स्थिति में की भी कैसे जा सकती है? रसानुभूति में चित्त मौजूद है, जो स्वयं अज्ञान का एक रूप ही है। विभावादि विषय सामग्री भी है। बस, केवल इतनी सी बात है कि विषय सामग्री किसी विशेष सम्बन्ध के साथ अन्तःकरण का विषय नहीं बनती। दूसरी बात यह कि यह सामग्री कल्पना-क्षेत्र की होने के कारण यथार्थ नहीं होती। इस प्रकार विषयानुवेध न होकर विषयसंस्कारानुवेध तो होता ही है। अतः पूर्वोक्त अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा जो अज्ञान के आवरण की निवृत्ति होती है वह एक अंश तक ही सीमित रहती है।

प्रश्न उठता है, इस अंशावरण की निवृत्ति होने पर प्रमातृ-चेतना की क्या स्थिति होती है? सामान्यतः आवृत प्रमातृ-चेतना व्यष्टि-गत सुख-दुःखों की परिमित सीमाओं में आबद्ध होती है। अभिनव के शब्दों में यह 'निजसुखदुःखादिविवशीभाव' की स्थिति होती है, जो रसानुभूति का प्रबल विघ्न है। उपर्युक्त अलौकिक प्रक्रिया से जैसे ही प्रमातृ-चेतना का अंशावरण निवृत्त होता है, उसका यह परिमित परमातृत्व भी समाप्त हो जाता है। वह तब प्रमाता रहता है, परिमितप्रमाता नहीं। "अत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा"। परिमित सम्बन्धों से मुक्त साधारणीकृत सामग्री प्रमातृ-चेतना को भी परिमित सीमाओं से बाहर निकाले यही स्वाभाविक है।[2]

तो काव्यशक्ति के द्वारा प्रादुर्भूत उपर्युक्त अलौकिक व्यापार से चैतन्य के अन्य स्थूल आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यदि कोई आवरण है तो अब अपना, स्वयं काव्य-सामग्री के द्वारा डाला हुआ। यह आवरण विभावादि सामग्री से विभावित अथवा व्यंजित स्थायी भावों का आवरण है जो रसानुभूति में चैतन्य पर रह जाता है। इस प्रकार के मुक्त हृदय, न कि निर्हृदय प्रमाता के द्वारा गोचरीभूत स्थायी भाव ही 'रस' कहलाते हैं।

हमारा चैतन्य प्रकाश-रूप है, आनन्द स्वरूप है। त्रिगुणात्मक एवं जड़ प्रातिभासिक

---

१. वेदान्तसार : सदानन्द पर आधारित।

२. "नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृत्ववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितेन प्रमात्रा।" का० प्र०, उ० ४, पृ० ९२।

जगत् उसी के प्रकाश से भासित होता है। यहां तक कि चित्तवृत्ति भी, जो कि स्वयं अज्ञान का एक रूप है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित होकर जड़ पदार्थों को प्रकाशित करती है। इसी हमारे अनावृत चैतन्य के प्रकाश में, जिसका कि आनन्द अपना ही स्वरूप है, जब रत्यादि गोचर होते हैं, तो वे भी आनन्द-रूप ही बन जाते हैं। यही रस है। "प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः"।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज के द्वारा उपस्थापित इस अभिनव के मत की मूल चेतना तो ज्यों की त्यों सुरक्षित है, किन्तु उसकी दार्शनिक आधार-भूमि बदली हुई है। उसमें शैव-दर्शन के स्थान पर वेदान्त को बड़ी सफलता से प्रतिष्ठित किया गया है।

पण्डितराज ने अभिनव की मान्यताओं का ही इस प्रकार वेदान्तीकरण नहीं किया, उनके मत के सर्वश्रेष्ठ उपस्थापक मम्मट के शब्दों की भी वेदान्ती व्याख्या प्रस्तुत की है। मम्मट रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं :

"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।"[2]

अर्थात् विभावादि से व्यक्त होकर स्थायी भाव रस कहलाता है। पण्डितराज के अनुसार इस व्यक्त होने का अर्थ है—"व्यक्ति का विषय बनना", और 'व्यक्ति' का अर्थ है—"वह चैतन्य जिसका आवरण भंग हो चुका है"। 'भग्नावरण चित्'। जिस प्रकार एक दीपक किसी सकोरे से ढका होने के कारण न तो स्वयं प्रकाशित होता है, न ही किसी अन्य पदार्थ को प्रकाशित कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञानावृत चैतन्य की स्थिति है। दीपक के ऊपर से सकोरा हटा दीजिए, वह स्वयं भी प्रकाशित होगा, अन्य समीपी पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। ठीक इसी प्रकार से चैतन्य पर से, काव्य के प्रभाव से जैसे ही अज्ञानावरण दूर होता है, वह अपने स्वरूपात्मक प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होता है और विभावादि से विभावित रत्यादि को भी प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकाशमयी स्थिति को रस कहते हैं। 'वि-पूर्वक अज्ज् धातु' की इस प्रकाशात्मक चेतना के साथ वेदान्ती संगति विश्वनाथ नहीं लगा सके थे। उन्होंने व्यक्ति को दध्यादि न्याय से रूपान्तर-परिणति के रूप में लिया था। किन्तु पण्डितराज ने उसके मर्म को वेदान्त की मर्मज्ञता के सहारे स्पष्ट किया।[3] व्यक्त का सामान्यतया प्रचलित अर्थ था 'व्यंजना-प्रतिपादित', किन्तु व्यंजना की इस प्रकार वेदान्ती व्याख्या पण्डितराज के द्वारा ही सामने आयी।

अभिनव और मम्मट की मान्यताओं का निचोड़ पण्डितराज इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं :

"इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्"।[4]

---

१. व्याख्या 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' में विवेचित पण्डितराज जगन्नाथ के रस-विवेचन पर आधारित।

२. का० प्र०, उ० ४, पृ० ८६।

३. "व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तिकृत एव रसो, न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते"। साहित्यदर्पण, परि० ३, पृ० ६४।
"व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथाहि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितरत्यादीन्"। रसगंगाधर, पृ० २२।

४. रसगंगाधर, पृ० २३।

अभिनव के सिद्धान्त को इतने संक्षेप और सच्चाई से प्रस्तुत करने के लिए शायद ही और उपयुक्त शब्द मिलते। अभिनवगुप्त काव्य-रस की अनुभूति में संविद् के पक्ष की अपेक्षा चित्तवृत्ति के पक्ष को प्रधान मानते हैं,[1] अतः उनके मत को "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः" इन शब्दों में ठीक ही प्रस्तुत किया गया है। इसमें दो अंश हैं—एक भग्नावरणा चित् का, दूसरा रत्यादि चित्तवृत्तियों का। अभिनव की मान्यता के अनुरूप पण्डितराज ने चित्तवृत्ति-अंश को 'विशेष्य' बनाया है और चिदंश को 'विशेषण' के रूप में रखा है।

यहां अभिनव के सिद्धान्त-पक्ष से पण्डितराज को कोई असहमति नहीं। रसानुभूति शुद्ध चैतन्यात्मक स्थिति नहीं, उसमें चित् तथा चित्तवृत्ति दोनों की सत्ता है, इस बात को किसी न किसी रूप में भट्टनायक भी मानते हैं, अभिनव भी मानते हैं, और पण्डितराज भी। तथापि अपनी वेदान्ती दृष्टि के कारण पण्डितराज को इन दोनों की विशेष्य-विशेषणात्मक स्थिति के सम्बन्ध में आपत्ति है। उनके सामने प्रश्न यह है कि रसानुभूति में जो आनन्द का अंश है, उसका श्रेय चित् अंश को दिया जाय या चित्तवृत्ति अंश को? एक वेदान्ती की दृष्टि में आनन्द का श्रेय चिदंश के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व को दिया ही नहीं जा सकता। चित्त-वृत्ति तो स्वयं जड़ एवं अज्ञान का एक रूप है, अतः वह आनन्द की मूलाधार हो ही नहीं सकती। अतः वेदान्ती पण्डितराज की चेतना के अनुसार "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रसः" यह कहने की अपेक्षा यही कहना अधिक ठीक होगा—"रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणा चिदेव रसः"। पहली स्थापना में रत्यादि विशेष्य अंश को 'रस' कहना पड़ता है, इसमें 'चित्' को रस कहा जाता है। रस-रूप आनन्द तो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, अतः उसका श्रेय चिदंश के अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं दिया जा सकता। आभासवादी अभिनव के लिए दोनों बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ सकता। उसके दर्शन में समस्त विमर्श रूप भी 'प्रकाश' के ही उच्छलित रूप हैं, विश्वमयी सत्ता का स्वरूप 'प्रकाश-विमर्श-मय' है, और प्रत्येक रूप तात्विक है। अतः उनकी दृष्टि में किसी अंश को विशेष्य रख लिया जाय, कोई ऐसा अन्तर नहीं पड़ता जो किसी भारी सैद्धान्तिक बाधा को खड़ा करे। किन्तु वेदान्ती के लिए तो यह सर्वथा अमान्य होगा कि वह आनन्द का आधार जड़ चित्तवृत्ति को मान ले। आनन्द का आधार 'चैतन्य' ही है, उसे ही श्रुति में वास्तविक 'रस' कहा गया है, पण्डितराज इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए तैत्तिरीयोपनिषत् के शब्द उपस्थित करते हैं :

"रसो वै सः" "रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति"[2]

इस प्रकार पण्डितराज सैद्धान्तिक रूप में अभिनव की रस-विषयक दृष्टि स्वीकार करते हुए भी, उसके पीछे निहित दर्शन को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अभिनव की मान्य-ताओं को पूरी सच्चाई के साथ इस प्रकार वेदान्तीकृत रूप में प्रस्तुत किया है कि उनका यह कार्य विश्वनाथ के समान बिना समझा-बूझा नहीं कहा जा सकता। रस का स्वरूप एक होते हुए भी दोनों महान् आचार्यों की विवेचना में दार्शनिक दृष्टि का यह महान् अन्तर है, जो अत्यन्त स्पष्ट है।

इस प्रकार अभिनव और मम्मट के मन्तव्य के अनुसार रस का स्वरूप वेदान्ती शब्दा-

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी : भा० २, पृ० १७८-९।
२. रसगंगाधर, पृ० २३।

वली में है "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रसः", जबकि पण्डितराज की विशुद्ध वेदान्त-परक दृष्टि में अभिनव का ही रस-स्वरूप है—"रत्याद्यवछिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः"।[1]

वेदान्ती नवीन मत

अभी हमने पण्डितराज द्वारा उपस्थापित अभिनव के मत का वेदान्तीकृत रूप देखा है। हम पीछे कह चुके हैं कि पण्डितराज ने अभिनव और भट्टनायक के मत प्रस्तुत करने के उपरान्त दो नवीन रस-मत भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें से प्रथम का सम्बन्ध वेदान्त से है। हम यहां उसी मत के अनुसार रस-स्वरूप जानना चाहते हैं।

पण्डितराज ने इन दो मतों के उद्भावक आचार्यों के नाम नहीं दिये। ये मत अपने समग्र रूप में किसी प्राचीन या पण्डितराज के समकालीन आचार्य के ग्रन्थ में मिलते भी नहीं। अनुमान होता है, पण्डितराज ने स्वयं ही दार्शनिक दृष्टि से रस-स्वरूप पर इस रूप में अपना चिन्तन उपस्थित किया है। रसगंगाधर में वे अनेकत्र अपनी निजी मान्यताएं नव्यों और नवीनों के नाम से पिरोते चले हैं। रस-विषय में भी ऐसा ही प्रतीत होता है।[2]

दार्शनिक दृष्टि में रस एक ज्ञान-विशेष ही ठहरता है। उसकी प्रतीति को भोग, रसना, चर्वणा आदि में से कुछ भी नाम क्यों न दिया जाय, वह एक अनुभव-विशेष है, इससे कौन इंकार कर सकता है? जब रस एक प्रकार का ज्ञान है तो दार्शनिक बुद्धि में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कैसा ज्ञान है, यथार्थ या अयथार्थ? भारतीय दर्शनों में ज्ञान के प्रकार, स्वरूप, प्रमाण, प्रामाण्य आदि को लेकर अनेक प्रकार की चर्चाएं मिलती हैं। सभी दर्शन प्रायः ज्ञान के दो वर्ग यथार्थ और मिथ्या के रूप में बनाकर विचार करते हैं। तब रस के विषय में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। दार्शनिक दृष्टि में रस अयथार्थ ज्ञान की कोटि में ही आता है। वस्तुतः रस कल्पना-क्षेत्र की वस्तु है। उसकी मूल सामग्री विभावादिक स्वतः कल्पना की सर्जनाएं हैं। अतः कोई भी दार्शनिक, चाहे वह वस्तुवादी है चाहे आत्मवादी, रस को तत्त्व-ज्ञान या प्रमा की कोटि में तो रख नहीं सकता। तब उसे अयथार्थ या भ्रम-रूप ही मानना होगा। इन दोनों मतों में भी रस को एक भ्रमात्मक ज्ञान मानकर उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। रस को भ्रम मानकर चलने में दोनों नवीन मत समान हैं।

'भ्रम' के विषय में भारतीय दर्शन एकमत नहीं हैं। उसके विषय में अनेक ख्यातियां प्रचलित हैं। विज्ञानवादियों की 'आत्म-ख्याति', शून्यवादियों की 'असत्ख्याति' प्रभाकर मीमांसकों की 'अख्याति', भाट्ट मीमांसकों की 'विपरीत ख्याति', नैयायिकों की 'अन्यथा ख्याति', रामानुजीयों की 'सत्ख्याति'। वेदान्तियों की 'अनिर्वचनीयता ख्याति', इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में अनेक प्रकार की ख्यातियां हमें दार्शनिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। भ्रम-ज्ञान-सम्बन्धी इन विविध मतों के ऊपर दृष्टि डालने से हमें उनके दो वर्ग स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं—एक वर्ग वह है जो भ्रम को 'अनिर्वचनीय' कहता है, दूसरा वह है जो उसे किसी न किसी प्रकार व्याख्येय मानता है। अनिर्वचनीयतावादी वर्ग का प्रतिनिधि वेदान्त है। सांख्य एवं योगवादियों ने परिणामवादी होते हुए भी इस विषय में विवर्तवादी

---

१. रसगंगाधर, पृ० २३।
२. 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' : रस-विवेचन, पृ० २०९-२११।

वेदान्तियों की मान्यता स्वीकार कर ली है।[1] दूसरे वर्ग में, जिसका नाम हम अनिर्वचनीयतावाद के वज़न पर 'निर्वचनीयतावादी' कह सकते हैं, नैयायिक, बौद्ध, मीमांसक आदि आते हैं। इस वर्ग के दर्शनों की धारणाएं समान न होते हुए भी, वे सब इस बात में समान हैं कि भ्रम अव्याख्येय या अनिर्वचनीय नहीं। यों तो भ्रम की व्याख्या वेदान्ती भी करता है, किन्तु उसकी व्याख्या के अनुसार भ्रम का एक बड़ा भाग अनिर्वचनीय ही रह जाता है।

पण्डितराज ने इन दोनों नवीन मतों में रस को भ्रमात्मक ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए उसकी क्रमशः अनिर्वचनीयतावादी तथा निर्वचनीयतावादी दृष्टि से व्याख्या की है। पहले मत में व्यंजना का सहारा स्वीकार किया गया है, दूसरे में व्यंजना के स्थान पर अनुमान को ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से हम प्रथम नवीन मत को वेदान्त के अनुरूप और द्वितीय को न्याय के अनुरूप मान सकते हैं।

इस प्रकार रस को भ्रमात्मक ज्ञान मानकर तथा उसमें व्यंजना का उपयोग स्वीकार करते हुए वेदान्त-सम्मत अनिर्वचनीयतावाद के अनुसार प्रथम नवीन मत को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

"काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि, अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।"[2]

काव्य में कवि के रमणीय शब्दों के द्वारा तथा नाट्य में नट के कलात्मक अभिनय के द्वारा विभावादि सामग्री उपस्थित की जाती है। इस सामग्री द्वारा सामाजिक दुष्यन्त में शकुन्तला के प्रति होने वाली रति का ज्ञान कर लेता है। इस दुष्यन्त-गत रति के ज्ञान के अनन्तर सामाजिक की सहृदया के फल-स्वरूप उसमें एक भावना-विशेष उद्बुद्ध हो जाती है। आधुनिक शब्दों में कह सकते हैं, सामाजिक की भावुकता के फलस्वरूप काव्योचित सामग्री सामने आने पर उसकी कल्पना-शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यह भावना या कल्पना उसे यथार्थ के धरातल से वंचित कर देती है, अतः एक दोष ही कही जायगी। इसी भावना-रूप दोष की महिमा से सामाजिक अपने को कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छादित पाता है, अर्थात् उक्त दोष के प्रभाव से सामाजिक अपने को दुष्यन्त से अभिन्न पाता है। तब जिस प्रकार शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार अवास्तविक दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न सामाजिक-चेतना में शकुन्तलाविषयक रति उद्बुद्ध हो जाती है। यद्यपि सामाजिक के मानस में शकुन्तलादि विभावों की वास्तविक स्थिति नहीं, तथापि साक्षिभास्यता के सिद्धान्त के अनुसार असत् शकुन्तलादि भी उसके अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाते हैं। तब उनसे सम्बन्धित रति भी उदित हो जाती है। यह रति पारमार्थिकतया सत् नहीं कही जा सकती, दूसरी ओर अनुभूति में आने के कारण असत् भी नहीं, अतः यह शुक्ति-गत रजत-भ्रम के समान ही अनिर्वचनीय होती है। पहले दुष्यन्त में होने वाली रति का ज्ञान, और तदनन्तर सामाजिक की अज्ञानावच्छिन्न चेतना में अनिर्वचनीयतया समुत्पन्न यह रति, यह इसका उदय-क्रम है।

---

१. सर्वदर्शन-संग्रह : उपोद्घात, पृ० ५।
२. रसगंगाधर, पृ० २५।

यह दूसरी अनिर्वचनीय रति ही 'रस' है।[1]

इस प्रकार इस मत के अनुसार भावना-रूप दोष के परिणाम-स्वरूप प्रमातृ-चेतना में उत्पन्न यह अनिर्वचनीय रति ही रस है। दर्शन की दृष्टि में यह अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में उद्भूत एक कल्पित एवं अनिर्वचनीय भ्रम है। इस मत में दो चीजों को अनिर्वचनीय कहा गया है—एक तो उस कल्पित दुष्यन्तत्व को, जिससे प्रमाता की चेतना अवच्छिन्न होती है; दूसरे उस रति को जो विभावों के प्रति प्रमाता में उत्पन्न होती है।[2] वास्तविक रूप में यह रति आनन्द का आधार नहीं, आनन्द तो इस रति के अनुभव के अव्यवहित अनन्तर अनुभूति में आने वाला चैतन्य का आनन्द है। किन्तु भ्रम से उस आनन्द को इस अनिर्वचनीय रति का ही आनन्द कह दिया जाता है। "स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति"।[3] जिस प्रकार अन्य अयथार्थ स्वप्नादि ज्ञानों में वस्तुतः अविद्यमान भी पदार्थ साक्षि-भास्य अन्तःकरण के द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं, वैसे ही इस रति में भी विद्यमान पदार्थ, जो वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं, साक्षिभास्य अन्तःकरण द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं।

इस प्रकार यह प्रथम नवीन मत वेदान्त की प्रमुख मान्यताओं को अपनाकर रत्यादि-रूप रस को एक भ्रमात्मक अनुभव मानता है, और आनन्द-तत्त्व का वास्तविक आधार चैतन्य को मानते हुए व्यंजना तथा अनिर्वचनीयता के आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

पण्डितराज ने वेदान्त की आधार-भूमि लेकर इस भांति दो रूपों में रस की व्याख्या प्रस्तुत की है—एक तो अभिनव की मान्यताओं को ही उपस्थित करते हुए, दूसरे रस की समस्या पर वेदान्त की कतिपय मान्यताओं के आलोक में तटस्थ चिन्तन करते हुए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रयासों में प्रथम प्रयास ही सराहनीय है। एक तो उसमें चिन्तन की समंजस अन्विति है, दूसरे स्वयं अभिनव की अपेक्षा उसमें उनके विचारों को और स्पष्ट एवं सरल प्रकाशन मिला है। इसके विपरीत दूसरे प्रयास में रस को भ्रम माना गया है। भले ही दार्शनिक बुद्धि में रस एक भ्रम हो, किन्तु साहित्य का तो वही प्राण है। ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का विवेचन इतना शुष्क भी रुचि के अनुकूल नहीं बैठता।

अब तक हमने संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख-प्रमुख आचार्यों की रस-विषयक चेतनाओं का अध्ययन किया है और इस अध्ययन में हमने दार्शनिक आधार-भूमियों के उद्घाटन-निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इससे हम एक ओर तो रस का स्वरूप विभिन्न आचार्यों की दृष्टियों से समझ सके हैं, दूसरी ओर रस के दार्शनिक अध्ययन के एक स्तर पर भी पहुंच सके हैं। इस स्तर पर पहुंचने से हमें एक लाभ होगा। वैष्णव-साहित्य की रस-परिकल्पना को समझने के लिए हम वैष्णव-दर्शनों की दृष्टि से रस का स्वरूप समझने का अगले अध्याय में अवसर निकाल रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में काव्यशास्त्र-निरूपित रस को दार्शनिक दृष्टि से समझकर चलने से आगामी अध्याय की पृष्ठभूमि भी तैयार हो गयी है, और काव्यशास्त्र और भक्ति-दर्शन दोनों क्षेत्रों के रस के अन्तर को समझने तथा उनके विषय में तुलनात्मक बात कहने का एक आधार भी बन गया है।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र और रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ का रस-विवेचन : प्रथम नवीन मत।

२. "अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमपि अनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेद-कम्।" रसगंगाधर, पृ० २६।
"समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः" वही, पृ० २५।

३. रसगंगाधर, पृ० २६।

संस्कृत काव्यशास्त्र के विविध आचार्यों में रस-विवेचन की दृष्टि से इने-गिने नाम ही उल्लेखनीय हैं—ये नाम हैं—भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथ। अन्य नाम तो रसाध्ययन के विकास की ऐतिहासिक कड़ियों का काम अधिक करते हैं। आज सिद्धान्त-रूप में अभिनवगुप्त का रस-मत स्वीकार किया जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उन्हीं का मत अपनी दृष्टि से परिमार्जित एवं व्यवस्थित भाषा में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार-भूमि के व्यवस्थित उपयोग के कारण अभिनव का रस-मत सबसे अधिक ग्राह्य है।

काव्य-रस के इस काव्यशास्त्रीय दर्शन-परक अध्ययन के अनन्तर अब हम वैष्णव-दर्शनों की ओर इसी समस्या के हल के लिए आते हैं। अगले अध्याय में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि विभिन्न वैष्णव-दर्शन जिन्हें हम भक्ति-दर्शन कह सकते हैं, 'रस' से क्या समझते हैं और उसकी अर्थात् अपने स्वीकृत रस की अनुभूति के सम्बन्ध में क्या अभिमत प्रस्तुत करते हैं। लगे हाथों हम यह भी देख सकेंगे कि क्या किसी वैष्णव-दर्शन के प्रतिपादन से काव्य-रस और उसकी अनुभूति की प्रक्रिया पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

२

भक्ति-दर्शन एवं रस

विगत अध्याय में हम संस्कृत के प्रमुख आचार्यों की दृष्टि से काव्य-रस का स्वरूप जान चुके हैं। हिन्दी के वैष्णव-साहित्य की रस-परिकल्पना को समझने के लिए 'रस' का स्वरूप एक दूसरी दृष्टि से भी समझना अनिवार्य है। जहां काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने 'रस' को काव्य के बीच रखकर समझने-समझाने का प्रयास किया है, वहां दूसरी ओर विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों ने काव्य-निरपेक्ष दृष्टि से 'रस-तत्त्व' को अपने ढंग से देखा है। हिन्दी का वैष्णव-साहित्य हमारी विवेच्य शताब्दियों में बहुत दूर तक इन सम्प्रदायों की प्रेरणाओं की प्रसूति है, तब इन भक्ति-दर्शनों के प्रणेता आचार्यों की दार्शनिक दृष्टियों में 'रस' क्या है, हमें यह भी समझना होगा। मध्यकाल का हिन्दी-वैष्णव कवि हमें काव्य-रस का ही अनुभव नहीं कराता, उस रस-तत्त्व की अनुभूति का मार्ग भी प्रशस्त करता है जिसका स्वरूप दार्शनिक आधार-भूमि पर उसके श्रद्धास्पद आचार्य-प्रवर ने निरूपित किया है।

सभी भक्ति-दर्शन एक प्रकार से शांकर वेदान्त की प्रतिक्रियाएं हैं। शांकर वेदान्त जिस परमतत्त्व को निर्गुण, निर्विशेष एवं असंवेद्य प्रतिपादित करता है, उसे ही भक्ति-दर्शन कतिपय पारस्परिक अन्तरों के साथ सगुण, सविशेष और आराध्य दिखाते हैं। किन्तु समान श्रुतियों और वेदान्त-सूत्र का समान आधार लेकर चलने के कारण रसत्व या आनन्दमयता का मूलाधार उसी परमतत्त्व को मानते हैं। इस विषय में वेदान्त और सभी भक्ति-दर्शन एकमत हैं। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि इन सभी की दृष्टि में 'रस', 'आनन्द' और 'ब्रह्म' पर्याय हैं, रही उसके स्वरूप की निर्विशेषता-सविशेषतादि की बात, सो दृष्टिकोण का अन्तर रहा। इस प्रकार दर्शन की दृष्टि में 'रस' का अर्थ होता है परमतत्त्व या 'ब्रह्म' और इस विषय में सभी के सभी ये दर्शन तैत्तिरीय की 'रसो वै सः' तथा अन्य ऐसी ही श्रुतियों से प्रभावित हुए हैं।

काव्य-रस के स्वरूप-निर्धारण के लिए दर्शन के रस ने द्वार खोला है, काव्य-रस के परिचय ने दर्शन-प्रतिपाद्य रस को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं की। भारतीय काव्य-रस-स्वरूप के निर्धारण में सबसे बड़ा योगदान कश्मीरी शैव-दर्शन और वेदान्त का है, यह हम गत अध्याय में देख चुके हैं। शैव-दर्शन और वेदान्त दोनों ही आनन्द का मूल सम्बन्ध आत्मा के पर-रूप से ही जोड़ते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द शिव की एक शक्ति है, जो उनकी चित् में विश्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं;[1] जबकि वेदान्त आनन्द को आत्मा का स्वरूप ही मानता है।[2] फिर भी, ब्रह्म के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'आनन्द' शब्द वेदान्त की

---

१. "अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः"। तन्त्रसार : आ० ३, पृ० १२।
"अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्तिरिति"। शिवदृष्टि : उत्पल-वृत्ति : प्र० आ०, पृ० १७।

२. अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्"। वेदान्तसार, पृ० १।

दृष्टि से न तो किसी गुण-विशेष का वाचक है, और न ही अनिर्वाच्य ब्रह्म-स्वरूप का वाचक। वस्तुतः 'आनन्द' से हम आनन्दात्मक अनुभवाभासों की व्यावृत्ति का ही ग्रहण करते हैं, जो अपने मूल-रूप में एक भावात्मक अनुभूति है, किन्हीं अनुभवों का अभाव नहीं। वह अनुभूति-मात्र है।[1] इस प्रकार इन्हीं अर्थों में वेदान्त का ब्रह्म आनन्दमय और 'अखण्ड रस-रूप' है। रसत्व और आनन्द का मूल सम्बन्ध आत्मा के पर-रूप से जोड़ने की इस परम्परा का सभी भक्ति-दर्शनों ने परिपालन किया है। यह चेतना बौद्ध, सांख्य, मीमांसा आदि कतिपय दर्शनों में नहीं पायी जाती।

समस्त भक्ति-दर्शनों का 'रस-तत्त्व' परमतत्त्व का पर्यायवाची होते हुए भी सर्वतः एकसा नहीं है। उसके स्वरूप और स्वभाव में अन्तर है। इसी स्वरूपात्मक और स्वभावात्मक अन्तर ने हिन्दी के वैष्णव-साहित्य के स्वरूप और रस-चेतना को प्रभावित किया है। अतः इन भक्ति-दर्शनों की दृष्टि के अनुरूप रस को अलग-अलग समझना भी अपेक्षित है। हम इस परिचय के लिए इस अध्याय में पाँच प्रमुख सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्त चुन सकते हैं, और उन्हें काल-क्रम के अनुरूप इस प्रकार रख सकते हैं :

१. रामानुज-दर्शन।
२. माध्व-दर्शन।
३. निम्बार्क-दर्शन।
४. वल्लभ-दर्शन।
५. चैतन्य-दर्शन।

इन भक्ति-दर्शनों की दृष्टि से हम रस के सम्बन्ध में निम्न प्रश्नों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे :

१. 'रस' का स्वरूप।
२. 'रस' का आस्वादनकर्ता।
३. 'रस' की उपलब्धि के उपाय और प्रतिक्रिया।
४. 'रस' के आस्वादन काल की अनुभूति।

भक्ति-दर्शनों की दृष्टि से इन प्रश्नों का तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. परमतत्त्व का स्वरूप।
२. जीव का स्वरूप।
३. परमतत्त्व की प्राप्ति के उपाय और प्रक्रिया, सामान्यतः भक्ति।
४. भक्ति के माध्यम से भक्तों की प्राप्य चरम आनन्दोपलब्धि का स्वरूप।

इनके अतिरिक्त एक जिज्ञासा और शेष रहती है—इन विवेच्य दर्शनों की दृष्टि से काव्य-रस का स्वरूप। किन्तु इस प्रश्न का सीधा उत्तर हमें मिलना कठिन है। कारण यह है कि इन भक्ति-सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापक आचार्यों ने काव्य-रस के स्वरूप का विश्लेषण करने का

---

१. "एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायत्वम्। एकत्वतात्पर्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविशेषप्रत्यनीकत्व-परत्वेन सर्वपदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायता च। एतदुक्तं भवति—लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतर-पदार्थविरोधिरूपम्।.....। न च व्यावृत्तिभावरूपोऽभावरूपो वा धर्मः, अपितु सकलविरोधि ब्रह्मैव।" शारीरकमीमांसाभाष्य : वेदान्त-मत : रामानुजकृत, पृ० ५७।
"अद्वितीयश्रुतिर्गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते। अन्यथा निरंजनं निर्गुणमित्यादिभिश्च विरोधः। अतत्रैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति।" रामानुज-शारीरकमीमांसाभाष्य, पृ० ५८।

प्रयास नहीं किया। अभिनवगुप्त की बात तो दूसरी रही जिन्होंने दर्शन तथा काव्य दोनों के परमतत्त्व का स्वरूप-निर्धारण किया। अतः उनके विवेचनों में आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द दोनों का स्वरूप-निरूपण अलग-अलग मिलता है। अन्य दार्शनिकों में यह बात नहीं पायी जाती। जैसे वेदान्तादि दर्शनों की आधार भूमि का सहारा लेकर आचार्यों ने काव्य-रस का निरूपण किया वैसे भी प्रायः भक्त आचार्यों के प्रयास नहीं रहे। वल्लभ तथा चैतन्य के सम्प्रदायों में अवश्य कुछ प्रयास इस ओर हुए, जिनका परिचय हम यथास्थान प्राप्त करेंगे। तब, यदि हमें इन भक्ति-दर्शनों की दृष्टि से काव्य-रस का स्वरूप समझना है, और दार्शनिक रस-तत्त्व से उसका अन्तर स्पष्ट करना है, तो इनकी मान्यताओं को ध्यान में रखकर काव्य-रस का स्वरूप इनकी ओर से निर्धारित करना पड़ेगा। यथावसर और यथासम्भव हम इस ओर भी प्रयास करेंगे।

इन जिज्ञासाओं पर ध्यान रखते हुए हम इन दर्शनों की ओर बढ़ सकते हैं। कालक्रम के अनुसार पहले रामानुज-दर्शन आता है।

रामानुज-दर्शन एवं रस

विशिष्टाद्वैतवाद—रामानुज-दर्शन विशिष्टाद्वैतवादी है। उसके अनुसार ब्रह्म चिद्-अचिद्-विशिष्ट एवं सगुण है। वेदान्त[1] इसके विपरीत ब्रह्म को निर्विशेष तथा निर्गुण मानता है। चित् अर्थात् जीव, और अचित् अर्थात् प्रकृति दोनों तत्त्व मिथ्या न होकर रामानुज के अनुसार सत् हैं, किन्तु ब्रह्म के विशेषण-रूप हैं। जिस प्रकार जीव के लिए प्रकृति शरीर है, उसी प्रकार ब्रह्म के लिए जीव और प्रकृति दोनों शरीर हैं, वह शरीरी है।[2] इन दोनों तत्त्वों और ब्रह्म के बीच इसीलिए शरीर-शरीरी भाव, अंगांगी भाव, अंशांशी भाव, शेष-शेषी भाव, या विशेषण-विशेष्य भाव कहा गया है। इस विशिष्ट परमतत्त्व से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं है, जो शरीर या शेष रूप जीव या प्रकृति है, वह तो उसी का रूप है, अतः उससे भिन्न नहीं; इन अर्थों में अद्वैत है। यह अद्वैत निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म का न होकर सगुण सविशेष ब्रह्म का है, अतः रामानुज के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहा गया है।

ब्रह्म के शरीर-भूत जीव और प्रकृति की दो अवस्थाएं होती हैं—एक स्थूल, दूसरी सूक्ष्म। स्थूल अवस्था में उनके पृथक् नाम-रूप सामने आते हैं, किन्तु सूक्ष्म अवस्था में यह सम्भव नहीं हो सकता। उस दशा में ये अंश अपने अंशी ब्रह्म में लीन होते हैं। तथापि, लयावस्था में भी उनकी सत्ता का अभाव नहीं होता, कार्य केवल कारणावस्था में सूक्ष्म होता है। वस्तुतः ये दोनों अवस्थाएं विशिष्ट ब्रह्म की क्रमशः कार्यावस्था और कारणावस्थाएं हैं।[3] इन्हें ही रामानुज कार्य-ब्रह्म और कारण-ब्रह्म कहते हैं, जो वस्तुतः उनके विशिष्ट अद्वैत-तत्त्व की ही व्यक्त-अव्यक्त या स्थूल-सूक्ष्म अवस्थाएं हैं।

इस प्रकार रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भेद, भेदाभेद, और

---

१. इस अध्याय में वेदान्त शब्द का प्रयोग सामान्यतः शांकर वेदान्त के लिए ही समझना चाहिए।

२. "एवमेव स्थावरजंगमात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः ईश्वरशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव स्वरूपसद्भाव इति, तत्प्रकारी ईश्वर एव तत्तच्छब्देनाभिधीयत इति"। वेदान्तसंग्रह : पृ० १७।

३. "तदेवं नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्, जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्, ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभाव एव सृष्टिरित्युच्यते।" वेदार्थसंग्रह, पृ० १७-१८।

अभेद तीनों को स्वीकार करता है। ब्रह्म, जीव और प्रकृति—इन तीनों की तात्त्विक सत्ता रहने के कारण भेद है। इस भेद के अंश-अंशी या विशेषण-विशेष्य के रूप में रहने के कारण भेदों में अभेद अर्थात् भेदाभेद है। किन्तु इस विशिष्ट सत्ता से भिन्न एवं अतिरिक्त अन्य सत्ता के अभाव होने से अभेद या अद्वैत भी है।[१]

'रस' का स्वरूप

विशिष्टाद्वैत का प्रतिपाद्य 'रस' काव्य का रस न होकर दर्शन का रस है। वह ब्रह्म का पर्याय है, जिसे 'रसो वै सः', 'आनन्दो ब्रह्म' आदि श्रुतियों से प्रतिपादित किया गया है। रामानुज ने इसी अर्थ में 'रस', 'आनन्द', 'सुख' शब्दों का प्रयोग किया है।[२]

रामानुज ब्रह्म को 'आनन्द-स्वरूप' एवं 'ज्ञान-स्वरूप' मानते हैं, तथा आनन्द और ज्ञान दोनों शब्दों को एकार्थक भी प्रतिपादित करते हैं। सामान्यतः लोग यह मानते हैं कि किसी वस्तु-विशेष के ज्ञान-विशेष से आनन्द या सुख होता है, अतः आनन्द ज्ञान का फल है। जैसे एक मधुर मोदक का रसना द्वारा आस्वादनात्मक ज्ञान उपभोक्ता को सुख, प्रीति या आनन्द देता है। किन्तु रामानुज को यह स्वीकार्य नहीं है। उनका कथन है कि जो मोदक का आस्वादनात्मक ज्ञान है, वही तो सुख है। अतः रामानुज का सिद्धान्त है कि वही ज्ञान-विशेष आनन्द है जिसके द्वारा लौकिक लोग आनन्द को साध्य समझते हैं।[३] इसी दृष्टि से रामानुज परमतत्त्व ब्रह्म को अनेकत्र 'ज्ञानानन्दैकरूप' कहते हैं।[४] अतः रामानुज का आनन्द ज्ञानात्मक है और ज्ञान आनन्दात्मक।

आनन्द एवं ज्ञान के विषय में एक और प्रमुख दृष्टिकोण रामानुज सामने रखते हैं। ब्रह्म 'आनन्द-स्वरूप', 'ज्ञान-स्वरूप' भी है और आनन्द तथा ज्ञान रूप गुणों से युक्त भी।[५] अर्थात् रामानुज की दृष्टि में आनन्द एवं ज्ञान आत्मा के स्वरूप भी हैं और गुण भी। यह बात ऊपर से परस्पर विरोधिनी-सी लगती है। किन्तु रामानुज वास्तव में ज्ञान तथा आनन्द को आत्मा का स्वरूप-निरूपक धर्म ही मानते हैं। ब्रह्म 'आनन्द-स्वरूप' या 'ज्ञान-स्वरूप' है, इसका अर्थ यही है कि वह आनन्द एवं ज्ञान का आधार है।[६]

---

१. "किमत्र तत्त्वं भेदोऽभेद उभयात्मकं वा। सर्वं तत्तम्। तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैव अवस्थितमित्यभेदोऽभ्युपेयते। एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारान्नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभावैलक्षण्यादसंकराच्च भेदः।" सर्वदर्शनसंग्रह : रामानुजदर्शन, पृ० ११०।

२. "……आनन्दो ब्रह्म इत्युच्यते। विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य,सुखरूपतया ब्रह्मैव सुखम्। तदिदमाह—रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति इति।" वेदार्थसंग्रह, पृ० ४४।

३. "प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव। ननु च सुखं प्रीतिरित्यनर्थान्तरम्, सुखं च ज्ञानविशेषसाध्यं पदार्थान्तरमिति लौकिकाः। नैवम्, येन ज्ञानविशेषेण तत् साध्यमित्युच्यते, स एव ज्ञानविशेषस्सुखम्।" वही, पृ० ४४।

४. 'ज्ञानानन्दैकस्वरूपः'। गीताभाष्य : अवतरणिका, पृ० १।
'ज्ञानानन्दामलत्वैकस्वरूपम्'। वेदार्थसंग्रह, पृ० ३।

५. "जीवात्मस्वरूपं……ज्ञानानन्दैकगुणम्।" वेदार्थसंग्रह, पृ० १।
"ज्ञानादिकल्याणगुणानन्त्यनिर्देशात् अपरिमितकल्याणगुणविशिष्टं परं ब्रह्म"। वही

६. "ज्ञानानन्दमात्रवादि च……ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपकधर्मः मलप्रत्यनीकानन्दरूपज्ञानमेवेति।" वही, पृ० २१।

ब्रह्म की आनन्द-रूपता एवं आनन्द-गुणता दीप-ज्योति और दीप-प्रभा के उदाहरण से भी समझी जा सकती है। दीप-शिखा प्रभा का आधार है, इसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ज्ञान और आनन्द का आधार है।[१] प्रभा एक द्रव्य होते हुए भी दीप-शिखा के आश्रित शेष-रूप रहने के कारण गुण-रूप ही है, इसी प्रकार ज्ञान-आनन्द भी स्वयं द्रव्य होकर द्रव्य-रूप आत्मा के गुण हो सकते हैं।[२] किसी द्रव्य के गुण होने के लिए आधेयता ही अपेक्षित है। आधारभूत पदार्थ वस्तुतः द्रव्य हैं आधेय पदार्थ गुण।[३] इस प्रकार ज्ञान-आनन्द आत्मा के स्वरूप भी हैं, गुण भी। वस्तुतः रामानुज के अनुसार आत्मा 'ज्ञान-मात्र' या 'ज्ञप्ति-मात्र' हो ही नहीं सकता। ज्ञान या ज्ञप्ति 'ज्ञा अवबोधने' धातु से निष्पन्न होते हैं, जो किसी कर्ता की एक सकर्मक क्रिया है।[४] अतः ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप कहने का भी अर्थ यही है कि ब्रह्म ज्ञान-आनन्द गुणों से विशिष्ट है।[५] अतः रामानुज यह कहने की अपेक्षा कि ब्रह्म आनन्द है, यह अधिक उपयुक्त समझते हैं कि आनन्द ब्रह्म का धर्म है, ब्रह्म 'आनन्दि' है। आनन्द ब्रह्म का एक अनुकूल ज्ञान ही है :

"आनन्दो ब्रह्मेति आनन्दमात्रमेव ब्रह्मस्वरूपं प्रतीयत इति यदुक्तं, तज्ज्ञानाश्रयस्य ज्ञानं स्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते। विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यानन्दरूपमेव ज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थः। अतएव भवतामेकरसता। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि श्रुतिशतसमधिगतमित्युक्तम्। तद्वदेव 'स एको ब्रह्मण आनन्दः', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति व्यतिरेकनिर्देशाच्च नानन्दमात्रं ब्रह्म, अपि तु आनन्दि। ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम्।"[६]

यह 'ज्ञानानन्दस्वरूपता' तथा 'ज्ञानानन्दैकगुणता' रामानुज के अनुसार ब्रह्म तथा जीव दोनों में ही होती है, स्वरूपतः दोनों के ज्ञानानन्द अपरिच्छिन्न हैं।[७] किन्तु जीव के ज्ञानानन्द अविद्या के द्वारा संकुचित हो जाते हैं, अविद्या के दूर हो जाने पर पुनः अपरिच्छिन्न रह जाते हैं।[८] इस प्रकार संकोच-विकास के शिकार हो सकते हैं। किन्तु ब्रह्म के ज्ञानानन्द पूर्ण, निरतिशय, अनन्त एवं संकोच-विकास से परे होते हैं। उन पर अविद्या का प्रभाव नहीं पड़ता।

---

१. "यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते।.....। अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्वनिबन्धनः।" श्रीभाष्य : १।१।१, पृ० ६७।

२. "यथाहि मणिद्युमणिप्रभृति तेजोद्रव्यं प्रभावद्रूपेणावतिष्ठमानं प्रभारूपगुणाश्रयः, स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वेन रूपवत्त्वेन च प्रभा द्रव्यरूपापि तच्छेषत्वनिबन्धनगुणव्यवहारा। एवमयमात्मा स्वप्रकाशचिद्रूप एव चैतन्यगुणः"। सर्वदर्शनसंग्रह : रामानुजदर्शन : पृ० ९८-९९।

३. इंडियन फिलास्फी : डा० राधाकृष्णन् : पृ० ६७८, भा० २।

४. वेदार्थसंग्रह, पृ० ७। "ज्ञा अवबोधने इति सकर्मकः सकर्तृकः क्रियाविशेषः क्रियान्तरव्यावर्तकस्वभावविशेषश्च प्रकृत्यावगम्यते, प्रत्ययेन लिंगसंख्यादयः।"

५. "ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितम्, न तु ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति।.....। ज्ञानस्य धर्ममात्रत्वाद् धर्ममात्रस्यैकस्य वस्तुत्वप्रतिपादनानुपपत्तेश्च। अतः सत्यज्ञानादिपदानि स्वार्थभूतज्ञानादिविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।" वेदार्थसंग्रह, पृ० ६।

६. श्रीभाष्य : १।१।१, पृ० ७६।

७. "जीवस्वरूपं देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाविधभेदरहितं ज्ञानानन्दैकगुणम्। तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्यः, ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम्।" वेदार्थसंग्रह, पृ० १।

८. वही, पृ० ११।

अविद्या अद्वैतवाद के समान ब्रह्म के स्वरूप को ही तिरोहित करने वाली कोई शक्ति नहीं मानी गयी, अपितु जीव के ज्ञानानन्द को संकुचित कर देने वाली कर्ममयी शक्ति है।[1] इस कर्म-रूपा अविद्या से जीव का गुण-रूप ज्ञानानन्द ही संकुचित होता है, न कि स्वरूप। अतः अणु जीव की अपरिणामिता भी बनी रहती है।[2]

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार मुक्त जीवों की दो कोटियां मानी गयी हैं। एक तो वे मुक्त जीव होते हैं जो कर्म-रूपा अविद्या से मुक्त होकर ज्ञानानन्द-स्वरूप रह जाते हैं, और अपने अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द का अनुभव करते हैं। किन्तु उनका यह ज्ञानानन्द निरतिशय एवं अनन्त नहीं होता। निरतिशय, परिपूर्ण आनन्द की अनुभूति वे ही मुक्त जीव कर पाते हैं जो वैकुण्ठवासी शेष-शायी भगवान् नारायण के परिकर में सम्मिलित होकर परम प्रीतिपूर्वक अपनी शेषता की अनुभूति करते हैं।[3] अतः विशिष्टाद्वैतवाद का परम प्राप्य रस वही निरतिशय आनन्द है जो ब्रह्म का स्वरूप-निरूपक धर्म है। वही निरतिशय एवं अनन्त है।

रामानुज ने इस आध्यात्मिक आनन्द और लौकिक आनन्द का अन्तर भी स्पष्ट किया है। प्रत्येक आनन्द या सुख ज्ञानात्मक होने के कारण ज्ञान के विषय पर निर्भर करता है। लौकिक विषयों से सम्पर्क होने पर जो सुख जीव को मिलता है, वह इसीलिए अस्थिर और अल्प होता है कि उसके विषय अल्प एवं अस्थिर होते हैं। वस्तुतः ब्रह्म को छोड़कर कोई वस्तु स्वरूपतः न सुखात्मक है, न दुःखात्मक। ब्रह्म स्वरूपतः सुखात्मक है, किन्तु लौकिक विषय जीवों के कर्म के सम्पर्क से सुखात्मक या दुःखात्मक हो जाते हैं, इसीलिए कर्म के क्षीण हो जाने पर भोक्ता जीवों की उनके विषय में सुखात्मकता या दुःखात्मकता भी समाप्त हो जाती है।[4] और इस लौकिक सुख या दुःख को जीवों के कर्म के अनुरूप देने वाला परमेश्वर ही है, मीमांसा के समान माना हुआ कोई बीच का तत्त्व अपूर्व आदि नहीं।[5]

यह स्थिर, अनन्त, निरवधिकातिशय आनन्द ही जीवों का परम प्राप्य है। इस परम सुख को प्राप्त कर जीव परम सुखी बनता है। परमात्मा स्वयं परम सुख रूप है, और परम भक्त जीवों को वही इस अपने परम सुख को वितरित करके सुखी बनाता है। वह अपने ही पूर्ण सुख से सुखी है, और उसके कृपा-पात्र भी उसके सुख से सुखी हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म जिसके ज्ञान का विषय बन जाता है वही आनन्दी हो जाता है :

"एवंविधसुखरूपज्ञानस्य विशेषकत्वम्, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सातिशयमस्थिरं च, ब्रह्मणस्तु अनवधिकातिशयं स्थिरं चेति 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युच्यते विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य। सुख-रूपतया ब्रह्मैव सुखम्। तदिदमाह—'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति ब्रह्मैव सुखमिति ब्रह्म लब्ध्वा सुखी भवतीत्यर्थः। परमपुरुषः स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुखः

---

१. "अस्माकं चाविद्यारूपेण कर्मणा स्वरूपनित्यधर्मभूतज्ञानप्रकाशः संकुचितः", "आत्मधर्मभूतस्य चैतन्यस्य स्वाभाविकस्यापि कर्मणा पारमार्थिकं संकोचं विकासं च ब्रुवतां सर्वमिदं परिहृतम्।" वही, पृ० ११।

२. वही, पृ० ११।

३. इंडियन फिलास्फी : डा० राधाकृष्णन् : भा० २, पृ० ७११।

४. "अतः कर्मकृतमेव परमपुरुषव्यतिरिक्तविषयाणां सुखत्वम्, अतएव तेषामस्थिरत्वमल्पत्वं च परमपुरुषस्यैव सुखत्वम्, अतः तदेव स्थिरमनवधिकातिशयं च।" वेदार्थसंग्रह, पृ० ४५।
"ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य·····अतः कर्मावसाने तदपैतीत्यर्थः।" वही, पृ० ४५।

५. वही, पृ० ३६ तथा ३३।

सन् परस्यापि सुखं भवति, सुखरूपत्वाविशेषात् । ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति स सुखी भवतीत्यर्थः ।"[1]

रामानुज का यह आनन्द-स्वरूप ब्रह्म शंकर के आनन्द-स्वरूप ब्रह्म के समान निर्गुण एवं निर्विशेष नहीं है, सविशेष एवं सगुण है, इतना ही नहीं वह दिव्य रूप, दिव्य आकृति, एवं दिव्य वैभव से भी परिपूर्ण है । इस प्रकार रामानुज का आराध्य ब्रह्म अनन्त कल्याण गुणों से विशिष्ट नारायण पुरुषोत्तम भी है । उनके इस ब्रह्म स्वरूप में, जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने प्रतिपादित किया है, वेद-आगम-पुराण और प्रबन्धम् का समन्वय हुआ है ।[2] इस प्रकार मुक्त जीव के द्वारा की जाने वाली ब्रह्मानन्द की अनुभूति निर्विशेष एवं अनुभूति मात्र न होकर सविशेष, सगुण, साकार सौन्दर्य की अनुभूति है । रामानुज का ब्रह्म वेद्य भी है, अनुभवनीय भी । उसमें दर्शन और भक्ति मिलकर एक हो गयी हैं ।

वस्तुतः रामानुज के चिन्तन की एक विशिष्ट दिशा है । वे ज्ञान एवं आनन्द को एक करके देख सके हैं । इसीलिए उनका ब्रह्म और जीवात्मा ज्ञानानन्दैक-रूप हैं । उस ब्रह्म का स्वरूप केवल सगुण ही नहीं, सविभूति एवं स-रूप भी है । जीव के द्वारा उसकी अनुभूति मात्र संवेदनात्मक नहीं, साक्षात्कारात्मक भी है । उसकी इतिश्री साक्षात्कारात्मक ध्यान तक ही सीमित रहकर नहीं हो जाती, अपितु वैकुण्ठवासी नारायण की लीला का अंग बनकर होती है । उसका 'रस' मात्र आध्यात्मिक नहीं, लीला-रस भी है । इस प्रकार रामानुज के चिन्तन की समस्त दिशाओं में ज्ञान और आनन्द तथा ज्ञान एवं आनन्द के उपकरणों एवं परिस्थितियों की एकाकारता और समष्टि दृष्टिगोचर होती है । रामानुज के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित भक्ति-साहित्य में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में दिखायी पड़ती है । अतः परमतत्त्व की कतिपय प्रमुख विशेषताएं हमें यहां रामानुज की दृष्टि से समझ लेना उचित होगा ।

हम पीछे कह चुके हैं कि रामानुज का परमतत्त्व चिद्-अचिद्-विशिष्ट है । अचित् प्रकृति परिणामिनी है; और चित् अनेक अणु एवं स्वरूपतः अपरिणामी हैं । फिर भी चित् अणुओं के स्वरूप का परिणाम न होते हुए भी कर्म-रूपा अविद्या के सम्पर्क से ज्ञानानन्द गुणों का संकोच-विकास होता है । परमेश्वर इनकी उक्त दुर्बलताओं से रहित है । वह निरतिशय ज्ञानानन्द-स्वरूप है । ये दोनों तत्त्व परमात्मा के विशेषण हैं, परमात्मा विशेष्य हैं । चित् और अचित् की दो अवस्थाएं होती हैं—एक सूक्ष्म कारणावस्था जिसमें उनके नाम-रूप अभिव्यक्त नहीं होते, दूसरी स्थूल जिसमें नाम-रूप व्यक्त होते हैं, यह कार्यावस्था है । वस्तुतः ये विशेषण-रूपा अवस्थाएं हैं । पहली में ब्रह्म कारणावस्था में होता है, दूसरी में कार्यावस्था में । दोनों प्रकार के तत्त्व भिन्न स्थिति रखते हुए भी अपने विशेष्य रूप ब्रह्म आधार तत्त्व पर ही आधारित हैं । वस्तुतः ब्रह्म इनके उत्पत्ति, लय, विकास, संकोच आदि सभी परिणामों का नियन्ता है, ये नियाम्य हैं । अतः ब्रह्म की विशिष्टता को कारण-कार्य-भाव, नियाम्य-नियामक-भाव, आधाराधेय-भाव, अंशांशी-भाव, शेष-शेषी-भाव, शरीर-शरीरी-भाव आदि के परिपेक्ष्य में ही समझना चाहिए । जिस प्रकार जीव का ऐन्द्रिय शरीर सूक्ष्म और पांच-भौतिक शरीर स्थूल होता है, उसी प्रकार ब्रह्म के लिए जीव सूक्ष्म शरीर हैं, प्रकृति स्थूल शरीर । और इस दृष्टि से जीव

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० ४४ ।
२. इंडियन फिलासफी : डा० राधाकृष्णन् : पृ० ६८९, भा० २ ।

भी ब्रह्म ही है,[1] जगत् के घट-पटादि समस्त स्थूल पदार्थ भी ब्रह्म ही हैं।[2] इतना ही नहीं, तत्त्व-दर्शियों की दृष्टि में सभी शब्द, जैसे घट-पट आदि, इसी ब्रह्म को अभिधा से ही बताते हैं।[3] श्रुतियों के 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि नाना प्रतिपादक शब्द भी सामानाधिकरण्य से इसी विशिष्ट ब्रह्म को बताते हैं।[4] रामानुज के अनुसार सामानाधिकरण्य का अर्थ है अनेक विशेषणों का आधार किसी एक विशेष्य का होना।[5] और, इस विशेषणता के लिए यह अपेक्षित नहीं कि विशेषण-भूत वस्तु अनिवार्यतः गुण ही हो। जाति गुण, द्रव्य सभी किसी विशेष्य के विशेषण हो सकते हैं।[6] विशेष्यता का अर्थ यही है कि वस्तु नियन्तृतया आधार हो। चित् तथा अचित् तत्त्वों के लिए ब्रह्म ऐसा ही विशेष्य है। वह अंशी है, शेषी है, कारण है, शरीरी है, नियन्ता है, एक शब्द में 'विशिष्ट' है। उसकी निर्विशेषता की कल्पना करना, जैसी की शंकर ने की है, रामानुज के अनुसार सर्वथा मूर्खतापूर्ण है।

यह विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व एक ओर तो समस्त हेय दोषों से शून्य है, दूसरी ओर अनन्त कल्याण गुणों से युक्त। इस प्रकार उसकी विशिष्टता चिदचिद्विशिष्टता तक ही सीमित नहीं, असंख्य-कल्याण गुणों की विशिष्टता के रूप में भी आती है।

जहां इस परमतत्त्व में रामानुज ने सत्य-संकल्पता, सत्य-कामता, सर्वेश्वरता, नियन्तृता, अन्तर्यामिता आदि अनन्त कल्याण गुणों की कल्पना की है, वहां उसमें अपार करुणा की भी सम्भावना की है। शंकर के ब्रह्म के समान भक्तों का परमाराध्य निर्हृदय हो ही नहीं सकता, इसीलिए रामानुज ने भक्तों की भावना के अनुरूप उसमें इस श्रेष्ठ कल्याण गुण करुणा को भी प्रतिष्ठित किया है।[7] रामानुज ब्रह्म के द्वारा सृष्टि की रचना के मूल में दो ही बातें मानते हैं—लीला और उपकार।[8] विश्व का सर्जन, पालन, विलयन उनकी लीला है। बैकुण्ठ में रह कर अपने समस्त परिकर के साथ अपने ही आनन्द में मग्न रहना भी उनकी लीला है। यह लीला उनके लिए एक 'रस' है।[9] और, उनकी कृपा से ही परम भक्त जीव इस लीला-रस का अनुभव करता है।[10] सृष्टि के सर्जन में दूसरा हेतु है उपकार का। इसी उपकार-भावना से

---

१. "जीवात्मा तु ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वात् ब्रह्मात्मकः"। वेदार्थसंग्रह, पृ० ४।

२. वही, पृ० ४।

३. वही, पृ० ४-५।

४. श्रीभाष्य : १।१।१।

५. "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्" : वही, पृ० ६।

६. "जातिर्वा, द्रव्यं वा, गुणो वा; न तत्रादरः। कंचन द्रव्यविशेषं प्रति विशेषणतयैव यस्य सद्भावः, तस्य तदपृथक्सिद्धेः तत्प्रकारतया तत्सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनं युक्तम्।" वही, पृ० १६।

७. श्रीरंग-गद्य, पृ० १७९।

८. "ज्ञानानन्दामलत्वैकस्वरूपमपरिच्छेद्यमाहात्म्यं·····परं ब्रह्मैव·····स्वलीलायै स्वसंकल्पेनानन्तविचित्र-स्थिरसरूपजगत्संस्थानं स्वांशेनावस्थितमिति"। वेदार्थसंग्रह, पृ० ३।

"परब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य निखिलजगदुपकाराय स्वेच्छया स्वेनैव रूपेण देवादिष्वतार,—अस्य देवादि-रूपेणावतारेष्वपि न प्राकृतो देहः।" वही, पृ० ३१।

९. "परस्य ब्रह्मणः सर्वत्रान्तर्यामितयावस्थितस्यापि न दोषगन्धः संभवति, अपि तु सर्वनियमनरूपलीलारस एव।" श्रीवेदान्तदीप : ३।२।३२५।

१०. "तथा मुक्तोपि लीलाप्रवृत्तेश्वरसृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भंक्ते।" वही, ४।४।५३६। पृ० १२७।

प्रेरित होकर परब्रह्म-स्वरूप परमात्मा अवतार धारण करते हैं।[1] इसी से प्रेरित होकर वे भक्तों को अपनी ओर लगाते हैं। वस्तुतः यह उपकार-भावना करुणा ही है।

विशिष्टता एवं सगुणता के अतिरिक्त रामानुज ने ब्रह्म की साकारता की कल्पना भी की है। इसीलिए वह ब्रह्म होते हुए भी 'पुरुषोत्तम' भी है, उसमें दिव्य पुरुषता भी है। वह वैकुण्ठवासी शेष-शायी नारायण हैं। उनका शरीर भौतिक नहीं, सत्व, रजस्, तमस् वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति से भी बना नहीं, वह शुद्ध सत्त्व का है। विशिष्टाद्वैतवाद में 'अचित्' तत्त्व को तीन रूपों में माना गया है—त्रिगुणात्मिका प्रकृति, काल और विशुद्ध सत्त्व।[2] यह विशुद्ध सत्त्व प्रकृति के गुण सत्त्व से भिन्न, मात्र सत्त्व है। भगवान् वासुदेव का विग्रह, वैकुण्ठ में प्रविष्ट भक्तों का विग्रह एवं स्वयं वैकुण्ठलोक इसी विशुद्ध सत्त्व के होते हैं।[3]

वैकुण्ठवासी भगवान् पुरुषोत्तम का रूप दिव्य है। उसका सौन्दर्य, उसका लावण्य, उसका सौकुमार्य, औज्वल्य, यौवन सभी कुछ अचिन्त्य, दिव्य एवं अद्भुत है। वे अनेक दिव्य आभूषण धारण किये रहते हैं। किरीट, मुकुट, चूड़ा, अवतंस, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि, मुक्ता-दाम, पीताम्बर, कांचीगुण, नूपुर आदि अनेक ऐसे दिव्य आभूषण, जिनका सौन्दर्य नित्य निरवद्य और निरतिशय है, उन्होंने धारण किये हुए हैं। शंख, चक्र, गदा शार्ङ्ग—अनेक दिव्य आयुध, और वैजयन्ती वनमाला से वे शोभित हैं। नित्य सौन्दर्यमयी श्री उनके पार्श्व में हैं। विष्वक्सेन, गरुड़ प्रभृति नाना कृपापात्रों के द्वारा उनके चरण-युगल सेवित किये जाते हैं। इस प्रकार वैकुण्ठ के अचिन्त्य, निरतिशय, अद्भुत, दिव्य वैभव में भगवान् विष्णु की कल्पना रामानुज ने लगभग अपने सभी ग्रन्थों में उपस्थित की है।[4] उनके इसी लीला-परिकर में वे कृपापात्र मुक्त जीव भी सम्मिलित हो जाते हैं जो अपनी परम-भक्ति से वहां के अधिकारी हो चुकते हैं। ये ही इस लोक के निरतिशय आनन्द की अनुभूति करते हैं।

रामानुज का यह पुरुषोत्तम दिव्य व्यक्तित्व से सम्पन्न ही नहीं, बहुत कुछ व्यक्तिगत (Personal) भी है। वह अपारकरुणाम्बुधि है, प्रणतार्तिहर है, आपत्सखा है। अपने आश्रितों के प्रति उसमें उमड़ता वात्सल्य है, विपन्नों के प्रति करुणा है, प्रपन्नों के प्रति प्यार।[5] वह 'भक्तजनसंश्लेषैकभोग' भी है।[6] अपने प्रिय भक्तों के साथ मिलकर स्वात्मानन्द का भोग उसकी लीला है, जिसके रस का वह स्वयं भी रसिक है।

रामानुज ने दर्शन-संवेद्य ब्रह्म को पुरुषोत्तम नारायण के रूप में वैकुण्ठ में ही प्रतिष्ठित नहीं किया, वैकुण्ठ और मर्त्य लोकों के बीच की खाई को भी पाटा है। दर्शन का अन्तर्यामी और वैकुण्ठ का वह नारायण आश्रितों के वात्सल्य से विवश होकर जगत् के प्रति उपकार की

---

१. "स भगवान् पुरुषोत्तमः सर्वेश्वरो जगदुपकृतिमर्त्यः आश्रितवात्सल्यविवशः" श्रीगीताभाष्य : अवतरिणका, पृ० २।

२. इंडियन फिलास्फी : डा० राधाकृष्णन्, पृ० ६७९, भा० २।
तत्त्वमुक्तावली : १।६ तथा १।७, उद्धृत—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ११२।

३. इंडियन फिलास्फी : डा० राधाकृष्णन्, भा० २, पृ० ७११।
वेदार्थसंग्रह, पृ० ३१।

४. श्रीवैकुण्ठगद्य, श्रीरंगगद्य, शरणागतिगद्य, वेदार्थसंग्रह, पृ० ४० आदि।

५. श्रीरंगगद्य, पृ० १७८। शरणागतिगद्य, पृ० १७४।

६. श्रीगीताभाष्य : अवतरिणका, पृ० २।

भावना से मर्त्य लोक में अवतरित होता है।[1] रामानुज ने ब्रह्म के पाँच रूपों की कल्पना की है—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म, अन्तर्यामी।[2] अर्चा प्रतिमादि वाला रूप है। विभव अवतार वाला। व्यूह के चार प्रकार माने गये हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध। चौथा रूप 'सूक्ष्म' है। यह वैकुण्ठवासी भगवान् नारायण का है जिसकी चर्चा अभी ऊपर की गयी है। इसे ही 'वासुदेव' परब्रह्म कहा गया है। यही रूप मुक्त परम भक्तों का प्राप्य है। भक्तों का यही 'रस' है। अगला रूप 'अन्तर्यामी' है, यह चिदचिद् का नियामक है। यह रूप दर्शन-संवेद्य है। रामानुज ने इन पांचों रूपों को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना है, अर्थात् साधक अपनी उत्तरोत्तर साधना से इन रूपों के दर्शन पाता है।[3] रामानुज ने इन रूपों की प्रेरणा पांचरात्र संहिताओं से ली है।

यही विशिष्ट, सगुण, लीलामय, ज्ञानान्द-स्वरूप, ज्ञानानन्दैकगुण, अन्तर्यामी, परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव रामानुज के दर्शन का प्रतिपाद्य रस तत्त्व है।

रामानुज के इस 'रस-तत्त्व' के विषय में निम्न बातें हमारे समक्ष आती हैं—

१. 'रस' परमात्म तत्त्व ब्रह्म का पर्याय है, परम तत्त्व 'रस-स्वरूप' है।

२. 'रस' वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप नहीं, उसका स्वरूप-निरूपक धर्म है। वह स्वयं आनन्द नहीं, आनन्द-गुण से युक्त है। उसका यह आनन्द निरतिशय-निरवधिक है।

ब्रह्म के इस आनन्द गुण को, जो वस्तुतः ज्ञान का पर्याय ही है, परम भक्त जीव अनुभव करता है।

३. परम तत्त्व नारायण लीलामय प्रभु है। वह चिदचिद्-मय विश्व के सर्जन-निमीलन की लीला करता है। इस लीला में वह रसास्वादन करता है। इस प्रकार वह अपने ही 'लीला-रस' का भोक्ता है।[4] अपने भक्तों के साथ घुल-मिल जाना उस भक्तवत्सल का भोग है।[5]

४. रसास्वादन करने वाले भक्त की दृष्टि से वास्तविक रस है उस शेषी के शेष रूप में अपनी सच्ची स्थिति के परिज्ञान के साथ नित्य कैंकर्य की अनुभूति। भक्त जीव का यह चरम दास्य भाव है, जो रत्यात्मक है। यह रति अपने शेषी परमेश्वर के प्रति है। इसमें अपने शेषी के प्रति अपनी शेषता का ज्ञान भी है, और उसके प्रति गहरी अनुरागानुभूति भी। अतः यह रति ज्ञान और अनुभूति का घोल है। इसे रामानुज 'अशेषशेषतैकरतिरूप नित्य कैंकर्य'[6] कहते हैं, और इस स्थिति को ही भक्त की एकरसात्मता बताते हैं।[7]

इस प्रकार रामानुज का 'रस' परम भक्त जीव की अपने आराध्य शेषी परमात्मा के प्रति अशेष-शेषतामयी नित्य कैंकर्य की रत्यात्मिका अनुभूति है जिसमें शेषी परमात्मा के

---

१. श्रीवैकुण्ठगद्य, पृ० १७८।
२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ११५-११६।
३. वही, पृ० ११६।
४. "परस्य ब्रह्मणरसर्वत्रान्तर्यामितयावस्थितस्यापि न दोषगन्धः संभवति, अपितु सर्वनियमनरूपलीला रस एव।" श्रीवेदान्तदीप, पृ० ७७, ३।२।३२५।
५. "भक्तजनसंश्लेषैकभोगस्य"। श्रीवैकुण्ठगद्यम्, पृ० १७८।
६. "तदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषवस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भवानि"। श्रीरंगगद्यम्, पृ० १७७।
७. प्रबुद्धनित्यनियाम्यनित्यदास्यैकरसात्मस्वभावोऽहम्"। श्रीरंगगद्यम्, पृ० १७७।
"भगवानेव स्वनियान्यस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिस्वशेषतैकरसेन अनेनात्मना·····।" नित्यग्रन्थ, पृ० १८४।
"·····नित्यदास्यैकरसात्मस्वभावानुसन्धानपूर्वक·····"। श्रीरंगगद्यम्, पृ० १७७।

निरतिशयनिरवधिक आनन्द का आस्वादन भक्त को होता है।

'रस' का आस्वादन-कर्ता

रामानुज के इस रस तत्त्व का आस्वादयिता परम भक्त जीव है। जीव स्वरूपतः निर्मल ज्ञानानन्दस्वरूप और ज्ञानानन्दैकगुण है। उसका ज्ञान भी स्वरूपतः अपरिच्छिन्न है। वह भी ब्रह्म का सूक्ष्मशरीर-स्थानीय होने के कारण ब्रह्म ही है।[1] उसमें भी सत्यसंकल्पता, सत्यकामता आदि के गुण विद्यमान हैं, हां, संसार-दशा में उसकी संकल्पता परम पुरुष परमात्मा की संकल्पता से तिरोहित रहती है, अतः उसके संकल्प में सर्जन की क्षमता नहीं होती।[2] वस्तुतः वह अणु एवं परमात्मा का नियाम्य है। वह एक शेषी सत्ता का शेष है, अंशी का अंश है, विशेष्य का विशेषण है। वह परमात्मा का शरीर स्थानीय है, जिसका सच्चा आत्मा परमेश्वर है। वह कर्म-रूपा अविद्या के प्रभाव में आ जाता है, जिससे उसका ज्ञान और आनन्द संकुचित हो जाता है।[3] वह कर्म-चक्र में पड़कर नाना योनियों में सुख-दुःखों का भोग करता है, अनेक प्रकार के शरीर पाता है। सांसारिक दुःखों का एक ही कारण है—कर्म-रूपा अविद्या के फलस्वरूप पाये हुए शरीरों में आत्माभिमान। कर्म एवं ज्ञान से संवलित भक्ति[4] द्वारा प्राप्त भगवत्कृपा से उसकी अविद्या का नाश हो जाता है, और वह अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कर लेता है। उसकी वास्तविक स्थिति है एक शेषी का शेष होना। अपनी इस स्थिति के ज्ञान के साथ वह अपने शेषी के प्रति कैंकर्य की अनुभूति करता हुआ उसके आनन्द से आनन्दित होता है। उसका अपना ज्ञानानन्द स्वरूपतः अपरिच्छिन्न होते हुए भी निरतिशय नहीं होता, अविद्या से प्रभावित हो सकता है। वह स्वरूपतः अविकारी है, किन्तु उसके धर्म ज्ञानानन्द संकोच-विकास के परिणामों को प्राप्त हो सकते हैं, होते हैं। मुक्त होकर वह यदि केवल अपने स्वरूप ज्ञान में अवस्थित हो गया तो 'केवली' होकर अपने स्वरूपानन्द का अनुभव करता है, यदि परमा प्रीति के माध्यम से भगवान् की कृपा से उनके परिकर में सम्मिलित हो सका तो 'नित्य-मुक्त' होकर भगवान् वासुदेव के निरतिशय आनन्द की अनुभूति करता है।[5] पर प्रत्येक दशा में वह रहता परम सत्ता का एक प्रकार या विशेषण ही है। इस प्रकारात्मकता के रूप में ही, अपनी पारमार्थिक स्थिति में भी, उसका ब्रह्म से स्वरूप-भेद बना रहता है। हां, यह स्वरूपभेद भी, होता अद्वैत की परिधि में ही है, अद्वैत विशिष्टता के रूप में होता है। इस 'स्वरूपभेद' को रामानुज ने स्वसंवेद्य और वाणी का अगोचर कहा है। अविद्या-मुक्त जीव शेष या विशेषण के रूप में अपने इस स्वरूप-भेद को अनुभव करता है। और, इस स्वरूप-भेद के कारण ही समस्त जीव एक-दूसरे से भी भिन्न होते हैं :

"जीवात्मस्वरूपं देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाभेदरहितं ज्ञानानन्दैकगुणम्।

---

१. "जीवात्मा तु ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वात् ब्रह्मात्मकः"। वेदार्थसंग्रह, पृ० ४।

२. "जीवस्य सत्यसंकल्पत्वं स्वाभाविकमपि संसारदशायां परमपुरुषसंकल्पात् तिरोहितमिति न जीवस्य सत्यसंकल्पमात्रेण। स्रष्टृत्वमुपपद्यते।" श्रीवेदान्तदीप, ३।२।३१५ : पृ० ७५।

३. वेदार्थसंग्रह, पृ० ११।

४. ·····परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगमवतारयामास।" गीताभाष्य : अवतरिणका, पृ० १।

५. इंडियन फिलास्फी : डा० राधाकृष्णन्, पृ० ६९५, ७।

तस्यैतस्य कर्मकृतदेवादिभेदेऽपध्वस्ते स्वरूपभेदो वाचामगोचरः स्वसंवेद्यः, ज्ञानस्वरूपमित्येतावदेव निर्देश्यम् । तच्च सर्वेषामात्मनां समानम् ।"[1]

'रस' की उपलब्धि का साधन एवं प्रक्रिया

निरतिशय निरवधिक परमानन्द की अनुभूति जीव को भक्ति के द्वारा ही सम्भव है । रामानुज के अनुसार 'परमा भक्ति' ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा जीव इस परम रस-तत्त्व का आस्वादन कर सकता है ।[2] भगवान् भक्त को निरतिशय एवं अत्यर्थ प्रिय होने चाहिए, तभी भक्त भी भगवान् को अत्यर्थ प्रिय होगा । जहाँ उसका 'रस' भक्ति-प्राप्य है वहाँ दूसरी ओर उसकी कृपा भी अनिवार्यतः अपेक्षित है । उपनिषद् में भी कहा गया है—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।" इस परम तत्त्व को वही पाता है जिसका यह स्वयं वरण करता है । रामानुज की व्याख्या है कि प्रियतम ही वरणीय होता है । अतः परमात्मा अपने प्रियतम का ही वरण करता है, और अपने निरतिशय आनन्द से उसे आनन्दी बनाता है । और, उनका प्रियतम तो वही हो सकता है जिसे भगवान् निरतिशय और अनवधिक रूप से प्रिय हों :

"यमेवैष वृणुत इति भगवता वरणीयत्वं प्रतीयते, वरणीयश्च प्रियतमः, यस्य भगवति अनवधिकातिशया प्रीतिर्जायते, स एव हि भगवतः प्रियतमः ।"[3]

इसका अर्थ हुआ जीव को ब्रह्मानन्द की उपलब्धि उस ब्रह्म की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, और उसकी कृपा निरतिशया भक्ति से ही मिल सकती है । इस प्रकार रामानुज की इस रसोपलब्धि में भगवान् के प्रति प्रीति ही नहीं, भगवान् की प्रीति भी सम्मिलित है । और इसी भाव की पूर्णता के लिए रामानुज ने भक्त में प्रपत्ति का तत्त्व अनिवार्यतः अपेक्षित माना है ।[4] यह प्रपत्ति या शरणागति की भावना साधना-पथ की ओर उन्मुख होने के लिए, साधना-पथ पर चलने के लिए, और अन्त में साध्य की उपलब्धि के लिए—सभी स्तरों पर अपेक्षित है । साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी जीव को अपनी स्थिति की अनुभूति इस प्रपन्नता के रूप में ही होती है । वह एक शेषी के शेष रूप में अपनी स्थिति पाता है, उसके प्रति कैंकर्य की अनुभूति करता है, और अविरता प्रपत्ति के साथ परम आनन्द का आस्वादन करता है ।[5]

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० १ ।

२. "अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्यैकलभ्यः" वेदार्थसंग्रह, पृ० २३ ।
"तदुपासनं सांगं तत्प्रापकं" । वही, पृ० १९ ।
"परभक्तिरूपापन्नमेव वेदनं तत्त्वतो भगवत्प्राप्तिसाधनम्" । वही, पृ० ४५ ।

३. वेदार्थसंग्रह, पृ० ४५ । "परमपुरुषः स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुखरसन् परस्यापि सुखं भवति, सुखरूपत्वाविशेषात् ।" वही, पृ० ४४ ।

४. शरणागतिगद्य, पृ० १७३-१७८ ।
"अशेषावस्थोचिताशेषतैकरूपनित्यकैंकर्यप्राप्त्यपेक्षया पारमार्थिकी भगवच्चरणारविन्दशरणागतिर्यथावस्थिता अविरताऽस्तु मे ।" वही, पृ० १७३ ।
"परमपुरुषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य" । वेदार्थसंग्रह, पृ० २३ ।
"एतेषां संसारमोचनं भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते ।" वही, पृ० १९ ।

५. शरणागतिगद्य, पृ० १७३ ।

रामानुज की भक्ति ज्ञानरूपा है, मात्र प्रीति नहीं, उन्होंने इस तथ्य का स्थल-स्थल पर प्रतिपादन किया है।[1] परन्तु वह सामान्यतः बौद्ध-ज्ञान नहीं, ज्ञान-विशेष है।[2] केवल बौद्ध ज्ञान मेधा की क्रिया है, उसमें अनुराग का योग होने पर जो ज्ञान का विशेष रूप बनता है वही भक्ति है :

"भक्तिरूपापन्नोनुध्यानेनैव लभ्यते, न केवलवेदनमात्रेण, न मेधयेति निषिद्धत्वात्। यदा तस्य तस्मिन्नेवानुध्याने निरवधिकातिशया प्रीतिर्जायते तदैव तेन लभ्यते परः पुरुषः।[3]

इस प्रकार रामानुज की भक्ति में दो अंश हैं—एक है वेदन का, दूसरा है प्रीति का। और, वे इस प्रीति को भी ज्ञान का ही एक विशेष रूप मानते हैं :

"भक्तिशब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव।"[3]

अपने बौद्ध पक्ष में भक्ति ध्यान-रूपा है। यह ध्यान अनन्त कल्याण गुणों एवं दिव्य रूप से विशिष्ट भगवान् की दर्शन-समानाकारा भावना है। यह क्षणिक नहीं, निरन्तर गिरती हुई तैल-धारा के समान चलने वाली अविच्छिन्न स्मृति-संतति है :

"ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्।"[4]

इसी निरन्तरता तथा साक्षात्कारात्मिकता के आधार पर रामानुज ने[5] इसे केवल 'ध्यान' या 'स्मृति' न कहकर 'अनुध्यान', 'अनुस्मृति' या 'ध्रुवा-स्मृति' कहा है।

'ज्ञान-पक्ष' में भक्ति जीव की अपनी स्थिति और स्वभाव तथा परमात्मा की स्थिति और स्वभाव की वास्तविकता की चेतना है। जीव स्वरूपतः प्रकृति के विकारों से परे ज्ञानानन्दैकगुण है। परमात्मा अनन्त कल्याण गुणों से विशिष्ट एवं दिव्य रूप वाला है। जीव और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध शेष और शेषी का है। स्वभावतः जीव नियाम्य है, परमात्मा नियन्ता। इस स्थिति का वास्तविक परिज्ञान रामानुज की भक्ति के ज्ञान-पक्ष में अपेक्षित है।[6] यह वेदन का अंश है।

रामानुज का परम तत्त्व दिव्य-गुण-विशिष्ट ही नहीं, दिव्य-रूप तथा दिव्याकार भी है, यह हम पीछे जान चुके हैं। अतः उनकी भक्ति के ज्ञान पक्ष में ही सम्मिलित 'ध्यान' दर्शनात्मक है। 'ध्यान' अविच्छिन्न स्मृति-सन्तान रूप है, और 'स्मृति' दर्शनरूप। दर्शन में दृश्य वस्तु की प्रत्यक्षात्मक अनुभूति होती है। स्मृति में उसी की बिम्बात्मक उपस्थिति मनः-पटल पर होती है। भक्त की भावना की परिपक्वता से आराध्य की दर्शन-रूपता इस स्मृति में

---

१. "शेमुषी भक्तिरूपा"। श्रीभाष्य : वन्दनाश्लोक, पृ० ४९।
"भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनस्वेतस्वैतृष्ण्यावहज्ञानविशेष एव"। वेदार्थसंग्रह, पृ० २३।
"भक्तिश्च ज्ञानविशेष एवेति सर्वमुपपन्नम्।" वही, पृ० ४५।

२. वेदार्थसंग्रह, पृ० २३।

३. वही, पृ० ४४।

४. श्रीभाष्य, पृ० ५३।

५. "भक्तिरूपापन्नानुध्यानेनैव लभ्यते"। वेदार्थसंग्रह, पृ० २३।
"विशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्येकलभ्यः"। वही, पृ० २३।
"एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।" श्रीभाष्य, पृ० ५३।

६. देहातिरिक्तात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदन्तर्यामि-परमात्मस्वरूप-तत्स्वभाव·····" वेदार्थसंग्रह, पृ० १।
"जीवात्मस्वरूपं देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपनानाविधभेदरहितं ज्ञानानन्दैकगुणम्।" वही, पृ० १।

सम्भव हो जाती है। इसलिए ठीक शब्दों में स्मृति दर्शन-रूप न होकर 'दर्शनसमानाकार' होती है। इस दर्शनसमानाकारा स्मृति में आत्म और परमात्म के स्वरूप और स्वभाव की चेतना के साथ अविच्छिन्नता एवं ध्रुवता होती है, अतः यह 'अनुस्मृति' या 'ध्रुवा स्मृति' है।[1] इसी दर्शनसमानाकारता के रूप में भक्त को भगवान् का ध्यान में सामीप्यलाभ होता है। इसी उप-आसन के आधार पर इस अनुस्मृति को 'उपासना' भी कहा गया है।[2]

इस प्रकार के गहरे अनुध्यान की स्थिति में भी साधक भक्त और साध्य भगवान् के बीच अद्वैत स्थापित नहीं होता। वस्तुतः भक्त में अपनी और परमात्मा की स्वरूप और स्वभाव की पार्थक्य चेतना बनी ही रहती है। अपनी स्थिति के ठीक परिज्ञानपूर्वक इस पार्थक्य-ज्ञान को रामानुज आवश्यक समझते हैं :

"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीति आत्मानं प्रेरितारं चान्तर्यामिणं पृथक् मत्वा, ततः पृथक्त्वज्ञानाद्धेतोः, तेन परमात्मना जुष्टः अमृतत्वमेतीति साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनमात्मनो नियन्तुश्च पृथग्भावज्ञानमित्यवगम्यते।"[3]

रामानुज की इस भक्ति में जब पार्थक्य-ज्ञान के साथ प्रीति-सम्बन्ध की स्थापना है तो यह स्वाभाविक है कि आराध्य से किसी प्रकार का व्यक्तिगत सम्बन्ध भी जुड़ जाय। भक्ति कितनी ही ज्ञान-रूपा क्यों न हो, वह अन्ततः एक व्यक्तिगत अनुभूति ही है। रामानुज की भक्ति में आराध्य की गहरी महत्त्व-प्रतिष्ठा है। उस आराध्य के साथ स्वामित्व का, सुहृत्त्व का, गुरुत्व का कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।[4] पर रामानुज में सर्वत्र आराध्य की महत्त्व-स्वीकृति परिव्याप्त है। इसी कारण उनकी भक्ति-भावना में सेवक-सेव्य-भाव पर भारी बल है।[5] उनके भक्त की एक ही कामना है, उस आराध्य की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सेवा।[6] यह सेवा किसी अन्य कामना-पूर्ति के हेतु नहीं, स्वयं अपने में ही फल है, अपने में ही 'रस' है।[7] 'नित्य-दास्य' और 'नित्य-कैंकर्य' रामानुज की भक्तिभावना में अनिवार्यतः अपेक्षित है।[8] इसी लिए उनकी भक्ति न केवल ज्ञान-रूपा है, न केवल ध्यान-रूपा, न मात्र प्रेम-लक्षणा; वह 'सेवा' भी है।[9] प्रेम, ज्ञान, ध्यान, दर्शन, उपासना, सेवा और वैध कर्मकाण्ड का अनूठा घोल रामानुज की भक्ति-चेतना में परिलक्षित होता है :

---

१. "ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम्", "सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता", "दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः", "भवति च स्मृतेर्भावनापकर्षाद् दर्शनरूपता।", "सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा।" श्रीभाष्य, पृ० ५३।

२. "उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च, इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्।" वही, पृ० ५३।

३. वेदार्थसंग्रह, पृ० २१।

४. "स्वामित्वेन सुहृत्त्वेन, गुरुत्वेन च परिगृह्य।" श्रीवैकुण्ठगद्य, पृ० १७८।

५. "नारायण ध्यानयोगेन दृष्ट्वा ततो भगवतो नित्यस्वास्थ्यं, आत्मनो नित्यदास्यं च यथावस्थितमनुसन्धाय।" वही, पृ० १८०।
"पुनरपि शेषभावमेव याचमानः।" वही, पृ० १८०।

६. "माम् ऐकान्तिकात्यन्तिकपरिचर्याकरणाय परिगृहणीष्व—इति याचमानः प्रणम्य आत्मानं भगवते निवेदयेत्।" वही, पृ० १८०।

७. श्रीगीताभाष्य : अध्याय ६ : श्लोक ४७।

८. श्रीरंगगद्य, पृ० १७७।

९. "इयमेव भक्तिरूपा सेवा—वेदनशब्देनाभिधीयत इत्युक्तम्।" वेदार्थसंग्रह, पृ० ४५।

जहां रामानुज ने भक्ति को ज्ञान से मिलाकर देखा है, वहां कर्म को भी नहीं छोड़ा है। उनका भक्ति-योग वस्तुतः ज्ञान-योग और कर्म-योग से अनुगृहीत है।[१] इसीलिए कर्म-समुचित ज्ञान परम लक्ष्य का प्रापक है।[२] फिर भी, जैसे भक्ति अपने में साध्य है, उसी प्रकार कर्म अपने में साध्य नहीं। वह ध्रुवानुस्मृति-रूपा भक्ति का साधन-मात्र है :

"एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेस्साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति"[3]

रामानुज के अनुसार अनादि अविद्या के प्रभाव से किये हुए कर्म भव-बन्धन में डालने वाले हैं। फल-कामना से किये हुए भोग-लालसा से प्रेरित कर्मों का अनादि चक्र ही रामानुज की अविद्या है। ये कर्म पुण्य हों चाहे पाप। उभय प्रकार के कर्म होते ज्ञान-विरोधी ही हैं। ये रजस् और तमस् को बढ़ाने वाले होते हैं। जीव इनसे सुख और दुःख परिणाम रूप में पाता है, और इन्हीं की ओर आकृष्ट होता है। भव की ओर उन्मुख करने वाले उभय-विध कर्म ज्ञानी के लिए पाप-रूप ही हैं। ज्ञान के उदय के लिए इन उभय-विध कर्मों को छोड़ना अपेक्षित है। इनके छोड़ने का अर्थ है इनके प्रति फलासक्ति का त्याग। फलानुसन्धान को छोड़कर किये कर्तव्य कर्म सत्त्व को बढ़ाते हैं और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अतः रामानुज ज्ञानोदय के लिए तथा भक्ति-पथ की ओर उन्मुख होने के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार वैध कर्तव्य कर्मों का किया जाना अनिवार्यतः अपेक्षित मानते हैं।[४]

कर्म का वास्तविक उपयोग अविद्या-प्रवाह से उभरे रजस्-तमस् को शान्त कर सत्त्व का उद्रेक करने में है। कर्म स्वयं ज्ञान नहीं देता, पर 'विविदिषा' ज्ञान की इच्छा और क्षमता पैदा करता है। पर विविदिषा हो जाने पर और ज्ञान तथा भक्ति मार्ग पर बढ़ जाने पर भी रामानुज कर्मकाण्ड को यावज्जीवन उपादेय मानते हैं। यद्यपि सीधा कारण तो मुक्ति के लिए कर्म नहीं, तथापि ज्ञान-दीप को जागरित रखने के लिए वह प्रयाण-पर्यन्त अपेक्षित है।[५] इसी प्रकार विवेकादि भी अपेक्षित हैं।[६]

रामानुज की भक्ति के अंगभूत कर्म-काण्ड में श्रौत और स्मार्त दोनों प्रकार के कर्मों का बंधान है। एक ओर मीमांसा-प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा है, स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था के अनुसार कर्म अपेक्षित हैं; साथ ही दूसरी ओर पूजा-पाठ, छापा-तिलक, आचमन-तर्पण, गन्ध-पुष्प, आवहन-अभ्यर्चन आदि का साडम्बर मंडान भी है।[७] रामानुज के भक्त को ध्यान, अर्चन, प्रणाम, स्तुति, कीर्तन आदि कर्म अत्यर्थ

---

१. "परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगमवतारयामास।" श्रीगीताभाष्य : अवतरणिका, पृ० १।

२. "तदपेक्षितम् च कर्मविज्ञानमेव, , कर्मसमुच्चितात् ज्ञानादपवर्गश्रुतेः।" श्रीभाष्य, पृ० ५१।

३. श्रीभाष्य, पृ० ५३।

४. "ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वेन अनिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम्। अस्य च ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविवृद्धिद्वारेण। अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्। तन्निरसनं च अनभिलषितफलेनानुष्ठितेन कर्मणा। तदेवं ब्रह्मप्राप्तिसाधनं ज्ञानं सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्।" श्रीभाष्य, पृ० ५४।

५. "एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेस्साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति.....सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि।" वही, पृ० ५३-५४।

६. "तल्लब्धिर्विवेकाभ्यास-क्रिया-कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यस्सम्भवात्।" वही, पृ० ५४।

७. नित्यग्रन्थ, पृ० १८१-१८८।

प्रिय हैं, उतने ही प्रिय हैं जितना स्वयं आराध्य प्रिय है। वह इनमें लीन होकर उतना ही आनन्द अनुभव करता है जितना प्रिय के सामीप्य लाभ में करता है। उसका यह सब कर्म-जाल 'अनन्ययोग' है :

"ये तु लौकिकानि देहयात्राशेषभूतानि देहधारणार्थानि चाशनादीनि कर्माणि, वैदिकानि च यागहोमतपःप्रभृतीनि सर्वाणि सकारणानि सोद्देश्यानि अध्यात्मचेतसा मयि संन्यस्य, मत्परा:—मदेकप्राप्याः, अनन्येनैव योगेन—अनन्यप्रयोजनेन योगेन, मां ध्यायन्त उपासते-ध्यानार्चनप्रणाम-स्तुतिकीर्तनादीनि स्वयमेवात्यर्थप्रियाणि प्राप्यसमानि कुर्वन्तो मामुपासत इत्यर्थः।"[1]

अनादि अविद्या के फलस्वरूप भोगोन्मुख जीव में अपने शरीर और उसके द्वारा मिलने वाले सुख-दुःखों में आत्माभिमान होता है। इस भक्ति-गामी ज्ञानोद्बोधक कर्म-काण्ड से उसका यह आत्माभिमान छूटता है, और उसे अपने स्वरूप तथा स्वभाव और परमात्मा के स्वरूप तथा स्वभाव का ठीक-ठीक परिज्ञान होने का मार्ग खुल जाता है। वह अपने को एक शेषी सत्ता का शेष अनुभव करता है, उस शेषी सत्ता के प्रति गहरी अनुराग भावना का अनुभव करता है। ध्यान-योग से उसका साक्षात्कार करता है। उसे अपना आराध्य ही परम-प्रिय होता है, निरवधिक अनतिशय चरम सीमा तक प्रिय। तब वह करुणासागर प्रेम-मय प्रभु भी उस पर स्नेह-वर्षा करता है। वह स्वयं आनन्दमय, 'रस-रूप' है, अपने आराधक भक्त को भी आनन्दमय बना देता है।

संक्षेप में रामानुज के अनुसार उनके दर्शन द्वारा प्रतिपादित रस-तत्त्व की उपलब्धि 'परम-भक्ति' द्वारा होती है। परम-भक्ति ही एकमात्र उसकी प्राप्ति का उपाय है। किन्तु उनकी भक्ति केवल प्रेम-लक्षणा नहीं है, वह ज्ञान-रूपा है। वह ज्ञान, प्रीति, ध्यान, दर्शन, उपासना, सेवा, कर्मकाण्ड, पूजा, वर्णाश्रम-धर्म, विवेक-वैराग्य सबकी चेतनाएं लिए हुए है। एक शब्द में कर्मयोग और ज्ञानयोग से अनुगृहीत भक्तियोग है। रामानुज की व्याख्याओं के अनुसार समस्त वेदान्त-वाक्य और गीतादि इसी का प्रतिपादन करते हैं।[2]

रसास्वादनकालीन अनुभूति

रामानुज के अनुसार श्रेष्ठ भक्तों की प्राप्य उपर्युक्त रसानुभूति में विशुद्ध सत्त्व का उदय होता है। उनकी चेतना मात्र शुद्ध सत्त्व की होती है। उनका अपना स्वरूपात्मक ज्ञानानन्द तो आविर्भूत होता ही है, परमात्मा का निरवधिक अनतिशय ज्ञानानन्द भी उनका आस्वाद्य होता है। इन क्षणों का अनुभव एक वाक्य में एक शेषी सत्ता के प्रति अशेषतः शेषता की अनुभूति है। अपने नित्य कैंकर्य के साथ अशेष-शेषता की अनुभूति ही उसके लिए चरम रस है—वह 'स्वशेषतैकरस' होता है। यह अशेषशेषता नित्य कैंकर्य या चरम दास्य की अनुभूति ही है, जिसमें अपनी नियाम्यता तथा शेषी की नियन्तृता का परिज्ञान

---

१. श्रीगीताभाष्य : अ० १२ : श्लो० ६-७, पृ० ११०।

२. "अस्य जीवात्मनोऽनाद्यविद्यासंचितपुण्यपापरूपकर्मप्रवाहहेतुकब्रह्मादिसुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकचतुर्विधदेह-प्रवेशकृततत्तदाभिमानजनितावर्जनीय भवभयविध्वंसनाय देहातिरिक्तात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदन्तर्यामि-परमात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदुपासन-तत्फलभूतात्मस्वरूपाविर्भावपूर्वकानवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवज्ञापने प्रवृत्तं हि वेदान्तवाक्यजातम्।" वेदार्थसंग्रह।

सम्मिलित है।[1]

इस रस-तत्त्व की अनुभूति के विषय में रामानुज की मान्यताओं के अनुसार निम्न पक्ष इस प्रकार स्पष्ट होते हैं :

१. **आश्रय** : इस आध्यात्मिक रस-तत्त्व की अनुभूति का आश्रय भक्त जीव है। फलानुसन्धान के परित्याग के साथ किये हुए वैध कर्मों तथा अर्चन-पूजन आदि भक्ति-मार्गी कर्मानुष्ठानों से इसके रजस् तमस् समाप्त हो चुकते हैं, तथा सत्त्व का उद्रेक हो जाता है। यह सत्त्वोद्रेक यथार्थ ज्ञान की भूमिका है, जिसमें जीव अपने स्वरूप और स्वभाव को ही नहीं, परमात्मा के स्वरूप और स्वभाव को भी ठीक रूप में जान लेता है। साथ ही अपना उस परमात्मा के साथ ठीक सम्बन्ध भी पहिचान लेता है।

२. **आलम्बन** : आश्रय भक्त की अनुभूति का आलम्बन अनन्त कल्याण गुणों का आकर, दिव्य सौन्दर्यशाली, करुणामय भक्त-वत्सल भगवान् है। वह चिदचिद्-विशिष्ट पर-ब्रह्म है। वह ज्ञानानन्द-स्वरूप, आनन्दमय, अन्तर्यामी है। जीव उसी का अंश या शेष है, वह पूर्ण शेषी सत्ता है। वह अनन्त शक्ति, अनन्त शील एवं अनन्त सौन्दर्य का आकर है। आश्रय भक्त भावना-प्रकर्ष से उसे ही अपना ध्यान-गम्य बनाता है। भक्त को भावना-बल से उसकी दर्शन-समाकारा ध्रुवानुस्मृति-रूपा अनुभूति होती है। कहना चाहिए, भक्त के शुद्ध सत्त्वात्मक चित्त में उस दिव्य गुण-रूप विशिष्ट लीलामय की मूर्ति प्रतिष्ठित होती है। रामानुज ने इस आलम्बन के अनुध्यानात्मक अनुभव से भक्त के हृदय में प्रीति का उदय माना है। सच्ची दास्य-रति आलम्बन की पूर्णानुभूति से ही उद्बुध कही गयी है।[2]

इस लीलामय प्रभु के अनन्त गुणों का अनुस्मरण, दिव्य सौन्दर्य की भावना, अनन्त लीलाओं का अनुचिन्तन भक्त की रति के लिए उद्दीपन हो सकते हैं।

३. **स्थायी भाव** : रामानुज की भक्ति-भावना सेवक-सेव्य भाव की है। इसमें आलम्बन के महत्त्व की गहरी चेतना है। नित्य कैंकर्य या नित्य दास्य को ही रामानुज ने आश्रय भक्त का मूल भाव निर्धारित किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अशेष-शेषता और नित्य कैंकर्य को 'रति-रूप' कहा है। कहना चाहिए, उन्होंने प्रीति या रति के दास्यात्मक स्वरूप को ही भक्ति का मूल भाव निर्धारित किया है।[3] इस दास्य-रति के प्रीति-रूप होने के कारण, तथा प्रीति के ज्ञान-विशेष के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण इस रति में आलम्बन का महत्त्व, अपना शेषत्व, प्रपत्ति और अनुराग स्वतः सम्मिलित हैं। इस प्रकार रामानुज के प्रतिपाद्य आध्यात्मिक रस-तत्त्व की अनुभूति में स्थायी भाव है 'दास्य रति'।

४. **निष्पत्ति** : रामानुज के अनुसार यह शेषतामयी दास्य-रति प्रीति का एक विशेष

---

१. "स्वात्मनित्यनियाम्यनित्यदास्यैकरसात्मस्वभावानुसन्धानपूर्वक-भगवदनवधिकातिशयस्वाम्याद्यखिलगुणगणानुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकैंकर्यप्राप्त्युपाय भूतभक्ति-तदुपायसम्यग्ज्ञान-तदुपायसमीचीनक्रिया-तदनुगुणसात्विकतास्तिक्यादिसमस्तगुण···।" श्री रंगगद्य, पृ० १७७।

"तवानुभूतिसंभूतप्रीतिकारितदासताम्।" वही, पृ० १७६।

२. "तवानुभूतिसंभूतप्रीतिकारितदासताम्। देहि मे कृपया नाथ, न जाने गतिमन्यथा॥"

श्रीरंगगद्य, पृ० १७७।

३. "तदनुभवजनितानवधिकातिशयप्रीतिकारिताशेषावस्थोचिताशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकिंकरो भवानि।" वही, पृ० १७७।

"···अशेषशेषतैकरतिरूपनित्यकैंकर्यप्राप्त्यपेक्षया·····।" शरणागतिगद्य, पृ० १७३।

रूप है। प्रीति को उन्होंने ज्ञान-विशेष कहा है, हम यह भी देख चुके हैं।[1] रामानुज का यह स्पष्ट मत है कि ज्ञान संविन्मात्र नहीं, विषय-सापेक्ष अनुभव है।[2] अतः इस प्रीति-रूप ज्ञान-विशेष में आनन्दमय परम पुरुष ही विषय के रूप में उपस्थित होता है। दास्य-रति का यह आलम्बन आनन्द-धर्मी है। रामानुज की यह मान्यता है कि आनन्द किसी ज्ञान-विशेष का परवर्ती फल नहीं, अपितु किसी आनन्द-धर्मी विषय का ज्ञानात्मक अनुभव ही है।[3] अतः इस रत्यात्मक ज्ञान में आलम्बनात्मक विषय के धर्म की अनुभूति आश्रय को होती है।

यह रसानुभूति रजस्-तमस् के तिरोभाव के साथ सत्त्वोद्रेक की भूमिका है। यद्यपि इस भूमिका में ज्ञान-पक्ष में शेषी और शेष के बीच के पार्थक्य की चेतना अपेक्षित कही गयी है, तथापि यह पार्थक्य-चेतना दूर की नहीं होती। इधर आश्रय की रति को भी ज्ञान-विशेष कहा गया है, दूसरी ओर आनन्दमय विषय के ज्ञान को ही आनन्द कहा गया है। इस प्रकार दास्य-रति भक्त की वह ज्ञान-भूमिका है जिसमें विषय-रूप से आनन्दमय परब्रह्म का दर्शनात्मक अनुभव है, और विषयी रूप से परम प्रीति में लीन विशुद्ध भक्त।

रामानुज के इस दृष्टिकोण में एक कठिनाई सामने आती है। वे आनन्द को विषय-पक्ष में रखते हैं, अर्थात् परम पुरुष का धर्म-विशेष मानते हैं, जो कि इस अनुभूति में भक्त का विषय ही है। दूसरी ओर वे ज्ञान और आनन्द में एकाकारता भी स्थापित करते हैं। वे आनन्दात्मक विषय के ज्ञान को ही 'आनन्द' कहते हैं। सामान्यतः इस कठिनाई को अलग रखते हुए कहा जा सकता है कि भक्त की अनुभूति में आनन्दमय प्रभु की अनुस्मृति से अनवधिक एवं स्थिर आनन्द का समुद्भव होता है।

इस प्रकार रजस्-तमस् के तिरोधान के अनन्तर भक्त की सत्त्वोद्रेकी चेतना में आनन्द-धर्मी विषय की साक्षात्कारात्मिका प्रत्युपस्थिति के प्रति गहरी रत्यात्मक अनुभूति ही रामानुज की सम्मत रस-निष्पत्ति है।

मध्व-दर्शन एवं रस

द्वैतवाद

आचार्य मध्व भेदवाद या द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक हैं। यों द्वैतवाद के सूत्र पुराने हैं, किन्तु शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में व्यवस्थित रूप से द्वैतवाद को साग्रह उपस्थित करने का कार्य मध्व द्वारा हुआ।[4]

मध्व रामानुज की अनेक मान्यताओं को स्वीकार कर लेते हैं, तथापि वह भेद, भेदाभेद

---

१. वेदार्थसंग्रह, पृ० ४४।

२. "एवंविधसुखरूपज्ञानस्य विशेषकत्वम् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुतः सातिशयमस्थिरं च, ब्रह्मणस्तु अनवधिकातिशयं स्थिरं चेति आनन्दो ब्रह्ममेत्युच्यते। विषयायत्तत्वाद् ज्ञानस्य। सुखरूपतया ब्रह्म एव सुखम्।" वही, पृ० ४४।

३. "परमपुरुषः स्वयमनवधिकातिशयसुखस्सन् परस्यापि सुखं भवति, सुखरूपत्वाविशेषात्। ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति स सुखी भवति।" वही, पृ० ४४।
"येन च विषयविशेषेण विशेषितं ज्ञानं सुखस्य जनकमित्यभिमतं तद्विषयज्ञानमेव सुखम्, तदतिरेकि पदार्थान्तरं नोपलभ्यते। तेनैव सुखित्वव्यवहारोपपत्तेश्च।" वही, पृ० ४४।

४. डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन् फिलासफी : भाग १, पृ० ७३८।

और अभेद—तीनों को समेटने वाली रामानुज की प्रक्रिया से समझौता नहीं कर पाते। वे स्पष्टतः 'भेदवाद' के समर्थक हैं।[1]

मध्व के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों में तात्विक भेद है। वे 'भेद' को पाँच रूपों में स्वीकार करते हैं[2] :

१. ब्रह्म और जीवों में भेद।
२. ब्रह्म और जड़ में भेद।
३. जीवों में परस्पर भेद।
४. जीवों और जड़ में भेद।
५. जड़ों में परस्पर भेद।

ये सभी भेद वास्तविक हैं, अतः जीव मुक्त दशा में भी ब्रह्म तथा अन्य जीवों से भिन्न ही रहते हैं।

यह प्रपंचात्मक पंचविध भेद मिथ्या नहीं। इसे जो मायामात्र कहा गया है, वह भी ठीक है। 'मायामात्र' की व्याख्या मध्व की अपनी है। माया उनके अनुसार ईश्वरी इच्छा ही है। 'मा' मान या परिज्ञान का द्योतक है, 'त्र' त्राण का। अतः ईश्वरीय इच्छा माया के द्वारा परिज्ञात एवं परित्रात होने के कारण यह प्रपंच सत्य है।[3]

मध्व ने समस्त तत्त्वों को दो वर्गों में बांटा है—स्वतन्त्र और परतन्त्र। परब्रह्म भगवान् विष्णु स्वतन्त्र हैं, जीव और प्रकृति-काल आदि परतन्त्र।[4]

परम तत्त्व विष्णु या वासुदेव स्वतन्त्र, समस्त दोषों से रहित, अखिल गुणों का आकर, एवं नियामक है। वही 'आनन्दमय' है, वेद का प्रतिपाद्य है। वह जीवों का सेव्य एवं प्राप्य है। उसी के प्रसाद से जीव उसको प्राप्त होकर आनन्द पाते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि, वायु आदि जितने भी नाम हैं, मध्व के अनुसार सभी विष्णु के वाचक हैं। वे इस सम्बन्ध में भाल्लवेय श्रुति के इस वचन के अनुयायी हैं—"नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति तं वैं विष्णुं परममुदाहरन्ति।"[5]

ब्रह्म और जीवों के बीच सेव्य-सेवक भाव पर मध्व ने अधिक बल दिया है। यह बात भी भेद की प्रतिष्ठापिका है। जीव को उसकी प्राप्ति बिना उसके अनुग्रह या प्रसाद की प्राप्ति के नहीं हो सकती। भगवत्प्राप्ति में एकमात्र कारण उनकी कृपा को स्वीकार करके भी वह प्रसाद-प्राप्ति को अहैतुकी नहीं मानते। कर्म से, श्रवणादि से, तथा ज्ञान से भगवत्प्रसाद उपलब्ध हो सकता है। पहले का स्थान अवर, दूसरे का मध्यम, तीसरे का उत्तम है। श्रवण,

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह : पूर्णप्रज्ञदर्शनम्, पृ० १२८।
२. "जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदो यः प्रपंचो भेदपंचकः॥" सर्वदर्शनसंग्रह : पू० प्र० द०, पृ० १४२।
३. "न चायमविद्यमानः, मायामात्रत्वात्। मायेति भगवदिच्छोच्यते।.....। सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञातत्वाद्रवितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम्।" स० द० सं० : पू० प्र० द०, पृ० १४०-१।
४. "स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः॥" वही, पृ० १२८।
५. "ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव.....। इत्यादि।" वेदा० सू० भा० : १।१।१।

मनन, ध्यान तथा भक्ति ज्ञानप्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।[1] इस प्रकार भक्ति, श्रवणादि, सेवा[2] ज्ञान के साधन हैं। यह ज्ञान भगवान् के गुणोत्कर्ष का ज्ञान है।[3] अद्वैत या अभेद का ज्ञान नहीं। अभेद की कल्पना को तो मध्व अपराध-कोटि में रखते हैं।[4]

"घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनः।
ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम्॥"

साधन, भक्ति और ज्ञान के सोपानों से जीव भगवत्प्रसाद को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, और भगवान् का सालोक्यादि प्राप्त करता है। मुक्ति में भी वह तत्त्वतः तो परमेश्वर से भिन्न ही रहता है। इस प्रकार मध्व तात्विक भेदवाद का प्रतिपादन करते हैं।

'आनन्द'

'आनन्द मध्व के अनुसार परब्रह्म विष्णु का 'गुण' है, स्वरूप नहीं। ज्ञान और आनन्द दोनों ही गुण-रूप में स्वीकार किये गये हैं।[5] आनन्दमय विष्णु को ही कहा गया है। उसमें आनन्द की भूमता या प्रचुरता है, जिसका वाचक 'मयट्' प्रत्यय है।[6] यों तो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि उपनिषद्-शब्दों में ब्रह्म को आनन्दमय के अवयव-रूप में दिखाया गया है, किन्तु वह बात उस प्रसंग में विशेष रूपक की दृष्टि से कही गयी है।[7]

मुक्त जीव भगवत्प्रसाद से उनके सालोक्यादि को पाकर 'आनन्दी' होते हैं, ब्रह्म-भोग्य गुणों का अनुभव करते हैं।[8] किन्तु मुक्तों के आनन्द-भोग में भी मध्व तारतम्य और भेद स्वीकार करते हैं।[9] इसका कारण यही है कि वे जीवों की मुक्त दशा में भी परस्पर भेद एवं ब्रह्म-जीव भेद की चेतना स्वीकार करके चलते हैं।

'रस'

मध्व ने 'रसो वै सः' श्रुति वाक्य में रस-शब्द को ब्रह्म का पर्यायवाची न मानकर

---

१. "नारायणप्रसादमृते न मोक्षः, न च ज्ञानं विनात्यर्थप्रसादः" "श्रवणं मननं चैव ध्यानं भक्तिरतथैव च। साधनं ज्ञानसम्पत्तौ प्रधानं नान्यदिष्यते।" भाष्य : १।१।१।

२. "सा च सेवा अंकननामकरण भजनभेदात्त्रिविधा।" स० द० सं०, पृ० १३७।

३. "प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव, नाभेदज्ञानादित्युक्तम्।" स० द० सं०, पृ० १४४।

४. वही, पृ० १३६।

५. "ज्ञानानन्दादिभिः सर्वैर्गुणैः पूर्णाय विष्णवे।
नमोस्तु गुरवे नित्यं सर्वथातिप्रियाय मे॥" भाष्य : ४।४।२३।

६. "तथापि न ते आनन्दमयशब्देनोच्यन्ते, किन्तु विष्णुरेव।" भा० : १।१।१२।
"प्रचुरानन्दत्वाद् ह्यानन्दमयः, न तु तद्विकारत्वात्।" भा० : १।१।१३।

७. "तच्च "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयावयवरूपं प्रतीयते, न ह्यवयविनं विनावयवमात्रस्य ज्ञेयतेत्याह· आनन्देति।" भा० : १।१।१२।

८. "ये भोगाः परमात्मना भुज्यंते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते।.....। मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्भोगांल्लेशतः क्वचित्। बहिष्ठान् भुंजते नित्यं नानन्दादीन् कथंचन।" भा० : ४।४।४।

९. "सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवारुवण्येन मेवारुवण्यो मेवारुवण्य इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्यः।" स० द० सं०, पृ० १३९।

विशेषण के रूप में स्वीकार किया है। 'सः' विशेष्य है, 'रसः' विशेषण।[1] ब्रह्म के सन्दर्भ में सत्, चित्, आनन्द तीन शब्दों की चर्चा चला करती है, जिनमें प्रायः 'रस' शब्द को 'आनन्द' का पर्यायवाची प्रतिपादित किया गया है। किन्तु मध्व ने उसे 'चित्' के पर्याय के रूप में दिखाया है :

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इति रसशब्देन विशेषणात् तत्सारभूतं चिन्मात्रमेवोच्यते।"[2]

जीव की आनन्दोपलब्धि

स्वरूपतः जीव को मध्व ने बल, आनन्द, ज्ञान, ओज आदि धर्मों से मुक्त माना है। वे इस सम्बन्ध में गौपवन श्रुति की मान्यता स्वीकार करते हैं :

"बलमानन्द ओजश्च समज्ञानमनाकुलम्।
स्वरूपान्येव जीवस्य व्यज्यते परमाद् विभोः॥"[3]

परमात्मा का आनन्द प्रचुर, असीम एवं नित्य है। किन्तु जीव का बद्ध दशा में तिरोहित हो जाने वाला तथा ससीम है। जीव के इस निजानन्द की अभिव्यक्ति भगवत्सानिध्य से मुक्ति-दशा में होती है। "व्यज्यते परमाद् विभोः।" बद्ध दशा में वह दुःखी होता है, अज्ञानी होता है, अबल होता है। मुक्त दशा में परमात्म-सम्पर्क से उसके ज्ञान-आनन्दादि धर्म व्यक्त हो जाते हैं :

"जीवस्य ज्ञानानन्दादिरूपत्वमुच्यते। स दुःखाद् विमुक्त आनन्दी भवति, सोऽज्ञानाद् विमुक्तो ज्ञानी भवति, सोऽबलाद् विमुक्तो बली भवति, स नित्यो निरातंकोऽवतिष्ठत इति पैङ्गिश्रुतावानन्दादिरूपत्वं प्रतीयते। अत आह—यथा बालस्य सदेव पुंस्त्वयौवनेऽभिव्यज्यते, एवं सतामेवानन्दादीनां व्यक्त्यपेक्षया तदुक्तिः।"[4]

इसी स्थिति को "रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" ये श्रुति-वचन निरूपित करते हैं। हमने अभी देखा है कि मध्व ने 'रस' को चिदात्मक स्थिति कहा है। यह ज्ञान-दशा है। बद्ध दशा अज्ञान की होती है, जिसमें दुःखादि का अवकाश होता है। पूर्ण चिदात्मक परमेश्वर को जो रस-रूप है 'रसो वै सः' श्रुति जिसकी रस-विशिष्टता बताती है, प्राप्त कर मुक्ति-योगी जीव भी आनन्दी हो जाता है, उसके स्वरूपात्मक आनन्द-ज्ञानादि गुणों या धर्मों की अभिव्यक्ति हो जाती है।

निम्बार्क दर्शन एवं रस

द्वैताद्वैतवाद—निम्बार्क[5] का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के नाम से

---

१. भाष्य : १।१।१६।

२. भाष्य : १।१।१६।

३. मध्वभाष्य : २।३।३१।

४. वही, २।३।३१, तथा डॉ० राधाकृष्णन् : इण्डियन् फिलारफी, पृ० ७४३-४।

५. निम्बार्क का मूल नाम नियमानन्द था। एक निम्ब वृक्ष से आदित्य के दर्शन करा देने से उनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। उनका समय १२वीं शती का उत्तरार्ध है। भण्डारकर ने ११६२ ई० निर्धारित किया है। उनको नारद का शिष्य कहा जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा हंसावतार से

प्रसिद्ध है। ब्रह्म और जीव में तथा ब्रह्म और जगत् में स्वरूपतः भेद भी है, अभेद भी। जीव और जगत् ब्रह्म के ही अंश हैं, ब्रह्म अंशी है। अंशी की सत्ता अंशों से अतिक्रान्त भी होती है। अतः ब्रह्म जीवरूप भी है, जगद्रूप भी, साथ ही इनसे अतिक्रान्त भी। जीवों तथा ब्रह्म में स्वरूपतः भेद है, अंश ही तो अंशी नहीं होता। यह भेद जीव की बद्धावस्था में ही नहीं, मुक्तावस्था में भी बना रहता है। किन्तु कोई भी अंश अंशी से स्वतन्त्र तथा सर्वथा भिन्न नहीं होता। इस प्रकार ब्रह्म जीव-जगत् से भिन्न भी है, अभिन्न भी। संक्षेप में निम्बार्क के भेदाभेद का यही दृष्टिकोण है।

अंशी सत्ता पर एक व्यापक दृष्टि रखकर निम्बार्क अद्वैत का ही प्रतिपादन करते हैं। अंशी का प्रत्येक अंश अंशी से अभिन्न है, अंशी ही है। इसी प्रकार जीव और जगत् भी मूलतः ब्रह्म ही हैं। इन अर्थों में उन्हें जीव-ब्रह्म और जगद्-ब्रह्म भी कह सकते हैं। परम सत्ता को निम्बार्क निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। निर्गुण रूप 'अक्षर' है, सगुण 'ईश्वर'। इस प्रकार उनकी दृष्टि से ब्रह्म को चार रूपों में युगपत् समझा जा सकता है—अक्षर, ईश्वर, जीव और जगत्।

१. अक्षर ब्रह्म : ब्रह्म का मूल पारमार्थिक रूप सत्-चित्-आनन्द है। यह निर्गुण, नित्य आनन्दमयी स्थिति है। यह आनन्द पूर्ण, अनन्त एवं पूर्ण चिदात्मक है। किन्तु इस आनन्द-स्थिति को निर्विशेष, अनुभवमात्र समझना चाहिए।

२. ईश्वर ब्रह्म : इस रूप में ब्रह्म निर्गुण न होकर सगुण है। ईश्वर जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहार का कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, विभु, समस्त अचिन्त्य शक्तियों का आधार एवं विश्वरूप है। इस स्थिति में उसमें अपने ही अंश-रूप नानारूपी जगत् एवं असंख्य जीवों का समष्ट्यात्मक अनुभव समाविष्ट है। वस्तुतः यह लीलार्थ व्यक्त अपने ही चित् और आनन्द के विभिन्न रूपों का पूर्णानुभव है। जगत् ब्रह्म के आनन्द तत्व का नाना-रूपी प्रकाशन है। असंख्य जीव भी उसके चित् के असंख्य अणु रूप अंश हैं। 'ईश्वर' इन सब अनन्त रूपों के समग्रभाव का नित्य आनन्दात्मक अनुभव है।

३. जीव ब्रह्म : असंख्य जीव ब्रह्म की चिदात्मक विभु-सत्ता के ही अणु हैं। वे अग्नि के स्फुलिंग या सूर्य की किरणों के समान हैं। अतः ब्रह्म से अभिन्न ही हैं। इनकी दो अवस्थाएं बद्ध और मुक्त होती हैं। बद्धावस्था में चिदंश विभिन्न मात्राओं में विस्मृत एवं विलुप्त रहता है, अतः उद्भिज्ज स्वेदज, मनुष्य, देवता आदि के रूप में अनेक-रूपी बद्ध जीव दिखाई पड़ते हैं। मुक्त जीवों की सर्वज्ञता पुनः प्रकाशित हो जाती है। इस प्रकार जीवों की विभिन्न स्थितियां चित् या चैतन्य की विभिन्न स्थितियां ही हैं। समस्त जीव भी ब्रह्म ही हैं।

४. जगत् ब्रह्म : जगत् आनन्दात्मक ब्रह्म की नाना-रूपी अभिव्यक्ति ही है। "आनन्दाद्ध्येव इमानि भूतानि जातानि" इत्यादि श्रुतियों पर बल देकर जगत् को निम्बार्क-

---

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और नारद के साथ जोड़ी जाती है। इस सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय, निम्बादित्य सम्प्रदाय, चतुःसन सम्प्रदाय, तथा ऋषि सम्प्रदाय आदि नामों से पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय का साहित्य बहुत विशाल नहीं है। वेदान्त सूत्र पर निम्बार्क का एक संक्षिप्त भाष्य 'वेदान्तपारिजात-कौस्तुभ' तथा एक दश श्लोकों की सिद्धान्त परिचायिका पुस्तक 'दश श्लोकी' उपलब्ध होती है। उनके भाष्य के साथ ही उनके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य का 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक भाष्य भी मिलता है। एक केशवाचार्य की टीका भी मिलती है। यही प्रमुख प्राचीन साहित्य है।

मत में ब्रह्मात्मक एवं ब्रह्म-विकार के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार ब्रह्म के चार रूप हैं,[१] जिनमें अक्षर और ईश्वर उसकी निर्गुण और सगुण स्थितियां हैं, जीव और जगत् उसकी अंश-स्थितियां। इस प्रकार की चिन्तन-धारा अपना कर निम्बार्क मूलतः अद्वैत का ही प्रतिपादन करते हैं।

किन्तु यह अद्वैत शंकर के अद्वैत के समान नहीं है, जिसमें जीवों के भेद को सोपाधिक तथा जगत् की प्रतीति अनिर्वचनीय मिथ्यात्मक मानी गयी है। निम्बार्क की दृष्टि से तो जगत् और जीव उसी ब्रह्म की विभिन्न-रूपा अंशात्मक स्थितियां हैं, अतः परमार्थ सत् हैं। साथ ही उनका द्वैत या भेद सोपाधिक या मायाकृत न होकर मौलिक एवं पारमार्थिक है। यह भेद नित्य है, मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म के अणु अंश ही रहते हैं। इस प्रकार निम्बार्क को सिद्धान्ततः द्वैताद्वैत या भेदाभेद ही मान्य है।

निम्बार्क के इस भेदाभेदवाद के दृष्टिकोण को समझने के अनन्तर यहाँ हम उनके अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धिनी मान्यताओं को कुछ और बिस्तार से प्रस्तुत करना चाहेंगे।

ब्रह्म : निम्बार्क का ब्रह्म नानारूपी विश्व की सृष्ट्यादि का हेतु, अचिन्त्य शक्तियों का आधार, वेद का प्रतिपाद्य, जगत्-जीवमय विश्वात्मा, सबसे भिन्न तथा साथ ही अभिन्न, आनन्दमय परम तत्त्व वासुदेव है।[२] वह जगत् का निमित्त तथा उपादान उभयविध कारण है।[३] जगत् उसी की शक्ति का परिणत रूप है, एक प्रकार से विकार है।[४] फिर भी ब्रह्म विकारी नहीं है। कारण, वह लीला के लिए अपने संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि करता है, न कि किसी कुम्भकारादि के समान मृदादि किसी अन्य पदार्थ में से।[५]

ब्रह्म आनन्दमय है। आनन्दमय का अर्थ आनन्द का विकार नहीं, आनन्द-प्रचुर है। आनन्द की यह प्रचुरता अनन्त और असीम है, उसका आनन्द भूमा है।[६] आनन्द है तो उसका एक विशिष्ट गुण ही, किन्तु यह गुण नित्य एवं स्वरूप-विधायक है।[७] 'रसो वै सः' 'आनन्दो ब्रह्म' आदि श्रुतियों का वही प्रतिपाद्य है। जगत् उसके आनन्दांश की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म पूर्ण चिद्रूप है, विभु है। जीव उसी के चिदंश की किरणें हैं।[८] वह स्वरूपतः अव्यक्त होते हुए भी भक्तों का ध्यान-गम्य होता है।[९] भक्ति ही उसकी प्राप्ति का सरलतम साधन है।

---

१. वेदान्त-दर्शन : द्वैताद्वैत-सिद्धान्त : भूमिका, पृ० ११-१६।

२. "सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव"। निम्बार्क-भाष्य : १।१।४।

३. वही, १।४।२३,२५।

४. 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणम्य अव्याकृतेन रूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति"। वही, १।४।२६।
"आकाशादिप्रपंचस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनेन विकारत्वं निश्चीयते"। २।३।३६।

५. वही, २।१।३२। "कामात् संकल्पादेव·····" वही, १।१।१९।

६. वही, १।१।१३,१४। तथा "निरतिशयसुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैव।" १।३।९।

७. "आनन्दादयस्तु गुणाः गुणिनः सर्वत्रैक्यादुपसंहिय ते।" वही, ३।३।१३।

८. "अविभागेऽपि समुद्रतरंगयोरिव, सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्"। वही, २।१।१३।

९. "भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते···"। वही, ३।२।२४।

वह सत्यकाम और सत्यसंकल्पवान् है। वह निर्दोष एवं अपहतपाप्मा है। वह जीवों के स्वरूप का आविर्भाव-हेतु है, उन्हें मुक्ति-प्रदाता है। उसी की कृपा से जीव उसे प्राप्त करते हैं, और जगत्-सृष्टि आदि से सम्बन्धित कतिपय ऐश्वर्यों को छोड़ उसके गुणों को प्राप्त करते हैं।[1] वह सर्वान्तर्यामी है। इस अन्तर्यामिता के कारण ही वह स्वरूपतः अपने से भिन्न जीवों और जगत् से अभिन्न है, उनके दोषों से परे है।[2]

जीव : ब्रह्म का अंश होने के नाते जीव भी ब्रह्म ही है, तथापि जीव ब्रह्म का पूर्णतः अभेद नहीं। उनका भेदाभेद सम्बन्ध ही तर्क-सम्मत है। उसके स्वरूप का आविर्भाव परमात्मा में से ही होता है।[3] ब्रह्म को जीवस्वरूपाविर्भावहेतु कहा गया है। नाना जीवों में भगवान् का चिदंश विभिन्न मात्राओं में प्रकाशित होता है। बद्ध जीव इसीलिए 'अज्ञ' कहे गये हैं। अज्ञ का अर्थ अल्पज्ञ है। ब्रह्म विभु है, जीव अणु है।[4] मुक्त जीव भगवदुपासना से भगवत्साधर्म्य प्राप्त कर सर्वज्ञ तो हो जाता है, किन्तु विभु नहीं हो सकता। अतः अणु-चित् होते हुए उसका ब्रह्म से नित्य भेद बना रहता है। जीव को स्वरूपतः अणु मानते हुए भी निम्बार्क ने उसके ज्ञान गुण को 'विभु' माना है।[5] फलतः उसका अनन्त अन्तःकरणों से संयोग सम्भव हो जाता है। जीव शरीर-प्रकाशक है, जैसे दीप का आलोक एकत्र रखा हुआ भी समस्त कोष्ठ को प्रकाशित करता है वैसे ही अणु जीव भी समस्त शरीर को प्रकाशित करता है।[6] वैसे तो चिदंश-रूप होने के नाते जीव और उसके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं, तथापि निम्बार्क ने ज्ञान और जीव में धर्म-धर्मी भाव स्वीकार किया है।[7]

निम्बार्क के अनुसार आनन्द ब्रह्म में ही होता है, जीव में नहीं। जीव आनन्दमय नहीं है।[8] ब्रह्म का संयोग पाकर जीव आनन्दानुभव करता है।[9] जगत् ब्रह्म के आनन्दांश की अभिव्यक्ति है। किन्तु बद्ध जीव को आनन्दात्मक जगत् का अनुभव जड़ रूप में प्रतिभात होता है। उसका चिदंश विस्मृत-प्राय जो होता है। मुक्त जीव में चित् के उदय के कारण जगत्-ब्रह्म का अनुभव भी केवल आनन्दात्मक न होकर चिदानन्दात्मक होता है। वह ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके पूर्ण आनन्द में निमग्न होता है।

जीव अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा नियन्त्रित है। अणु जीव और विभु ईश्वर के बीच यह नियाम्य और नियन्ता का भेद नित्य है।[10] जीव कर्मफलभोक्ता है, परमात्मा अपहतपाप्मा है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच स्वरूपतः, गुणतः, शक्तितः नित्य भेद है। किन्तु यह भेद बहुत दूर का नहीं। समुद्र और तरंग या सूर्य और प्रभा की दूरी तक ही उनमें भेद-

---

१. "जगद्व्यापारेवर्जं मुक्तैश्वर्यम्।" ४।४।१७। तथा ४।४।२१।
२. वही, २।१।९।
३. "जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात्" । नि० भा० : १।४।२०। तथा १।३।२०।
४. वही, २ ३।१९।
५. "जीवोऽणुपरिणामको गुणेन विभुरिति विशेषः" २।३।२८।
६. "देहे प्रकाशो जीवगुणादेव, कोष्ठे दीपालोकवत्।" नि० भा० २।३।२५।
७. "जीवतज्ज्ञानयोर्ज्ञानाविशेषत्वेपि धर्मधर्म्मिभावो युक्त एव"। वही, २।३।२७।
८. वही, १।१।१७, १८।
९. वेदान्त-दर्शन : द्वैताद्वैत-सिद्धान्त : भूमिका, पृ० १३-१४।
१०. वही, १।१।२१, १।२।१२१।३।४३।

विभाग किया जा सकता है।[1] श्रुतियां एक ओर तो उनमें अज्ञ और ज्ञ आदि कहकर भेद-प्रतिपादित करती हैं, तो दूसरी ओर तत्त्वमसि कहकर अभेद भी दिखाती हैं। अतः उनमें न अत्यन्त भेद है, न अत्यन्त अभेद। भेदाभेद ही तर्क-युक्त है।[2]

जगत् : जगत् ब्रह्म की लीलार्थ की हुई अपने आनन्दांश की संकल्पमूलक परिणति है। ब्रह्म इसका निमित्त एवं उपादान उभय-विध कारण है। अनन्तरूपी जगत् उसी का ईक्षण-शक्तिमूलक, उसके स्वरूपस्थ आनन्दरूप उपादान से प्रकाशित हुआ है, अपने स्वरूपस्थ आनन्द को अनन्तरूप से अनुभव करने के लिए अपनी चित् शक्ति की मानो अनन्त चित्कणरूप शाखाविस्तार करके वह इस आनन्द का अनन्त प्रकार से आस्वादन करता है।[3] क्षीर के परिणाम दधि के समान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है।[4] पर ब्रह्म विकारी नहीं, कारण सत्य-काम सत्यसंकल्प ब्रह्म इसका उन्मीलन अपने संकल्प से करता है।[5] जैसे तह किया हुआ पट खोलकर फैला दिया जाय, फिर उसकी तह कर ली जाय, इसी प्रकार अनादि रूप से इस विश्व का उन्मीलन निमीलन चलता रहता है।[6] जैसे कोई सर्प कुण्डली मारे बैठा हो, तब उसके फण-पुच्छ आदि कोई अंग व्यक्त नहीं होते, किन्तु अन्य कालों में वे सब स्पष्टतः व्यक्त होते हैं, इसी प्रकार विश्व प्रपंच है। इस अहि-कुण्डल[7] न्याय से स्थित विश्व को ब्रह्म से भिन्न भी नहीं कह सकते और सर्वथा अभिन्न भी नहीं। कारण और कार्य में सर्वथा न भेद होता है, न अभेद। उनमें भेदाभेद ही होता है। कार्य के दोष कारण को स्पर्श नहीं करते। अतः जगत् के दोष भी ब्रह्म में नहीं होते।[8] निम्बार्क ने इस सम्बन्ध में सत्कार्यवाद और परिणामवाद का यत्किंचित् उपयोग करते हुए भी अपनी मान्यता को सांख्य और वैशेषिक से भिन्न ही रखा है।[9] जगत् की सृष्टि-आदि तथा नानारूपता में परिणति ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता द्वारा ही होती है। यह उसकी चित् या ईक्षण शक्ति ही है जो उसके आनन्दांश को नानारूपा परिणति प्रदान कराती है। नियन्ता एवं अन्तर्यामी होने के कारण जगत् का ब्रह्म ही आधार है।[10] वह जगत् से अभिन्न होकर भी, उसका निमित्तोपादान कारण होकर भी, उससे विलक्षण है। अतः

---

१. वही, २।१।१३।

२. "अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति—परमात्मनो जीवोंशः 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि' त्यादिभेदव्यपदेशात्, 'तत्त्वमसी' त्यादि-अभेदव्यपदेशाच्च। अपि च आथर्वणिकाः 'ब्रह्मदाशाः ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा' इति ब्रह्मणो हि कितवादित्वमभिधीयते।" वही, २।३।४२।

३. वेदान्त-दर्शन : द्वैताद्वैत सिद्धान्त : पृ० १४६, १।१।२० की टीका।

४. क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते स्वकीयासाधारणशक्तिमत्त्वात्", नि० भा० : २।१।२३।

५. कामात् संकल्पादेव 'सोकामयत्' बहुस्यामित्यादि श्रुतेः।" वही, १।१।१९।

६. "यथा च पूर्वं संवेष्टितः पश्चात् प्रसारितः पटस्तद्वत् विश्वम्।" वही, २।१।१८।

७. "मूर्तामूर्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति भेदाभेदव्यपदेशादहिकुण्डलवत्।" वही, ३।२।२६।

८. "कार्यस्य कारणान्यत्वमस्ति, न त्वत्यन्तभिन्नत्वम"। वही, २।१।१४।

९. "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् इति सामानाधिकरण्यनिर्देशेनावरकालीनस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात् तदनन्यत्वम्।" वही, २।१।१६।
"क्षीरवत् कार्याकारेण ब्रह्म परिणमते।" वही, २।१।२३

१०. वही, १।१।३२ "प्राणाद्यचेतनान्तर्यामित्वेन···"

अंशांशिभाव के रूप में दोनों में भेदाभेद ही प्रतिपादित किया गया है।[1]

रस का स्वरूप

निम्बार्क के अनुसार भी 'रस' या आनन्द ब्रह्म का पर्याय ही है, जिसका प्रतिपादन 'रसो वै सः' श्रुति द्वारा किया गया है। अपने भाष्य के प्रथम अध्याय के १३वें सूत्र से लेकर २०वें सूत्र तक उन्होंने ब्रह्म की आनन्दमयता का ही प्रतिपादन किया है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि आनन्दमयता का सम्बन्ध ब्रह्म से ही है, जीव से नहीं :

"आनन्दमयः परमात्मा, न तु जीवः, कुतः? परमात्मविषयकानन्दपदाभ्यासात्।"
भा० १।१।१३।

"रसं ह्यवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति इति वाक्येन लब्धृलब्धव्ययोर्भेदव्यपदेशाच्च जीवोऽनानन्दमयः।" भा० १।१।१८।

सामान्यतः 'आनन्द' एक गुणवाचक शब्द है, अतः आनन्द गुण है, ब्रह्म गुणी है, ऐसा कहना चाहिए। तथापि, आनन्द ब्रह्म का नित्य एवं स्वरूप-निरूपक धर्म है, अतः गुण-गुणी में ऐक्य या अभेद मानकर ब्रह्म को ही 'रस' या 'आनन्द' कहा जा सकता है।[2] फिर भी आनन्द शब्द श्रुतियों में गुण और गुणी दोनों के लिए मिल जाता है। 'आनन्दो ब्रह्म' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जातानि' इत्यादि में आनन्द शब्द गुणी ब्रह्म का वाचक है तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन' इत्यादि में गुण-वाचक।

ब्रह्म में आनन्द की अनन्तता कही गई है। उसे आनन्दमय कहा गया है। यहां मयट् प्रत्यय विकारार्थक न होकर प्राचुर्य अर्थ में है, और यह प्राचुर्य अनन्तता और भूमता की कोटि का है, इसीलिए ब्रह्म को 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्' कहा गया है। यह अनन्तता आनन्दं की ही अनन्तता है।[3]

ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द कहा जाता है। इन तीन शब्दों में सत् उसकी नित्य सत्ता का वाचक है, चित् ज्ञान का। यह चित् ब्रह्म की ज्ञान, भोग या ईक्षण की शक्ति है, जिसके द्वारा वह स्ववरूपात्मक आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार यद्यपि चित् और आनन्द दोनों ब्रह्म के स्वरूपभूत ही हैं, तथापि यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के आनन्दानुभव में उसका आनन्द उसके चित् का विषय बनता है। चित् की भोगकर्तृता और आनन्द की भोग्यता बनती है।[4]

चित् तत्त्व की चर्चा हम निम्बार्क दर्शन में दो रूपों में पाते हैं। एक तो ब्रह्म के साथ विभु एवं पूर्ण चित् के रूप में, दूसरे जीवों के साथ अल्पज्ञता या अणुचित् के रूप में। और, इन दोनों स्थितियों में ही चित् के सम्बन्ध में दो-दो रूपों से विचार किया जा सकता है।

---

१. "···जगदभिन्नत्वनिमित्तोपादानत्वजगद्विलक्षणत्वपरिणतशक्तिमत्त्वविषयकश्रुतिकदम्बात्"। वही, २।१।२६। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिभेदव्यपदेशः, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि अभेदव्यपदेशः। वेदान्तदर्शन : टीका, पृ० ४३१।

२. "सर्वत्र गुणिनो भेदानन्दादयो गुणाः परविद्यासूपसंहर्तव्याः।" भाग ३।३।११। "आनन्दादयस्तु गुणाः गुणिनः सर्वत्रैवयादुपसंह्रियन्ते।" भा० ३।३।१२।

३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति मन्त्रप्रोक्तं मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दशब्देन गीयते।" वही, १।१।१६।

४. "उसके ईक्षण के विषयस्थानीय स्वीय स्वरूपगत आनन्दांश में भी अनन्तरूप से दृष्ट होने की योग्यता नित्य वर्तमान है।" वेदान्तदर्शन : द्वैताद्वैत-सिद्धान्त : उपसंहार, पृ० ६८२।

ब्रह्म के सम्बन्ध में अक्षर और ईश्वर के रूप में, तथा जीवों के सम्बन्ध में मुक्त तथा बद्ध जीवों के सन्दर्भ में।

'चित्' की इन स्थितियों को इस रूप में रखा जा सकता है :

ब्रह्म— अक्षर : चिन्मात्र, निर्विशेषचित्।
ईश्वर : सर्वज्ञतामय, पूर्ण विभु चित्।

जीव— मुक्त : ईश्वर-साक्षात्कार से ब्रह्म-साधर्म्य प्राप्त होने से सर्वज्ञतामय, पूर्ण, किन्तु अणु जीव की विभु चित्।
बद्ध : दशा-भेद से विभिन्न मात्राओं में संकुचित, अपूर्ण एवं विस्मृत-प्राय चित्।

जब आनन्दरूप भोग्य पक्ष के भोग करने वाली चित् शक्ति की उपर्युक्त चार स्थितियां हम बना सकते हैं तो यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके अनुसार भोग्य या अनुभूत आनन्द तत्त्व भी चार रूपों में रखा जा सकता है :

१. अक्षर ब्रह्म का आनन्दानुभव।
२. ईश्वर का आनन्दानुभव।
३. मुक्त जीवों का आनन्दानुभव।
४. बद्ध जीवों का आनन्दानुभव।

स्वयं आनन्द तत्त्व को अव्यक्त तथा व्यक्त दो रूपों में रखा जा सकता है। यह नाना-रूपी जगत् आनन्द तत्त्व का ही व्यक्त रूप है, यह श्रुतियों में अनेक प्रकार से कहा गया है :

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति।"[1]

आनन्द की अव्यक्तावस्था अक्षर ब्रह्म की मात्र स्वरूपात्मक अवस्थिति है, जिसमें वह निर्विशेष चिदानन्दमय होता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के आनन्दानुभवों में से अक्षर ब्रह्म के आनन्दानुभव का सम्बन्ध आनन्द-तत्त्व की अव्यक्तावस्था से मान लेने पर शेष तीन प्रकार के आनन्दानुभवों का सम्बन्ध आनन्द की व्यक्तावस्था से ही रह जाता है। ईश्वर का आनन्दानुभव उसकी अपनी सर्वज्ञतामयी पूर्णा विभु चित् शक्ति के द्वारा नानारूपों में अभिव्यक्त आनन्दात्मक विश्व का समग्रतामय अनुभव है। यह ब्रह्म का अपने ही पूर्ण एवं व्यक्त स्वरूप का पूर्णानुभव है। यह उसकी क्रीडा या लीला है, जिसे वह इसी आनन्दानुभव के लिए नित्य किया करता है। इसे ब्रह्म का लीला-रस कहकर निम्बार्क ने निर्देशित किया है।[1]

हमारे विवेचन का सम्बन्ध जीवों के आनन्दानुभव से रहता है। बद्ध जीवों की चित् शक्ति विस्मृत या तिरोहित रहती है, और देह-धर्मों के साथ उनका अभिनिवेश रहता है। फल यह होता है कि चित् के आलोक से परिच्युत उनके लिए आनन्द का व्यक्त रूप जगत् जड़ात्मक ही होता है। वे जगत् के पदार्थों के अनुभव में आनन्द का अनुभव तो करते हैं किन्तु यह आनन्द चिदात्मक नहीं, जड़ात्मक ही होता है। मुक्त जीवों का अनुभव विशुद्ध एवं पूर्ण चित् शक्ति के उदय हो जाने के कारण ईश्वर के अनुभव के समान ही चिदात्मक होता है।[2]

---

१. भाष्य, ४।४।१४।
२. वे० द० : द्वैताद्वैत-सि०, पृ० ९-१६, ६६७, ६८५।

इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के आनन्दानुभवों में अक्षर ब्रह्म का आनन्दानुभव तो केवल निर्विशेष चिदानन्द मात्र होता है, वह आनन्द का अव्यक्त स्वानुभव है। बद्ध जीवों का आनन्दानुभव लौकिक, प्राकृत एवं चित् के विलोप के कारण जड़ात्मक होता है। वास्तविक व्यक्त आनन्दानुभव तो ईश्वर और उसके सधर्मा मुक्त जीवों का ही कहा जा सकता है। इसे ही निम्बार्क ने 'भगवल्लीला-रस' नाम दिया है। वस्तुतः, निम्बार्क का यही रस है।

इस 'भगवल्लीलारस' के अनुभवकर्ता ईश्वर और मुक्त जीव दोनों ही होते हैं। किन्तु एक अन्तर है। ईश्वर स्वभावतः परिशुद्ध अपने इस लीलारस का नित्यानुभव करता है, किन्तु मुक्त जीव उसकी कृपा और प्रेरणा से ही इस अनुभव तक पहुँच पाते हैं।

निम्बार्क के इस 'रस-तत्त्व' के विवेचन से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :

१. 'रस' परमात्म तत्त्व का पर्याय है। ब्रह्म ही रस है।

२. 'रस' या आनन्द ब्रह्म का स्वरूपात्मक धर्म होते हुए भी भोग-योग्य है। उसका भोग या आस्वादन चित् या ज्ञान के द्वारा होता है। चित् ब्रह्म की ज्ञानात्मिका या अनुभवात्मिका शक्ति है।

३. अक्षरात्मक स्थिति का आनन्दानुभव चिदानन्द मात्र होता है, बद्ध जीवों का जड़ात्मक। वस्तुतः आस्वाद्य भगवान् का लीलारस है।

४. 'भगवल्लीलारस' जीव और जगत् के व्यक्त नानारूपों के साथ भेदाभेद सम्बन्ध से अवस्थित ब्रह्म का अनुभव है।

५. इस अनुभव के कर्ता ईश्वर और मुक्त जीव दोनों हैं। ईश्वर का रसानुभव अपने व्यक्त स्वरूप का स्वानुभव है। जीव का रसानुभव लीलामय भगवान् के पूर्ण स्वरूप का आनन्दात्मक अनुभव है।

रसानुभूति

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारी विवेच्य रसानुभूति का सम्बन्ध जीव की रसानुभूति से ही है। बद्ध जीव किस प्रकार उपर्युक्त दर्शन-प्रतिपाद्य रस का अनुभव करता है, और इस अनुभव का क्या स्वरूप होता है, यही इस विवेचन का लक्ष्य है।

मुक्त जीव की उपर्युक्त आनन्दानुभूति के सन्दर्भ में निम्बार्क ने निम्न बातों की चर्चा की है :

१. कलुषात्मक आवरण का क्षय—बद्ध जीव देह धर्मों में अभिनिविष्ट रहता है, अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार पुण्य-पाप-मय सुख-दुःखों का भोग करता है। अविद्या से आवृत वह अपने विशुद्ध चित् रूप को विस्मृत किये रहता है।

रसानुभूति का अधिकारी मुक्त जीव इस स्थिति से छूटकर दोष-मुक्त और 'अपहतपाप्मा' हो जाता है।[1]

२. विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव—मुक्त जीव में ब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के प्रसाद से उसमें विशुद्ध सत्त्व का उदय होता है। वह प्राकृत चित्त की भूमिका से छूट

---

१. "अपहतपाप्मत्वादिब्राह्मेण गुणेन युक्तः प्रत्यागात्माऽऽविर्भवतीति जैमिनिर्मन्यते।" भा० ४।४।५।
"अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वरूपाविर्भावादविरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते।" वही, ४।४।७।

जाता है। भगवान् के साक्षात्कारात्मक आविर्भाव के लिए विशुद्ध सत्त्व का मंच-फलक अनिवार्य है।[1]

३. अनुरागात्मक ध्यान—रति—भगवत्प्राप्ति के साधनों में भक्तों की दृष्टि में भक्तियोग सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति अनुरागरूपा है, साथ ही निम्बार्क की भक्ति में ध्यान भी है। इस ध्यान में ही अनुराग के कारण वह परम तत्त्व, जो स्वभावतः अव्यक्त है, व्यक्त रूप में आविर्भूत होता है।

"भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते—"ब्रह्मज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः", "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविध अर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्याम्।"[2]

४. विज्ञानस्वरूपता या चिद्रूपता का उदय—जीव का स्वरूप शुद्ध चिन्मात्र है। बुद्ध जीव की चित् संकुचित रहती है। चिद्रूप ब्रह्म के सामीप्य लाभ से उसका यह विज्ञानमय चित्स्वरूप उदित हो जाता है।

"ब्रह्मणि चिद्रूपे उपसन्नः प्रत्यगात्मा चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति"[3]

"विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वरूपाविर्भावाद-विरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते।"[4]

यह चिद्रूपता का उदय जीव के स्वाभाविक रूप का उदय है।[5] इस रूप में जीव स्वरूपतः अणु होते हुए भी अपने विभु ज्ञान को पा लेता है। विज्ञान-प्राप्ति के फलस्वरूप वह दो बातें ठीक रूप में जान लेता है—अपनी वास्तविक स्थिति, और परमात्मा का स्वरूप। वह चिन्मात्र, अणु-चित्, अंशी ब्रह्म का अंश है, जिससे उसका सम्बन्ध भेदाभेद का है। यह उसकी अपनी स्थिति का सच्चा ज्ञान है। ईश्वर नाना-रूपी जगत् और असंख्य जीवों का अंशी, उनका नियन्ता तथा उनसे विलक्षण परम तत्त्व है, जिसके आनन्दांश की चिदात्मक अभिव्यक्ति जगत् है, जगत् ब्रह्म चिदात्मक व्यक्त आनन्द है। इस प्रकार अपनी भेदाभेदात्मक वाली अंशात्मक स्थिति के ज्ञान के साथ अंशी के लीलामय पूर्ण स्वरूप का ज्ञान उसकी चिद्रूपता के विज्ञान की छाया में उदित होता है।

५. संकल्प-शक्ति का विकास—मुक्त जीव में सत्यसंकल्पता का उदय होता है। जगत् की सृष्टि से सम्बन्धित बातों को छोड़कर उसमें ईश्वर-सान्निध्य से ईश्वर-साधर्म्य आ जाता है, ऐसी निम्बार्क की मान्यता है।[6] वह एक सीमा तक सत्यकाम और सत्यसंकल्प हो जाता है। जहाँ, जिस लोक में, जिस विषय के आस्वादन के लिए चाहता है, तदनुरूप अपने शरीरादि का निर्माण कर सकता है, वहाँ जा सकता है, आदि। यह उपलब्धि उसे ईश्वरेच्छा से भी हो जाती है, स्वेच्छा से भी, जिसमें मूलतः ईश्वर ही नियामक होता है। यह सब वासना-तृप्ति के लिए नहीं होता, भगवल्लीलारस के आस्वादन के लिए होता है।[7]

---

१. नि० भा०, ३।२।२४।
२. वही, ३।२।२४।
३. वही, ४।४।६।
४. वही, ४।४।७।
५. वही, ४।४।१।
६. वही, ४।४।८ तथा ४।४।१७।
७. वही, ४।४।१४।

६. व्यक्त ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक अनुभव—ऊपर संख्या १ से ५ तक की बातें अनुभविता से सम्बद्ध हैं, अतः उन्हें विषयि-पक्षीय समझना चाहिए। प्रस्तुत बात का सम्बन्ध विषय-पक्ष से है।

अभी हम कह चुके हैं कि निम्बार्क यह मानते हैं कि भक्तियोग के ध्यान में स्वरूपतः अव्यक्त भी परम तत्त्व अभिव्यक्त होता है। काव्यशास्त्रीय शब्दों में यह विषयी के विशुद्ध सत्त्वात्मक चित्त में आलम्बन-रूप परमात्मा की प्रत्युपस्थिति है।

७. आनन्द का आविर्भाव—भेदाभेद में ही समाविष्ट अभेद-परक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीव में आनन्दमय ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से परिव्याप्त है, जीव भी आनन्दमय है। किन्तु यह बात निम्बार्क की मान्यता से कुछ दूर पड़ती है। स्वरूपतः जीव उनके अनुसार चिद्रूप तो है, पर आनन्दमय नहीं। अतः जीव की आनन्दानुभूति में आनन्द तत्त्व का मूल सम्बन्ध विषयी से नहीं, विषय से है। वह स्वयं आनन्द नहीं, रसरूप ब्रह्म को पाकर उसके योग से आनन्दी होता है। "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।" यह जीव द्वारा ब्रह्म-साधर्म्य प्राप्त करने के कारण होता है। आनन्दमय परमात्मा, आनन्द जिसका स्वरूप, गुण, या शक्ति कुछ कहिए, परम भक्त जीव के विशुद्ध अन्तःकरण में उदित होता है, और वह उस परम तत्त्व के स्वरूपात्मक अनन्त भूमा आनन्द की अनुभूति करता है। इस प्रकार निम्बार्क की यह रसानुभूति एक विशुद्ध विषयी के द्वारा आनन्दमय धर्मी के साथ तादात्म्य-मूलक परम सौख्यमयी अनुभूति है।

इस अनुभूति में काव्याचार्यों की रसानुभूति से निम्न साम्य देखे जा सकते हैं—

निम्बार्क **के दार्शनिक रस की** अनुभूति	आचार्यों **के काव्य रस की** अनुभूति
१. कलुषात्मक आवरण का क्षय	लौकिक मोह-संकटता का निवारण
२. विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव	चित्त में सत्त्व का उद्रेक
३. अनुरागात्मक ध्यान	रति स्थायी भाव और वर्ण्य विषय साधना
४. चिद्रूपता का उदय	प्रमातृ-चेतना की मुक्त-हृदयता, शुद्ध सत्ता
५. संकल्प-शक्ति का विकास	कल्पना या प्रतिभा
६. ब्रह्म का साक्षात्कार	आलम्बन की भावना
७. आनन्द का आविर्भाव	यह मान्यता विभिन्न दार्शनिक चेतनाओं से सम्बन्ध रखती है। शैव या वेदान्त से प्रभावित आचार्यों के अनुरूप तो आनन्द का विषयि-पक्ष से सीधा सम्बन्ध होता है, द्वैतवादियों के अनुसार विषय-पक्ष से सीधा। निम्बार्क-मत में भी इसका लगाव विषय-पक्ष से ही है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे द्वैतवादी नहीं, द्वैताद्वैतवादी हैं, और इसी आधार पर उनके इस आनन्द तत्त्व का सम्बन्ध भी विषय और विषयी दोनों से अलग-अलग दृष्टियों से जोड़ना होगा।

वल्लभ-दर्शन एवं रस

शुद्धाद्वैतवाद

महाप्रभु वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से प्रचलित है। स्वयं वल्लभ ने इसे अनेक स्थलों पर 'ब्रह्मवाद' भी कहा है।[1] जगत्, जीव, ब्रह्म—तीनों को, एक नयी दृष्टि से पारमार्थिक सत्य मानकर, वे ब्रह्म ही मानते हैं। शंकर के द्वारा मानी हुई, ब्रह्म को भी बलात् परिच्छिन्न कर देने वाली, अनिर्वचनीया माया के लिए वल्लभ के यहाँ कोई स्थान नहीं है। वह यहाँ उस अनन्तशक्ति की लीला-शक्ति के रूप में स्वीकार की गयी है, जो वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की ही, माया-शाबल्य से परे, शुद्ध ब्रह्म[2] की ही सत्ता स्वीकार करने के कारण वल्लभ-दर्शन शुद्धाद्वैतवादी और ब्रह्मवादी है।

वस्तुतः वल्लभ-दर्शन सर्वात्मवाद की प्रतिष्ठा करता है।[3] इसके सम्बन्ध में वल्लभ की आविर्भाव-तिरोभाव की मान्यता उल्लेखनीय है। समस्त सृष्टि, जिसमें हम जीव और जगत् दोनों को ही सम्मिलित कर सकते हैं, लीला-रसिक ब्रह्म से उसकी इच्छा के द्वारा आविर्भूत होती है, उसी में लय होती है। इस सृष्टि के आविर्भाव में ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द तीन धर्मों में से जब आनन्द का तिरोभाव हो जाता है, तब अग्नि से असंख्य स्फुलिंगों के समान असंख्य जीव आविर्भूत हो जाते हैं, और इसी प्रकार आनन्द और चित् दो धर्मों के तिरोहित हो जाने पर केवल सत् से विभिन्न नाम-रूपात्मक जगत् का आविर्भाव होता है। अतः तत्त्वतः जीव ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म जिसका आनंदांश तिरोहित है। जगत् भी ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म, जिसके आनन्द और चैतन्य दो अंश तिरोहित हैं। फलतः ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता।[4]

न आविर्भाव का अर्थ उत्पत्ति है, और न तिरोभाव का नाश। ये अभिव्यक्ति या अनभिव्यक्ति की अवस्थाएँ हैं। अभिव्यक्ति सत् पदार्थ की ही होती है, असत् की नहीं। अतः ब्रह्म के अंशरूप जगत् और जीव की भी पारमार्थिक सत्ता है, अज्ञानमूलक आभासात्मक नहीं।

सृष्टि के आविर्भाव-तिरोभाव के मूल में, जैसा कि हम अभी संकेत कर चुके हैं, भगवान् की लीलात्मिका इच्छा ही है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य रमणशील है। कभी अपने मूल अनभिव्यक्त स्वरूप में रमण करता है, कभी प्रपंच रूप में अभिव्यक्त होकर :

---

१. अ० भा० : १।२।५।१७, १।४।१।१, २।२।२।८, २।३।१।१, ३।२।१।६, ३।२।३।१०, त० दी० नि० : सर्व० : पृ० १५०, अ० भा० : २।३।१२।२५ में इसे ब्रह्मसिद्धान्त भी कहा है।

२. "सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्वं दर्शितम्।" अ० भा०, १।१।४।९।

३. "आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।" त० दी० नि० : सर्व०, पृ० १५०।
"तस्माज्जडजीवरूपत्वात्सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थः सिद्धः।" अ० भा०, १।१।१०।३०।
"तस्माद्योनिरपि भगवान्, पुरुषोपि, सर्वं वीर्यं जीवश्च, सर्वं भगवानिति।" अ० भा०, १।४।७।२७।

४. "विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः।" अ० भा०, २।३।१६।४३।
वही, भाष्यप्रकाश : भा० ड०, पृ० ३।

"कदाचिद्रमते स्वस्मिन्, प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम् ।"[1]

जब वह आत्मरूप में रमण करना चाहता है, जगत्प्रपंच को अपने में समेट लेता है; जब प्रपंच में रमण करना चाहता है, इसका अपने में से ही विस्तार कर लेता है। इस प्रकार पहले का ही भगवान् में लीन जगत् उसमें से ही उसी की इच्छा से आविर्भूत हो जाता है :

"यदा स्वस्मिन् रमते, तदा प्रपंचमुपसंहरति । यदा प्रपंचे रमते, तदा प्रपंचं विस्तारयति । प्रपंचभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवतीत्यर्थः ॥"[2]

प्रपंच-रमण की इसी इच्छा को 'एकाकी न रमते, बहु स्यां, प्रजायेय' आदि शब्दों से उपनिषदों में व्यंजित किया गया है।[3] यह इच्छा दो रूपों में होती है--'बहु स्याम्' मैं अनेक हो जाऊँ, तथा 'प्रजायेय' मैं उत्पन्न करूँ। इस अनेक-भवन की इच्छा से ही सत्-चित्-आनन्दात्मक ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन अंशों में बिखर जाता है।[4] ये अंश स्वरूपांश होते हुए भी धर्म के रूप में अलग-अलग हो जाते हैं। वल्लभ के सर्ववाद में धर्म-धर्मी में तथा शक्ति-शक्तिमान् में सर्वथा अभेद है। इन्हीं बिखरे अंशों के आविर्भाव-तिरोभाव से 'प्रजायेय' रूपा इच्छा के फलस्वरूप जीवों और जगत् की उत्पत्ति होती है। आनन्दांश के तिरोधान से जीवों की, चिदानन्द के तिरोधान से जगत् की। प्रत्येक जीव में भीतर अवस्थित रहकर उसको नियन्त्रित करने वाले अनन्त ईश्वरीय रूप 'अन्तर्यामियों' की भी कल्पना वल्लभ ने की है। ये प्रत्येक जीव के साथ अलग-अलग होते हैं, अतः असंख्य होते हैं। इन अन्तर्यामियों का उद्भव केवल आनन्दांश से होता है। इन सबकी सृष्टि वह्नि से विस्फुलिंगों के समान होती है, यह कहा जा चुका है।[5]

इस प्रकार जैसे दूध की दधि में परिणति होती है, इसी प्रकार ब्रह्म की सृष्टि में परिणति होती है, फिर भी वह अविकारी है, ब्रह्म के मूल रूप में कोई विकार नहीं आता। अतः अविकृत परिणाम वाद और आविर्भाव-तिरोभाव की मान्यताओं को अपना कर वल्लभ अपने सर्ववादात्मक शुद्ध अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करते हैं :

"एवं शुद्धो ब्रह्मवादः सिद्धो भवति मन्मते ।
अन्यस्याणोरपि प्राप्तौ मायापक्षो न किं भवेत् ॥"[6]

यहाँ हम वल्लभ-दर्शन के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत् आदि के सम्बन्ध में कुछ

---

१. त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ११५ ।

२. वही, पृ० ११६ ।

३. "बहु स्यां प्रजायेय वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती । वही, पृ० ६७ ।

४. क, सुबोधिनी : द्वितीय स्कन्ध, ख, प्रस्थानरत्नाकर : पृ० ५४-५, त० दी० नि० : शा० प्र० : योजना एवं आवरण भंग : पृ० ७० के आधार पर । "अत्र तत्तदंशाज्जीवाद्युद्गमकथनेन ततः पूर्वं सच्चिदानन्दानामपि पृथक्करणं सूचितम् ।" आवरणभंग, पृ० ७० ।

५. "तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ॥
विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ।
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६८-९ ।

६. त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६२ ।

विशिष्ट मान्यताओं का उल्लेख कर देना उपयुक्त समझते हैं, जिससे हम वल्लभ की रस-दृष्टि को स्पष्टता से समझ सकें।

ब्रह्म—वल्लभ के अनुसार ब्रह्म एक, अद्वितीय और पर है।[1] वे उसे 'सधर्मक'[2] मानते हैं, जबकि शंकर ने उसे निर्धर्मक और गुणातीत प्रतिपादित किया है। अतः वह जगत्कर्ता है, नियन्ता है, भोक्ता[3] है। किन्तु उसके ये कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म लौकिक नहीं, अलौकिक हैं।[4]

ब्रह्म की एक बड़ी भारी विशेषता वल्लभ के अनुसार है विरुद्ध-धर्माश्रयत्व और सर्वभवनक्षमत्व।[5] देखा जाता है, श्रुतियाँ कभी उसे अणु कहती हैं तो कभी महत्। कभी सगुण कहती हैं, तो कभी निर्गुण। उसके सम्बन्ध में नाना विरोधी धर्मों का उल्लेख मिलता है। वल्लभ ब्रह्म में विरुद्धधर्माश्रयत्व और सर्वभवनक्षमत्व मानकर उन समस्त श्रुतियों की अनौपचारिक अभिधामूलक व्याख्या करने में समर्थ हुए हैं। वल्लभ की श्रुतिव्याख्याओं की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं जो अन्य भाष्यकारों में कम ही पायी जाती हैं। एक तो वे ज्ञानपरक उत्तरमीमांसा के साथ कर्मपरक पूर्वमीमांसा का भी समझौता[6] करके चले हैं, दूसरे उनका अधिकतम प्रयत्न इस बात पर रहता है कि श्रुतियों की व्याख्या अभिधामूलक की जाय।[7] इन दो बातों के कारण उनके भाष्य और मान्यताओं में सब-कुछ समेट लेने की प्रवृत्ति पायी जाती है, और उन्हें अनेक प्रकार का भेदीकरण स्वीकार करना पड़ा है।

विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्म सगुण भी है, निर्गुण भी। उसकी सगुणता प्राकृत गुणों के कारण नहीं, अलौकिक गुणों के कारण है। उसमें व्यापकत्व, अव्ययत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, स्वातन्त्र्य, सर्वज्ञत्व एवं प्राकृतगुण-राहित्य ये छः विशिष्ट गुण या धर्म हैं, इनके अतिरिक्त सत्य, शौच, दया आदि अनन्त औत्पत्तिक गुण हैं जो उसमें नित्य रहते हैं।[8] प्राकृतगुणराहित्य तथा उनके अभिमान से रहित होने के कारण वह निर्गुण है।[9] वह सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, मूलकर्ता है।[10] वह अनन्तमूर्ति होने के नाते अनेक है, अद्वैत होने के नाते एक है। वह कूटस्थ भी है, चल भी है, आदि।[11] फिर भी वह सजातीय, विजातीय, स्वगत समस्त भेदों से रहित

---

१. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, पृ० ९७।

२. अ० भा० : १।१।१।२, २।१।१२।३७।

३. वही, १।१।१।२ "तस्माद्ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम्, एवं भोक्तृत्वमपि।"

४. वही, १।१।१।२, पृ० ३२।

५. "सर्वभवनसमर्थत्वाद् विरुद्ध-सर्वधर्माश्रयत्वेन", अ० भा०, १।१।४।४।

६. "चकाराज्जैमिनिसूत्राणि। एवकारेणव्याससूत्राविरोधेनैव तदंगीकरणम्।" त० दी० नि० शा०, पृ० ३६।

७. "वेदश्च परमाप्तो चरमात्रमप्यन्यथा न वदति।" अ० भा०, १।१।२।२।
"भगवति सर्वे शब्दाः स्वभावत एव प्रवर्तन्ते, औपचारिकत्वज्ञापकाभावात्।" अ० भा०, २।३।१४।३६।

८. त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० १११, ११४।

९. "स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि। वही, पृ० १२९।

१०. वही, पृ० १३०।

११. वही, पृ० ११९।

है। वह न स्वजातीय जीवों से भिन्न है, न विजातीय जड़ात्मक प्रपंच से, न स्वगत अन्तर्यामियों से।[1] वह जगत् का समवायी तथा निमित्त—उभय-विध कारण है।[2] कारण और कार्य में अभेद होता है, जैसे स्वर्ण में और कटककुण्डलादि में। इसी प्रकार जगद्रूप कार्य ब्रह्म में और कारणरूप पर ब्रह्म में अभेद है।[3] वह आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा नाना रूपों से मोहन-कर्ता है। वह उसी की इच्छा और कृपा से जाना और देखा जा सकता है, अन्यथा अगम्य है।[4] अनन्त जीव उसी के अंश हैं। वह सृष्टि के आदि में ही अनन्त उच्च-नीच जीवों को उत्पन्न करता है। बिना उच्चावचता के विलक्षणता एवं विचित्रता रचना में आ ही नहीं सकती, और क्रीड़ाशील की क्रीड़ा पूरी नहीं हो सकती। पर ऐसा करने के कारण ब्रह्म पर किसी पक्षपात या निर्घृणता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। यह तो तब होता जब वह किसी अन्य को उच्च-नीच के रूप में स्थापित करता। वह तो स्वयं अपनी इच्छा से, अपनी ही शक्ति से, अपने ही को इन उच्चावच रूपों में आविर्भूत करता है, तब दोष कैसे ?[5]

वल्लभ अक्षर और पर ब्रह्म में अन्तर करते हैं। अक्षर ब्रह्म का वह रूप है जिसे ज्ञानी प्राप्त करते हैं। यह एक प्रकार से वही रूप है जिसकी शंकर ने निर्गुण ब्रह्म के रूप में कल्पना की है। पर ब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्ण है, जो लीलामय एवं आनन्दमय है। पर ब्रह्म का आनन्द भी अक्षर से उत्कृष्ट है।[6]

वल्लभ का ब्रह्म साकार है।[7] वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। ब्रह्म की साकारता आनन्दरूप होने के कारण है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जीवों के लिए ब्रह्म ही प्राप्तव्य है, किन्तु उस प्राप्ति का साधन भी वही है। उसकी कृपा या अनुग्रह के बिना न तो साधनावलम्बन ही हो सकता है, न वह प्राप्त ही किया जा सकता है। इसी 'अनुग्रह' को 'पोषण' या 'पुष्टि' कहा गया है, और इसी के कारण वल्लभ का सम्प्रदाय 'पुष्टि-सम्प्रदाय' और उनकी श्रेष्ठ भक्ति 'पष्टि-भक्ति' कहलाती है। इसी पुष्टि

---

१. त० दी० नि० : शा प्र०, पृ० ११३।

२. वही, पृ० ११५।

३. पुष्टिमार्गी सिद्धान्त : पृ० १०१।

४. "आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः।
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यं, स्वेच्छया तु तत्।"
"आविर्भावोऽवतारो मत्स्यादिरूपेणप्राकट्यम्, तिरोभावोऽवतारसमाप्तिः—ते सर्वे प्रकारा मोहका एव, नटवद् बहुरूपत्वात्। —चक्षुर्न स्वसामर्थ्येन भगवंतं विषयीकरोति, किन्तु भगवदिच्छयैव मां सर्वे पश्यन्तित्वतिरूपया तद् दृश्यम्।"
त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० १२०।

५. "आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते।" वही, पृ० १२७।
अ० भा० : २।१।१०।२३, २।१।१२।३४।

६. "ब्रह्मानन्दो ह्यानन्दः।" त० दी० नि० : सर्व० प्र०, पृ० १५३।
"अक्षरब्रह्मणि आनन्दात्मके सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वात् न परमफलत्वम्।" अ० भा०, १।१।५।११।

७. "अनन्तामिति अनन्तमूर्तिता च ब्रह्मणः प्रतिज्ञाता।.....। तस्मात्साकारं तादृशमेवब्रह्म। ब्रह्मणः शरीरमिति तु सर्वथा सम्भवम्।" अ० भा०, १।१।६।१९।

के आधार पर वल्लभ ने जीवों का भी वर्गीकरण किया है ।[1]

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सर्वशक्ति एवं अचिन्त्यशक्ति है । उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं, जिनके साथ उसका स्वरूपात्मक अभेद है । इनमें द्वादश प्रमुख हैं[2], जिनमें माया, विद्या और अविद्या भी हैं । माया उनकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, जिसके द्वारा लीला का विस्तार एवं सृष्टि का आविर्भाव-तिरोभाव होता है । अविद्या और विद्या का सम्बन्ध जीव से ही है, पर ब्रह्म से नहीं ।[3] जीव अविद्या से संसार में फँसता है, विद्या से उसे स्वरूप-ज्ञान एवं अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान होता है । एक प्रकार से इन शक्तियों का भी आविर्भाव होता है । जब ब्रह्म बहु स्याम् की कामना से सिसृक्षु होता है, तो मायाशक्ति से युक्त हो जाता है । तब यों समझिए, वह शुद्ध व्यापक ब्रह्म माया-वेष्टित हो जाता है ।[4] इसी माया-परिवेष्टन के कारण वह लीलार्थ स्वेच्छा से अपने आनन्द एवं चिद् अंशों को तिरोहित करके सृष्टि का आविर्भाव करता है । अतः माया उसकी ही इच्छा के वशीभूत है, वेदान्त (शांकर) के समान स्वतन्त्र नहीं ।[5]

जीव—जीव ब्रह्म का अंश है, अतः ब्रह्म रूप ही है । पर ब्रह्म ही नहीं है । अंश अंशी-भूत होकर भी अंशी ही नहीं हो सकता । उसका आविर्भाव भगवान् की इच्छा से, उनसे ही, उनके आनंदांश के तिरोहित हो जाने पर होता है, अतः उसमें सत्-चित् दो ही अंशों का आविर्भाव होता है । वह चेतन है ।[6] जीव अनन्त एवं असंख्य हैं, जो ब्रह्मवह्नि के विस्फुलिंग हैं ।

जीव को वल्लभ ने दो विभिन्न दृष्टियों से साकार भी कहा है और निराकार भी । वे जीव को अणु मानते हैं, विभु या व्यापक नहीं । उसे श्रुतियों में 'आराग्र-मात्र' कहा गया है । आराग्र का अर्थ होता है यव के तीकुर का अग्रभाग । इस प्रकार जीव सूक्ष्म-परिच्छेदी होने के कारण साकार है, उसका शरीर में स्थान हृदय है । दूसरी ओर वह निराकार भी है, इन्द्रियग्राह्य भी नहीं है । वल्लभ के अनुसार साकारता आनन्दांश का परिणाम है । जब तक आनन्द आविर्भूत न हो साकारता आ ही नहीं सकती । जीव में आनन्दांश तिरोहित रहता है, अतः वह निराकार होता है । साकार भगवान् का अंश होने के नाते साकार होकर भी इस प्रकार जीव निराकार है, क्योंकि लीला के लिए उच्चावचता रखने की दृष्टि से आनन्दांश को तिरोहित करके उनकी आविर्भूति की गयी है ।[7]

---

१. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, पृ० १-४ ।

२. "अविद्यापि तच्छक्तिः, मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात् ।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६० ।

३. "माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता, यथापुरुषस्य कर्मकरणादिसामर्थ्यम् ।" "पंचपर्वा त्वविद्या हि जीवगा मायया कृता ।" "जीवमेव गच्छति, न त्वंशान्तरम् ।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६० तथा ६४ ।

४. सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम् । वही, का० ६७ ।

५. आकाशवद् व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितम् ।" वही, का० २५ ।

६. "तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदेच्छया ।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६८-९ ।

७. अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः । चेरनाश्चित्प्रधानाः । सर्वे असंख्याताः । सृष्ट्यादौ प्रथमसृष्टौ । ततः साकारा भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छयानिर्गता इति निराकाराः जाताः ।" वही, पृ० ६८-९ । "चिति आनंदस्य । आनंदांशतिरोभावस्यापि ज्ञापकमाह अतएव निराकाराविति :" वही, पृ० ७० ।

प्रत्येक जीव उसके भीतर अवस्थित ब्रह्म के ही एक रूप-विशेष 'अन्तर्यामी' से नियमित होता है। ये अन्तर्यामी भी जीवों के समान ही असंख्य होते हैं।[1] माया-निर्मित अविद्या और विद्या शक्तियाँ इसी जीव को स्ववश किये रहती हैं। अविद्या से वह संसार में फँसता है। अविद्या के कारण उसके विषय में पाँच प्रकार के अध्यासों का वल्लभ ने उल्लेख किया है—अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास देहाध्यास और स्वरूपविस्मरण। विद्या से अविद्या का नाश होता है, किन्तु उसको भगवत्प्राप्ति की सफलता तो भगवदनुग्रह से ही मिलती है। भगवत्कृपा मिलने पर उसमें आनन्दांश का आविर्भाव हो जाता है, और वह मुक्त हो जाता है या भगवान् के साथ सायुज्य प्राप्त कर लेता है।[2]

जीव अणु है, चेतन है, व्यापक नहीं; किन्तु उसका चैतन्य गुण व्यापक है। पुष्प एकदेशस्थित होता है, किन्तु उसका गुण गन्ध वातावरण में दूर तक व्यापक होता है। अतः वह व्यापक न होकर भी उसका चैतन्य समस्त शरीरव्यापी होता है। जब भगवत्कृपा से वह भगवत्सायुज्य पा लेता है, तब उसमें 'ब्रह्मभाव' का उदय हो जाने से ब्रह्म की अनेक शक्तियों एवं गुणों का उदय हो जाता है। उसमें व्यापकत्व भी आ जाता है। किन्तु उस समय भी वह अणु ही रहता है, परिच्छिन्न ही रहता है।[3]

इस प्रकार जीव चेतन, अणु, तिरोहितानन्द, निराकार एवं अज्ञान-गम्य है। वह ब्रह्म से अपनी इन सीमाओं के कारण ही भिन्न है, पर अंशी की परिधि से स्वरूपतः अंश कभी भिन्न नहीं होता।

जीवों की उच्चावचता की प्रथम सृष्टि में ही निर्धारणा कर्मसापेक्षता के साथ, पर वस्तुतः लीलावैचित्र्य के हेतु भगवान् द्वारा ही कर दी जाती है।[4] जीवों के वल्लभ ने विभिन्न दृष्टियों से भेद और वर्गीकरण दिखाये हैं। प्रवाहजीव, मर्यादा जीव, पुष्टि जीव आदि के रूप में उनकी विभिन्न स्थितियों का निरूपण किया गया है। सर्वश्रेष्ठ जीव भगवदनुग्रह प्राप्त पुष्टि-पुष्ट जीव हैं।

जगत्—जगत् जिसे 'प्रपंच' नाम भी दिया गया है, भगवान् के सदंश का आविर्भाव है। इसमें चित् और आनंद अंशों का तिरोभाव रहता है। फिर भी उसमें चित् और आनंद अंश अनुस्यूत हैं, यह हम अनुभव से भी जानते हैं। जगत् की सत्ता का अनुभव तो हम प्रत्यक्ष करते हैं। वह प्रकाशित हो रहा है, और हमें प्रिय लगता है। यह 'प्रकाशन' या 'भान' उसमें अनुस्यूत चित् अंश के कारण है, 'प्रियत्व' आनंदांश के कारण।[5]

जगत् का उपादान और निमित्त ब्रह्म ही है। वह नाना नामरूपात्मक है। वह भी ब्रह्म का स्फुलिंगात्मक अंश ही है, जिसका मूल सत्ता से तात्त्विक अभेद है।

---

१. त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ७०।

२. वही : पृ० ६७ से ७६ तक के आधार पर।

३. "जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान्।
आनंदांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः।
प्रतीयेरन्, परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्॥" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ९२-४।

४. अ० भा० : १।१।३।३, २।१।१२।३४।

५. "तद् ब्रह्मैव समवायिकारणम्, कुतः? समवयात् सम्यगनुवृत्तत्वात्। अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्।" अ० भा०, १।१।३।३।

जगत् में ब्रह्म के सदंश का आविर्भाव होता है, अन्यों का तिरोभाव। फिर भी जगत् की रचनात्मक परिणति आनंदांश से ही होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—"को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।" अन्यत्र भी कहा गया है, "आनन्दाद्ध्येमानि भूतानि जातानि।" इन वचनों में 'आनन्द' को प्रपंच का कारण बताया गया है।[1] जगत् में साकारता इसी आनन्द अंश से आयी है। कारण, साकारता देने वाला तत्त्व आनंद ही है,[2] केवल सत्त्व नहीं। पर आनन्द जगत् में प्रकट एवं आविर्भूत नहीं है, अनुस्यूत एवं समन्वित है इसी कारण जगत् 'आनन्दमय' नहीं है।[3]

जगत्प्रपंच प्रवाह से नित्य है। प्रलय में वह ईश्वरेच्छा से ब्रह्म में विलीन हो जाता है, सृष्टि में आविर्भूत। यह सब भगवान् की माया शक्ति से होता है। सांख्य इसकी उत्पत्ति सत्कार्यवाद को अपनाकर प्रकृति से मानता है, वैशेषिक परमाणुओं से, शंकर इसे ब्रह्म-विवर्त कहते हैं, आदि-आदि। वल्लभ इसे अविकृतपरिणामवाद के अनुसार ब्रह्म का ही परिणाम मानते हैं।[4]

वल्लभ जगत् और संसार में अन्तर करके चलते हैं। जगत् भगवान् की माया की सृष्टि है, संसार जीव की अविद्या की। अतः जगत् नित्य है, संसार अनित्य। संसार का स्वरूप अहंता-ममतात्मक है। संसार की वास्तविक सत्ता नहीं, वह जीव द्वारा कल्पित है :

"तस्माद्धेतोरस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवसंसार उच्यते, न तु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्, असत्त्वेनास्य गणनात्। अज्ञानं, श्रमः आदित्यादिशब्दा अहंममेतिरूपे संसारे एव प्रवर्तन्ते, न तु प्रपंच इत्यर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्।"[5]

जिस प्रकार वल्लभ का अक्षर ब्रह्म शंकर का ब्रह्म है, उसी प्रकार शंकर का जगत् भी वल्लभ का संसार है, और शंकर की माया वल्लभ की अविद्या। जीव की मुक्तावस्था में संसार का लय हो जाता है, प्रपंच बना रहता है। प्रपंच का लय प्रलयावस्था में ही होता है जब भगवान् आत्मरूपमात्र में रमण करना चाहते हैं, प्रपंच रूप में नहीं।[6] इस प्रकार जीव

---

१. यजुर्वेदघटकीभूततैत्तिरीयशाखास्थब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वयेन आनन्दस्य जगत्कारणत्वं आनन्दमयादिवाक्यानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वं चोत्पद्यते।" अ० भा० : विवरण, पृ० १११।

"सर्वस्यापि विकारभूतस्यानन्दस्यायमेवानन्दमयः कारणं यथा……।" अ० भा०, १।१।५।१३।

"अतः केशादयो पि सर्व आनन्दमया एव तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमिति मन्तव्यम्। सविवरण अ० भा०, पृ० १६९।

२. "आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पकः।" त० दी० नि०: शा० प्र०, पृ० ८५।

३. "तर्हि जडो भवत्वानन्दमयः। न। आन्तरत्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारणरूपः स स्वमतेनास्त्येव।" अ० भा०, १।१।१७।

४. "प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्या विद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते॥" त० दी० नि० : शा० प्र०, का० २३।

अयं प्रपंचो नापि प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः, नाप्यसतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः।" वही, पृ० ५८-९।

५. त० दी० नि० : शा०, पृ० ६०-१।

६. "संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित्।
कृष्णस्यात्मतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः॥"
त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६३।

और जगत् विस्फुलिंग-न्याय से ब्रह्म के ही अंश और ब्रह्मभूत ही हैं। तथापि ब्रह्म इतना ही नहीं है। इनसे परे है, जिसके सिवा अन्य कुछ नहीं।[1]

आनन्द तत्त्व

वल्लभ ने आनन्द तत्त्व पर दार्शनिक दृष्टि से विचार प्रायः अपने अणु भाष्य आदि दार्शनिक ग्रन्थों में एवं रसात्मक दृष्टि से श्रीमद्भागवत-सुबोधिनी में किया है। उनके षोडश ग्रंथों में भी इतस्ततः एतद्विषयक दृष्टिकोण बिखरे मिल जाते हैं। उनके दर्शन का अन्तिम प्रतिपाद्य आनन्द तत्त्व पर ब्रह्म है, और भावना का अन्तिम लक्ष्य आनन्द तत्त्व रसेश्वर श्रीकृष्ण। और, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका परब्रह्म पुरुषोत्तम लीलामय रस-स्वरूप श्रीकृष्ण ही है। यहाँ हम वल्लभ की दृष्टि से इसी आनन्द तत्त्व की दार्शनिक स्थिति समझने का प्रयास करेंगे।

स्वरूपात्मक तत्त्व—मूलतः आनन्द परब्रह्म का स्वरूपात्मक तत्त्व है, ब्रह्म सच्चिदानंद है। यह आनन्द अपने में पूर्ण, चेतन, निरतिशय एवं निरवधिक है। स्वयंप्रकाश और ब्रह्म का स्वानुभव है।

बल्लभ के अनुसार ब्रह्म की दो स्थितियाँ निर्धारित की जा सकती हैं—कारणावस्था और कार्यावस्था। प्रथम अवस्था अनभिव्यक्त एवं प्रपंचोत्तीर्ण कही जा सकती है, दूसरी अभिव्यक्त प्रपंच की। ब्रह्म कभी अपने लीन अनभिव्यक्त स्वरूप में रमण करता है, कभी अभिव्यक्त होकर प्रपंच रूप में।[2] दोनों ही स्थितियों में वह अपने स्वरूपात्मक आनन्द में रमण करता है।

इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूपात्मक आनन्द की दो स्थितियाँ सामने आती हैं—एक अनाविर्भूत दूसरी आविर्भूत। अनाविर्भूत अवस्था 'तिरोहितानन्द' की अवस्था नहीं है। पूर्ण चित् ब्रह्म के आनन्द के तिरोहित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

कश्मीरी शैव दर्शन भी परम सत्ता की लगभग ऐसी ही मान्यता रखता है। वह उसे विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दो रूपों में देखता है। किन्तु दोनों दृष्टिकोणों में एक विशेष अन्तर भी है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परम विश्वोत्तीर्ण रूप निर्गुण, निर्धर्मक है। वह शंकर के ब्रह्म के रूप का है। किन्तु वल्लभ का प्रपंचोत्तीर्ण पर रूप भी नित्य लीलामय एवं नित्य सधर्मक है।

तो, वल्लभ के अनुसार परानन्द की दो स्थितियाँ होती हैं—एक जब ब्रह्म एकाकी रमण करता है, दूसरी तब आविर्भूत होती है, जब वह एकाकी रमण नहीं कर सकता और बहु स्याम्, प्रजायेय की कामना से संवलित होता है। और, यहाँ हमारे सामने आनन्द तत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है।

---

१. "विस्फुलिंगाइवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।" त० दी० नि० : शा० प्र०, का० २८।
"यदि ब्रह्म तावन्मामात्रं भवेत्तदायं दोषः। तत् पुनर्जीवाज्जगतश्चाधिकम्।"
अ० भा०, २।१।१।२२।

२. "कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेपि क्वचित्सुखम्।"
"यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपंचमुपसंहरति, यदा प्रपंचे रमते तदा प्रपंचं विस्तारयति। प्रपंचभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवतीत्यर्थः।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ११५-६।

धर्म और शक्ति के रूप में—श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी कहती है कि बहु स्याम् की कामना होने पर आत्म-सिसृक्षु सच्चिदानन्द ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन धर्मों या शक्तियों के रूप में बिखर जाता है, पीछे क्रमशः आनन्द और चिदानन्द के तिरोभाव से जीव और जगत् की सृष्टि होती है।[1]

---

१. "तत्र सदात्मरूपो भगवानेककोटिनिविष्टः चिद्रूपशपरः। तस्य माया द्विधेति पूर्वं निरूपितम्।..... .....। इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धि..... तदा सजागर्ति।" श्रीमद्भागवत-सुबोधिनी : द्वितीय स्कन्ध : अध्याय ८ : श्लोक १, पृ० २३४। देवकीनन्दन प्रेस, वृन्दावन संस्करण, सं० १९६०।

प्रस्तुत संस्करण का सुबोधिनी का पाठ अत्यन्त अपरिष्कृत है, अतः उससे भ्रान्ति हो सकती है। इसी स्थल के आधार पर प्रस्थानरत्नाकरकार श्री पुरुषोत्तम जी ने सिद्धान्त-निरूपण इन शब्दों में किया है, जो अपेक्षाकृत विश्वसनीय है :

"सा—सृष्टिप्रक्रिया—तु द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणैरेवं प्रदर्शिताब्रह्म हि धर्मरूपेण भवत् ज्ञानानंदकालेच्छाक्रियामायाप्रकृतिरूपेण पूर्वं भवति। न च सर्वदा तथा भवतीति शंकनीय, आपादकस्य कालस्यभावात्, जाते च काले तस्यैव नियामकत्वात् न सर्वदा भविष्यति। कालस्य नियामकत्वं तु प्रत्यक्षसिद्धमेव। कालेन सहोत्पन्नानां इच्छादिशक्तीनां च सदैकरूपत्वं भगवान् स्थापयतीति नित्यारताः।

तत्र कालः क्रियाशक्तिरूपः।.....। इच्छा त्वधिध्यानरूपा, सैव कामः 'सोऽकामयते' ति श्रुत्युक्तः। तदाकारश्च 'बहु स्यां, प्रजायेये' ति द्विविधः। तत्राद्यो भेदरूपः।

तेन सच्चिदानन्दधर्मा कालातिरिक्तक्रियाज्ञानानंदरूपाः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिंदंति, क्रियावन्तं ज्ञानिनमानंदिनं च कुर्वन्तीत्यर्थः। तदा स भगवान् त्रिरूपोपि सर्वतः पाणिपादान्तो भवन् साकारतामापद्यते। एवं भिन्नोपीच्छया स्वस्याभिन्नत्वालोचनरूपयाभिन्न इवाखण्डो भवतीति कार्यविचारेणावसीयते।.....

अतएव च सद्रूपस्य प्रत्येकपर्यवसायित्वम्, एवमेवेतरयोरपि ज्ञेयम्। तयोरान्तरत्वेन शीघ्र तथा बुद्धावनारोहेऽपि समानयोगक्षेमत्वात्, अस्तिभातिप्रियत्वेन बुद्धावारोहाच्च।

शक्तिस्तु सदंशस्य क्रियारूपा, चिदंशस्य व्यामोहिका माया—त्रिगुणा, सा जगत्कर्तृभूताया मायाया अंशभूता; आनंदरूपस्य जगदुत्पत्तौ कारणभूता,—मूलरूपोपरि संचायकरूपा सा भवति, ततो मूलरूपे निर्गते अक्षरांशभूतस्य तत्र प्रवेशस्तदा तस्मिन् तामाकृतिमियं सम्पादयति-इति देशकालवस्तुरूपा सती कदाचिद् भगवदिच्छया कर्त्र्यपि भवति, न तु तावता मूलकर्तृत्वम्।

एतत्त्रितयरूपाशक्तिः सच्चिदानंदरूपस्य भावः त्वतलादिवाच्यः इत्यादिकः पूर्वाकारकस्य कामस्य प्रपंचः।

द्वितीयस्य तूपकर्षापकर्षरूपः। तेन त्रिषु आनन्द उत्कृष्टः, इतरौ यथोत्तरमपकृष्टौ। तदेतरौ तं सेवमानौ जातौ, ततस्तयो धर्मो ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते, तदा स आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः।

तदा चिदंशस्य शक्तिर्या व्यामोहिका माया, अविद्येति यावत्, सा चिदंशात् ज्ञानरूपे धर्मे गते तं व्यामोहयति। स तु बोधरूपोपि धर्मरूपज्ञानाभावात् तया व्यामुग्ध आनन्दस्य पृथग्भूतत्वात् तत्सम्बन्धेनानंदो भविष्यतीति बुद्ध्या तया संबध्यते। ततो व्याकुलः सन् सदानंदकृतसृष्टौ या सूत्रात्मा आसन्यो दशविधप्राणरूपस्तमालम्ब्य तिष्ठति। तदा प्राणधारणप्रयत्नत्वाज्जीव इत्युच्यते।

आकार-समर्पक—वल्लभ के अनुसार सत् चित् आनन्द तीनों तत्त्वों में केवल आनन्द ही आकार-समर्पक[1] तत्त्व है। अन्य दोनों निराकार हैं, आनन्द साकार। इसी तत्त्व के कारण परम पुरुषोत्तम साकार होते हैं, उन्हें इसी के कारण वल्लभ 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' कहते हैं।[2] चित् और सत् दोनों तत्त्वों की निराकारता का रहस्य यही है कि उनमें आनन्द धर्म तिरोहित रहता है।[3]

जगत् का कारण—यों तो सिद्धान्ततः ब्रह्म के सत् अंश से जगत् का आविर्भाव होता

सदंशस्तु क्रियाशक्तेर्गतत्वाद् अव्यक्ततामापद्यते, जडश्च भवति। पश्चान्मूलक्रियांशाभिः क्रियाभिर्यथायथं शरीरादिरूपेणाभिव्यज्यते। पश्चात्तस्यां क्रियां तत्कृतधर्मे वा तिरोभूते तिरोभवति।.....

एवं चिद्रूपोपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैर्ज्ञानैरभिव्यज्यते तिरोभवति च।

"तदा चिदंशस्य शक्तिः आनन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य तं व्यामोहयति।" सुबोधिनी :

आनन्दरूपस्य विभागस्तु सर्गादीनां दशानां "अदीनलीलाहसिते" तिश्लोकरीत्या स्वरूपधर्मत्वेन ज्ञेयः।

प्रस्थानरत्नाकर : प्रमेयपरिच्छेद, पृ० ५४-५५।

मूल सच्चिदानन्द ब्रह्म सर्जन के लिए धर्मरूप में परिणत होता है, सत् चित् आनन्द स्वरूपात्मक तत्त्व से धर्म या शक्ति के रूप में आ जाते हैं। यह धर्मरूपता बाह्य या दूर की नहीं। जैसे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व उसका भाव होता है, वैसे ही ये धर्म भी ब्रह्म के भावरूप होते हैं। अतः धर्म-धर्मी या शक्ति-शक्तिमान् में अभेद रहता है। ये तीनों धर्म मूल-रूप में अभिन्न हैं। किन्तु बहु स्याम् की इच्छा तो अभिन्न स्थिति में भिन्नता और बहुत्व लाने की कामना है। फलतः तीनों धर्म बिखर जाते हैं। इनमें सत् क्रियाशक्ति रूप होता है, चित् ज्ञानशक्तिरूप, और आनन्द आनन्दशक्तिरूप। इन्हीं धर्मों से, जो बिखर चुके होते हैं, ब्रह्म भी क्रियावान्, ज्ञानवान् और आनन्दी हो जाता है। इनके बिखरने के कारण वह भी बिखर जाता है, भले ही उसमें मूल अखण्डता बनी रहे।

इन तीनों धर्मों में आनन्द ही उत्कृष्ट होता है। वही लीलामय ब्रह्म को साकारता प्रदान करता है। क्रिया और ज्ञान के आधार सत् और चित् अंश उसी की सेवा करते हैं, उसे अपने मूल तत्त्व समर्पित करते हैं। सत् की मूल क्रियावत्ता आनन्द में तिरोहित हो जाती है, चित् की ज्ञानवत्ता। अपनी मूल शक्ति से वंचित ये तत्त्व क्रमशः जड़ जगत् और जीव के रूप में आविर्भूत होते हैं। चिदंश में निचली कोटि की ज्ञानशक्ति, जो अविद्या है, रह जाती है। उसी से व्याप्त जीव उद्भूत होता है। सत् में से भी उसकी अपनी मौलिक क्रियावत्ता निकल जाने पर जड़ता और अव्यक्तता आ जाती है। पीछे कुछ मूल क्रियाशक्ति के अंशों के आविर्भाव से वह जड़ जगत् के नाना रूपों में अवसृष्ट हो जाता है। सच्चे अर्थों में तो ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न वह आनन्द ही रहता है। यही आनन्द जगत् प्रपंच और जीव सृष्टि का इस प्रकार मूल एवं वास्तविक कारण ठहरता है। यही आनन्दशक्ति ब्रह्म को आकार प्रदान करती है, यही, देशकालवस्तु के रूप में परिणत होती है, यही कर्मा कर्त्री का रूप धारण करती है।

१. "आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पकः।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ८५।

२. वही, श्लो० ४४।

३. "सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः।" वही, श्लो० २६।
लोपस्तिरोभावः। वही, पृ० ७०।

है, किन्तु अनेक स्थलों पर आनन्द को ही जगत् का कारण कहा गया है।[1] हम सुबोधिनी के विगत उद्धरण में सृष्टिविवेचन में देखते हैं कि आनन्द तत्त्व ही सत् और चित् की वास्तविक शक्तियों को अपने में अन्तर्भूत करते हुए प्रपंच-सर्जन का अवकाश खोलता है। वस्तुतः जगत् में जो रस है, जो प्रियता है, वह इसी आनन्द तत्त्व की है, नहीं तो उसके शुष्क पदार्थों में प्रियता आती ही कहाँ से? आनन्द स्वरूपतः व्यापक होने के नाते सत् से अभिव्यक्त समस्त जगत्पदार्थों में निहित रहता है, इसीलिए वे प्रिय लगते हैं।[2]

अतः जगत् और जीवों में भी आनन्द का सर्वथा अभाव नहीं समझना चाहिए। और आविर्भाव की बात भी सापेक्ष दृष्टि से कही गयी है। जड़ जगत् में सत् का आविर्भाव और चित् तथा आनन्द का तिरोभाव कहा गया है। यह तारतम्य की दृष्टि से ही कहा गया है। सर्वाधिक आविर्भाव सत् का ही होता है, पर अन्य अंशों का भी एक मात्रा तक आविर्भाव रहता है।[3]

इस प्रकार जगत् की पर कारणता आनन्दमय की ही सिद्ध होती है।

अविकारी—यद्यपि आनन्द तत्त्व कारण कहा गया है, किन्तु अनेक विकार-रूप आनन्दों का कारण होकर भी वह विकारी नहीं होता। सत् और चित् अंश भी नाना विकार-रूपों को स्वयं से आविर्भूत करके विकारी नहीं होते :

"सर्वस्यापि विकारभूतस्य आनन्दस्यायमेवानन्दमयः कारणं, यथा विकृतस्य जगतः कारणं, ब्रह्माविकृतं सच्चिद्रूपम्, एवमेव आनन्दमयोपि कारणत्वादविकृतोऽन्यथा तद्वाक्यं व्यर्थमेव स्यात्।"[4]

आनन्दमय केवल ब्रह्म—आनन्दमय केवल ब्रह्म, पर पुरुषोत्तम ही है, जीव और जगत् नहीं। जीव में जो आनन्दानुभव होता है वह परमात्मा का ही होता है। उसे परमात्मा ही आनन्दित करता है। और जगत् में भी जिस आनन्द-सन्निवेश की चर्चा हमने पीछे की है वह भी कारण रूप से आन्तर रहता है, कार्य रूप से बाह्य एवं व्यक्त नहीं होता। अतः आनन्दमय केवल परम पुरुषोत्तम होता है।[5]

तारतम्य—वल्लभ आनन्द की अनेक तर-तम भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं। ये भूमिकाएँ जड़-जगत् में अनभिव्यक्त अन्तर्निविष्ट आनन्द से लेकर परब्रह्म की स्थिति तक फैली

---

१. "आनन्दरूपस्य जगदुत्पत्तौ कारणभूता" प्रस्थानरत्नाकर, पृ० ५५।
"आनन्दांशस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात्।" अ० भा० सविवरण, पृ० ११४।
"आनन्दांशस्य जगत्कारणत्वबोधार्थमानन्दांशप्रवेशमकृत्वेत्यर्थः।" वही : विवरण, पृ० १४।
"प्रपाठकेन जगत्कारणत्वेन परपदार्थे ब्रह्मत्वमुपपादनीयम्।" वही : विवरण, पृ० ४।

२. "जडे शुष्के रसाभावात्, भगवान् व्यापकः आनन्दमयश्च।" सुबोधिनी : द्वितीय स्कन्ध : अ० ४, श्लो० २३।
"अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्।" अ० भा० सविवरण, पृ० ५६।

३. सद्रूपे घट-रूप-क्रियास्विव तारतम्येनाविर्भाववत्, जडेपि भानत्वादिप्रतीतेस्तारतम्येन आविर्भावोंगीकर्तव्यः, भगवदिच्छाया नियामकत्वात्।" सविवरण अ० भा०, पृ० ५७।

४. अ० भा०, १।१।५।१३।

५. "तर्हि जडो भवत्वानन्दमयः। न। आन्तरत्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारणरूपः स स्वमतेनास्त्येव।" अ० भा०, १।१।५।१७।

हुई हैं। जीव को जो लौकिक आनन्द का इन्द्रियादिक के स्तर पर आनन्दानुभव होता है, वह भी मूलतः आनन्दमय ब्रह्म का ही अंशाविर्भाव है,[1] और अन्तर्यामी[2] तथा अक्षर ब्रह्म का आनन्द भी वही है। मात्रा का अन्तर है।

अक्षर ब्रह्म आनन्दात्मक होते हुए भी परमकाष्ठापन्न आनन्द नहीं है, परिच्छिन्न आनन्द है।[3] ज्ञानियों को अधिक से अधिक इसी अक्षर ब्रह्म के आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। परानन्द को तो पुष्टि-प्राप्त भक्त ही पा सकता है। साकार होने से मनोवाग्विषय—वल्लभ आनन्द को आकारसमर्पक तत्त्व मानते हैं।

इस साकारता का तात्पर्य भगवान् के चतुर्भुजादि आकार से है। जब भक्तों को भगवदनुग्रह से यह परमानन्द आस्वाद्य बनता है तो अपनी साकारता में ही आस्वाद्य बनता है। अतः वल्लभ उसे भक्त के मन और वाणी का विषय मानते हैं—"पूर्णानन्दात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपं फलरूपं प्राप्य उक्तर्गर्थरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवाग्विषयानन्दवेदनं तद्वान् भवतीति।"[4]

किन्तु भक्त की जिन मन और वाणी का गोचर यह परानन्द तत्त्व स्वीकार किया गया है, वे मन-वाणी लौकिक तथा प्राकृत नहीं हैं, भगवद्विभूतिरूप शुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति हैं, यह अभी आगे स्पष्ट होगा।

जीवों के आनन्दभोग में ब्रह्म का आनन्दभोग—परब्रह्म ने रमण के लिए प्रपंच-सर्जन की लीला की है, अतः इस प्रपंच के अन्तर्गत जो भी लौकिक स्त्री-पुरुषों का सुख-भोग है, यहाँ तक कि विषय-सुख-भोग भी, सब लीलामय ब्रह्म का भोग है। स्त्री-पुरुष तो अवयव हैं, जिनके माध्यम से वह अपनी ही रति के अभिव्यक्त रूप का रसास्वादन करता है। एकाकी दशा में यह आस्वादन उपलब्ध न होने के कारण ही तो उसने व्यक्त भोग की उपलब्धि के लिए अपने को विभक्त और बहु किया है :

"तत्र स्वरूपेणैव स्वरूपानुभवे तथा रसो न भवति, स्त्रीपुरुषाद्यवयवेषु तथोपलम्भात्। अतः स्वस्थितरसाविर्भावेन स्पष्टभोगार्थं भेदरूपमात्मानं विधाय, तस्मिन्स्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्नः सन् अन्योन्यस्य रसमनुभवति।"[5]

आनन्द-भोग की प्रक्रिया

जीव द्वारा उपर्युक्त आनन्द तत्त्व के आस्वादन को वल्लभ ने भोग, साक्षात्कार, अशन आदि शब्दों से विवेचित किया है।[6] उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि पर आनन्द की उपलब्धि

---

१. "तेन भगवान् जगद्रूपेणाविर्भूय स्वांशैर्जीवैस्तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददन् क्रीडतीति सिद्ध्यति। तत्र फलं सुखमेव। तदप्येतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति-इति श्रुत्या ब्रह्मानन्दस्यांशभूतमेव।" अ० भा० : विवरण : प्र० अ० : प्र० पा०, पृ० १५६।

२. "आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ६९।

३. अक्षरब्रह्मण्यानन्दात्मके सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वान्न परमफलत्वम्।" सविवरण : अ० भा०, पृ० ११९ : प्र० अ०।

४. "भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिराकारशब्देनोच्यते।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० ७०। उद्धरण—अ० भा० सविवरण : प्र० अ०, पृ० १२८-९।

५. सुबोधिनीः सप्तमस्कन्धः अध्याय चतुर्थ : श्लो० २४, पृ० ९७।

६. सविवरण अ० भा० : विवरण, पृ० १२९।

केवल पुष्टि-मार्गीय भक्तों को ही होती है, ज्ञानमार्गी भक्त या मर्यादा वाले भक्त आदि नीचे की आनन्दानुभूतियों तक ही रह जाते हैं। ज्ञानी अक्षर-ब्रह्म के आस्वादन तक ही रह जाता है, किन्तु उसका आनन्द लीलामय परब्रह्म के आनन्द से बहुत निकृष्ट है।[1]

पुष्टि-पुष्ट के इस आनन्दभोग की प्रक्रिया में यह आधारभूत मान्यता अपना कर चला गया है कि इस आनन्द की भक्त को उपलब्धि भगवत्कृपा से, उनकी ही इच्छा से होती है। वल्लभ का सारा ढांचा इसी पर खड़ा है।[2]

आनन्द-भोग की प्रक्रिया एवं सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए वल्लभ ने तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगु और ब्रह्म दो प्रपाठकों का सर्वाधिक सहारा लिया है। वेदान्तसूत्र के आनन्दमयाधिकरण के मूल में उनके अनुसार ये ही स्थल हैं। जिन उपनिषद् वचनों को मूलाधार बनाया गया है, वे इस प्रकार हैं :

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।"

वल्लभ के अनुसार इन उपनिषद्वचनों में बताया गया है कि पहले साधक 'ब्रह्मवेत्ता' बनता है, पीछे 'पर' की प्राप्ति करता है। ब्रह्मविद् होना अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति है, पर की प्राप्ति लीलामय भगवान् का साक्षात्कार है। पहली तो ज्ञानियों को भी हो जाती है, किन्तु दूसरी के लिए भगवदनुग्रहरूपा पुष्टि अनिवार्यतः अपेक्षित है। अतः पर-प्राप्ति तक की मोटे तौर पर तीन भूमिकाएँ बनती हैं :

१. साधना से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति।
२. भगवदनुग्रहरूप पुष्टि की प्राप्ति।
३. लीलामय भगवत्साक्षात्कार की प्राप्ति।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' शब्दों की दो प्रकार की व्याख्याएँ वल्लभ ने प्रस्तुत की हैं। एक व्याख्या के अनुसार इन तीनों शब्दों से अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का ही परिचय दिया गया है, जिसमें अनन्त अपरिच्छिन्न सत् और चित् तो हैं, अनन्त आनन्द नहीं है। ब्रह्मविद् इसी तक पहुँच जाता है। आगे उस लीलामय साकार ब्रह्म की चर्चा है जो भक्त के हृदयरूप गुहा में आविर्भूत होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' शब्दों से अक्षर नहीं, परब्रह्म का ही स्वरूप निर्धारित किया गया है, जिसे भगवत्कृपापात्र भक्त सीधे प्राप्त कर लेता है।[3] दोनों व्याख्याएँ देकर भी वल्लभ ने अन्यत्र अनेक स्थलों पर पहली व्याख्या का ही अधिक प्रयोग किया है। टीकाकारों के अनुसार पहली व्याख्या क्रम मुक्ति की प्रक्रिया दिखाने के लिए है, दूसरी सद्योमुक्ति की, पहली ज्ञान के माध्यम से जाने वाले भक्तों के

---

१. "ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टीमार्गीयस्य भक्तस्य तु सोऽश्नुत इत्यनेनोक्ता परप्राप्तिरिति।" अ० भा०, ४।४।२।११।
तथा ४।४।१।२, ४।४।२।५, "तेन नायमात्मेति श्रुतिः परप्राप्तिविषयिणी, इहैवेति श्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयविषयिणीति मन्तव्यम्।" वही, ४।४।२।११।

२. "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणविलक्षणः।" अ० भा०, ४।४।२।९।
"अत्रेदमाकूतम्—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' मु० ३।२।३ इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते।" वही : सविवरण, पृ० ११९ : अ० १, पा० १।

३. सविवरण अ० भा०, पृ० ११८-९।

लिए है, दूसरी सीधे अनन्य पुष्टिमार्गियों के लिए।[1] इन उपलब्धियों की प्रक्रिया वल्लभ विभिन्न स्थलों पर इस रूप में स्पष्ट करते हैं :

भक्त जीव में भक्तिमार्गीय श्रवणादि के द्वारा अज्ञान का नाश होता है, विद्या का प्रकाश होता है, और चित्त शुद्ध होता है। इस शुद्ध चित्त की भूमिका में उसे अक्षर ब्रह्म की उपलब्धि होती है। अक्षर-प्राप्ति से उसकी अविद्या पूर्णतः निवृत्त हो जाती है, और उसका चित्त प्राकृत धर्मों से रहित नितान्त शुद्ध हो जाता है। यह पहली सीढ़ी और आवश्यकता है, जिस भूमिका में पुरुषोत्तम का आविर्भाव उसके हृदय में हो सकता है। इसे वल्लभ ने 'स्वरूपयोग्यता' नाम दिया है, अर्थात् भगवत्स्वरूप के आविर्भाव की योग्यता।[3]

"अक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते।[2]

यह भूमिका ब्रह्मवेत्ता की भूमिका है। इसी के लिए कहा गया है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' उसमें ब्रह्म के अनेक धर्म उदित हो जाते हैं। किन्तु यह ब्रह्मज्ञान तो पर-प्राप्ति में साधन-स्थानीय है, स्वयं साध्य नहीं। इस भूमिका का आनन्द परिच्छिन्न होता है, इसकी लघुता का तो तब पता चलता है जब परानन्द की प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण इसे 'गणितानन्द' कहा गया है।[3]

यह स्वरूप-योग्यता इस बात की गारंटी नहीं कि भक्त को पर-प्राप्ति हो ही जायेगी। वह तो उसी को होती है जिस पर वह कृपा करता है। अतः उसके द्वारा वरण या अनुग्रह सहकारी योग्यता के रूप में अनिवार्यतः अपेक्षित है।[4]

ब्रह्मज्ञान की स्वरूप-योग्यता और भगवदनुग्रह की सहकारी योग्यता आने पर भक्त-हृदय में वास्तविक भक्ति का उदय होता है। यही भक्ति परम प्रेम रूपा होती है। इसी परिपक्व अवस्था में भक्तहृदय में भगवान् का आविर्भाव सम्भव होता है।

"तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तम-प्राप्तिर्भवति।"[5]

इस भूमिका में एक उल्लेखनीय बात होती है। भक्त के लौकिक प्रकृति-गुणों से निर्मित शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि के स्थान पर विशुद्ध सत्त्व के अलौकिक अप्राकृत शरीरादि का आविर्भाव हो जाता है। इसे वल्लभ ने कहीं लीलोपयोगी प्रपंच, कहीं परम व्योम, कहीं भगवद्विभूत्यात्मक संघात, कहीं शुद्ध सत्त्व आदि के रूप में निरूपित किया है। वल्लभ का आग्रह है कि साक्षात् लीलामय साकार भगवान् का साक्षात्कार शरीर के बिना हो ही नहीं

---

१. सविवरण अ० भा०, पृ० ११९, १२० विवरण।
"ज्ञानमार्गीयजीवज्ञेयप्रकाराद् वैशिष्ट्येनापि तथा।" अ० भा० : वही, पृ० १२०।

२. सविवरण अ० भा० : १।१।५। पृ० ११९।

३. "परप्राप्तिसाधनीभूतब्रह्मज्ञानदशायां तदानन्दो यः पूर्वमनुभूतः स गणितानन्द इत्येतदानन्दानुभवानन्तरं तुच्छत्वेन भाति।" वही, पृ० १३३।

४. "एवं परप्राप्तिः केषांचिदेव भवति। तत्र हेत्वपेक्षायामाह—भजनानन्दं दातुं यमेव संकल्पविषयीकरोति स एवैवं प्राप्नोति, इति भगवत्संकल्प एव तत्र हेतुः।" अ० भा० : ४।४।२।८।
"स्वरूपात्मकभजनानन्ददिप्सायां तत्कृत आविर्भावो भवत्येव।.....। तथा च भगवत्स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इत्यर्थः।" अ० भा० : ४।४।१।१।

५. सविवरण अ० भा०, पृ० ११९।

सकता; भक्त उपनिषद्वचनों के अनुसार परब्रह्म के साथ कामों का भोग करता है, वह भोग बिना शरीर के सम्पादित हो ही नहीं सकता; उपनिषद् कहती है—गुहा में परम व्योम का आविर्भाव होता है, तो गुहा तो बिना शरीर के हो ही नहीं सकती, अतः अलौकिक लीलामय के आविर्भाव के लिए उसके आसन के रूप में उसी के अनुरूप शरीरादि का उदय होना चाहिए। अतः पूर्ववर्ती प्राकृत शरीरादि का नाश होकर नित्य, सच्चिदानन्दरूप, भगवद्विभूतिमय, चित्प्रकाशात्मक, शुद्ध सत्त्व के शरीरादि का आविर्भाव इस भूमिका में वल्लभ प्रतिपादित करते हैं।[1]

इस विभूतिमय विग्रह के आविर्भाव के लिए एक और विशिष्ट तर्क वल्लभ ने दिया है। भगवद्वरण से भक्त में परम प्रेम रूपा तीव्र रति का उदय होता है। इसके उदय होने पर भगवान् के पूर्ण आविर्भाव तक भक्त एक अत्यन्त तीव्र विरह का अनुभव करता है। वल्लभ इस विरह को अपनी भक्तिभावना में बड़ा महत्त्व देते हैं। यह विरह इतना तीव्र होता है कि इसे 'सर्वोपमर्दी' कहा गया है, सब-कुछ को तोड़-ताड़ देने वाला। अब यदि इसके आने से पूर्व ही भक्त के शरीरादि में भगवद्-विभूति का अनुप्रवेश न माना जाय, तो यह विरह लौकिक शरीरादि से कब सहन होगा? विज्ञानमय अक्षर की भूमिका में पहुँचा जीव भी इसके आघात से नष्ट होकर अक्षर में लीन हो जायेगा। तब लीलारस का अनुभव ही कौन करेगा? अतः यह संगत है कि उसका विग्रह अलौकिक, नित्य, भगवद्-विभूत्यात्मक, शुद्ध-सत्त्व-मय, सच्चिदानन्दात्मक हो। इस प्रकार भक्त के शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण में भगवान् के विभूति-तत्त्व अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, और जीव में स्वयं आनन्दमय। तभी वह भगवद्विरह और भगवदाविर्भाव की वास्तविक योग्यता उपलब्ध करता है।[2]

इस विरह को वल्लभ दुःखमय नहीं मानते, रसाब्धि और आनन्दात्मक मानते हैं। आनन्दमय पुरुषोत्तम के अनुप्रवेश के अनन्तर शुद्ध चित्त की भूमिका में आविर्भूत यह विरह दुःखरूप हो ही नहीं सकता।[3] इस विरह में भक्त में 'सर्वात्मभाव' का उदय हो जाता है, उसे वैसे भी सब ओर अपना प्रिय ही दिखायी देता है, इस विरह भाव में तो और विशेषतः

---

१. "एतेन लौकिकं पूर्वदेहं त्यक्त्वा साक्षाद्भजनोपयोगिनं भगवद्विभूत्यात्मकं संघातं प्राप्नोत्याद ।।" सवि० अ० भा० : अ० १ : पा० १, पृ० १२८। "प्राकृतगुणमयं प्रपंचमतिक्रम्य गुणातीतं प्रपंचं साक्षाल्लीलोपयोगिनं प्राप्नोति।" वही : पृ० १२९। "श्रुतिः पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगं वदति, स च विग्रहं विना न सम्भवतीति श्रुतिबलादेव तथा मन्तव्यम्।" अ० भा० ४।४।१।१, "यो वेद निहितं गुहायामित्यत्र गुहाया उक्तत्वात्तया विग्रह एव सम्भवात्।" वही, ४।४।२।६, "भक्तस्येव कामा वक्तुमुचिताः, ते च न विग्रहं विना सम्भवन्ति।" वही, ४।४।२।७, "ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति।" वही, ४।४।२।५, "तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एवं रूपत्वादक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुमुचितम्, न तु प्राकृतम्।" वही, ४।४।२।५, "ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव।" वही, ४।४।२।७, "मुक्तोपि जीवः पुष्टिमार्गेंगीकृतो भगवद्दत्तं विग्रहं प्राप्य भजनानन्दं प्राप्नोतीति सिद्धम्।" ४।४।२।१०।

२. सवि० अ० भा० : अ० १, पृ० १३० तथा १२८ के आधार पर।

३. "जीवे त्वानन्दमयः पुरुषोत्तमः प्रविशतीति रसात्मकत्वादानन्दात्मकमेव विरहरसाब्धिमनुभूय....." सविवरण अ० भा०, पृ० १३०।

प्रिय के रूप के अतिरिक्त कुछ दिखायी ही नहीं देता। इस प्रकार यह विरहानुभव प्रेम की अत्यन्त तीव्र एवं चरम कोटि की अनूभुति है जिसके अनन्तर लीलामय भगवान् का आविर्भाव होता है।[1]

इस भूमिका में अभी भक्त के विग्रह-परिवर्तन के साथ शुद्ध सत्त्व के उदय की बात हमने कही है। उपनिषद् वचनों में कहा गया है—"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"। वल्लभ इसके आधार पर प्रतिपादित करते हैं कि भक्त के शुद्ध हृदय में परम व्योम अर्थात् अक्षरात्मक व्यापी वैकुण्ठ का उदय होता है। यह व्यापी वैकुण्ठ ही तो पुरुषोत्तम का गृह रूप है। इसी गृह में निहित वह पर तत्त्व भक्त के साक्षात्कार का विषय बनता है।[2] तत्वार्थदीपनिबन्ध के शास्त्रार्थ प्रकरण में इसे ही शुद्ध सत्त्व कहा है।[3]

उक्त दूसरी भूमिका के अनन्तर फलभूमिका आती है जिसमें लीलामय आनन्दमय परम पुरुषोत्तम का साक्षात्कार भक्त को होता है। भगवान् के इस आविर्भाव से उसका

---

१. तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता सह तत्तत्स्वरूपात्मकान् कामान् भुंक्ते इत्युक्तव्याख्यानेन तदर्थोवधार्यते, उक्त-भक्तस्य सदैव विरहभावे तु विशेषतः प्रियस्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्याऽन्नप्राणादिरूपः स एवेति ज्ञापनाय तत्तद्रूपत्वमुच्यते। तेन परमप्रेमवत्त्व सिद्धयति।" सर्वि० अ० भा० : अ० १, पृ० १३२।

२. "तदैव गुहायां परमव्योमाविर्भावः। पो मीयतेऽनेनेति।" "गुहायां हृदयाकाशे यदाविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र स्थापितमिव वर्तमानं यो वेद....." सर्वि० अ० भा०, पृ० ११९ तथा १२०।

३. "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदा।
तदा मरकतश्याममाविर्भावे प्रकाशते।"
"आनन्दरूपे, आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः। तत्र शुद्धस्य सत्त्वस्य देवतारूपस्य भगवदिच्छया श्रीभगवदासनत्वेन स्फुरितस्य श्यामत्वात् तस्य प्रतिफलनेन आनन्दो नीलमेघवत् भासत इत्यर्थः। यथा स्फटिको जपाकुसुमेन। श्वेतपाषाणेषु प्रविष्टोपि स्फटिको जपाकुसुमलौहित्यं गृह्णन् पाषाणेभ्यो वैशिष्ट्य-मात्मनः प्रतिपादयति।" त० दी० नि० : शा० प्र०, पृ० १२१।

इस उद्धरण पर विचार करने से एक उल्लेखनीय बात सामने आती है, वह यह कि वल्लभ शुद्ध सत्त्व का वर्ण श्याम मानते प्रतीत होते हैं। भगवान् के आसन के रूप में शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव हो चुका है जिसमें भगवान् का प्राकट्य होता है। भगवान् का रूप आनन्दात्मक है। आनन्द को साकार और रूपात्मक मानकर वल्लभ चलते हैं। आनन्दकारी भगवान् में वे श्वेत वर्ण मानकर चलते प्रतीत होते हैं। उनमें आकार या रूप तो है, वर्ण नहीं। जब श्याम शुद्ध सत्त्व में वह अवतरित होते हैं तो शुद्ध सत्त्व का श्याम वर्ण उनके आकार में प्रतिफलित होता है, और वह उनका आनन्दात्मक आकार भी उसी भांति श्याम प्रतीत होने लगता है जैसे श्वेत स्फटिक लाल जपाकुसुम के प्रतिफलन से लाल प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार आनन्द के द्वारा समर्पित आकार वाले पुरुषोत्तम में शुद्ध सत्त्व की श्यामता से श्याम वर्ण आ जाता है।

इस मान्यता का हमें वल्लभ के किसी अन्य ग्रन्थ में पोषण नहीं मिला। वल्लभ के समूचे साहित्य का अनुशीलन भी हमारी शक्ति के बाहर रहा है। किन्तु यदि यह मान्यता इसी रूप में पुष्ट होती है तो वल्लभ की एक मौलिक स्थापना कही जा सकती है। कृष्ण के, शृंगार के, काम के प्रसंग में जो श्यामता का उल्लेख आता है, उसकी व्याख्या में शुद्ध सत्त्व को ही श्याम मानकर कुछ और जोड़ा जा सकता है।

विरह शान्त हो जाता है, और वह उनके अनन्त आनन्द का भोग करता है।

इस प्रकार तीसरी भूमिका भगवदाविर्भाव की है। इस भूमिका में भक्त के हृदय में आविर्भूत होने वाला पर-ब्रह्म ज्ञानियों का ब्रह्म नहीं, लीला-मय लीला-रसिक श्रीकृष्ण है, जिसका प्रतिपादन भागवत करती है. यह आनन्दमय होता है। केवल आनन्दमय नहीं, विज्ञानानन्दमय रूप में उदित होता है। वल्लभ का कहना है कि यदि इस उदित रूप में केवल आनन्दमय होगा तो उस भक्त को, जो पहले से विरह में सब-कुछ खोये बैठा है, भगवान् के आविर्भाव का पता ही न चल सकेगा। अतः 'सर्वज्ञानान्दरूप' का आविर्भाव होता है।[1] आनन्दमय होने के नाते यह भगवद्रूप अनन्त सौन्दर्य का अकार साकार होता है।[2]

भगवान् के परमकाष्ठापन्न स्वरूप की कल्पना पुष्टिमार्ग लीलामय के रूप में ही करता है।[3] रसो वै सः श्रुति का प्रतिपाद्य तत्त्व लीलाहीन नहीं, लीलामय है।[4]

भगवान् की लीला नित्य है। वह उनके स्वरूप की अभिव्यक्ति है। अतः उनके रसमय स्वरूप के ही अन्तर्गत है।[5] भगवान् की दृष्टि से लीला भगवत्कर्तृक भोग है, क्योंकि रमण के लिए ही तो वह अपने इस लीलामय रूप में आविर्भूत होता है।[6] यदि भक्त की दृष्टि से देखें तो लीला ही उसका परम कैवल्य या परम मुक्ति है।[7] लीला से प्राकृत जगत् दूर रहता है, रसस्वरूपमध्यपातिनी लीला में प्राकृत जगत् एवं उसके विकारों का संस्पर्श कहाँ ?[8] लीला के अनेक रूप हैं, वह नित्य अनेक रूपों में चलती रहती है।[9] उपर्युक्त तीसरी भूमिका में आविर्भूत होने वाला पुरुषोत्तम इसी लीला से विशिष्ट आविर्भूत होता है।

आनन्द-भोग

शैवों और शंकर के समान पूर्ण अभेद वाली अद्वैत दृष्टि न अपनाने के कारण वल्लभ उपलब्ध फल और उसके भोग में अन्तर करके चलते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' के अनुसार ब्रह्मज्ञान साधन है, भगवदनुग्रह सहकारी है, भक्त फल-प्राप्तिकर्ता है, और पर ब्रह्म फल है।

---

१. "सर्वज्ञानन्दरूपं फलमुपपाद्य।" सवि० अ० भा०, पृ० ११४। "ततो भगवदाविर्भावे सत्यपि पूर्वभावस्यातितीव्रत्वेन ज्ञानादिसर्वतिरोधानेनाग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते।" वही, पृ० १३२।

२. "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः।" तंदी० नि०; शा० प्र०, पृ० ८५।

३. "लीलाविशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित्तद्रहितमित्यर्थः। अ० भा० : ४।४।३।१४।

४. "एतेन रसो वै सः" इतिश्रुतिर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुरुक्तथेति तादृश एव फलमिति ज्ञापितं भवति।" वही, ४।४।५।१९।

५. अतो रसस्वरूपमध्यपातिनीवाल्लीलाया, रसस्य च भगवदात्मकत्वाद् भगवद्रूपेण सर्वमुपपद्यते लीलायाम्।" अ० भा० : ४।४।५।१९।

६. "भगवत्कर्तृकभोगस्य लीलारूपत्वात्।" अ० भा० : ४।४।४।१६।

७. "लीलैव कैवल्यम्, जीवानां मुक्तिरूपम्। तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति यावत्।" अ० भा० : ४।४।३।१४।

८. "तेन स्वरूपात्मकत्वं लीलायाः।" अ० भा० : ४।४।३।१४।
"लीलाया कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्सम्भवः।" अ० भा० : ४।४।५।१७।

९. अ० भा० : ४।४।५।१२।

'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' के अनुसार सर्वकाम-भोग उस उपलब्ध फल का आस्वादन या भोग है।[1] इस प्रकार वल्लभ भगवत्स्वरूप को फल या पुरुषार्थ मानते हैं, और उसके भोग को, स्वरूपानुभव को, उनके लीलामय स्वरूप के आस्वादन को 'भोग' मानते हैं।

इस आनन्द-भोग का प्रधान भोक्ता भक्त ही होता है। वल्लभ की व्याख्या के अनुसार 'सोश्नुते सवान् कामान् सह ब्रह्मणा' में स्वतन्त्र कर्ता भोक्ता जीव ही है, भगवान् की स्थिति तो तृतीया विभक्ति में होने से गौण है।[2] अतः आनन्दभोग भक्त का ही संवेद्य माना गया है, और भगवान् को भक्ताधीन कहा गया है। यह भगवान् की ही लीला एवं भक्त-परवशता है कि वे भक्त को अपना सख्य देते हैं, उसके आत्मनिवेदन को स्वीकार करते हैं, करुणा करके उसे अपने अनुग्रह का पात्र बनाते हैं, अपने लीलामय आनन्दमय स्वरूप का आस्वादन कराते हैं, और उसे ही प्रधान बना देते हैं।[3] वल्लभ का अनुयायी भक्त इसी आकर्षण से अद्वैत-साधना की ओर नहीं जाता कि उसका यह आस्वादन का अवकाश ही समाप्त न हो जाय।

जीव के इस आनन्दभोग में पारमार्थिक अंशतामूलक द्वैत बना रहता है। यह जो भोग होता है, उसमें उसकी नैसर्गिक ज्ञान-क्रिया शक्तियों का आविर्भाव[4] नहीं होता, आविर्भूत भगवान् की शक्तियों का ही होता है। फिर भी जैसे भक्त चरम स्नेह से भगवान् को धारण किये रहता है, वैसे ही भगवान् भी उसे स्नेह से गले लगाये रहते हैं।[5]

जीव के इस आनन्दभोग में भगवल्लीला का ही दर्शन, उसी का रसास्वादन होता है, लौकिक व्यापार, इन्द्रिय-सुख आदि का संस्पर्श नहीं होता।[6] इस प्रकार इस परम रस का आस्वादन सर्वथा अलौकिक, पुष्टिमार्गीय भक्त-जनैक-संवेद्य एवं अद्भुत होता है।[7] भगवद्विभूतिरूप जो शरीर, मन आदि भक्त में आविर्भूत हो चुके होते हैं, उनका वह गोचर माना गया है :

---

१. "प्रभोरेव परमफलत्वं सिध्यति।.....। न चात्र कामभोगस्य फलत्वं शंकनीयम्, आप्नोति परमित्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवत्वातद् भोगस्य। अनुभयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः।" अ० भा० : ४।४।५।२१।

२. "शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वादत्र भक्तस्य स्वातन्त्र्यं भोग उच्यते, सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम्। अतएव भक्ताधीनत्वं भगवतः स्मृतिष्वप्युच्यते।" सवि० अ० भा०, पृ० १२१।

३. यतः सख्यं दत्त्वा तत्कृतात्मनिवेदनमंगीकुर्वन्नतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दमनुभावयंस्तं प्रधानीकरोति। अन्यथा भक्तोनुभावयितुं न शक्नुयात्।" अ० भा० : ४।४।५।२१।

४. "न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यां तथा भोक्तुं शक्तो भवति, किंतु भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदायमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते।" वही, ४।४।१५।

५. "वरणजस्नेहातिशयेन भक्तेनापि म्रियमाणः सन्, स इव स्वयमपि तं स्वस्मिन् बिभर्ति। अ० भा० : ४।४।४।१५।

६. "या लीलाः करोति.....ता भक्ताः पश्यन्तीति।" वही, ४।४।३।१४।

७ तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारसम्भवः।" वही, ४।४।५।१७।
"पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाङ्मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम्।" वही, ४।४।५।१७।

"यत्र गुहायां भगवद्वरणेन परव्योमाविर्भावस्ततः पूर्णानन्दात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपं फलरूपं प्राप्य, उक्तर्गर्थरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवाग्विषयानन्दवेदनं तद्वान् भवतीति ।।"[1]

रस-निष्पत्ति

महाप्रभु वल्लभ ने अपने विविध ग्रन्थों में, विशेषतः सुबोधिनी में अपनी चेतना के अनुसार निरूपित रस-तत्त्व का विवेचन काव्य-शास्त्र की पदावली में भी किया है। बात करते-करते वे काव्यशास्त्रीय शब्दावली पर आ जाते हैं। सामान्यतः उन्होंने अपने युग तक परिनिष्ठापित अभिव्यक्तिवाद की मान्यताओं का अवलम्बन लिया है। फिर भी भक्तिरस की आवश्यकताओं के अनुरूप अनेक मौलिक बातें भी निरूपित हुई हैं। हम यहाँ उन सबकी ओर न जाकर केवल रस-निष्पत्ति से सम्बद्ध कतिपय प्रमुख बातों का ही उल्लेख करेंगे।

आविर्भाववाद—वल्लभ के रस-सिद्धान्त को 'आविर्भाववाद' का नाम दिया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने 'उत्पत्ति' 'अभिव्यक्ति', आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है, तथापि उनका मन्तव्य वहाँ आविर्भाव से ही होता है। उनके अनुसार लीलामय कृष्ण आविर्भूत होकर ही पूर्ण रस हैं, अतः उनके अनुसार 'रसाविर्भाव' का सिद्धान्त निरूपित होता है।[2]

रस लीलामय कृष्ण—यह हम देख चुके हैं कि वल्लभ का रस तत्त्व लीलामय कृष्ण है। ब्रह्म अनाविर्भूत लीला वाला रस तत्त्व है, कृष्ण आविर्भूत लीला मय।[3] वल्लभ रस को काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया पर दश प्रकार का मानते है—[4]। उसी के आधार पर यह रसमय कृष्ण भी दशविध लीलामय होता है। जिस भक्त में जिस प्रकार की भावना-वासना होती है, उसमें उसी प्रकार की लीला के साथ भगवान् का आविर्भाव होता है।[5] इसी प्रकट लीलामय रूप की चर्चा श्रीमद्भागवत में है। यह स्वरूपतः आनन्दमय होने के कारण साकार है। भक्तों को उसकी ही कृपा से अभौतिक इन्द्रियादि से ग्राह्य है।

यह कृष्ण स्वयं रसमय एवं रस-स्वरूप होते हुए जिसमें आविर्भूत होता है, उस भक्त हृदय को रसात्मक बना देता है, जैसे उद्गत अग्नि सर्वत्र लीन अग्नि का आविर्भाव कर देता है, वैसे ही उसके आविर्भाव से आश्रय भक्त की अनुभूतियाँ भी रस-रूप हो जाती हैं।[6]

---

१. सवि० अ० भा०, पृ० १२९ : अ० १ ; पा० १।

२. "तारतम्येन रसानां क्रमेणाविर्भावे महान् रसः।" सु० : श्रीमद्भाग० : १०।२१ श्र ४।
"सम्यक्प्रवृत्तिर्निरन्तरमाविर्भावः।" वही, १०।३३।३।
एवं प्रधानस्य रसाविर्भावमुक्त्वा·····शिष्टानां रसाविर्भावो जात इत्याह।" वही, १० : ४३ : १९।
"ततस्तेषां रस आविर्भूत इति वक्तुं·····।" वही, १० : ४३ : २०।

३. "यदा भगवान् लीलारूपेण प्रकटो जातः तदा तस्यां लीलायां यो रसः सः एव ब्रह्मणि, परं नाभिव्यक्तः।"
"तस्माद्यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसः निरतिशयत्वेपि सातिशयः स्वाभिव्यक्ति-भोक्तव्यः।"
सु० : २ : १श्र९।

४. सु० : १० : ४३ : २२।

५. वही, १० : ४३। २२। "प्रमेयेण निरोद्यऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम्। लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोभवत्। यस्य भावो यथालोके तस्यानुसरणे कृते।"

६. सु० १० : ३३ : ३।

लीलामय कृष्ण रस-स्वरूप एवं रसमय ही नहीं, इस प्रकार सर्वरसमय भी है। आचार्य वल्लभ ने इस सर्वरसमयता का प्रतिपादन सुबोधिनी में अनेक स्थलों पर पर्याप्त विस्तार से किया है।[1] दशम स्कन्ध के १२ से १८ तक के अध्यायों की सुबोधिनी में यह तथ्य अधिक स्पष्टतः सामने आया है।

फिर भी इस सर्वरसमयता में उनका शृंगारी रूप ही सर्वश्रेष्ठ है, जिसका आस्वादन केवल गोपियों को ही हुआ है।[2] इन गोपियों के साथ रसमय रास में स्वयं कृष्ण का रसमय रूप पूर्णतः आविर्भूत होता है, और उनके सम्पर्क से इन गोपियों में भी रस आविर्भूत होता है।[3] इस प्रकार गोपियों की समस्त काम चेष्टाएँ रसमयी एवं रस-रूपा हो जाती हैं।[4] इन काम चेष्टाओं में एक चरम निष्कामता रहती है, इसी कारण ऊपर से लौकिक काम के समान दिखायी देने पर भी वैसी नहीं होतीं।[5]

रस के दो रूप—वल्लभ लीलामय रसरूप कृष्ण को दो रूपों में स्वीकार करते हैं, धर्मसहित और केवल। इस दृष्टि से वे रस के भी दो भेद करते हैं—धर्मसहित और केवल। केवल रस का सम्बन्ध नाट्यात्म रस से है, जिसकी चर्चा वे काव्यशास्त्रीय पदावली में करते हैं, धर्मसहित रूप भगवान् की सम्भोगात्मक लीलाओं से सम्बन्ध रखता है। कहना चाहिए, एक का सम्बन्ध काव्यात्मक रूप में अनुभव करने वाले आस्वादयिताओं से है, दूसरे का मूल गोपी आदि लीला-पात्रों से। भागवत १० : २१ : ७ की सुबोधिनी में वे यह चर्चा इस प्रकार करते हैं :

"रसो हि द्विविधः—धर्मसहितः केवलश्च। केवलो नाट्ये प्रसिद्धः, धर्मसहितः सम्भोगे। भगवतो वपुरुभयविधमपि।"

निष्पत्ति—अणु भाष्य में आनन्दमय अधिकरण में काव्यशास्त्रीय पदावली के साथ निष्पन्न रस का स्वरूप इन शब्दों में वल्लभ ने प्रस्तुत किया है :

---

१. "तत्रेश्वरो हि सर्वसंभोक्ता भवति, 'सर्वरसः' इति श्रुतेः।" सु० १० : १९ : १६।
"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः" इत्यादि भा० १० : ४३ : १६ की सुबोधिनी।
"रौद्रोद्भुतश्च शृंगारो हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकोपि बीभत्सः शान्तो भक्तिरसस्तथा॥
एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेवं बभौ महान्।"
"सु० १० : १५ : ४२। "एवं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता·····एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योपि·····।"

२. "ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च भगवानत्र प्रार्थनयानीतः, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः, त एव हि रसं जानन्ति।" सु० १० : १५ : ४३।

३. 'सुबोधिनी' रासपंचाध्यायी, विशेषतः १० : २३ : ३।

४. "रसो वै सः इतिश्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन स्वरूपात्मकमेवेति।" वही, १० : २३ : १७।

५. क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते। तासां कामस्य संपूर्तिर्निष्कामत्वेन जायते। कामेन पूर्तिः कामः संसारं जनयेत्स्फुटः। कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्नसंशयः। सु०, १० : २९ : ४२।
"पूर्व० निरुपाधिरेव स्नेहः स्थितो भगवता परं रसशास्त्रोक्त्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजातीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति।" वही, १० : २१ : ४३।
"यथा तासां महानेव रस आविर्भवति तथा कामशास्त्रसिद्धा लीला सर्वा एव कृतवान्।" वही, १० : १९ : ४३।

"तदानुभवविषयः प्रकट आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते। तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते।

तदा प्रियेक्षणादिभिरानन्दात्मक एव विविधरसभावसन्दोह उत्पद्यते यः, स दक्षिणः पक्ष उच्यते। ततः स्पर्शादिभिः पूर्वविलक्षणः प्रकृष्टानन्दसन्दोहो यः, स उत्तरः पक्ष उच्यते। नाना-विधपक्षसमूहात्मकत्वात् तयेः पक्षयोर्युक्तं तथात्वम्।

स्थायिभावस्यैकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते यतस्तैः एव विभावादिभिर्विविधभावोत्पत्तिः।"[1]

ये स्थल तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न शब्दों की व्याख्या की दृष्टि से वल्लभ ने लिखे हैं:

"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येश श्लोको भवति॥"[2]

वल्लभ के अनुसार उपनिषद् के इन शब्दों में आनन्दमय रसरूप के आविर्भाव का प्रतिपादन है। उपनिषद् इसका विवेचन पुरुष के, पक्षी के रूपक से करती है। इस आविर्भूत आनन्दमय का शिर अर्थात् सर्वप्रमुख तत्त्व वल्लभ के अनुसार निरुपधि प्रीति है। यह रति ही स्थायी भाव है।

प्रिय के दर्शनादि से इस रति का पूर्ण परिपाक होता है। यह रति स्वरूपतः आनन्दात्मक है, उसका विषय आनन्दमय कृष्ण है। इस रति के उद्बोधन के लिए यही प्रियदर्शनादि ही प्रमुख विभावादि सामग्री है। वेणुगीत अ० २१।८ की[3] सुबोधिनी में इस भाव-विकास की प्रक्रिया को और स्पष्ट किया गया है। श्रवणादि से भगवत्-शास्त्र के अनुशीलन से पहले भावकलिका का उदय होता है। पीछे, जैसा कि पुष्टिमार्ग की मूल धारणा है, भगवदनुग्रहरूपा पुष्टि की उपलब्धि से यह प्रीति भाव कलिका से पूर्ण विकसित पुष्प के रूप में आ जाती है। इसका परिणाम स्वभावतः होता है, प्रिय रूप फल का आविर्भाव, जिसके सम्पर्क से वह रति और उससे उद्भूत समस्त अनुभूतियाँ रसात्मक हो जाती हैं।

इस रति की भूमिका में विभाव-स्थानीय प्रिय के आविर्भाव होने पर उसके साथ भक्त का दो प्रकार का सम्पर्क स्थापित होता है। केवल दर्शनादि के रूप में, दूसरे उससे और अधिक निकटता का स्पर्श-सम्भोगादि के रूप में। पहले सम्पर्क में प्रिय-दर्शन के फलस्वरूप भक्त में अनेक प्रकार की भावात्मक अनुभूतियाँ उद्भूत होती हैं, दूसरे में इससे

---

१. सविवरण अ० भा०, पृ० १३२-३, अ० १, पा० १।

२. तैउ० ब्र० भृ० प्रपाठक।

३. गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि। अतो रसरयाभिनये चत्वारोर्था निरूपिताः।
रसरूपसुगधानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता। धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते।
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतृणां काव्यवद्रसः। रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः।
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवेत्। ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते।
अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम्। रसोत्पत्त्यर्थमेतावन्निरूपितमिति स्थितिः।
आविर्भावे रसास्वादाद् नृत्यं शोभा ततो भवेत्। अतोतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते।
सु०, १० : २१ : ८।

और गहरा प्रकृष्ट कोटि का आनन्दसन्दोह अनुभव में आता है। वल्लभ के अनुसार दूसरा ही चरम कोटि का आनन्द है, जिसे उपनिषद् में 'प्रमोद' नामक उत्तर पक्ष कहा है। पहला 'मोद' नामक दक्षिण पक्ष है।[1]

रसास्वादयिता के ये अनुभव वस्तुतः और स्वरूपतः अपनी रति के ही प्रोच्छलन हैं, अतः स्थायी भाव से भिन्न नहीं। स्थायी भाव के आनन्दात्मक होने के कारण ये भी स्वरूपतः आनन्दात्मक ही होते हैं।

इस प्रकार इस स्थल के विवेचन से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

१. रस स्वरूपतः कृष्ण का लीलामय रूप है, किन्तु वह भक्त के हृदय में स्वेच्छा से कृपा करके आविर्भूत होता है, और उसकी रति के विभाव के रूप में आता है। इस स्थिति में वह अनुभूतिमात्र नहीं अनुभूति-गोचर होता है।

२. भक्त की रति का परिपाक ही उसकी दृष्टि से रस है, जिसका आस्वादन उसे ठीक काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया के अनुरूप होता है।

३. रति की भावकलिका का उदय एवं विकास क्रमिक है, एवं पुष्टिसाध्य है।

४. स्थायी भाव रति स्वरूपतः आनन्दात्मक है, उसका विषय आनन्दमय है।

५. वल्लभ के अनुसार आनन्द के साकार होने के कारण इस अनुभव में प्रिय के दर्शन-स्पर्शन आदि होते हैं। यह आनन्द केवल कल्पना की भूमि में ही परिसीमित नहीं रहता।

६. यह रसानुभव ब्रह्मानन्द से उत्कृष्ट है, इसलिए उपनिषद् वचनों में उसे 'पुच्छ' का स्थान दिया है, जबकि प्रीति को सिर का।[2]

७. भक्त द्वारा अनुभूयमान रस इन अर्थों में अखण्ड है कि जितनी भी अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रियाएँ उसमें उदित होती हैं, इसी का स्वरूपात्मक प्रोच्छलन होती हैं।

चैतन्य-दर्शन एवं रस

अब तक हम रामानुज-दर्शन, मध्व-दर्शन, निम्बार्क-दर्शन एवं वल्लभ-दर्शन की दृष्टि से रस का स्वरूप समझ चुके हैं। हमारे चुने हुए पाँच वैष्णव दर्शनों में चैतन्य-दर्शन शेष रहता है। महाप्रभु चैतन्य ने स्वयं किसी दार्शनिक ग्रंथ का प्रतिपादन नहीं किया, फिर भी उनके अनुयायियों द्वारा एक सुव्यवस्थित दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों के समान ही वेदान्तसूत्र पर भाष्य भी लिखा गया है। सामान्यतः मध्व-दर्शन की मान्यताओं से यह दर्शन बहुत मेल खाता है और प्रायः दोनों के दर्शन का नाम मिलाकर मध्व-गौडीय दर्शन कहा जाता है।

---

१. "पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्तत्वात् च।" सवि० अ० भा०, पृ० १३७।
"मोदप्रमोदावपरिनिष्ठितपरिनिष्ठितावानन्दातिशयौ। आनन्दस्तु स्व रूपं, साधनरूपत्वाद् ब्रह्मपुच्छम्।" वही, पृ० १४०।

२. "परप्राप्तिसाधनी भूतब्रह्मज्ञानदशायां तदानन्दोपि यः पूर्वमनुभूतः स गणितानन्द इत्येतदानन्दानुभवान्तरं तुच्छत्वेन भातीष्टगतावसाधनत्वेन स्वरूपतोपि तस्माद्धीनत्वं चेति पृष्ठभागादपि दूरस्थितपुच्छरूपत्वं ब्रह्मण उच्यते।" वही, पृ० १३३-३४।

इन दार्शनिक ग्रंथों के आधार पर रस का स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु इस चैतन्य-दर्शन के प्रमुख दार्शनिक एवं भक्त आचार्य रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी के द्वारा रस-स्वरूप के निरूपण के रूप में दो उल्लेखनीय ग्रन्थों का स्वतन्त्र प्रणयन हुआ है। ये ग्रन्थ हैं श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि। इन ग्रन्थों में रस-स्वरूप का इतना मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है कि उसे वैष्णव-काव्य का एक प्रकार से उपयुक्त मानदण्ड बनाया जा सकता है। अतः उसके अध्ययन के लिए हमें अगले अध्याय में पृथक् से अवकाश निकालना है। तब यहाँ इस अध्याय में चैतन्य-दर्शन की दृष्टि से रस-स्वरूप के और विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती। रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी का रस-निरूपण इस सम्प्रदाय की आधार-भूत दार्शनिक दृष्टि के ही सर्वथा अनुरूप है। वैसे भी ये ही आचार्य इस दर्शन के आधार-स्तम्भ हैं।

अतः हम अगले अध्याय में रूप-गोस्वामी और जीव-गोस्वामी के रस-निरूपण की ओर आते हैं।

३

भक्ति-काव्यशास्त्र में रस

भक्ति-काव्यशास्त्र

ईसा की १६वीं शती के मध्य में गौरांग महाप्रभु चैतन्य की भाव-धारा में बहने वाले आचार्य रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी के द्वारा रस-सिद्धान्त की भाषा में भक्ति-सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करने वाले दो ग्रन्थ 'श्रीहरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' मध्यकालीन कृष्णभक्ति के साहित्य में एक उल्लेखनीय घटना के रूप में हमारे सामने आते हैं। ये दोनों ग्रन्थ गोस्वामी रूप की कृतियाँ हैं, जिनपर उनके भतीजे गोस्वामी जीव की विद्वत्ता-पूर्ण टीकाएँ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना शक सं० १४६३ अर्थात् १५४१ ई० में हुई थी, उज्ज्वलनीलमणि की इसके बाद।

इन ग्रन्थों की साम्प्रदायिक चेतना चैतन्य महाप्रभु की है। उन्हीं की दार्शनिक आधार-भूमि को इन गोस्वामी आचार्यों ने अपनाया है। चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् कृष्ण के जिस रहस्यमय श्रृंगारी मधुर रूप की झाँकी भक्तों के बीच दिखायी, उसी रूप को सामने रखकर इन गोस्वामियों ने मधुर भक्ति-रस की प्रतिष्ठा अपने ग्रन्थों में की है। यों तो इन्होंने अनेक भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थों का उपयोग किया है, किन्तु सर्वाधिक उपजीव्य श्रीमद्भागवत ही है। इस प्रकार इन ग्रन्थरत्नों में एक ओर तो चैतन्य की साम्प्रदायिक मधुर चेतना परिलक्षित होती है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग के अनेक सिद्धान्त बड़े ही सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। तीसरी ओर ध्वनिवाद के साथ मिलकर चलने वाले रस-सिद्धान्त की पदावली और चौखटा इन ग्रन्थों के विवेचन को काव्यशास्त्र का जामा पहनाते हैं। इस प्रकार इन ग्रंथों का वास्तविक रूप केवल भक्तिशास्त्र का न रहकर भक्ति-सम्बन्धी काव्यशास्त्र का हो गया है। इसी हेतु इनकी उपलब्धियों को 'भक्तिकाव्यशास्त्र' नाम देना ही उपयुक्त होगा। भक्ति-सिद्धान्तों और काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनूठे घोल की ओर स्वयं जीव गोस्वामी ने संकेत किया है :

"सिद्धान्त-रसभावानां ध्वन्यलंकारयोरपि।
अनन्तत्वात्स्फुटत्वाच्च व्यज्यते दुर्गमं त्विह॥"[1]

प्रस्तुत अध्याय में हम इन्हीं भक्ति-काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर 'रस' का स्वरूप समझने का प्रयास करेंगे। वस्तुतः इनकी रस-दृष्टि में उस काल की भक्ति-साहित्य के एक बड़े भाग की रस-चेतना का स्वर मुखरित है। १६वीं-१७वीं शती के हिन्दी वैष्णव साहित्य को इस चेतना के बिना समझे सर्वांश में समझ सकना कठिन ही है।

---

१. भ० र० सिं० : दु० सं, पृ० ६।

मूल प्रतिपाद्य

रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी की इन कृतियों का मूल प्रतिपाद्य भक्ति-रस की मूर्धन्य प्रतिष्ठा है। ऐसा लगता है, मानो काव्यशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों में भक्ति को देवादि-विषयक रति के रूप में जो 'भाव' के अन्तर्गत ही गिना गया था, उसे 'रस' की पदवी नहीं दी गयी थी, उसी खलने वाले अभाव का प्रत्युत्तर इन गोस्वामी आचार्यों ने[1] भक्ति को ही एक वास्तविक एवं मूर्धन्य रस के रूप में सिद्ध करके दिया हो। इतना ही नहीं, रसामृतसिन्धु में काव्यशास्त्रीय समस्त रसों, व्यभिचारियों एवं सात्विकों आदि को भक्ति के रंग में रंग-कर तथा भक्ति की परिधि में सिमटने की सम्भावना दिखाकर भक्ति-रस की सर्वाङ्गीणता को भी सामने रखा गया है।

भक्ति-रस के निरूपक इन ग्रंथों के विषय में कुछ उल्लेखनीय बातें हैं, जो विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए अपेक्षित हैं।

१. इन ग्रन्थों के मूल रचयिता रूप गोस्वामी ही हैं, अतः जहाँ तक किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन या स्थापना का सम्बन्ध है, वह उन्हीं की हैं। किन्तु जीव गोस्वामी की टीकाओं का महत्व भी कम नहीं है। भक्ति की विभिन्न स्थितियों की अनुभूतियों का जितना मनोवैज्ञानिक पक्ष जीव में उभरकर आया है, उतना काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों में भी कम देखने को मिलेगा। अनेक स्थलों पर तो ऐसा लगता है कि जीव चेतन और अवचेतन को अलग-अलग करके अनुभूति की समस्या पर विचार कर रहे हैं। ये दोनों आचार्य समकालीन तथा एक ही विचारधारा के हैं, अतः हम किसी भी समस्या पर इन आचार्यों की मिली-जुली मान्यता को मूल और टीका दोनों को आधार बनाकर चल सकते हैं।

२. इन ग्रंथों में प्रतिपादित भक्ति-रस की प्रतिष्ठा की ओर लेखक दो ओर से बढ़ते दिखायी पड़ते हैं—एक भक्तिशास्त्र की ओर से, दूसरे काव्यशास्त्र की ओर से। हम यहाँ इनकी दृष्टि से 'रस' के स्वरूप को समझना चाहते हैं, अतः प्रमुखतया इनके काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को ही सामने रखेंगे, आवश्यकतानुरूप ही भक्ति और दर्शन की ओर जाएँगे।

३. भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि के प्रतिपाद्य की दिशा एक ही होने पर भी दोनों के क्षेत्र की परिधि कुछ अलग-अलग है। भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के लगभग सभी रूपों को लिया गया है, जैसे शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, मधुर। साथ ही अन्य सभी काव्यशास्त्रीय रसों को भी समेटा गया है। इनमें मधुर रस ही इन आचार्यों की अपनी साम्प्रदायिक चेतना के अनुसार वास्तविक प्रतिपाद्य है। किन्तु उसका सविस्तर विवेचन तो 'उज्ज्वल रस' के नाम से उज्ज्वलनीलमणि में हुआ है, न कि रसामृतसिन्धु में। इस प्रकार उज्ज्वलनीलमणि एक अर्थ में अधिक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। रसामृतसिन्धु भक्ति की व्यापक समस्याओं और विविध रूपों को स्वीकार करके चलता है। फिर भी, उसमें अपने सम्प्रदाय के दृष्टिकोण की एक संयोजना है। उदाहरणस्वरूप मधुर रस की मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठा और अन्य भक्ति-रूपों को उससे निचले स्थानों पर प्रतिष्ठित किया गया है। पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना को साधनान्तर्गत आने वाली रागानुगा भक्ति के रूप में दिखाया गया है, न कि साध्य कोटि में आने वाली भक्ति के रूप में।[2]

---

१. स्वयं 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नाम भी इसी दृष्टिकोण का सूचक है।

२. 'कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं 'रागानुगोच्यते॥' भ० र० सि : पू० वि : ल० २ : का० ८१।

भक्ति का स्वरूप

गोस्वामी आचार्यों के प्रतिपादित भक्ति-रस को समझने के लिए उनकी भक्ति के स्वरूप को समझ लेना उचित होगा। उनके अनुसार भक्ति चाहे साधनावस्था में हो, चाहे साध्यावस्था में, दोनों ही रूपों में एक आनन्दमयी अनुभूति है। भक्ति का लक्षण रूप गोस्वामी के शब्दों में इस प्रकार है :

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥"[1]

श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भोगों और मोक्ष तक की अभिलाषा से शून्य, ज्ञान और कर्म के आवरणों से मुक्त, भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने की भावना से ओतप्रोत कृष्ण का अनुशीलन ही उत्तम भक्ति है।"

यह उत्तम भक्ति का लक्षण बताया गया है। अनुशीलन एक क्रिया है। वह मानसिक भी हो सकती है, कायिक भी। अतः भगवान् की प्रसन्नता के लिये की गयी कायिक चेष्टाएँ पूजा-सेवा आदि भी भक्ति की कोटि में हैं। किन्तु प्रधानता भावात्मिकता मानसी भक्ति की ही स्वीकार की गयी है। 'अनुशीलन' में आया अनु उपसर्ग कृष्णविषयक शीलन की मुहुर्मुहुता एवं निरन्तरता की अपेक्षा बताता है।

भोग और मोक्ष दोनों की अभिलाषा से भक्त को दूर होना चाहिए। भक्ति विशुद्ध एवं निरुपाधिक अनुभूति है, भोग और मोक्ष इसकी उपाधियाँ हैं।[2] भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य अथवा सारूप्य किसी प्रकार की मोक्ष की कामना नहीं करता। भगवत्प्रेम की परिपूर्णता के लिए जो सालोक्य या सामीप्य अपेक्षित हो, मिलता रहे।

ज्ञान के दो रूप हम ले सकते हैं। एक तो आत्मा और परमात्मा के बीच अद्वैत की प्रतिष्ठा कराने वाला, दूसरा आत्मा को परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप को समझाने वाला। भक्तिमार्ग में प्रथम प्रकार का ज्ञान सर्वथा बहिष्कार्य है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को ही अवकाश दिया जा सकता है। सूर ने भी भक्ति-विरोधी ज्ञान की निन्दा की है। अद्वैत ज्ञान निर्मला भक्ति के लिए मल या आवरण है। उत्तमा भक्ति इस आवरण से मुक्त होती है।

भक्त की दृष्टि में नित्य-नैमित्तिकादि कर्मों को भी, जिनका प्रतिपादन स्मृति-आदि में मिलता है, निर्मला भक्ति का आचरण ही मानता है। अपने आराध्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए जो परिचर्यादिक कर्म अपेक्षित हों, उतने भर के लिए भक्ति में अवकाश है।[2]

इस प्रकार गोस्वामी आचार्यों की प्रतिपादित भक्ति मुख्यतया 'भावरूपा' है, जबकि रामानुज की भक्ति 'ज्ञानरूपा' थी। गोस्वामियों की भक्ति में कर्म-रूपता उतने ही अंश में स्वीकार्य है, जितने अंश में भगवत्परिचर्यादि के रूप में कर्म भक्ति में अव्यभिचारी रूप में अनुप्रविष्ट है।[3]

भक्ति सुकुमारतम एवं कोमलतम अनुभूति है। ज्ञान और वैराग्य चित्त में काठिन्य और रूक्षता लाते हैं। अतः ज्ञान-वैराग्य को भक्ति का आवरण ही मानकर चला गया है।

---

१. भ० र० सि० : पू० वि : ल० १ : का० ११।

२. भ० र० सि० तथा दु० सं०, पृ० ११-१३ के आधार पर।

३. "भक्तिः भावरूपा, तथाप्येतदव्याभिचारिणी क्रियारूपापि लक्ष्यते।" दु० सं०, पृ० १३।

संसार में होने वाले अतिराग को रोककर भक्ति में प्रवेश कराने भर के लिए ज्ञान-वैराग्य की उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है, अन्यथा वे भक्ति की चरम सीढ़ी पर पहुँचने के लिए सोपान भी नहीं हैं। भक्ति स्वयं साधन है, स्वयं साध्य। उसकी प्रारम्भिक अवस्था ही आगे बढ़ने के लिए साधन बनती जाती है।[1]

भक्ति स्वतः आनन्दमयी अनुभूति है, उसका उद्देश्य वह स्वयं है। वस्तुतः उसका चरम उद्देश्य है कृष्णनुकूल्य, जिसमें अपने आनन्दलाभ की भावना भी तिरोहित हो जाती है।

भक्ति की भावना का क्रमिक विकास होता है।[2] इसी हेतु उसकी साधन और साध्य अवस्थाओं की चर्चा की गयी है। साध्य स्थिति ही वस्तुतः आनन्दात्मिका है, तथापि उस स्थिति तक ले जाने वाला साधन या मार्ग भी स्वरूपतः आनन्दात्मक है। अतः भक्ति की सभी भूमिकाओं से आनन्द का सीधा सम्बन्ध है। रूप ने भक्ति-विकास के क्रम को इस प्रकार दिखाया है :

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावः ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।"[3]

इस क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर भक्ति के सामान्यतः तीन भेद किये गये हैं—साधन, भाव, प्रेमा।[4] साधन भक्ति का उद्देश्य भाव भक्ति का उदय करना ही है। भावोदय के अनन्तर साधन भक्ति का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। भाव नामक भक्ति की ही पूर्ण परिणत अवस्था को 'प्रेमा' नाम दिया गया है।[5] प्रणय, स्नेह, राग, मान, अनुराग, महाभाव आदि इसी प्रेमा की विशिष्ट स्थितियाँ हैं।[6]

जीव ने रूप गोस्वामी की मान्यताओं को आधार बनाकर कुछ अधिक काव्य-शास्त्रीय रूप देकर जो भक्ति-भेदों का निरूपण किया है, उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

---

१. "ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायैवोपयोगिता।
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः॥
यदुमे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते।
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिरतद्धेतुरीरिता।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० ४८-९।
"तस्य भक्तिप्रवेशस्य हेतुर्भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतुः पूर्वपूर्वभक्तिरेवेत्यर्थः।" दु० सं०, पृ० ८२।

२. "तर्हि सहायं विनोत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशः कथं स्यात्?" दु० सं०, पृ० ८२।

३. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ४ : का० ६-७।

४. "सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० १।

५. "भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।" वही : ल० ४ : का० १।

६. दु० सं०, पृ० २३।

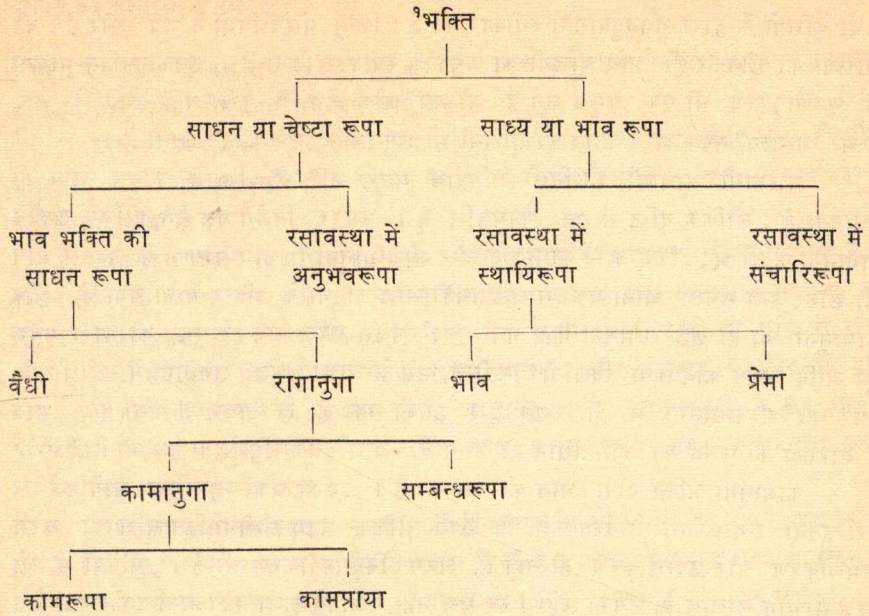

इस प्रकार मोटे तौर पर भक्ति के दो ही रूप हैं, साधन भक्ति और साध्य भक्ति। साध्य भक्ति में 'भाव' प्रारम्भिक स्थिति है तो 'प्रेमा' उसकी परिनिष्ठित दशा। और निकट से देखा जाय तो यह भावभूमिका भी साधना भक्ति की रागानुगा स्थिति का ही विकास है। वैधी भक्ति रागानुगा को उदित करके समाप्त हो जाती है, रागानुगा ही क्रमशः बढ़ते-बढ़ते प्रेमा की कोटि प्राप्त करती है।

साधन भक्ति के दो भेद ऊपर दिखाये गये हैं—वैधी और रागानुगा। इनमें वैधी में शास्त्र का आदेश प्रधान होता है, हृदय का लगाव गौण। इसके अनेक अंग हैं। इनमें प्रमुख ६४ अंगों का उल्लेख रूप ने किया है।[2] शास्त्र मर्यादा का अनुसरण होने के कारण ही इस वैधी भक्ति को मर्यादा मार्ग कहा गया है।[3]

रागानुगा में शास्त्र की नहीं, चित्त की रागात्मिका वृत्ति की, प्रधानता होती है। किसी अभीष्ट वस्तु में चित्त की जो स्वारसिकी आवेशात्मक प्रवृत्ति होती है, उसी का नाम तो राग है। वस्तुतः रागानुगा भक्ति ही 'भक्ति' की प्रथम सीढ़ी है। मानव में कामादि चित्त-वृत्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं, किसी शास्त्र के विधान की अपेक्षा नहीं रखतीं। रागानुगा भक्ति इन्हीं वृत्तियों के उदात्तीकरण का द्वार खोलती है। इस प्रकार रागानुगा भक्ति में चित्त की किसी वृत्ति को भक्ति-भावना का साधन बनाया जा सकता है। यह वह पथ है, जिसमें मनोवृत्तियों को तोड़ा नहीं जाता, मोड़ा जाता है। नारद ने तो काम, द्वेष, भय आदि

---

१. दु० सं०, पृ० २३ तथा १०० के आधार पर।

२. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २, पृ० ४६-८५।

३. "शास्त्रोक्त्या प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।" वही, ल० २, का० ५९-६०।

सभी वृत्तियों के द्वारा भगवदुपासना स्वीकार की है। किन्तु गोस्वामियों ने भय और द्वेष की वृत्तियों को छोड़कर ही अन्य वृत्तियों का अवकाश स्वीकार किया है। उनकी भक्ति-भावना में 'कृष्णानुकूल्य' भी एक प्रमुख शर्त है जो भय और द्वेष में पूरी नहीं होती।[1] अतः काम, वात्सल्य, सख्य दास्य आदि की वृत्तियाँ भी प्रमुखतया इसके भीतर आती हैं।

गोस्वामी आचार्यों की निजी प्रतिपाद्य मधुरा भक्ति है, जिसमें कान्ता भाव की प्रधानता है। लौकिक दृष्टि से यह 'कामवृत्ति' है। उसपर विशेष बल देने के लिए उन्होंने रागानुगा के दो भेद किए हैं—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। काम-सम्बन्ध के कान्ता भाव को छोड़ अन्य समस्त भावात्मक सम्बन्धों को सम्बन्धानुगा के भीतर माना गया है, और कामानुगा को ही शुद्ध रागानुगा कहा गया है।[2] जिस सख्य भाव के स्नेह की धारा अनेक सूर आदि भक्त कवियों में दिखायी पड़ती है, उसे ये आचार्य शुद्ध रागानुगा में नहीं गिनते, दूसरे भेद सम्बन्धानुगा में ही रखते हैं। उनका तर्क है कि सख्य के इस स्नेह भाव में आराध्य के ऐश्वर्य का ज्ञान प्रधान हो जाता है, अतः उसकी विशुद्धता दब जाती है।[3]

कामानुगा भक्ति गोपी भाव की भावना है। इसकी चर्चा हम कुछ आगे करेंगे। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि इसमें लौकिक काम जैसी गर्हित वृत्ति का चरम निर्मलीकरण और उदात्तीकरण ही नहीं है, चरम निर्वैयक्तीकरण भी है। गोपियों में जो सहज सम्भोग लालसा है, उसका उद्देश्य स्व-सुख नहीं, अपितु कृष्ण को आनन्दित करना है। स्वसुख की स्वार्थ-गन्ध से भी दूर यह सम्भोग की इच्छा वाली काम भावना व्रजदेवियों में पायी जाती है। इस भावना में लौकिक संभोग भावना घुलकर विशुद्ध 'काम-रूपा' रह जाती है :

"सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात् काम इत्युच्यते बुधैः।"[4]

यह विशुद्ध भावात्मिका वृत्ति है। मानसी स्थिति है। कुब्जा में यह नहीं पायी जाती। उसमें स्वसुख की कुछ लालसा थी, अतः उसका काम भावात्मक न रहकर चेष्टात्मक बन गया था। वह कृष्ण के वस्त्रादि खींचने लग गयी थी, आदि। इसीलिए उसकी रति को 'कामरूपा' न कहकर 'कामप्राया' कहा गया है।[5] रागानुगा के दोनों भेदों कामानुगा एवं कामप्रया में यही अन्तर है।

साध्यरूपा भाव भक्ति—मनोरागों के उदात्तीकरण रूप साधन से साधक में साध्यरूपा भाव भक्ति का उदय होता है। इसकी दो स्थितियाँ मोटे तौर पर दिखायी गयी हैं—भाव और

---

१. आनुकूल्य विपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ। भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० ६३।

२. अयमर्थः—पाण्डवानां यः स्नेहः स सख्यरूपरागात्मिकायामेव पर्यवस्यति, तथाप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात्तेषां विधिमार्गे प्रधानत्वमेव स्यादिति शुद्धरागात्मिकायां नोपयोगः।"

३. दु० सं०, पृ० ९०।

४. भ० र० सि०, पू० वि०, ल० २, का० ६८-७०, दु० सं०, पृ० ९०।

५. कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव संमता। वही, का० ७१।

प्रेमा। प्रेम यदि परिपूर्ण सूर्य के समान है तो भाव उसके अंशुओं के समान। वस्तुतः ये कृष्ण-रति की प्रारम्भिक और विकसित अवस्थाएँ हैं।[1]

वस्तुतः कृष्णविषयक रति का पर्याय ही 'भाव' शब्द है, प्रेमा आदि जिसकी प्रौढ़ अवस्थाएँ हैं।[2] यह कृष्णरति ही भक्तिरस के रूप में परिणत होती है, अतः यही भक्तिरस का 'स्थायी भाव' है।[3]

अधिकारी भक्तों के अधिकार-भेद से इस रति भाव को पाँच रूपों में माना गया है। वासना-भेद के कारण भक्तों के पाँच वर्ग माने गये हैं—शान्त, दास-सुत आदि भगवान् के अनुग्राह्य, सखा, वात्सल्य के अधिकारी गुरु-जन तथा प्रेयसियाँ।[4] इन्हीं की दृष्टि से रति भाव के ये ५ भेद होते हैं—शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता।[5] फिर भी यह रति मनोविकार रूप नहीं है, यद्यपि प्रीति, वात्सल्य आदि मनोविकारों के रूप में ही परिलक्षित होती है। इस अन्तर को भी तभी समझा जा सकता है जब उपर्युक्त रति भाव का दार्शनिक स्वरूप समझा जाय।

भाव का दार्शनिक स्वरूप—'भाव' जो कि कृष्णरति का पर्याय है, मूलतः शुद्ध सत्त्व रूप है। यह शुद्ध सत्त्व प्राकृत सत्त्व गुण से सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः यह शुद्ध सत्त्व आनन्दमय भगवान् की स्वरूपात्मिका शक्ति का ही दूसरा नाम है। भगवान् की स्वरूपशक्ति जब आत्मप्रकाशन करती है तब उसे 'शुद्ध सत्त्व' कहा जाता है। इसे ही 'ह्लादिनी' 'सन्धिनी' 'संवित्' आदि नाम दिये गये हैं।

"अत्र शुद्धसत्त्वं नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्तेः संविदाख्या वृत्तिः, न तु माया-वृत्तिविशेषः।"[6]

भाव को रूप गोस्वामी ने इसी शुद्ध सत्त्व का एक विशेष रूप कहा है :

"शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।[7]
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।"

इस भाव-स्थिति का सीधा सम्बन्ध राधा से है। राधा भगवान् कृष्ण की नित्य प्रिया हैं, वे उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। उनका कृष्ण से नित्य मिलन है। माधुर्य भावना

---

१. "शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० १।
"सूर्यस्त्वत्राचिरादुदयिष्यमाणो गृह्यते, ततश्च तदंशुसाम्यभागिति प्रेम्णः प्रथमच्छविरूप इत्यर्थः।" दु० सं०, पृ० १०१।
"भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ४ : का० १।

२. "रत्यपपर्यायस्थायिभावाङ्कुररूपं भावं लक्षयति।" दु० सं०, पृ० १००।

३. "एषा कृष्णरतिरेव स्थायी भावः, सैव च भक्तिरसो भवेत्।" दु० सं०, पृ० १२०।

४. "भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः।
सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पंचधा॥" भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ११३।
"अत्र विधिमार्गोपलक्षणत्वेन वासनाविभेदोपि ज्ञेयः।" दु० सं०, पृ० ९८।

५. "भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पंचविधा स्मृता।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० ११।
"शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ।" वही : द० वि० : ल० ५ : का० ६।

६. दु० सं०, पृ० १००।

७. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० १।

से ओत-प्रोत यह राधा उस चरम कान्ता-भाव की प्रतीक हैं, जिसमें कृष्ण के आनुकूल्य की ही उदात्त एवं परम वृत्ति होती है। इस प्रकार भाव के रूप में 'शुद्धसत्त्व-विशेष' दार्शनिक दृष्टि से भगवान् की स्वरूपात्मिका ह्लादिनी शक्ति का वह प्रकाशन है जिसमें कृष्ण के आनुकूल्य की, उन्हें परम आनन्दित करने की, न कि स्वयं स्वार्थपूर्ति की, वृत्ति रहती है। 'भाव' की इस प्रकार की चरम परिणति को ही 'महाभाव' या 'मोदन-भाव' कहा गया है।[1]

इस प्रकार ह्लादिनी के समुदय-रूप रति भाव में कृष्णानुकूल्य और तत्सौख्यदातृत्व की अभिलाष ही प्रमुख होती है। इसीलिए इसे 'ह्लादिनी' की सारवृत्ति कहा गया है, शुद्ध-सत्त्व का विशेष रूप बताया गया है।[2]

इस भाँति यह स्पष्ट है कि साधक भक्त के हृदय में कृष्णरति के भाव के उदय का अर्थ है उसके उदात्तीकृत मनोरागों वाले चित्त-फलक पर भगवान् की स्वरूपात्मिका ह्लादिनी शक्ति का उदय। इसी हेतु रति या भक्ति की उत्पत्ति नहीं होती, प्रादुर्भाव या उदय होता है, कारण यह भक्ति भगवच्छक्ति-रूपा होने के कारण नित्य है, कार्य या उत्पाद्य नहीं।

यहाँ यह समझ लेना अनिवार्य है कि इन आचार्यों ने नित्य प्रिय भक्त, प्रपंच-गत प्रिय भक्त तथा साधक भक्तों को अलग-अलग ध्यान में रखा है। नित्य प्रिय भक्त वे हैं जो भगवान् के नित्य लीला परिकर में सम्मिलित रहते हैं, जैसे राधा आदि व्रजदेवियाँ, यशोदा आदि। किन्तु प्रपंचगत भक्त वे हैं जो हैं तो सिद्ध भक्त, किन्तु उनमें या तो साधना भक्ति के द्वारा या भगवत्कृपा से शुद्ध भक्ति का उदय हुआ है। साधक भक्त साधना भक्ति के पथिक होते हैं, उनमें 'भाव' भक्ति के आगे चल कर उदित होने की बात है। तो, इनमें नित्य भक्तों में तो कृष्णरति के उदित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, उन्हें तो इसका नित्य लाभ है। जो भक्ति के उदय की बात है, उसका सम्बन्ध प्रपंचगत भक्तों से

---

१. "ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
तत्सारभावरूपेयमिति तन्त्रे प्रतिष्ठिता॥" उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ७६।
"अत्र शुद्धसत्त्वं नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्तेः संविदाख्या वृत्तिः।—
"शुद्धसत्त्वविशेषत्वं चात्र या स्वरूपशक्तिवृत्त्यन्तरलक्षणा—
"ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥"
इति विष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिनीनाम्नी महाशक्तिस्तदीयसारवृत्तिसमवेत-तत्सारांशत्वमेवेत्यवगन्तव्यं, तयोः समवेतयोः सारत्वं च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकतदीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्वं, ह्लादिनीसारसमवायित्वं चास्यैव भावस्य परमपरिणामरूपमोदनाख्ये भावे श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिमधिकृत्य व्यक्तीभविष्यति।" दु० सं०, पृ० १००।

२. "ततश्चायमर्थः—असौ सामान्यतो लक्षिता भक्तिः निजांशविशेषे भाव उच्यते। स च किंकिंस्वरूपः? तत्र—कृष्णस्य सर्वशक्तिरूपः शुद्धसत्त्वविशेषो यः स एवात्मा तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानतया नित्यसिद्धं स्वरूपं यस्य सः, किंच रुचिभिः प्राप्त्याभिलाषस्वकर्तृकानुकूल्याभिलाषसौहार्दाभिलाषैः चित्तार्द्रताकृदिति।" दु० सं०, पृ० १०१।

सारवृत्तिता और विशेषरूपता का जीव गोस्वामी ने यही अर्थ लिया है कि कृष्णनुकूलता के भाव की वृत्ति ही उदग्र हो—"तयोः सारत्वं च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकतदीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्वम्" वही, पृ० १००।

है। उनके भीतर ही पहले की कामादि वृत्तियों का उदात्तीकरण एवं परिष्कार होकर शुद्ध भक्ति का उदय होता है, जो मूलतः कृष्ण की ह्लादिनी संवित् का ही प्रकाश है।

प्रश्न उठता है, इस शुद्धसत्त्वविशेष-रूपा ह्लादिनी रति-शक्ति का इन भक्तों के कामादि वृत्ति वाले हृदयों में आविर्भाव किस प्रकार होता है? हम यह जान चुके हैं कि रागानुगा साधना भक्ति की भूमिका में कामादि मनोवृत्तियों का परिष्कार एवं उदात्तीकरण हो जाता है। तभी ह्लादिनी-सार-वृत्ति-रूपा रति के उदय की सम्भावना बनती है। भक्त का चित्त अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप विशेष-विशेष मनोवृत्तियों वाला होता है, किसी का काम-प्रधान, किसी का सख्य-प्रधान, तो किसी का दास्य-प्रधान। यह शुद्ध मनोवृत्तियों का साँचा जैसा होता है, कृष्णरति उन-उन भक्तों की मनोवृत्ति वाले चित्त के साँचे में आकर उसी रूप में ढल जाती है, और उसी वृत्ति के रूप की बन जाती है। इस प्रकार शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रति भक्त की मनोवृत्ति से तादात्म्य करती हुई तत्स्वरूप हो जाती है, न कि वृत्तियाँ अपना अस्तित्व खोकर शुद्ध सत्त्व से तादात्म्य करती हों। इसीलिए इस भक्तिमार्ग में वृत्तियों के निरोध या नाश की किसी अवस्था में आवश्यकता नहीं आती। रूप गोस्वामी ने इस उदय-प्रक्रिया का निरूपण इस प्रकार किया है:

"आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयंप्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत्॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते॥"[1]

शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रति के इस वृत्तितादात्म्य का एक परिणाम होता है। अपने मौलिक शक्तिरूप में रति स्वयंप्रकाश है, ह्लादिनी है, 'संवित्' है। स्वयंप्रकाश होने के कारण उसे कोई अन्य तत्त्व प्रकाशित नहीं करता। ह्लादिनी-सार-वृत्ति होने के कारण उसमें चरम कृष्णनुकूल्य की भावना रहती है। 'संवित्' होने के कारण वह 'प्रकाशिका' भी है, वह कृष्णादि सभी के स्वरूप को प्रकाशित करती है। इसीलिए उसे 'श्रीकृष्णादिसर्व-प्रकाशिका' भी कहा गया है।[2] दूसरी ओर जो भक्त-हृदय की कामादि वृत्तियाँ हैं, वे चाहे कितनी ही उदात्तीकृत क्यों न हों, स्वरूपतः जड़ और परतःप्रकाश्य होती हैं। जब स्वयं-प्रकाशा परप्रकाशिका रति उन वृत्तियों से सारूप्य कर लेती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह भी प्रकाशिका न रहकर प्रकाश्य बने। किन्तु होता यह है कि वह स्वरूपतः तो प्रकाशिका और स्वयंप्रकाशा ही रहती है, तथापि प्रकाश्य वृत्तियों के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण प्रकाश्य जैसी ही भासित होने लगती है। इसीलिए अन्य दर्शकों को भक्त की कृष्णरति लौकिक कामादि वृत्तियों के रूप में दिखायी देती है, किन्तु यह उनका भ्रम है। ये वृत्तियाँ तो उस रति के लिए साँचा मात्र रह गयी हैं। उसका मूल रूप प्रकाशात्मक एवं संविदात्मक ही है।

"असौ शुद्धसत्त्वविशेषरूपा रतिमूलरूपत्वेन मुख्यवृत्त्या तच्छब्दवाच्या सा रतिः श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयंप्रकाशरूपाऽपि प्रापंचिकतत्प्रियजनानां मनोवृत्तावाविर्भूय

---

१. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० २, ३।

२. "श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयंप्रकाशरूपापि……।" दु० सं०, पृ० १०२।

तत्स्वरूपतां तत्तादात्म्यं व्रजन्ती तद्वृत्त्या प्रकाश्यवद्भासमाना ब्रह्मवत् तस्यां स्फुरन्ती···"[1]

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है—रति स्वयं आस्वादरूपा है, अथवा आस्वाद का हेतु ? यदि वह आस्वादरूपा है, तो फिर कृष्णादि के आनन्दमय रूप का आस्वादन कैसे करा सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—रति स्वरूपतः आस्वादरूपा है। वह भगवान् की आनन्दमयी शक्ति है, अतः आनन्दरूपा है। साथ ही वह ह्लादिनी भी है, जिसका अर्थ है आनन्दित करने वाली। अतः वह भगवान् को भी आनन्दित करती है। इसीलिए उसमें चरम कृष्णानुकूल्य होता है। इसके साथ ही उसका एक पक्ष संविदात्मक भी है, जिसके द्वारा वह प्रकाशन करती है। वह भगवान् के स्वरूप का भी प्रकाशन करती है।[2] अतः जब भक्त के हृदय-फलक पर इस संविदात्मिका रति का उदय होता है तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उसके संवित् अंश के द्वारा उसी फलक पर भगवान् कृष्ण, उनका परिकर, उनकी लीलाएँ प्रकाशित हो जाएँ, उभर उठें। तो, रति अपने संविद् अंश से कृष्णादि को चित्त-फलक पर प्रस्तुत करती है, और ह्लादिनी अंश से उनका आस्वादन कराती है। अतः स्वरूपतः आस्वाद-रूपा होते हुए भी इस अलौकिक रति का आस्वादक रूप मानने में कोई बाधा नहीं है।[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिरस का स्थायी भाव मानी गयी कृष्णरति, चाहे कान्ता भाव के रूप में हो चाहे दास्यादि अन्य किसी भाव के रूप में, स्वरूपतः मनोविकार रूप नहीं, शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है। लगती वह लौकिक मनोविकारों के रूप में है।

भक्ति की ६ विशेषताएँ—रूप गोस्वामी ने भक्ति के ६ गुण या विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं :[4]

१. क्लेशघ्नी
२. शुभदा
३. मोक्षलघुताकृत्
४. सुदुर्लभा
५. सान्द्रानन्दविशेषात्मा
६. श्रीकृष्णाकर्षणी।

इन ६ विशेषताओं में से प्रथम दो का सम्बन्ध ही साधना भक्ति में जुड़ पाता है। भाव भक्ति की भूमिका में प्रथम ४ गुण आ जाते हैं, तथा भाव की प्रौढावस्था 'प्रेमा' की भूमिका में समस्त विशेषताएँ आविर्भूत हो जाती हैं।

क्लेश से तात्पर्य उन समस्त प्रारब्ध-अप्रारब्ध कर्मों, जिनके कारण जन्म-मरण के दुःखों का चक्र चलता है, उनके संस्कार-रूप बीजों, तथा सबकी मूल अविद्या से है। भक्ति इन क्लेशों का हनन करने वाली है। साधना भक्ति की भूमिका में ही भक्त इन क्लेशों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

भक्ति शुभदा है। इसमें लोक-प्रणयन और लोक-कल्याण निहित हैं। भक्त में

---

१. दु० सं०, पृ० १०२।

२. "अस्याप्राकृतत्वं तादृशशुद्धसत्त्वविशेषह्लादिनीसाररूपत्वं च मोक्षसुखस्यापि तिरस्कारकत्वात्, श्रीभगवतोपि प्रकाशकत्वादानन्दकरत्वाच्च।" दु० सं०, पृ० १०१।

३. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० ३ तथा उसकी दु० सं०, पृ० १०२-३।

४. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० १ के आधार पर।

लोक-मंगल रूप शुभ गुणों का उदय हो जाता है, जिससे उसे प्राणि-मात्र का अनुराग मिलता है।

भक्ति में भोगों की ही नहीं, मोक्ष की भी अत्यन्त लघुता एवं हेयता है। भाव भक्ति की भूमिका में पहुँचे हुए भक्त की दृष्टि में मोक्ष की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। चारों ही पुरुषार्थ उसे तृण-वत् प्रतीत होते हैं।

भक्ति की उच्च भूमिका अत्यन्त दुर्लभ है। वस्तुतः वह केवल साधन मार्ग पर चल कर बिना भगवान् या उनके प्रिय भक्तों की कृपा के प्राप्त नहीं होती। भगवान् भी अपनी निर्मल भक्ति को सहज नहीं दे देते, इसीलिए भक्ति को 'आश्वदेया' आशु अदेय कहा गया है।

भक्ति की उच्च भूमिका पूर्ण आनन्दमयी है। वह स्वयं भगवान् की आनन्दमयी शक्ति का विस्फुरण है। एक प्रकार से भगवान् की आनन्दमयी, आनन्ददात्री शक्ति है। यह आनन्द अत्यन्त 'सान्द्र' घनीभूत होता है, जिसकी समता में ब्रह्मानन्द अत्यन्त हेय एवं तुच्छ होता है। लौकिक सुख, और ब्रह्म-सुख से बढ़कर, आत्म-स्वरूप-बोध के सुख को अतिक्रान्त करने वाला भक्ति का सुख होता है। वह विशुद्ध आनन्द है, परम 'रस' तत्त्व।

भक्ति की उच्च भूमिका में एक भारी विशेषता आ जाती है कि भगवान् स्वयं भक्त से प्रेम करने लगते हैं। वह श्रीकृष्णाकर्षणी कही गयी है। कृष्ण ही नहीं, उनका परिकर, जिसके सन्दर्भ में ही उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहना चाहिए, भक्त के प्रति आकृष्ट होकर उसके प्रति प्रेमभाक् हो जाता है।

भक्ति में आनन्द और अशान्ति—भक्ति स्वरूपतः आनन्द-प्रवाह-रूपा है। वह आनन्द अत्यन्त शान्त है। फिर भी उसमें एक बड़ी भारी उष्णता है, प्यास है। उत्तरोत्तर और अधिक अभिलाषा उसमें बढ़ती चली जाती है। अतः उसमें एक स्वाभाविक अशान्त-स्वभावता और उष्णता भी सन्निविष्ट रहती है, जिसका उल्लेख रूप ने इस भाँति किया है :

"रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी।"[1]

'रस'

इन गोस्वामी आचार्यों की दृष्टि में 'रस' मुख्यतः भक्तिरस ही है, अन्य किसी के लिए इस शब्द का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए। उदाहरण-स्वरूप निम्न श्लोक में श्रीमद्भागवत को 'रस' कहा गया है :

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसम् आलयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥"[2]

भागवत को रस इसीलिए कहा गया है कि उसमे भगवद्-भक्ति-रस है। वह भक्ति-रस-मय है। इतनी मात्रा तक भक्तिरस-मय है कि उसमें अन्य कुछ नहीं, कहना चाहिए,

---

१. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० ३५।
२. दु० सं०, पृ० ७४ : श्रीमद्भागवत से उद्धृत।

'रसैकमय' है। इसीलिए औपचारिक रूप में उसे 'रस' कहा गया है। यह रस 'भागवत' अर्थात् भगवद्भक्ति से सम्बद्ध है, यह भी स्पष्ट ही है।[1]

इतना ही नहीं, जीव गोस्वामी तो तैत्तिरीय के 'रसो वै सः' इत्यादि शब्दों में भगवान् के लिए प्रयुक्त 'रस' शब्द को भी कुछ औपचारिक ही दिखाना चाहते हैं :

"स च रसो भगवद्भक्तिमय एव, 'यस्यां वै श्रूयमाणायामित्यादि-फलश्रुतेः, यन्मयत्वेनेव भगवति रसशब्दः श्रुतौ प्रयुज्यते 'रसो वै सः' स एव च प्रशस्यते—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति।"[2]

भगवान् को जीव के अनुसार इसीलिए 'रस' कहा गया है कि वे भक्तिमय हैं। भक्ति उनकी ह्लादिनी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है।[3] अतः भगवान् भी भक्तिरसमय हैं, अतः उन्हें 'रस' कहा गया है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' अर्थात् 'रस' को प्राप्त करके ही यह आनन्दित होता है, इन शब्दों में तो सीधे-सीधे उस भक्ति-रूप रस की प्रशंसा की गयी है।

इस प्रकार 'रस' शब्द का मुख्य अर्थ है 'भक्ति-रस'।

रस और उसकी परिधि

रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु में यथास्थान ४ विषयों का निरूपण किया है—भाव, भावाभास, रस और रसाभास। इनमें से वे भावों, भावाभासों, रसों और कुछ ही रसाभासों को 'रस' की परिधि में मानते हैं :

"भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेपि रसनाद्रसाः॥"

रसाभासों के उन्होंने तीन भेद किये हैं—उपरस, अनुरस, अपरस। इनमें उपरस उत्तम कोटि के रसाभास हैं। ये ही 'रस' की परिधि में गिने जाने योग्य हैं, अन्य नहीं।[4]

रस की परिधि में आने वाले इन तत्त्वों पर रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए कुछ और दृष्टिपात कर लिया जाय तो अच्छा रहेगा।

भाव—भाव की दार्शनिक स्थिति हम पीछे समझ चुके हैं। भक्त के हृदय में उसके वृत्यात्मक चित्तफलक के ऊपर शुद्धसत्त्व के विशेष रूप का उदय ही भाव है, जिसे सामान्य शब्द में कृष्णरति कहा जा सकता है। यह कृष्णरति अधिकारी-भेद से कान्ताभाव, दास्य, वात्सल्य आदि विविध रूपों में हो सकती है।

यह कृष्णरति ही भक्तिरस का स्थायी भाव है।

यहाँ एक बात विशेषतः उल्लेखनीय है। काव्यशास्त्रीय रस के प्रतिपादक आचार्यों

---

१. भागवताख्यं यच्छास्त्रं तत् खलु रसवदपि रसैकमयत्वविवक्षया रसशब्देन निर्दिष्टं,...भागवतस्य तदीयत्वेन रसस्यापि तदीयत्वाक्षेपात् शब्दश्लेषेण च भगवत्सम्बन्धि रसमिति गम्यते।" दु० सं० : पृ० ७४।

२. दु० सं०, पृ० ७४।

३. भ० र० सि० : उ० वि० : ल० ९ : का० २४।

४. भ० र० सि० : उ० वि० : ल० ९ : का० २ तथा २३-२४।

की मान्यता है कि स्थायी भाव स्वरूपतः वासनात्मक होता है, और मानवमन में संस्कार या वासना के रूप में ही सुप्तप्राय अवस्थित रहता है। विभावादि सामग्री के साथ उपयुक्त संयोग होने पर ही वह अभिव्यक्त होता हुआ 'रस' बनता है। इस प्रकार काव्य-दृष्टि से 'स्थायी भाव' की कोई विशिष्ट स्थिति नहीं होती। काव्यशास्त्र में ही एक और प्रकार से उद्बुद्ध भावों के लिए 'भाव' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग किया गया है। देवादि-विषयक रति, व्यंजित व्यभिचारी और किसी-किसी आचार्य की दृष्टि में पूर्णतः व्यंजित स्थायी भी 'भाव' कहे गये हैं। किन्तु ये सब स्थितियाँ पारिभाषिक हैं, और रस की एक हल्की स्थिति दिखाने के लिए पारिभाषिकतया अलग की गयी हैं। विश्वनाथ आदि ने रस की व्यापक परिधि में इन्हीं पारिभाषिक भावों को परिगणित किया है, सीधे-सीधे स्थायी भावों को नहीं।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि में भाव और रस के बीच, अर्थात् स्थायी और उससे निष्पन्न होने वाले रस के बीच अनभिव्यंजित और अभिव्यंजित दशा का अन्तर है। किन्तु रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित स्थायी रूपा कृष्णरति और तन्निष्पन्न भक्तिरस में यह बात नहीं है। कृष्णरति-रूपा 'भाव' दशा भक्ति की एक प्रौढ दशा है, जिसका समुदय साधना भक्ति के अनन्तर होता है, कभी-कभी भगवत्कृपा या भक्त-कृपा से भी। रस-दशा उसकी प्रौढतम आनन्दमयी अनुभूति-विशेष है, किन्तु भाव-स्थिति स्वयं अपने में अनभिव्यक्त और वासनात्मतया सुप्त-प्राय स्थिति नहीं है।

इस प्रकार सिद्धान्ततः अभिव्यक्तिवाद का अनुसरण करते हुए भी ये आचार्य अपने निरूपण में अपनी मान्यताओं के फलस्वरूप उपचयवाद के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। इनकी स्थायी रूपा भाव-स्थिति में और रस में मात्रा का अन्तर रहता है। फिर भी यह ध्यान रखने की बात है कि न इनके भाव की और न रस की, उत्पत्ति किसी की सम्भव नहीं। नित्य शुद्ध-सत्त्व का आविर्भाव ही होता है, उत्पत्ति नहीं।

इस दृष्टि से इनका भक्तिरस असंलक्ष्यक्रम भी नहीं है। इसके विपरीत स्थल-स्थल पर उसमें क्रम की चर्चा की गयी मिलती है:

"अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।"[1]

"तस्य भक्तिप्रवेशस्य हेतुः भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतुः पूर्वपूर्वभक्तिरेवेत्यर्थः।"[2]

क्रमयोगेनैव रसाः सम्पद्यन्ते, नेतरथेति भावः।[3]

भाव और भावाभास—भाव और भावभास के बीच अन्तर उपाधि का होता है। कृष्ण-रति का भाव एक निर्मल एवं निरुपाधिक शुद्धसत्त्वविशेष है। ज्ञान और कर्म उसके मलात्मक आवरक हैं, भुक्ति-मुक्ति की स्पृहा उसकी उपाधि। भुक्ति-मुक्ति के कामी साधक शुद्धा भक्ति को अपनाकर चल ही नहीं सकते, उनका मार्ग तो प्रायः ज्ञान और कर्म के बीच से जाता

---

१. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ४ : का० ७।

२. दु० सं०, पृ० ८२।

३. दु० सं०, पृ० १९५।

है। ऐसे भुक्ति के इच्छुकों अथवा मुमुक्षुओं में कभी किसी प्रकार से आये हुए भक्ति के चिह्न दिखायी पड़ें, जैसे हृदय की मसृणता और आर्द्रता, अश्रुपात आदि, तो उनसे सामान्य दर्शक को उनमें भाव की भ्रान्ति हो जाती है। वह उनके इस रूप को देखकर उनसे प्रभावित हो उठता है। किन्तु अभिज्ञ पुरुष की दृष्टि इससे धोखा नहीं खा सकती। उनमें भाव नहीं, भावभास है।[1]

इस प्रकार भाव का मुख्यतः स्वरूप है अन्याभिलाषिताशून्य होना, अन्याभिलाष की उपाधि से रहित होना—भावाभास का स्वरूप है उपाधि से आवृत रति के चिह्नों का आभास।

"तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेर्मुख्यस्वरूपं, सोपाधित्वमाभासत्वं, तच्च गौण्या वृत्त्या प्रवर्तमानत्वम्।"[2]

यह भावाभास प्रतिबिम्ब और छाया भेद से दो प्रकार का माना गया है, जिसमें प्रथम उत्कृष्ट है।[3]

भक्ति का पथ एक ओर आनन्दमयी अनुभूति का पथ है, तो दूसरी ओर साधना का भी। इसीलिए उसमें क्रमत्व का समावेश है। इसी दृष्टि से उसमें उत्थान और पतन दोनों की सम्भावनाएँ हैं। भगवान् और उनके प्रिय भक्तों की कृपा और संसर्ग से भावाभास से भाव की स्थिति आ सकती है, भाव से प्रेमा की। उनके प्रति अपराध और उपेक्षा से भाव भी आभास बन सकता है, अभावता को भी प्राप्त हो सकता है।[4]

हम देख चुके हैं कि रूप गोस्वामी ने रस की व्यापक परिधि में भावों के साथ उनके आभासों को भी समेटा है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो काव्यशास्त्रीय आचार्यों की वह मान्यता, जिसके अनुसार रस की 'रस्यत इति रसः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर रस की परिधि में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता इस सभी को सम्मिलित किया गया है। दूसरी बात यह कि रसामृतसिन्धु में रूप गोस्वामी स्वयं भक्तिरस की व्यापक परिधि में प्रतिष्ठा करते हुए उसकी सर्वांगीणता प्रतिपादित करने का उद्देश्य सामने रखकर चले थे।

रस-भेद और उनके स्थायी भाव—रूप गोस्वामी ने भक्तिरस के प्रमुखतया दो भेद किये हैं—मुख्य और गौण। इनमें मुख्य रस ५ प्रकार का होता है—शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर। गौण सात प्रकार का माना गया है—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र,

---

१. "व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।
मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद् भवेदेषा रतिर्न हि॥
किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिह्नवीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः।" भ० र० सि : पू० वि० : ल० ३ : का० १७-२०।

२. दु० सं०, पृ० ११०।

३. प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम्।
केषांचिद्धृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदंचति॥
तद्भक्तहृन्नभस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ : का० २१-२४।
क्षुद्रकौतूहलमयी चंचला दुःखहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किंचित् तत्सादृश्यावलम्बिनी।" वही, का० २४-२५।

४. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० ३ पर आधारित।

भयानक, एवं बीभत्स। काव्यशास्त्र में मान्य नौ रसों में से शान्त और शृङ्गार को ही एक उदात्तीकरण के साथ मुख्य रसों में स्थान मिला है, शेष सात गौण रस माने गये हैं। रसों के भेद मूल स्थायी रूप रति के भेदों एवं स्थिति के आधार पर किये गये हैं। रसों एवं उनके स्थायी भावों का सम्बन्ध इस प्रकार माना गया है :

	रस	स्थायी भाव
मुख्य रस	१. शान्त भक्तिरस	शान्ति
	२. प्रीत भक्तिरस	प्रीति
	३. प्रेयान् भक्तिरस	सख्य
	४. वत्सल भक्तिरस	वात्सल्य
	५. मधुर भक्तिरस	प्रियता या मधुरा रति
गौण रस	६. हास्य भक्तिरस	हासरति
	७. अद्भुत भक्तिरस	विस्मयरति
	८. वीर भक्तिरस	उत्साहरति
	९. करुण भक्तिरस	शोकरति
	१०. रौद्र भक्तिरस	क्रोधरति
	११. भयानक भक्तिरस	भयरति
	१२. बीभत्स भक्तिरस	जुगुप्सारति

इस प्रकार कुल बारह रस माने गये हैं, पाँच मुख्य और सात गौण। यहाँ यह स्पष्ट है कि मुख्य रसों में भक्तिशास्त्र की विविध उद्भावनाओं को समन्वित रूप में बाँधने का प्रयास है, तो गौण रसों में काव्यशास्त्र की उपलब्धियों को। दोनों ओर की व्यापकता को समेटकर रूप गोस्वामी अपने भक्तिरस को एक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

मुख्य और गौण रसों का अन्तर—मुख्य और गौण रसों में अन्तर रस के स्थायी भाव रति की स्थिति की दृष्टि से माना गया है। रति की एक स्वतन्त्र, पूर्ण एवं उभरी हुई स्थिति हो सकती है, जिसमें विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भाव उसके पोषक बनते हैं। यह रति चाहे शान्त रूप में हो चाहे वात्सल्यादि के रूप में, यह तो दूसरी बात है। किन्तु अन्य हासादि भावों से वह दबी हुई नहीं होती। किन्तु रति की एक स्थिति यह भी हो सकती है जब रति स्वयं संकुचित होकर किसी अन्य भाव के पीछे छिप गयी हो, और वह अन्य भाव ही उभर कर सामने आ गया हो। उदाहरणस्वरूप यह श्लोक लिया जा सकता है :

"मया दृगपि नार्पिता सुमुखि ! दध्नि तुभ्यं शपे
सखी तव निरर्गला तदपि मे मुखं जिघ्रति।
प्रशाधि तदिमां मुधा छलितसाधुमित्यच्युते
वदत्यजनि दूतिका हसितरोधने न क्षमा।"[1]

वन में गोपियों ने दही की मटकियाँ उतारकर कहीं एक स्थल पर रख दीं, और उनकी रखवाली के लिए किसी एक सखी को छोड़ स्वयं इधर-उधर कुछ फूल चुनने चली गयीं। दही रखाने वाली सखी को एकान्त में पाकर कृष्ण को कुछ लीला करने का अवसर मिल गया। जब उनका मुख उसके समीप था, एक गोपी उधर आ निकली। लगे कृष्ण

---

१. भ० र० सि०, पृ० २९५।

बहाना बनाने। उससे बोले—सुमुखि, तुम्हारी सौगन्ध, मैंने तो दही की ओर नज़र भी नहीं उठाई, यह तुम्हारी सखी व्यर्थ ही मेरा मुँह सूँघकर यह जाँच कर रही है कि कहीं मैंने दही खाया तो नहीं। ऊपर से यह सीधी लगती है, तुम इसे रोको। कृष्ण की इस उक्ति पर वह दूती अपनी हँसी को न रोक सकी।

यहाँ ऊपर-ऊपर से हास्य का चित्र है, सभी सामग्री हास्य के ही उपयुक्त है। किन्तु इसके मूल में रति सन्निहित है। पर वह रति मुख्य नहीं गौण है। वह स्वार्था न रहकर परार्था हो गयी है। रूप गोस्वामी के समस्त गौण रसों में इसी प्रकार की परार्था कृष्ण रति का योग है।

इस प्रकार गौण रति के स्थलों में दो भाव सामने आते हैं—उभरा हुआ हासादि भाव, और संकुचित होकर पृष्ठभूमि में सन्निहित कृष्णरति। ऊपर के हास के उदाहरण में हास है और रति है। इस स्थिति का मिला-जुला नाम 'हास-रति' है। इसमें गौण रूप से अवस्थित रति को भी हासरति कहा जा सकता है, और उभरे हुए हास को भी। जीव गोस्वामी ने दोनों की दृष्टि से हासरति शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं :

१. हासो रतिरिव हासरतिः। पुरुषव्याघ्र इव समासः।[1]

हास जो रति के समान है। इस शब्द में 'पुरुषव्याघ्र' शब्द के समान समास होगा। पुरुष, व्याघ्र के समान। इस व्युत्पत्ति के आधार पर उस उभरे हुए हास को ही हासरति कहा जायेगा।

२. हासोत्तरा रतिः हासरतिः। शाकपार्थिवादिवत् समासः।[2]

ऐसी रति जिसके ऊपर-ऊपर से हास छाया हुआ है। "शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः" के समान इसमें समास माना जायेगा। इस अर्थ में दृष्टि हास पर न होकर रति पर है। अतः उस गौणी रति को भी हासरति कहा जा सकता है।

रसाभास : रस की व्यापक परिधि में आने वाला चौथा नाम रसाभासों का है। हम अभी कह चुके हैं कि रूप गोस्वामी ने तीन प्रकार के रसाभास माने हैं—उपरस, अनुरस, अपर। सामान्यतः रसाभास का लक्षण यही दिया गया है कि जहाँ रस के लक्षण में कोई हीनता होती है वहाँ रसाभास होता है। किन्तु इनकी उच्चता-अवरता उस हीनता पर निर्भर करती है।

उपरस वे रसाभास हैं जहाँ कृष्णरति का सम्बन्ध तो रहता है किन्तु उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य आदि आ जाता है। उदाहरणस्वरूप शान्त भक्तिरस में कृष्ण के विषय में अद्वैत भावना का आधिक्य हो जाना। ये उपरस १२ माने गये हैं, जो प्रत्येक मुख्य और गौण रस में भाव या विभाव की स्थिति में कुछ भी विरूपता आ जाने पर हो सकते हैं। इन उपरसों में कृष्णरति से सीधा लगाव बना रहने के कारण ही इन्हें उत्तम रसाभास कहा गया है, और इनमें ही रसत्त्व की सम्भावना स्वीकार की गयी है।[3]

---

१. दु० सं०, पृ० २९५।

२. दु० सं०, पृ० २९५ के आधार पर। रूप गोस्वामी केवल इसी को मानकर चले हैं।

३. "उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः।"
"भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेपि रसनाद्रसाः।" भ० र० सि० : उ० वि० : ल० ९ : का० २४।

अनुरस रसाभासों में आश्रय पात्र तो भक्त ही होते हैं, किन्तु प्रस्तुत भाव का सम्बन्ध कृष्ण से नहीं रह जाता। आलम्बन कृष्ण से सम्बन्ध छूट जाने के कारण उन विभादिकों से निष्पन्न भाव रसाभास को ही ला सकते हैं, रस को नहीं। इस कोटि के रसाभास 'अनुरस' कहे गये हैं, और मध्यम माने गये हैं। कृष्णरति से लगाव न रह जाने के कारण इन रसाभासों को रस की परिधि में नहीं लिया जा सकता। इन अनुरस रसाभासों की संख्या केवल आठ ही मानी गयी है। सात तो गौण रसों के रसाभास हो सकते हैं, तथा मुख्य रसों में से केवल एक शान्त ही कृष्ण से असम्बद्ध होकर अनुरस के रूप में आ सकता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है। रूप ने उन साहित्यिक स्वतन्त्र रसों की कोई चर्चा नहीं की जिनका कृष्ण से सम्बन्ध नहीं है, लौकिक व्यक्तियों से है। सामान्यतः इन रसों को प्राकृत रस कहा गया है। अनुरस कोटि के रसाभासों में भी वे ही रस आते हैं जिनमें कृष्ण आलम्बन न हों, पर आश्रय पक्ष का भक्तों से ही सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में एक अकेले शान्त को ही अनुरस रसाभासों में गिना गया है। शान्त का स्वाभाविक सम्बन्ध भक्त श्रेणी के ही व्यक्तियों से हो सकता है, अतः कृष्ण से असम्बद्ध होने पर भी वह भक्तों से सम्बद्ध होने के कारण इस कोटि के रसाभासों में गिन लिया गया है। अन्य चार मुख्य वर्ग के भक्तिरसों में तो कृष्ण के साथ सीधा सम्बन्ध चाहिए, अतः वे तो इस रसाभास के अन्तर्गत किसी प्रकार आ ही नहीं सकते। तब प्रश्न उठता है, कृष्ण और उनके भक्तों से भी असम्बद्ध लौकिक व्यक्तियों से सम्बद्ध साहित्यिक रसों के लिए रूप गोस्वामी के निरूपण में कौन-सा स्थान है? उन्होंने इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। पर इतना स्पष्ट है कि इन लौकिक रसों को रूप की दृष्टि से रस कोटि में तो रखा ही नहीं जा सकता, उन रसाभासों में भी नहीं रखा जा सकता जिनमें भक्ति रसत्व की सम्भावना भी है। वे अधिक से अधिक इसी 'अनुरस' नामक रसाभास के वर्ग में रखे जा सकते हैं।

अपरस रसाभासों में वे भावस्थितियाँ आती हैं जहाँ विषय और आश्रय भाव विरोधियों और विपक्षियों के अनुकूल होता है। उदाहरणस्वरूप किसी शत्रु के द्वारा कृष्ण के प्रति हास की अभिव्यक्ति ली जा सकती है। ऐसी स्थितियों को काव्यशास्त्र में भी रसाभास ही कहा गया है, जैसे रावण की सीता के प्रति भावाभिव्यक्ति आदि। अपरस रसाभास का सम्बन्ध कृष्ण-चरित से ही है, इतनी ही विशेषता है।

इस प्रकार हम रूप गोस्वामी के 'रस' की व्यापक परिधि का परिचय प्राप्त करते हैं। इसमें रति को स्थायी भाव के रूप में रखकर भी नाना रूपों में देखा गया है, जिनमें मुख्य के पाँच भेद तथा गौण के सात भेद हैं। स्वयं भाव की विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो रस की परिधि में आती हैं, और रस की क्रमता का प्रतिपादन करती हैं। इस अलौकिक रस परिधि में प्राकृत रस नहीं आते। साहित्यिक रसों के लिए उनकी दृष्टि में अधिक से अधिक रसाभास का ही स्थान है, उस रसाभास का जिसमें सच्चे 'रसत्व' की सम्भावना नहीं।

रस-भेदों पर एक दृष्टि

अभी रस की परिधि का विचार करते हुए मुख्य और गौण दोनों को मिलाकर हमने देखा है कि भक्ति रस के १२ भेद होते हैं। पर यदि समन्वयात्मक व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो गौण रसों में विभिन्न सात भावों के स्थायी रूप में रहते हुए भी उनके मूल में कृष्णरति ही स्थायी के रूप में विद्यमान है। वही अपने पाँचों रूपो में से किसी न किसी एक रूप में

इन भावों के मूल में रहती है, नहीं तो इन रसों का भक्ति-रस के अन्तर्गत परिगणन भी सम्भव नहीं हो सकता। रूप गोस्वामी ने इस तथ्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है :

"तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे ।
काप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः ।
रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले ॥"
स्युरेतस्या विनाभावाद् भावाः सर्वे निरर्थकाः ॥[1]

इस दृष्टि से मूलतः एक ही भक्तिरस है, जिसके शान्त, प्रीत आदि पाँच उपभेद हैं।[2]

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो हास्यादि सात तो उस स्थायी कृष्णरति के संचारी भावों के स्थान पर हैं।[3] इस प्रकार रस संख्या पाँच ही रह जाती है।

इन ५ प्रमुख रसों को भी तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

१. शान्त
२. प्रीत, प्रेयान् और वत्सल
३. मधुर

जहाँ तक शान्त का सम्बन्ध है, वह चाहे अन्य लौकिक रसों और ज्ञान-मार्गी साधनाओं से भले ही श्रेष्ठ हो, किन्तु इन पाँच भक्तिरसों में उसका स्थान अवर है। उसमें कृष्णरति का योग कुछ हल्का हो जाता है और कृष्ण के प्रति ब्रह्मभावना प्रमुख हो जाती है। कृष्ण के चतुर्भुज रूप की धारणा करते हुए उनके ब्रह्म रूप की ओर जाना और लीलामय रूप की ओर आकृष्ट न होना ही वह मुख्य कमी है जिसके कारण इस रस में अन्य भक्तिरसों के समान सान्द्र घनीभूत आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। इस रस का आनन्द आत्मस्वरूप के आनन्द से कुछ घनीभूत अवश्य होता है, किन्तु उसमें चरम उत्कृष्टता नहीं आ पाती।[4] सिद्धान्ततः ब्रह्म और कृष्ण में अभेद है, तथापि ब्रह्म कृष्णसूर्य का अंशुरूप ही है। इसलिए रूप गोस्वामी की मान्यता है :

---

१. भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ३५-३७।

२. "एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ।
वस्तुतस्तु पुराणादौ पंचधैव विलोक्यते ॥" वही, का० ९८-९।

३. पंचधैवेति-हासादीनां व्यभिचारिषु पर्यवसानात्।" दु० सं०, पृ० ३०९।

फिर भी रूप गोस्वामी ने यत्र तत्र मुख्य रसों को एक मानकर तथा गौण रसों को सात गिनकर रस संख्या आठ भी कही है, जो सम्भवतः काव्यशास्त्र की भरत-मान्य संख्या से मेल बिठाने के लिए है—"पंचधापि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः ।
सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा ॥" भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ९५-६।

४. "प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम् ।
किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनं त्वीशमयं सुखम् ॥"
"तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता ।
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलादेर्न तथा मता ॥" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० १ : का० ५-६।

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥"[1]

दूसरे वर्ग के तीन रसों में मधुरा भक्ति को छोड़ समस्त भक्ति रूपों को समन्वित करने का प्रयास है। इन सभी रूपों की पर्याप्त प्रशंसा करते हुए रूप गोस्वामी ने इनमें वात्सल्य को उत्कृष्ट स्थान दिया है।[2] फिर भी, इन तीनों रसों में सान्द्र आनन्द की अनुभूति भक्त को होती है, वे तीनों ही अद्भुत हैं।[3] इन भावों के उदाहरण भक्तों में कभी-कभी संकुल भी पाये जाते हैं, जैसे उद्धव में दास्य और सख्य का मेल, युधिष्ठिर में प्रीति, सख्य और वात्सल्य का मेल।[4]

तीसरे वर्ग में मधुर रस रखा जा सकता है जो इन आचार्यों की साम्प्रदायिक मान्यता से परिपुष्ट है। इसे ही इन्होंने 'भक्तिरस-राज' का नाम दिया है,[5] और उज्ज्वल नीलमणि में इसी का विस्तार के साथ अलग से निरूपण प्रस्तुत किया है। एक प्रकार से यह समझना चाहिए कि रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना तो सभी सम्प्रदायों की भक्ति की दृष्टि को समन्वित करने के लिए की है, किन्तु अपने सम्प्रदाय की चेतना को उज्ज्वल-नीलमणि में ही उतारा है। उज्ज्वलनीलमणि इसी मधुर रस की सांगोपांग काव्यशास्त्रीय भाषा में प्रस्तुत व्याख्या है।

इन पांचों रस-भेदों में एक ही रति मूल में अवस्थित है। उसी रति के पात्रवैशिष्ट्य से विभिन्न रूप विभिन्न भक्तों में प्रतिफलित होते हुए दिखायी पड़ते हैं, जैसे सूर्य के विभिन्न प्रतिफलन स्फटिक, जल, दर्पण आदि में विभिन्न रूप से दिखायी पड़ते हैं।[6] भक्तों में उनके संस्कार, रुचि और वासनाओं के भेद के कारण उनके मन अलग-अलग प्रकार के होते हैं। कृष्णरति तो स्वरूपतः शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है। जैसे मनःफलक पर प्रतिफलित होती है उसी का सा रूप धारण कर लेती है। उसी के अनुरूप उसके द्वारा प्रकाशित होने वाले विभावादि विभिन्न रूपों में भक्त की अनुराग भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं, वत्सल भक्त की चेतना में कृष्ण का शिशु रूप ही विभाव बनकर आता है, मधुरोपासक की चेतना में रसिक लीलामय रूप। इस प्रकार भक्तों के भेद तथा विभावादि के विभावनादि के भेद से रति के विभिन्न रूप हो जाते

---

१. भ० र० सि०, पू० वि० : ल० १ : का० १९-२०।
"सिद्धान्ततस्त्वभेदेपि कृष्णश्रीशस्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥" वही : पू० वि० : का० १८ : ल० २।
"तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् किरणार्कोपमाजुषोः ।" वही, पू० वि० : ल० २ : का० ६६।

२. "अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता ।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः ।" वही, प० वि० : ल० ४ का० २८।

३. "एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुताः ।" वही, का० २९।

४. वही, का० २९-३२। "तत्र केषुचिदप्यस्या संकुलत्वमुदीर्यते ।"

५. उज्ज्वलनीलमणि : पृ० ४, श्लो० २।

६. "वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद् रतिरेषोपगच्छति ।
यथार्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु ।" भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ७।

हैं,[1] जिनके आधार पर उपर्युक्त पाँच रस-भेदों को स्वीकृति देनी पड़ती है।

रस के विषय, आश्रय और अधिकारी

यहाँ इस पंचरूपी भक्तिरस के विषय, आश्रय और अधिकारियों के विषय में रूप गोस्वामी का दृष्टिकोण समझ लेना उपयुक्त होगा। जहाँ तक रति भाव के विषय का सम्बन्ध है, उसका एक ही विषय है श्रीकृष्ण। भक्तिमार्ग की यह मान्यता है कि भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति कहा गया है। यद्यपि रूप ने यह दिखाया है कि भक्ति का श्रेष्ठ गुण उसका 'श्रीकृष्णाकर्षणी' होना है, अतः भगवान् भी भक्त से प्रेम करने लगते हैं। भक्ति उन्हें और उनके भक्तों को प्रेमभाक् बना लेती है।[2] मधुरा रति में तो राधा की ही रति माधव की ओर नहीं, माधव की भी रति राधा की ओर होती है। किन्तु सिद्धान्त यह है कि माधव की उस रति का स्थान उद्दीपन का ही है, स्थायी भाव का नहीं। प्रिया की रति ही रसकोटि तक पहुँचती मानी गयी है, इसीलिए 'प्रियाया भावः प्रियता' ऐसा मानकर मधुरा रति को 'प्रियता' नाम दिया गया है।[3] इस प्रकार भक्तिरस में समस्त रति-रूपों का एक ही विषय होता है 'श्रीकृष्ण'। किन्तु आश्रय के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है।

आश्रय से तात्पर्य इन आचार्यों ने रति के उन मूल पात्रों से लिया है जिनमें यह भक्तिरूपा रति नित्यरूप में अवस्थित रहती है। अतः ये भक्त वे ही हो सकते हैं जो भगवान् के नित्य लीला-परिकर में सम्मिलित हैं, जिनका उनसे नित्य सम्बन्ध है।[4] भगवान् के लीलापरिकर में सभी प्रकार के भक्त विद्यमान हैं। शान्त भाव के आराधक सनकादि मुनि हैं, दास्य का अवलम्बन करने वाले उद्धव, दारुक, अनन्त परिचारक, असंख्य देव गण आदि हैं; सखा-भाव वाले अनेक गोप हैं, वात्सल्य में डूबे नन्द, यशोदा आदि हैं, और माधुर्य भाव की प्रतिमूर्तियाँ व्रजदेवियाँ हैं जिनमें राधा परम मुख्या हैं। इसी परिकर के ये नित्य कृपापात्र भक्त ही वस्तुतः विभिन्न भक्तिरूपों के वास्तविक आश्रय हैं। अन्य आधुनिक भक्त तो उनके भक्तिरस के निष्यन्द से रसाप्लावित हो उठते हैं।[5]

---

१. विभावनादिवैशिष्ट्याद् भक्तानां भेदतस्तथा।
प्रायेण सर्वभावानां वैशिष्ट्यमुपजायते॥
विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद् विविधं मनः।
मनोनुसाराद् भावानां तारतम्यं किलोदये॥" वही, ल० ४ : का० ११२-४।

२. कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षणी मता।" वही, पू० वि० : ल० १ : का० २०-१।

३. "भक्ताश्रयायाः श्रीकृष्णविषयाया एव रते रस्यमानतया निर्द्देश्यत्वात्, भक्तविषयकश्रीकृष्णरतेस्तु तत्रोद्दीपनत्वात्, प्रियाया भावः प्रियतेति निरुक्तेः"। दु० सं०, पृ० २९१।
"कान्तायाः पूर्वरागो भक्तिरसत्वेनोच्यते, कान्तस्य तु तदुद्दीपनत्वेन गम्यते।" वही, पृ० ४३२।

४. "हरिप्रिये साक्षादनुभवितरि तल्लीलापरिकरे रतिः परमाश्रये।" दु० सं०, पृ० ३०७।
"अत्रायं विवेकः—यमुद्दिश्य रतिः प्रवर्तते स विषयः, स च श्रीकृष्ण एवात्र, आधारस्तु रतेराश्रयः, सच मूलं रतेः पात्रं गृह्यते, तन्निष्य-देन ह्याधुनिका अपि भक्ताः स्निग्धा भवन्ति। स पुनः स्थापयिष्य-माणमहारसमूर्तिः तल्लीलापरिकरगण एव, अन्यत्राश्रयता तु स्वरवमत्यनुसारेण।" दु० सं०, पृ० १२२-३।

५. भ० र० सि० में निरूपित विभिन्न रसों के आश्रयालम्बनों के आधार पर।
"तन्निष्य-देन ह्याधुनिका भक्ता अपि स्निग्धा भवन्ति।" दु० सं०, पृ० १२३।

इन गोस्वामी आचार्यों ने इन दोनों विषय तथा आश्रय के रूप में चर्चित श्रीकृष्ण और उनकी रति का अनुभव करने वाले भक्तों को 'आलम्बन विभाव' के अन्तर्गत परिगणित किया है। अन्य काव्यशास्त्र के आचार्यों के विवेचन से उनके विवेचन की यह विशेषता है। ये आश्रय भक्त सामाजिक या सहृदय के स्थानीय नहीं, अपितु शकुन्तलाविषयक दुष्यन्त-गत रति के उदाहरण में दुष्यन्त के स्थानीय हैं। सामाजिक आस्वादनकर्त्ता के स्थानापन्न इनके विवेचन में वे अधिकारी हैं जिनका निरूपण अलग-अलग भक्तिरूपों में पर्याप्त विस्तार के साथ रसामृतसिन्धु में किया गया है। उन अधिकारी भक्तों में भक्ति-रूपा रति के उन्मीलन के लिए उपर्युक्त विषय और आश्रय के रूप में माने हुए दोनों प्रकार के तत्त्व आलम्बन विभाव का काम करते हैं, ऐसा माना गया है। अलग-अलग प्रकृति का अधिकारी भक्त अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपनी भावधारा के सजातीय आश्रय भक्त से तादात्म्य स्थापित करता है, और उसकी भक्ति को प्राप्त कर आनन्दित होता है।

सामान्य काव्य के आश्रय पात्रों एवं भक्तिरस के आश्रय पात्रों में एक विशेष अन्तर की ओर इन आचार्यों ने ध्यान आकृष्ट किया है। सामान्य काव्य के आश्रय पात्र में जो भाव की स्थिति होती है, उसे रस नहीं माना जाता। उसके भाव लौकिक ही होते हैं, अतः उनमें दुःखादिरूपता रहती है। रस की आनन्दमयता का आस्वादन उन्हें नहीं हो पाता। किन्तु भक्तिरस के ये आश्रय पात्र तो वस्तुतः सच्चे मूल रस का आस्वादन करने वाले होते हैं। इनमें आनन्दस्वरूपिणी ह्लादिनी शक्ति की सार रूपा श्रीकृष्णरति निरुपाधिक एवं निर्मल रूप में नित्य उद्भासित रहती है।[1]

आश्रय और अधिकारी का अन्तर करके चलते हुए भी जितना आश्रय शब्द का व्यवस्थित प्रयोग किया गया है, उतना अधिकारी का नहीं। इस सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं—एक तो वे आश्रय रूप में माने हुए भक्त भी भक्ति के 'अधिकारी' हैं ही। वे रसास्वादयिता भी हैं। अतः नित्यसिद्ध अधिकारियों के रूप में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया गया है। दूसरे अधिकारी भक्तों के उदाहरण इन्हीं के बीच से देने में सरलता और भक्ति पद्धति की रक्षा भी हुई है। उदाहरणस्वरूप मधुरा का उदाहरण राधा को चुनकर तथा वात्सल्य का नन्द-यशोदा को चुनकर ही देना उपयुक्त होगा, न कि किन्हीं कल्पित अधिकारी भक्तों को। अस्तु, हुआ यह है कि अधिकारी की सीमा निर्दिष्ट नहीं रह सकी है।

यह हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि भक्तिरस के भक्तों की मनोवृत्ति और तत्प्रभावानुरूप विभावादि के विभावनादि के वैशिष्ट्य के अनुसार विविध रूप स्वीकार किये गये हैं। इन विविध रस-रूपों में अधिकारियों का विभिन्न रूप होना भी स्वाभाविक है।[2]

---

१. "अलौकिकी स्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुतदाद्भुता।
योगे रसविशेषत्वं गच्छत्येव हरिप्रिये॥" भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ८९-९०।
"हरिप्रिये साक्षादनुभवितरि तल्लीलापरिकरे रतेः परमाश्रये।" दु० सं०, पृ० ३०७।

२. वैधी के अधिकारी में, उदाहरणस्वरूप, शास्त्र-श्रद्धा का योग प्रधान माना गया है, रागानुगा में भाव-वृत्ति का, रति का। रसकोटि तक पहुँचती हुई भाव भक्ति वस्तुतः रागानुगा के कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदों में आयी भाव-भूमियों का प्रसार है। इन भावभूमियों में अनेक प्रकार के भक्त अधिकारियों को वर्गीकृत करके रखा गया है, जिनका वास्तविक सम्बन्ध रसशास्त्र की अपेक्षा भक्ति की शास्त्रीय मान्यताओं से अधिक है।

रस-सामग्री

काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों की प्रेरणा के अनुरूप ही भक्तिरस की विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और सात्विक सामग्री का सविस्तार विवेचन किया गया है। इस विवेचन में मोटे तौर पर कोई नूतन मान्यता का स्थापन नहीं किया गया। फिर भी, भक्तिरस की प्रतिष्ठा की आवश्यकता के अनुरूप और भक्ति-सम्बन्धी चेतनाओं के अनुरूप अनेक छोटी-मोटी मौलिक बातों की ओर दृष्टि ले जायी गयी है। सामान्यतः भरत का नाम लेकर विश्वनाथ आदि आचार्यों की मान्यता का अनुसरण किया गया है। यहाँ इस सामग्री के तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय बातें प्रस्तुत हैं।

विभाव—विभावों के विषय में अग्निपुराण के इस लक्षण को सामने रखा गया है :

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र, येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः॥"[1]

विभाव रत्यास्वादन के हेतु रूप में ही स्वीकार किये गये हैं, और परम्परानुसार इनके आलम्बन और उद्दीपन दोनों भेद स्वीकार किये गये हैं। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं, आलम्बन विभाव के अन्तर्गत विषय रूप में श्रीकृष्ण और आश्रय या आधार रूप में उनके नित्यप्रिय भक्त, दोनों को सम्मिलित किया गया है।

उद्दीपन विभावों में अन्य तत्त्वों के साथ तीन चीजें उल्लेखनीय हैं। वे हैं—कृष्ण के गुण, भक्त और कृष्ण-गत भक्त-विषयक रति। कृष्ण के गुणों को आलम्बन और उद्दीपन दोनों के अन्तर्गत दिखाया गया है। जब वर्णन में गुण से अधिक गुणी पक्ष पर अधिक बल होता है, तब गुण आलम्बन के अंग होते हैं, किन्तु जब उन्हें अलग से उभार कर प्रस्तुत किया जाता है, तो वे उद्दीपन का काम करते हैं। सुरम्यांग कृष्ण के चित्रण में सुरम्यांगता उपसर्जनीभूत है, अतः आलम्बन का अंग है, किन्तु कृष्ण के सुरम्यांगत्व के चित्रण में वह आश्रय पात्र की रति का उद्दीपन करने वाली है, और प्राधान्येन निरूपित है।[2]

भक्तों को आलम्बन के आश्रयात्मक भेद के रूप में भी माना गया है, और उद्दीपनों में भी उन्हें परिगणित किया गया है। भक्तों के दो रूप यहाँ ध्यान में रखे गये हैं। एक तो वे भक्त जो नित्यसिद्ध हैं, जिन्हें भगवान् का प्रेम साक्षात् रूप में प्राप्त है। इन्हें महाभक्त की उपाधि दी गयी है। दूसरे सामान्य भक्त हैं। रसास्वादयिता भक्त के रत्युद्बोधन में आलम्बन का काम महाभक्त ही करते हैं, दूसरे उद्दीपन की कोटि में आते हैं।[3]

---

१. भ० र० सि०, पृ० १२२।

२. "तत्र गुणा द्विधा निरूपयन्ते—प्राधान्येनोपसर्जनत्वेन च। क्वचित् सुरम्यांगत्वमित्यादिना तथा क्वचित् सुरम्यांगमित्यादिना चेति। यत्र प्रथमेन निरूप्यन्ते तत्र तेषामुद्दीपनत्वं, यत्र द्वितीयेन तत्रालम्बनत्वम्।" दु० सं०, पृ० १२४।

३. "सजातीयमहाभक्तविशेषा आलम्बना इत्यर्थः, अन्ये तूद्दीपना इति भावः। तथैवोद्दीपनेष्वपि भक्ता गणयिष्यन्ते।" दु० सं०, पृ० १८२।
"अत्र दासादयो द्विधाः—भावमयाः, साक्षात्प्राप्तदास्यादयश्च। तत्रोत्तरेषामेव सम्यगालम्बनत्वमभिप्रेतम्" दु० सं०, पृ० १८७।

तीसरा उल्लेखयोग्य उद्दीपन है श्रीकृष्ण की भक्त-विषयक रति जिसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। भक्ति भक्त की एक व्यवस्थित भावना है। यदि भक्त को भगवत्प्रेम मिलता है, तो इससे उसकी भगवद्रति और पुष्ट होती है, सिद्धान्ततः उसकी रति का लक्ष्य भगवान् की ओर ही होता है। यही रति रस-पर्यवसायिनी मानी गयी है। कृष्ण की रति उद्दीपन।

आलम्बन के दो भेद विषय और आश्रय की आवश्यकता सभी प्रकार के रसास्वादयिताओं के लिए आवश्यक समझी गयी है, केवल राधा को रसानुभूति विषयात्मक आलम्बन के सम्पर्क से ही हो जाती है। लीलापरिकर से बाहर के प्रापंचिक भक्तों के लिए तो लीलापरिकरगत नित्यसिद्ध भक्तों की आलम्बन विभाव के रूप में अपेक्षा है ही है, स्वयं लीलापरिकर में परिगणित भक्तों को भी विषयालम्बन के अतिरिक्त आश्रयालम्बन अपेक्षित है। लीलापरिकर के भक्तों में परम मुख्या राधा हैं। अन्य सामान्य लीलापरिकरीय भक्तों के लिए तद्गत मुख्य भक्त आश्रयालम्बन के रूप में आते हैं, और उन मुख्य भक्तों के लिए परम मुख्या राधा। किन्तु जब परम मुख्या राधा की रसानुभूति होती है, तो विषय रूप श्रीकृष्ण से सर्वथा अभेदात्मक तादात्म्य एवं अत्यन्त सन्निकटता के कारण उनके रसाविर्भाव के लिए श्रीकृष्ण ही सीधे आलम्बन का काम करते हैं। इस प्रकार उनके रसोद्बोध में एकविध आलम्बन होता है, अन्यों के में द्विविध।[1]

अनुभाव—अनुभावों के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। आश्रय भक्तों की भावानुभूति के परिणामस्वरूप होने वाली चेष्टाएँ इनमें परिगणित हैं। सामान्यतः इन्हें रसानुभूतिकाल में चेष्टारूपा भक्ति के अन्तर्गत माना गया है।[2]

व्यभिचारी भाव—व्यभिचारी भावों का रूप काव्यशास्त्र के ही अनुसार है, और उनके विषय में सामान्यतः दशरूपककार का अनुसरण किया गया है। भरतपरम्परा की संख्या तैंतीस को ही अक्षुण्ण मानने का प्रयास है।

सात्विक भाव—भरत का अनुसरण करते हुए सात्विकों का सम्बन्ध विशेषतः कृष्णरति से जोड़ दिया गया है। कृष्णसम्बन्धी भावों से परिप्लुत चित्त को सत्त्व नाम देकर उससे विशेषतः निस्यूत विकारों को सात्विक कहा गया है।[3]

रसास्वादयिता

काव्य-रस के आस्वादनकर्ता सहृदय में आचार्यों ने कतिपय विशेष योग्यताएँ अपेक्षित मानी हैं। भक्तिरस तो एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की अनुभूति ठहरी। उसके आस्वादनकर्ता में कुछ विशिष्टताएँ होना स्वाभाविक ही है।

सामान्यतः जिन अधिकारियों की चर्चा पीछे की गयी है, वे ही अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भक्ति-रस के तत्तत् रूपों के आस्वादनकर्ता कहे जा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि

---

१. "तदेवं द्विविधाऽऽलम्बनशालिता च तल्लीलापरिकरादन्येषां, तस्मिन् लीला परिकरगणेपि परममुख्यमुख्याद् इतरेषां, परममुख्यमुख्यस्य तु केवलश्रीकृष्णालम्बनशालिता ज्ञेयेति।" दु० सं०, पृ० १२३।

२. "तत्र चेष्टा रूपा द्विविधा—भावभक्तेः साधनरूपा, कार्यरूपा तु रसावस्थाया अनुभावरूपा च। तयोः पूर्वा दर्शिता, उत्तरा रसप्रसंगे दर्शयिष्यते।" दु० सं०, पृ० १००।

३. "कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात् किंचिद्वा व्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः।" भ० र० सि० : द० वि० : ल० ३ : का० १।

इन अधिकारियों की परिधि में भगवान् के लीलापरिकर-गत नित्य-सिद्ध भक्त भी आ जाते हैं, और अन्य सिद्ध तथा साधक भक्त भी। सामान्यतः इन सभी में रसास्वादन की सम्भावना मानी गयी है।

जीव गोस्वामी ने एक प्रसंग में मानव प्राणियों के पाँच वर्ग बनाये हैं—भाव्य भक्त, भावक भक्त, प्राज्ञ, अज्ञ और ग्राम्य। ग्राम्य कोटि के तो वे लोग हैं जिनकी दृष्टि अपने पैरों तले के भौतिक सुख-दुःखों तक ही परिसीमित रहती है। इन्हें उन्होंने पशु-प्राय माना है। अज्ञ वे लोग हैं जो भले ही अनन्त शास्त्रों के पारंगत हों, किन्तु रस-शास्त्र का परिज्ञान न होने के कारण भक्तिरस के मर्म को ही नहीं समझ सकते हैं। तीसरी कोटि के ओग प्राज्ञ हैं, जिनमें स्वयं तो यद्यपि भक्तों के रसात्मक अनुभव को पाने की क्षमता नहीं होती, किन्तु रस-शास्त्र का परिज्ञान होने के कारण उसके मर्म को जानते हैं। ऐसे लोगों में भाव तत्त्व की अपेक्षा बुद्धिवाद की प्रधानता होती है, इसी हेतु इन्हें 'प्राज्ञ' कहा गया है। शेष दो वर्ग वास्तविक भक्तों के हैं, जो भक्त होते हैं और भक्तिरस के सच्चे अधिकारी होते हैं। इनमें भाव्य भक्त वे हैं जिनका परिगणन भगवान् के लीलापरिकर में किया गया है, दूसरे वे हैं जिन्हें प्रपंचगत कहा गया है। भावक भक्त भक्तिरस की भावना करने वाले हैं, नित्यसिद्ध लीलापरिकरीय भक्त उनके भाव्य होते हैं। इसी कारण लीलापरिकरीय भक्तों को 'भाव्य' भक्त कहा गया है। भावक भक्तों को प्रपंचगत कहने से उनके प्रति कोई हेय भावना व्यक्त नहीं की गयी, केवल यह दिखाना है कि ये वैधी या रागानुगा की साधना से, अथवा भगवत्कृपा से भक्ति की उपलब्धि करके सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं, इनका पथ प्रपंचात्मक जगत् के बीच से जाता है।[1]

तो, रसास्वादन भाव्य और भावक, दोनों ही प्रकार के भक्तों को होता है। फिर भी, रस-स्वरूप का जो विवेचन किया गया है, उसका सीधा सम्बन्ध भावक भक्तों से ही है, यह ध्यान रखने की बात है। भाव्य भक्त तो भावक भक्तों की रसोपलब्धि में विभाव कोटि में गिने गये हैं। श्रीकृष्ण उनके लिए विषयालम्बन हैं, तो भाव्य भक्त आश्रयालम्बन। अतः भाव्य लीलापरिकरीय भक्त तो भावक भक्तों के रसोद्बोध के हेतु हैं। अतः, भले ही हम इन गोस्वामी आचार्यों द्वारा निरूपित रस-स्वरूप को भाव्य भक्तों की रसानुभूति पर भी घटित कर सकें, उसका सीधा सम्बन्ध भावक भक्तों से ही है।

अपेक्षित योग्यताएँ—भक्तिरस के आस्वादयिता भावक भक्त में भक्तिमार्ग की मान्यताओं के अनुरूप अनेक योग्यताएँ अपेक्षित हैं। सामान्यतः उसकी भक्ति भुक्ति-मुक्ति की अभिलाषा से परे, और ज्ञान-कर्म के आवरणों से मुक्त होनी चाहिए। भक्तिमार्गीय परिचर्यादि कर्म और भक्त्युपयोगी वैराग्य उसमें हो सकता है।[2] भक्ति के विविध अंगों के अनुशीलन से उसका चित्त एक निर्मल भूमिका में पहुँच चुका होता है।

काव्य-रस और भक्ति-रस में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि काव्य-रस स्थायी नहीं है, उसकी अवधि बड़ी परिसीमित है। अनुशीलनकर्ता को जल्दी मिलता है, जल्दी चला जाता है। भक्ति-रस एक साधना-गम्य अनुभूति है। उसमें एक बड़ी भारी स्थायिता है,

---

१. "तत्र तावत्पंचविधा जनाः परामृश्यन्ते—भाव्यभक्ता भावकभक्ताः प्राज्ञा अज्ञा ग्राम्याश्चेति·····।" दु० सं० : पृ० ३१०-१।

२. भ० र० सि० : पृ० ८२।

जिसका च्यवन कुछ विशेष कारणों से ही होता है। इस अन्तर के कारण जिन योग्यताओं की अपेक्षा काव्यरसिक में अस्थायी रूप से भी करके काम चल जाता है, उन्हीं को भक्तिरस के रसिक में स्थायी रूप से अपेक्षित माना गया है। उदाहरणस्वरूप काव्य के रसयिता में रजस्-तमस् को दबाकर सत्त्व के उद्रेक की बात कही गयी है, उसका व्यक्तिगत भावभूमि से ऊपर उठना रसानुभव के लिए अनिवार्य समझा गया है। किन्तु ये अपेक्षाएँ उसके भीतर काव्यरसास्वादन के क्षणों में ही अपेक्षित होती हैं। काव्यास्वादन से हटकर उसकी भूमि सर्वथा लौकिक ही होती है। दूसरी ओर भक्त के विषय में यह भूमिका अपेक्षाकृत स्थायी रूप से अपेक्षित मानी गयी है। साधना के द्वारा उसके व्यक्तित्व का स्थायी विकास अपेक्षित समझा गया है। भक्तिरस की उपलब्धि से पूर्व जो साधना-भूमि का अभ्यास है, वह इसी का निर्देश करता है।

भक्तिरस के आस्वाद के लिए आस्वादयिता में कृष्णरति की गहरी वासना अपेक्षित है। रसानुभूतिकाल की ही नहीं, पूर्वजन्मों की भी प्राक्तनी वासना जब तक उसमें न होगी, उसे रसास्वादन न हो सकेगा—

"प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादो तस्यैव हृदि जायते॥"[1]

अतीत और वर्तमान की परिपुष्ट रति-वासना और प्रेम-संस्कार वाले लोग ही रस-मर्मज्ञ हो सकते हैं, उन्हें ही भावुक और रसज्ञ कहा गया है।[2]

वासना के इस मानसिक वातावरण की परिपुष्टि के लिए भक्त को अन्य रसिक भावुक भक्तों का आसंग अपेक्षित माना गया है।[3]

कृष्णरति के उद्बोधन के लिए पाँच चीज़ों पर अधिक बल दिया गया है—भगवान् की मूर्ति, श्रीमद्भागवत का श्रवण, कृष्ण-भक्तों का सत्संग, नाम-श्रवण और मथुरा-निषेवण। इनमें श्रीमूर्ति का सम्बन्ध दर्शन से है, भक्त-संग और मथुरा-निवास का वातावरण से, तथा श्रीमद्भागवत और नाम का 'श्रवण' से। रूपगोस्वामी ने इन पांचों पदार्थों को 'अलौकिक' कहा है, और इनके सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात कही है। सामान्यतः लौकिक पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रिया यह होती है कि वे ज्ञाता की ज्ञानभूमि में आकर या तो अपने प्रति किसी भाव का उद्बोधन कराते हैं, अथवा अपनी सादृश्य-वैसादृश्य आदि की, या सम्बन्ध की चेतना से किसी अन्य सम्बद्ध वस्तु की चेतना मन में लाते हैं। तदनन्तर उस वस्तु के प्रति भावोद्बोध होता है। इस नियम से होना यह चाहिये कि इन पाँचों पदार्थों में से किसी के ज्ञान से भक्त के मन में पहले कृष्णादि विभावों की चेतना आनी चाहिए, पीछे तद्विषयक रति का उद्बोधन होना चाहिए। किन्तु इन पांचों अलौकिक पदार्थों की यह विशेषता है कि ये अपने प्रयोक्ता के मनःफलक पर रति और उसके विषय कृष्ण दोनों को

---

१. वही, द० वि० : ल० १ : का० ७।

२. "अत्र रसिका इत्यनेन प्राचीनार्वाचीनसंस्काराणामेव तद्विज्ञत्वं दर्शितम्।" दु० सं० : पृ० ७४।
"रसिका भगवद्भक्तिरसज्ञा इत्यर्थः।" वही, पृ० ७४।
"भावुका इत्यत्र रसविशेषभावनाचतुरा इति टीका। दु० सं० : पृ० ७५।

३. "श्रीभागवतरक्तानां रसिकासंगरंगिणाम्।
जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।" भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ८-९।

साथ ही साथ उपस्थित कर देते हैं :

"अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ।
भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत् ।"[1]

इनकी शक्ति अद्भुत है । इनके अत्यन्त स्वल्प सम्पर्क से ही निर्मल-चेता भक्तों में रति का उद्बोधन हो जाता है :

"दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पंचके ।
यत्र स्वल्पोपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने ।।"[2]

रस-निष्पत्ति का निरूपण करते हुए हम देखेंगे कि रूपगोस्वामी ने इन श्रवणादि तत्त्वों को कितना महत्त्व दिया है ।

स्वसजातीय आश्रय भक्त से तादात्म्य—अपने-अपने संस्कार और वासना के अनुरूप भावक भक्त कई प्रकार के हो सकते हैं । उनकी रागात्मिका वृत्ति को कान्ताभाव और कान्तेतर-भाव के वर्गों में रखकर कामानुगा और सम्बन्धानुगा के रूपों में देखा गया है । सम्बन्धानुगा में दास्य, सख्य और वात्सल्य के सम्बन्ध प्रमुखतया आते हैं । भावक भक्त अपनी-अपनी वासना के अनुरूप अपनी कोटि के भाव्य भक्तों की भावना को पाता है । काव्यशास्त्रीय शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि वह स्वसजातीय आश्रय पात्र से तादात्म्य स्थापित करता है ।

कहना चाहिए, भावक भक्त अपने भाव्य भक्त की भाव-भूमि का अपने में अभिमान करता है, या आरोपण करता है । सेवक, सखा या पितादि के सम्बन्ध की धारणा मननात्मक रूप से प्रारम्भ होती है और पीछे इस भाव की पूर्ण उपलब्धि में पर्यवसित होती है । अतः कहना चाहिए, इसका प्रारम्भ बौद्ध धरातल से होकर व्यापन भाव के क्षेत्र में होता है । इसका उल्लेख रूपगोस्वामी ने इस प्रकार किया है :

"सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ।
या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ।।
लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्याऽत्र साधकैः ।
व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया ।।"[3]

फिर भी यह ध्यान रखने की बात है कि जीवागोस्वामी ने इस तादात्म्य-भावना को अभेद-भावना के रूप में नहीं लिया, सम्बन्ध-भावना के रूप में लिया है । उनका कहना है कि जिस प्रकार भगवान् से अद्वैतात्मक अभेद की कल्पना करना अपराध है, उसी प्रकार उनके परिकर के पूज्य भक्तों के साथ पूर्णतः अभेद-भावना करना अपराध है, अतः यह तादात्म्य अपने में पितृत्वादि का आरोपण नहीं, पितृत्वादि के सम्बन्ध का आरोपण है :

"पितृत्वादिसम्बन्धस्य यन्मननं विशेषचिन्तनं पुनस्तस्यारोपणं स्वस्मिन्नभिमननं तदात्मिकेत्यर्थः ।

व्रजेन्द्रेति—न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमानेनापीत्यर्थः । पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा सम्भवति—स्वतन्त्रत्वेन, तत्पित्राद्यभेदभावनाया च । तत्रात्यन्तमनुचितं भगवदभेदोपासनावत्

---

१. भ० र० सि० : पू० वि० : ला० २ : का० ४५ ।

२. वही, का० ४४ ।

३. वही, का० ८६-८ ।

तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणेषु तदनौचित्यात्, तथा तत्परिकरेषु तदुचितभावना-विशेषेणापराधापातात् ।"[१]

साधना-काल में भी पितृत्वादि की लिप्सा नहीं, पितृत्वादि भाव की लिप्सा ही अभीष्ट मानी गयी है :

"सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः ॥"[२]

"साधकरूपेण यथावस्थितदेहेन, सिद्धरूपेण अन्तश्चिन्तिताभीष्टतत्सेवोपयोगिदेहेन, तस्य व्रजनाथस्य निजाभीष्टस्य श्रीकृष्णप्रेरकस्य यो भावो रतिविशेषस्तल्लिप्सुना ।"[३]

यह सम्बन्ध भाव का मननात्मक आरोपण कान्ताभाव की रति के विषय में कुछ प्रश्न पैदा कर सकता है। क्या दाम्पत्य भाव की वह शृंगारात्मिका रति पुरुषों में भी सम्भव है ? क्या पुरुष भक्त भी कृष्ण के प्रति संभोगात्मिका रति की चेतना लेकर राधा-भाव का अपने में आरोपण कर सकते हैं, आदि ? इनका उत्तर एक शब्द में 'हाँ' में है। उद्धव जैसे श्रेष्ठ भक्त इसी मधुर भाव की कामना करते हैं।[४] प्रक्रिया वही भावाभिमान की है, व्यक्त्यभिमान की नहीं।"[५] एक दूसरे ढग से भी इसके समाधान का प्रयत्न है। पद्म पुराण के आधार पर यह कहा गया है कि दण्डकारण्यवासी मुनियों ने राम के रूप को देख कर उन्हें कान्ता भाव से प्राप्त करने की कामना की। उनकी यह वासना पूरी हुई और गोकुल में कृष्णावतार के साथ उन्होंने गापियों में जन्म पाकर श्रीकृष्ण को प्रिय रूप में पाया।[६] किन्तु यह समाधान दूर का, इससे अनुभूति की समस्या का समाधान नहीं होता।

रस का स्वरूप एवं निष्पत्ति

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में काव्यशास्त्रीय पदावली और निरूपण-प्रक्रिया को अपनाते हुए अपने 'भक्तिरस' का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है :

"विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ॥
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।"[७]

इस पर जीवगोस्वामी की टिप्पणी इस प्रकार है :

"श्रवणादिभिः कर्तृभिः विभावादिभिः करणैर्भक्तानां हृदि स्वाद्यत्वमानीता सम्यक् प्रापिता चमत्कारविशेषेण पुष्टेत्यर्थः ।"[८]

---

१. दु० सं०, पृ० ९८ ।
२. भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० ८० ।
३. वही, पृ० ९५ ।
४. "इत्युद्धवादयोप्येतं वांछन्ति भगवत्प्रियाः ।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० ७१ ।
५. "एतं एतादृशेन कान्तत्वाभिमानरूपेण भावेनोपलक्षितो यः प्रेमातिशयस्तमेवेति ज्ञेयं, तादृशेन विशिष्टं तमिति तु न ज्ञेयन् ।" दु० सं० : पृ० ९३ ।
६. भ० र० सि० : पृ० ९७ ।
७. भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ५-६ ।
८. दु० सं० : पृ० १२१ ।

इस टिप्पणी पर ध्यान रखते हुए भक्तिरस का स्वरूप निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है :

"भक्तों के हृदय में स्वाद्यता को प्राप्त हुआ कृष्णरति नामक स्थायी भाव ही भक्ति-रस है। इसे स्वाद्यता की कोटि तक पहुंचाने का काम विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारियों की सहायता से श्रवणादि करते हैं। रति के स्वाद्य कोटि तक पहुंचने का अर्थ है भक्तों के हृदय में सम्यक् रूप से उद्भावित करा देना, जो वह एक विशेष चमत्कार से युक्त हो उठे।"

सामान्यतः यह रस-स्वरूप काव्यशास्त्रीय रस-स्वरूप से अधिक भिन्न नहीं है। केवल इस निरूपण में श्रवणादि को अधिक महत्त्व दिया गया है। हम यदि चाहें तो काव्य-रस पर इस लक्षण को घटित कर सकते हैं। काव्य के श्रवण से या नाटक के दर्शन से सामाजिक के मानस पट पर उपस्थापित विभावादि के द्वारा परिपुष्ट हुए उसी के स्थायी भाव रस बनते हैं। किन्तु ये गोस्वामी आचार्य भक्तिरस के विषय में इन शब्दों में ही कुछ अधिक कहना चाहते हैं।

भक्तिरस का यह स्वरूप अपने निरूपण में कुछ निष्पत्ति-प्रक्रिया को भी समेटे हुए है। सामान्यतः काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की भी यही पद्धति रही है। अतः इसमें विवेचित स्वरूप को निष्पत्ति-प्रक्रिया पर ध्यान ले जाते हुए ही समझा जा सकता है। कुछ विशेष ध्यान देने योग्य बातें इस प्रकार हैं :

१. कृष्णरति से निष्पन्न होने वाले इस भक्तिरस की अवस्थिति 'भक्त-हृदय' में है। केवल काव्यानुशीलन के अभ्यासी व्यक्तियों को इस अलौकिक रस का आस्वादन नहीं हो सकता। हम देख चुके हैं कि इस विवेचन के लक्ष्य प्रमुखतः भावक भक्त ही हैं।

२. भक्तों के जिस हृदय में कृष्णरति के उद्भासित होने की बात कही गयी है, वह स्वरूपतः निर्धूत-कल्मष हो चुका होता है। उसमें तत्कालोपयोगी नहीं, स्थायी सत्त्वोद्रेक हो चुका होता है। रूपगोस्वामी ने ऐसे चित्त को 'प्रसन्न' और 'उज्ज्वल' कहा है।[1] जीव गोस्वामी के अनुसार प्रसन्न का अर्थ है सत्त्वोद्रेक के कारण ऐसा निर्मल चित्त जिसमें शुद्धसत्त्वविशेष ह्लादिनीसाररूप रति का आविर्भाव हो सके। और उज्ज्वल से तात्पर्य है उसमें ऐसी पार-दर्शकता हो जो शुद्धसत्त्वविशेष के उदय हो जाने से सर्वज्ञता का प्रकाशन कर सके।

"निर्धूतदोषत्वादेव प्रसन्नत्वं शुद्धसत्त्वविशेषस्याविर्भावयोग्यत्वं, ततश्चोज्ज्वलत्वं तदाविर्भावात् सर्वज्ञानसम्पन्नत्वम्।"[2]

हम देख चुके हैं कि ह्लादिनी शक्ति का एक पक्ष संविद्रूप भी है, जिसका काम है सर्वज्ञापकत्व, सर्वप्रकाशकत्व। इसी विशेषता के आधार पर भक्त-चित्त में आविर्भूत हुई वह संविद्रूपा रति सपरिकर कृष्ण का प्रकाशन करती है। चित्त की उज्ज्वलता वही विशेषता है कि वह संविद् के सर्वज्ञान का आधार बन सके।

३. रति के आविर्भाव में जीव गोस्वामी ने श्रवणादि को कर्ता का स्थान दिया है। "श्रवणादिभिः कर्तृभिः"। श्रवणादि कर्ता हैं, विभावादि तो करण या साधन रूप हैं। तात्पर्य यह कि श्रवणादि के द्वारा भक्त हृदय में सविषया रति का आविर्भाव किया जाता है। यह हम

---

१. "भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।" भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ८।

२. दु० सं० : पृ० १२१।

देख चुके हैं कि श्रवणादि को रूपगोस्वामी ने अलौकिक प्रभावशाली माना है, जिनके कारण प्रमाता के हृदय में भाव और विषय साथ-साथ प्रादुर्भूत हो जाते हैं। कृष्णरति निर्विषयक भाव नहीं है, उसका विषय कृष्ण है। इन दोनों तत्त्वों का परस्पर पोष्य-पोषक भाव-सा रूप गोस्वामी ने दिखाया है। रति हृदय में माधुर्य के आश्रय कृष्ण और उनके लीलापरिकर की प्रतिष्ठा करती है, और वे कृष्णादि अनुभव में आकर उस रति को और प्रौढ़ बनाते हैं :

"माधुर्याश्रयत्वेन कृष्णादींस्तुनते रतिः ।
तथानुभूयमानास्ते विस्तीर्णां कुवते रतिम् ।
ततस्तस्य विभावादिचतुष्कस्य रतेरपि ।
अत्र साहाय्यकं व्यक्तं मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते ॥"[1]

रति जितनी-जितनी प्रौढ़ होती जायेगी, उसे श्रवणादि की उतनी ही कम अपेक्षा रह जायेगी, फिर भी प्रेमा की भूमिका में पहुंचे भक्तों के लिये भी श्रवणादि का उपयोग है, वे रसास्वाद में बड़े भारी सहायक होते हैं :

"हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत् ।
रतेरेव प्रभावोऽयं हेतुस्तेषां तथाकृतौ ॥"[2]

श्रवण और दर्शन में श्रवण ही अधिक महत्त्वशाली है। मूर्ति, प्रतिमा आदि के दर्शन के समय भी श्रवण के द्वारा चेतना में आयी हुई लीलादि की स्मृतियां अपेक्षित हैं, नहीं तो भावोद्बोधन न हो सकेगा। किन्तु श्रवण बिना दर्शन की सहायता के भी अपना काम कर सकता है।[3]

श्रवण के अन्तर्गत, जैसाकि हम देख चुके हैं, श्रीमद्भागवत और भगवन्नाम ही मुख्यतः आते हैं। भगवल्लीला की कथाओं को साक्षात् रसमय कहा गया है :

"अमृतद्रवस्तल्लीलारसः,
"हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ।"
इति द्वादशे श्रीभागवतविशेषणात्, लीलाकथारसनिषेवणमिति तस्यैव रसत्व-निर्देशात् ।"[4]

इनके अतिरिक्त कृष्ण-सम्बन्धी काव्य-नाट्यों को, कहिए भक्ति-साहित्य को, भी श्रवण के अन्तर्गत लिया जा सकता है, किन्तु गौण रूप से ही। भक्तों को ध्यान में रखकर उनकी गौणता के विषय में दो प्रमुख तर्क दिये गये हैं। एक तो यह कि सभी भक्त काव्यार्थ-चर्वणा-कुशल नहीं हो सकते। काव्यानुशीलन के लिए कुछ अलग प्रकार की भावुकता एवं कुशलता अपेक्षित है। अतः उनकी पहुंच व्यापक नहीं। दूसरे यह कि यदि भावक नया-नया है, उसमें रति का नूतन अंकुर ही उत्पन्न हुआ है, और वह काव्यानुशीलन कुशल भी है, तो उसके लिए भक्तिकाव्य रत्युद्बोधन में कुछ सहायता कर सकता है। उसकी रति के दृढ़ हो जाने पर तो वह भक्तिकाव्य ही एक मात्र साधन नहीं रह जायेगा। फिर भी उनका महत्त्व है। प्रौढ़ रति वाले भक्तों में भी उनके अल्प श्रवण-दर्शन से ही रसास्वाद हो जाता है :

---

१. भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ७९-८०।
२. वही, का० ७८-९।
३. दु० सं० : पृ० ९७।
४. दु० सं० : पृ० ७५।

"हरिभक्तस्य कस्यचित्काव्याद्यर्थचर्वणविज्ञस्येत्यधिकरणे सम्बन्धविवक्षा । तत्र हर्याद्याश्रयकाव्यनाट्ययोर्विभावादिकारणत्वं स्यात्, तच्च किंचित् स्यात्, जातरतौ तु प्रकारान्तरस्यापि तथा तत्कारणत्वं न तथेति । तर्हि कथमारूढभावेषु तत्तदप्रयोजकं स्यात् ? नेत्याह-हरेरिति, ईषच्छ्रुतिविधावपि स्यात् ।"[1]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भक्ति-काव्य की अनुभूति के विषय में भक्त आस्वादयिताओं की दृष्टि से ही विचार किया गया है, काव्यानुभूति-मर्मज्ञ सहृदय-सामान्य की दृष्टि से नहीं । यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि काव्यानुशीलन के लिए एक विशेष प्रकार की मर्मज्ञता अपेक्षित है, तथापि विवेचित यही किया गया है कि भक्ति-काव्य का सिद्ध भक्तों पर क्या प्रभाव पड़ता है, और साधक भक्तों पर क्या । प्रश्न उठाया जा सकता है कि उन सामान्य सामाजिकों को, जो भक्त तो नहीं कहे जा सकते किन्तु काव्यानुशीलन के मर्मज्ञ हैं, भक्तिरस की उपलब्धि होगी या नहीं ?

उत्तर में यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन अर्थों में भक्तिरस को 'रस' कहा गया है, वह एक स्थायी और ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर मानी हुई अलौकिक अनुभूति है । भक्ति के सच्चे संस्कार न होने के कारण अभक्त सामाजिक को उस रसतत्त्व की अनुभूति नहीं हो सकती । उसकी अनुभूति उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार वह काव्य से अन्य रसों की अनुभूति पाता है । काव्य-रसिक इस दृष्टि से दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो वे जो स्वयं भक्त न होकर भी इस रस के शास्त्रीय मर्म एवं रचयिता कवि की मूल चेतना आदि को समझते हैं । ऐसे ही लोगों को शायद जीव गोस्वामी ने 'प्राज्ञ' वर्ग में रखा है । यह हम जानते हैं कि सामाजिक जिस रस की अनुभूति करता है, उसकी वासना उसके हृदय में अवश्य होती है । मीमांसक और वेदाध्यायी को शृंगार की अनुभूति नहीं होती, संन्यासी को लौकिक भावों में रुचि नहीं होती । शान्त के अनुभव के लिए उस प्रकार की वासना चाहिए । तो, इस भक्तिरस के काव्यात्मक आस्वादन के लिए भी सामाजिक में उसकी वासना अपेक्षित है । उसकी वासना जितनी साम्प्रदायिक होगी, उतनी ही मात्रा तक वह भक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूप को अनुभव कर सकेगा । दूसरी प्रकार का सहृदय, जिसमें इस भाव की वासना का अभाव होगा, भक्तिरस के काव्य में कुछ भिन्न प्रकार का अनुभव प्राप्त करेगा । उसके लिए कान्ताभाव की गोपीरति में शृंगार का ही अनुभव होगा । हो सकता है, उसके संस्कारों के अनुरूप औपपत्य के चित्रों में उसे शृंगाराभास लगे । सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि काव्य के साम्प्रदायिक रूप को हटाकर जो एक मूल प्रेषणीय रूप भक्तिकाव्य का रह जायेगा, उसकी काव्यरसात्मक अनुभूति सामाजिक कर सकता है । इस विषय पर अधिक विचार करने का अवसर हमें यथास्थान मिलेगा । यहां इतना ही पर्याप्त है ।

४. श्रवणादि के द्वारा भक्त के हृदय में कृष्णरति का उद्बोधन कराया जाता है । यह रति संविद्रूपा होने के कारण भक्त के हृदय-फलक पर कृष्णादि विभावों को प्रस्तुत कर देती है । सविषया रति अपने विषय को उपस्थापित कर देती है । सीधे शब्दों में कहना चाहिए, जिस प्रकार काव्य के शब्दों से सामाजिक के मनःफलक पर विभावादि साक्षात्कारायमाण रूप में उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार श्रवणादि के प्रभाव से भक्त के मनःफलक पर कृष्ण और उनका लीलापरिकर आविर्भूत होता है । अन्तर केवल इतना है कि काव्यानुभूति

---

१. दु० सं० : पृ० ३०३-४ ।

में श्रेय कवि के शब्दों को ही होता है, यहां विभावादि को अनुभव में लाने का श्रेय रति को है। काव्यानुभूति में आने वाले विभावादि कवि-कल्पित होते हैं, वास्तविक नहीं होते। उनके कल्पित रूप की चेतना प्रमाता के अवचेतन में विद्यमान रहती है। किन्तु भक्तिरस के अनुभव में रति द्वारा उपस्थापित ये विभावादि नित्य और अकल्पित होते हैं।[1]

रति अपने मूल रूप में कृष्ण की आह्लादिनी एवं प्रकाशिका शक्ति है, यह हम पीछे जान चुके हैं। वह स्वयं-प्रकाश होते हुए कृष्णादि का प्रकाशन भी करती है, इसका रहस्य यही है कि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। उस शक्तिरूपा के उदित होते ही शक्तिमान् उसमें स्वतः आविर्भूत होता है। यही उसका कृष्णादि को विषय या अनुभव के कर्मरूप में उपस्थापन है।[2]

५. रूप गोस्वामी ने साधारणीकरण को भी स्वीकार किया है। इस विषय में उनके सामने विश्वनाथ हैं। फिर भी विश्वनाथ का पूर्ण अनुकरण नहीं किया गया है। विश्वनाथ ने साधारणीकरण की चर्चा इन शब्दों में की है :

"व्यापारोस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावात्परस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते॥"[3]

रूपगोस्वामी ने भरत के नाम से यह कारिका प्रस्तुत की है, जो वस्तुतः भरत की नहीं है। सम्भवतः विश्वनाथ को ही भरतानुयायी होने के कारण भरत कहा गया है :

"शक्तिरस्ति विभावादेः कापि साधारणीकृतौ।
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते॥"[4]

इन शब्दों में और विश्वनाथ के उपर्युक्त शब्दों में, जिन्हें कि दुर्गम संगमनी में उद्धृत किया गया है, एक ही चेतना है। इनमें साधारणीकरण का श्रेय विभावादि को दिया गया है। किन्तु रूपगोस्वामी ने साधारणीकरण का श्रेय विभावादि को न देकर रति को ही दिया है :

"अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः।
यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी॥"[5]

"अथ तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्तानां भावैः सहार्वाचीनानां भावान् साधारण्यमानयति साधारण्यप्रापकेण भावेन येन रसस्थितिरपि तादृशी स्यादित्याह अलौकिक्यादिना प्रतिपद्यत इत्यन्तेन। भावा अत्र विभावादयो रत्यादयश्च।"[6]

यहां देखना यह है कि विभावानुभावादि तथा रत्यादि सभी का साधारणीकरण माना

---

१. "कृष्णादिभिर्विभावाद्यै र्गतैरनुभवाध्वनि।" भ० र० सि० : द० वि० : का० ११ : ल० १।
"अनुभवाध्वनि गतैरिति, न तु लौकिकरसवदत्र सत्कविनिबद्धतापेक्षेति।" दु० सं० : पृ० १२१।
२. "वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते।" वही, पू० वि० : ल० ३ : का० ३।
३. सा० द० : परि० ३ : पृ० ७४ तथा दु० सं० : पृ० ३०५।
४. भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ८५।
५. वही, का० ८२-३।
६. दु० सं० : पृ० ३०४-५।

गया है। रूपगोस्वामी साधारणीकरण का अर्थ विशेष सम्बन्धों से मुक्ति ही लेते हैं, और 'भावों' का साधारणीकरण मानते हैं, जिसका अर्थ जीव की दृष्टि से विभावादि और रत्यादि दोनों है :

"एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः ।
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः ।"[1]

किन्तु जीव गोस्वामी साधारणीकरण का अर्थ "समानुभूति" से लेते हैं। उनके अनुसार आधुनिक आस्वादयिताओं के विभावादि और रत्यादि भावों का प्राचीन अर्थात् आश्रय भक्तों के विभावादि और रत्यादि भावों के साथ समान हो जाना ही साधारणीकरण है :

"प्राचीनभक्तानां भावैः सह अर्वाचीनानां भावान् साधारण्यमानयति ।"

और इस साधारणीकरण का पूरा श्रेय स्वयं रति को है।

६. हम पीछे देख चुके हैं कि भक्त-हृदय में उद्भूत इस रति का स्वरूप उसी प्रकार का हो जाता है जिस प्रकार का उसकी वृत्तियों का साँचा होता है। इस भाँति रति की कामादिवृत्याकारा परिणति हो जाती है। किन्तु अब चित्त गुणात्मक वृत्तिरूप न रहकर रतिरूप होता है।

७. रति स्वरूपतः आनन्दमयी है। वह आनन्दस्वरूप भगवान् की शक्ति है। अतः रति का यह आविर्भाव स्वरूपतः आनन्दात्मक होता है। कृष्णरति का यह आनन्द आत्म-स्वरूप के ज्ञानात्मक आनन्द से या ब्रह्मानन्द से बहुत उच्च कोटि का होता है। भक्ति के इस रसात्मक आनन्द में भी उसके विविध रूपों की दृष्टि से तारतम्य होता है। शान्त भक्ति-रस में अपेक्षाकृत निम्न और तटस्थ कोटि का आनन्द होता है, मधुर में सर्वोत्कृष्ट एवं निरतिशय आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।[2]

इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर रस का स्वरूप संक्षेप में यों रख सकते हैं। साधना भक्ति के द्वारा नितान्त निर्मल हृदय भावक भक्त में श्रवणादि की सहायता से शुद्धसत्त्वविशेषरूपा कृष्णरति का आविर्भाव होता है, जिसमें रति के संविदात्मक प्रकाशक स्वरूप के कारण कृष्णादि विभावादि का प्रकाशन होता है। अनुभव-पथ में आये हुए ये विभावादि प्रमाता की रति को और प्रौढ़ बनाते हैं, और वह चरम आस्वाद्य कोटि को पहुँच जाती है। इस रति में स्वरूपतः नितान्त निर्मलता और चरम निरभिलाषिता होती है। केवल कृष्ण-सौख्य की भावना से रति होती है, आत्म-सौख्य की लिप्सा से नहीं।[3] इस निर्मल और निरुपाधिक संस्कृत रति के समुदय में एक विशेष अनुभूति-चमत्कार होता है, जिसे चरम आनन्दात्मक रस कह सकते हैं। भक्तों के हृदय में इसी रस्यता की कोटि में आयी हुई कृष्ण रति, जो शुद्धसत्त्वविशेषरूपा होने के कारण स्वतः आनन्दात्मक है, रस है।

"सर्वथैव दुरूहोयमभक्तैर्भगवद्रसः ।
तत्पदाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवात्र रस्यते ॥

---

१. भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ८३-४ ।

२. "मनोनुसाराद् भावानां तारतम्यं किलोदये ।" भ० र० सि० : पृ० २७९-२८० ।

३. "भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला ।
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम् ।" भ० र० सि० : द० वि० : ल० १ : का० ९-११ ।

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः ॥[1]

यह रस भावना की भूमिका में नहीं होता, शुद्ध सत्त्व की भूमिका में होता है। भावना की भूमिका में 'भाव' की स्थिति होती है। जिस प्रकार ध्यान की परिणतावस्था समाधि है, उसी प्रकार भावनात्मक भाव की परिणतावस्था रस है।[2] यह चमत्कार की भूमिका है।

रस की स्वयंप्रकाशता और अखण्डता

शैव और वेदान्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रस को स्वयंप्रकाश और अखण्ड माना है। रूप गोस्वामी ने भी भक्तिरस को स्वयंप्रकाश और अखण्ड माना है। किन्तु यहाँ मूल दार्शनिक चेतना कुछ भिन्न है। इस मान्यता का प्रतिपादन सभी ने कुछ न कुछ दार्शनिक सहायता से ही किया है।

रति स्वरूपतः भगवान् की स्वरूपात्मिका शक्ति है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होती है। स्वयंप्रकाश भगवान् की शक्ति स्वरूपतः स्वयंप्रकाश होती है। अतः उसका एक विशेष रूप भक्तिरस भी स्वयंप्रकाश होता है।

रति स्वयंप्रकाश होने के साथ ही स्वरूपतः प्रकाशिका भी है। भक्त के अनुभव में उसी के द्वारा कृष्ण और उनके लीलापरिकर का उद्भासन एवं प्रकाशन होता है। इस रूप में वह कृष्णादि के आस्वाद्य बनाने में हेतुरूप होकर आती है।

रति स्वरूपतः स्वयं प्रकाश होते हुए भी, भक्त-हृदय के कामादि मनोविकारों के साथ सारूप्य प्राप्त करके प्रकाश्य-रूपा भासित होने लगती है। इस रूप में वह भासित ही होती है, स्वरूपतः स्वयं प्रकाश ही रहती है। रस इन्हीं चेतनाओं के साथ स्वयंप्रकाश है।

विश्वनाथ ने रस की अखण्डता यह दिखाकर प्रतिपादित की है कि रति का ज्ञान से तादात्म्य होता है, और ज्ञान स्वरूपतः स्वयंप्रकाश और अखण्ड होता है, अतः रस भी अखण्ड होता[3] है। इन गोस्वामी आचार्यों ने भी लगभग उसी शैली में अपनी दार्शनिक चेतना से रस का अखण्डत्व इन शब्दों में प्रतिपादित किया है:

"परमानन्दतादात्म्याद् रत्यादेरस्य वस्तुतः।
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति ॥"[4]

इसकी जीव द्वारा व्याख्या इस प्रकार है:

"परमानन्दोऽत्र ह्लादिनी शक्तिः, रतिस्तन्मूला। कृष्णरूपो विभावस्तु शक्तिशक्तिमतोरेकात्मकत्वात् तच्छक्त्यात्मकः। भक्तरूपो रत्याविष्टः। अनुभावा व्यभिचारिणश्च तदुत्था इति। रस्यादेस्तु तत्तादात्म्यप्राप्तिः। तदेवं परमानन्दतादात्म्याद् हेतोरित्यर्थः।"[5]

---

१. भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ११३-४।
२. भावनायाः पदं यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना।
भाव्यते गाढसंस्कारैश्चित्ते भावः स कथ्यते।" वही, का० ११५।
"समाधिध्यानयोरिवानयोर्भेद इति भावः।" दु० सं० : पृ० ३१४।
३. सा० द० : परि० ३ : पृ० ८६।
४. भ० र० सि० : पृ० ३०८।
५. दु० सं० : पृ० ३०८-९।

कृष्णरति स्वरूपतः ह्लादिनी शक्ति है। उसका परमानन्दमयी ह्लादिनी से तादात्म्य है। इसी कारण रस अखण्ड है। कैसे ? रति का तो ह्लादिनी से तादात्म्य है ही है। कृष्ण-रूप विभाव भी ह्लादिनीरूप ही है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। इस प्रकार कृष्ण शक्तिरूप ही है। भक्त का स्वरूप भी इस रसानुभूति में उस शक्तिरूपा रति से आविष्ट हो चुकता है, अतः उसका अन्तःकरण भी शक्तिरूप ही है, रतिरूप ही है। रहे अनुभाव और व्यभिचारी भाव, तो वे तो इस शक्तिरूपा रति के उच्छलन ही होते हैं। अतः रस के प्रत्येक अवयव का, यदि उन्हें अवयव कह सकें, रति के साथ, जो कि ह्लादिनी शक्ति का विशेष रूप है, तादात्म्य होता है। रति का स्वयं परमानन्दमयी ह्लादिनी से तादात्म्य होता है। अतः मूलतः रस एक अखंड अनुभूति है। इस प्रकार रस की स्वयंप्रकाशता का अर्थ है किसी मन आदि अन्य तत्त्व के द्वारा प्रकाशित न होना और अखंडता का अर्थ है किसी भिन्न तत्त्व की स्फूर्ति न होना।[1]

रस की आनन्दमयता

रस उस रति की चमत्कारात्मक रस्य परिणति है जिसका भगवान् की परमानन्दमयी ह्लादिनी शक्ति से मूलतः तादात्म्य है, यह हम देख चुके हैं। अतः भक्तिरस के सभी रूपों का आनन्दमय होना स्वतःसिद्ध है। रस स्वरूपतः आनन्दरूप है।

भक्तिरस के यों तो सभी रूप आनन्दमय हैं, तथापि वह मधुरा रति का परिपाक, जिसमें श्रीकृष्ण और गोपियों के विलासमय रूप आलम्बन विभाव के रूप में आते हैं, सान्द्र, घनीभूत आनन्द के चमत्कार की परम अवधि है :

"तत्रापि वल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः।
सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ॥"[2]

जब रस घनानन्दमयी अनुभूति है तो प्रश्न उठाया जा सकता है कि गौण रसों में परिगणित करुण, भयानक, बीभत्स आदि में और मुख्य रसों में परिगणित वियोग के रूपों में अनुभवकर्ता को आनन्द का अनुभव कैसे होता है ? प्रश्न नया नहीं है, पुराना है, और काव्यशास्त्रियों ने भी इसके समाधान खोजने का प्रयास किया है। इन गोस्वामी आचार्यों ने इसका समाधान कुछ अधिक मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। साथ में उनके दर्शन की विशेष मान्यता तो है ही।

रूपगोस्वामी ने समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

"प्रतीयमाना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत्।
करुणाद्या रसाः प्राज्ञै प्रौढानन्दमया मताः॥
अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुखं तेभ्याः स्यात् सुव्यक्तमिति स्थितिः॥"[3]

ऊपर-ऊपर से करुणादि रस अज्ञ लोगों को दुःखमय दिखायी पड़ते हैं पर होते वे प्रौढ आनन्दमय ही हैं। यह इस कृष्णरति का महत्त्व है कि इनके विभाव लौकिक नहीं होते।

---

१. दु० सं०, पृ० ३०९।

२. भ० र० सि० : द० वि० : ल० ५ : का० ९१-२।

३. वही, का० १०५-६।

रति शुद्धसत्त्वविशेषरूपा है, उसमें जो कृष्णादि विभावों का प्रकाशन होता है, वे अलौकिक होते हैं। उन अलौकिक विभावादि के सम्बन्ध में इन भावों के दुःखमय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

फिर होता यह है कि प्रमाता भक्तों के अवचेतन मन में इन दुःखात्मक स्थलों एवं घटनाओं के अनुशीलन के समय भीतर-भीतर एक आशामयी वृत्ति इस विश्वास के साथ सन्निहित रहती है कि इस अभीष्ट पात्र की अन्त में सुखात्मक स्थिति होगी। अभाव के चित्रण के क्षणों में भी उसे परवर्तिनी प्राप्ति की सम्भावना की आशा से भरा विश्वास रहता है, इस विश्वास के कारण करुणादि के क्षणों का अनुभव भी सुखात्मक होता है। दूसरे करुण काव्य का रचयिता एवं उसके पात्र उसे यह सूचना देकर चलते हैं कि अभीष्ट पात्र, जो इस समय दुःखमय अवस्था में हैं, अन्त में सुखात्मक स्थिति में ही रहेंगे। अलौकिक विभावों वाले भक्तिकाव्य में तो यह बात और भी निश्चय के साथ बनी रहती है।

"—यदनिष्टाशंकामयं दुःखं तन्मयेपि रतिलीलया स्वतः परमानन्दरूपाया रतेः लीलया तत्तत्काव्यप्रशस्तभाव्यभक्तेषु सर्वज्ञशतवाग्विश्वसितः पूर्वपूर्ववत्प्राप्तिसम्भावनातश्च आशामय्या वृत्या, तथा सदुक्त्या भावकभक्तेषु प्रथमसूचितावसानविस्तृतमंगलमय्या सद्रचनारूपया सतां वक्तृणां तादृगुक्त्या च अलौकिकविभावत्वं लोकचमत्कारिविभावाविस्फूर्तिशालित्वं नीतात् करुणरसात् सुखं व्यक्तं स्यात् इति स्थितिः रसविदां रसमर्यादा।"[1]

इससे स्पष्ट है कि इन आचार्यों ने करुण की आनन्दात्मकता प्रतिपादित करने के लिए रति या उसके विभावों की अलौकिकता का ही सहारा नहीं लिया, कवि-रचना और प्रमाता के अवचेतन में निहित परवर्ती फल पर लगी हुई दृष्टि का भी उपयोग किया है। किन्तु यह मान्यता उन काव्यों पर तो लग सकती है जो करुण-प्रधान होते हुए भी सुखान्त हों। दुःखान्त काव्यों पर यह घटित नहीं होगी। किन्तु इससे इन आचार्यों के समाधान में त्रुटि नहीं आती। उनके आराध्य कृष्ण से सम्बन्धित काव्य दुःखान्त हो ही नहीं सकता, उसे तो अन्ततोगत्वा अवसान में 'विस्तृत मंगल मय' होना है।

यही बात वियोग के सम्बन्ध में है। रति स्वरूपतः परमानन्दस्वरूपिणी है, उसका आलम्बन समस्त आनन्दों का मूल श्रीकृष्ण है, फिर दुःख कैसा? दुःख जो गोचर होता है, अद्भुत आनन्द का 'विवर्त' है, 'आभास' रूप है। परिणाम में जाकर वह निश्चित ही नहीं रहेगा, बीच में भी प्राप्त्याशा का 'अन्तरनुसन्धान' बना रहता है, जिसे हम अवचेतन की प्रतिक्रिया कह सकते हैं:

"वियोगे त्वद्भुतानन्दविवर्तत्वं दधत्यपि।
तनोत्येषा प्रगाढार्तिभाराभासत्वमूर्जिता॥"[2]

"अद्भुतानन्दविवर्तत्वं स्वतः परमानन्दरूपत्वात् सर्वानन्दमूलश्रीकृष्णालम्बनत्वाच्च, प्रगाढार्तिभराभासत्वं वियोगज्ञानपरिणामदुःखस्य तस्यामध्यासात्, तस्यास्तु तत्र निमित्तत्वात्

---

१. दु० सं० : पृ० ३११।

२. भ० र० सि० : पृ० ३०७।

तद्दुःखस्यापि दृढप्राप्त्याशया तिरस्कृतत्वात् ।"[१]

सामान्यतः यह मानकर चला गया है कि वियोग से संयोग और पुष्ट होता है—"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।"[२] बलवती भूख लगने पर भोजन में जो स्वाद आ जाता है, वही वियोगानन्तर होने वाले संयोग में होता है। अतः जितनी दुःख और विषाद की भावनाएँ हैं, आनन्दमय रति की उपाधिरूपा हैं। उन उपाधियों के हट जाने पर अन्त में तो संयोग का आनन्दमय सुख प्रकाशित होगा ही, अपने वर्तमान काल में भी वे उपाधिरूपा विषादादि की भावनाएँ वस्तुतः दुःखमय नहीं हैं, उनका कृष्ण से सीधा सम्बन्ध है। वे दुःखमय-सी दिखायी पड़ती हैं—

"तदन्वयात्—कृष्णान्वयात्—विषादादयश्च तादृशसुखमया एव वक्तव्याः, दुखमयत्वेन तेषां स्फुरणं तु तदप्राप्त्यादिभावनारूपेणोपाधिनोपादानेनैव जायते——। प्राप्त्यादिषु तु जातेषु तद्भावनारूपस्योपाधेरुपादानस्यापगमाद्धर्षस्य पोषणाच्च बुभुक्षादिवद्विषादादययोपि सुखमयत्वेनैव स्फुरन्तीति दुःखमया इव ते न तु दुःखमयाः ।"[३]

इस प्रकार भक्तिरस अपने समस्त रूपों में, विशेषतः मधुर रूप में पूर्ण आनन्दमय है।

उज्ज्वल रस

गत पृष्ठों में आचार्य रूपगोस्वामी और जीव गोस्वामी की दृष्टि से भक्तिरस के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से चर्चा हुई है, जिसका प्रमुख आधार भक्तिरसामृतसिन्धु रहा है। इसमें कृष्णरति के सामान्य रूप को स्थायी भाव मानकर रस को मुख्य पाँच भेदों एवं गौण सात भेदों के रूप में देखा गया है। इन सभी भेदों में मधुर रस सर्वोत्कृष्ट है। वस्तुतः यही रस इन आचार्यों की अपनी साम्प्रदायिक चेतना का अभीष्ट है। इसे 'दुरूह' और 'रहस्यमय' कहा गया है। अतः भक्तिरसामृतसिन्धु में इसको विस्तार के साथ अवकाश नहीं दिया गया है। इस रहस्यमय परम रस के लिए पृथक् से 'उज्ज्वलनीलमणि' की रचना हुई है।

'उज्ज्वल रस' मधुर रस का पर्यायवाची शब्द है, जो वस्तुतः शृंगार की चरम आध्यात्मिक परिणति है।[४] उज्ज्वलनीलमणि इसे 'भक्तिरसराट्' कहकर चलता है :

"मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात् ।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः ॥"[५]

वस्तुतः उज्ज्वलनीलमणि में मधुर को नायिकाभेद और भाव-भूमिका की अत्यन्त विस्तृत सम्भावनाओं के साथ पूर्ण विस्तार दिया गया है। सामान्यतः रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण वही है, जिसका निरूपण रसामृतसिन्धु के आधार पर हम पीछे कर चुके हैं, तथापि इसके सम्बन्ध में कतिपय ऐसी उल्लेखनीय बातें हैं जिनकी चर्चा यहाँ पृथक् से करना आवश्यकीय है। संस्कृत और हिन्दी वैष्णव साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग शृंगारमयी मधुर-भावना

१–२. दु० सं० : पृ० ३०७।

३. वही, पृ० २९९।

४. "स एवोज्ज्वलापरपर्यायो भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रस०।" लौ० रो० : पृ० ४।

५. उ० नी० : पृ० ४।

से आरंजित है। जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, मीरा, सूर और न जाने कितने रस-सिद्ध कवियों में इस रस की माधुरी उच्छलित है, भले ही उसके रूप में यत्किंचित् अन्तर हो गया हो। यहां हम उसी मधुर के विषय में इन गोस्वामी आचार्यों के दृष्टिकोण की कतिपय विशिष्ट रेखाएँ प्रस्तुत करना चाहते हैं।

उज्ज्वल रस की रहस्यता

उज्ज्वल रस की रहस्यता पर इन आचार्यों ने बड़ा बल दिया है। रसामृतसिन्धु में रूपगोस्वामी कहते हैं :

"निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विवताङ्गोपिलिख्यते॥"[1]

रसामृतसिन्धु में इस रस के संक्षेप से वर्णन करने के तीन हेतु रूप ने दिए हैं—यह निवृत्त पुरुषों के लिए अनुपयोगी है, दुरूह है, रहस्यमय है। उज्ज्वलनीलमणि में इन तीनों हेतुओं को एक 'रहस्य' शीर्षक में ही रखा गया है :

"मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।"[2]

मधुर रस का ऊपरी स्वरूप कामवृत्यात्मक है, स्पष्टतः चरम श्रृंगारी है। हम देख चुके हैं कि ह्लादिनी शक्ति किस प्रकार इन कामादि वृत्तियों के रूप में ही परिणत हो जाती है। इस रहस्य को हर कोई तो नहीं समझ सकता। अतः इस रस को उन सबसे रहस्य रखने की, छिपाने की साम्प्रदायिक आज्ञा है[3]। जो इसे लौकिक श्रृंगार समझकर इससे दूर से बिदकते हैं, उनके लिए यह अनुपयुक्त है, या कहिए वे इसके अयोग्य हैं—निवृत्तानुपयोगित्वात् शब्द पर इस दृष्टि से जीव गोस्वामी की टिप्पणी द्रष्टव्य है :

"निवृत्तेषु प्राकृतश्रृंगाररससाम्यदृष्ट्या भागवतादप्यस्माद्विरक्तेषु,
अनुपयोगित्वात्— अयोग्यत्वात्।"[4]

जिन निवृत्तों से इस रहस्य को गोप्य रखने का निर्देश किया गया है उनकी परिधि में निम्न कोटि के व्यक्ति आते हैं :[5]

१. उपर्युक्त वे लोग जो इसे प्राकृत श्रृंगार से समान पाकर इससे बिदकते हैं।
२. जो निवृत्तिमार्गी हैं, और प्रवृत्ति-मूलक भक्तिमार्ग को अनुपयुक्त समझते हैं। ऐसे ज्ञानमार्गियों को यह रहस्य ज्ञात नहीं होता कि भक्ति के इस प्रवृत्तिमार्ग में ही चरम निवृत्ति अन्तर्भूत है।
३. भक्तिमार्ग का अवलम्बन करने वाले वे लोग जो इसके रहस्य को न समझ सकने

---

१. भ० र० सि० : प० वि० : ल० ५ : का० २।
२. उ० नी० : पृ० ४।
३. दु० सं० : पृ० ४२७।
४. "रहस्येव तदधिकारिभ्यः प्रति प्रकाशनीय।" लो० रो० : पृ० ४।
"तत्पराङ्मुखानामनुपयुक्तत्वात् तेभ्यो गोप्य एव।" लो० रो० : पृ० ४।
"तस्मात् ग्रन्थान्तरवत् यत्र कुत्रचित् नायं प्रकाशनीय, इत्युपदिष्टम्।" लो० रो० : पृ० ४-५।
"अतएव तादृशैः स्थूलबुद्धिभिर्दुरूहत्वं चेति तेभ्योयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूर्यमजानद्भ्योऽनादरशंकया गोप्य एवेति।" आनन्दचन्द्रिका : विश्वनाथचक्रवर्ती : पृ० ४।
५. लोचनरोचिनी तथा आनन्दचन्द्रिका, पृ० ४ के आधार पर निरूपित।

के कारण शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य के अन्य भक्तिरूपों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। उन्हें इसमें लौकिक शृंगार की गन्ध आती है।

४. वे लोग जो श्रीमद्भागवत में आस्था रखने के कारण इस मधुर रस के प्रति अपनी सम्मान-भावना तो प्रदर्शित करते हैं, किन्तु उसके पर्यालोचन में चतुर नहीं हैं।

५. सांसारिक भोगों में आसक्त विषयी लोग।

इन सभी लोगों से यह रस गोपनीय है। यह तो केवल उन्हीं के लिए है जिनमें एक ओर तो इस शृंगारमयी कृष्णरति के आस्वादन की गहरी क्षमता है, दूसरी ओर चरम कोटि की निरभिलाषिता एवं आत्म-सौख्य-हीनता की भावना है। ऐसे ही लोग इसमें डुबकी लगा सकते हैं। अन्य स्थूल बुद्धि वालों के लिए यह दुरूह है।[1]

रति की क्रमिक भूमिकाएं

हम देख चुके हैं कि भक्तिरस के स्थायी भाव का कृष्णरति में तारतम्य है और उसकी क्रमिक भूमिकाएँ हैं। यह बात अन्य रस-भेदों की दृष्टि से ही नहीं, स्वयं मधुरा रति के विषय में लागू होती है। कृष्णविषया गोपीरति ही मधुरा कहलाती है। पर इसकी भी क्रमिक तारतम्य की दृष्टि से सात भूमिकाएँ स्वीकार की गयी हैं। वे हैं—रति, प्रेमा, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव। ये सब शब्द पारिभाषिक हैं। ये प्रेम की उत्तरोत्तर दृढ़ विशिष्ट अवस्थाओं के परिचायक हैं। इनमें चरम स्थान भाव नामक रति का है, जिसकी महत्ता सूचित करने के लिए उसे 'महाभाव'[2] नाम दिया गया है। यह भाव शब्द भी पारिभाषिक है।

इनमें से प्रत्येक के कई-कई उपभेद एवं उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें भाव का शास्त्रीय निरूपण निखरा है। हिन्दी के अनेक कवियों की रचनाओं में इन उपभेदों में निरूपित रति के रूप अंकित हुए हैं, जिनके आधार पर उनकी भक्तिमयी रचनाओं का भक्तिशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

मधरा रति और सम्भोगभावना

मधुरा रति स्वरूपतः कान्ताभावमयी है। उसमें कामवृत्ति का पूर्ण उद्रेक के साथ अवकाश है। किन्तु इस रति का यह एक रहस्य है कि यह सम्भोग-भावना को अपने में घुला-मिलाकर छिपा लेती है।[3] जिस सीमा तक मधुर भावना सम्भोग-लालसा को अपने में

---

१. आ० चं० : पृ० ४।

२. "तत्परिपाटी हि तादृशभावमाधुरीणां क्रमेणानुभवः। लो० रो० : पृ० ४१४।
"क्रमलीलारसस्तु तत्र न सिध्यतीत्यपरितुष्य……।" लो० रो० : पृ० २४।
"स्याद् दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान् मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि।" उ० नी० : पृ० ४१६।
"इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद् विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्।" उ० नी० : पृ० ४१५।

३. "सा कामरूपा संभोगतृष्णां या नयति स्वताम्।" भ० र० सि० : पू० वि० : ल० २ : का० ६८।

घुला सकी, उसी सीमा तक उसकी उत्कृष्टता समझनी चाहिए। इस दृष्टि से मधुरा रति के तीन भेद किये गये हैं—साधारणी, समंजसा, समर्था।

साधारणी रति में संभोग की इच्छा प्रधान होती है, प्रेम में घुलकर एकाकार नहीं हो पाती। इसमें घनीभूतता भी नहीं हो पाती। प्रेम और स्वार्थ की रेखाएं अलग-अलग दिखाई दे जाती हैं। संभोग का स्वार्थ ढीला होने पर यह भी ढीली दिखाई पड़ती है, तीव्र होने पर तीव्र।[1] इसका उदाहरण कुब्जा में खोजा जा सकता है।[2]

समंजसा रति की निदर्शन रुक्मिणी आदि महिषियां हैं। इसकी चेतना पत्नीभाव की है। इसमें पर्याप्त सान्द्रता है, किन्तु कभी-कभी सम्भोगतृष्णा प्रेम से अलग दिखायी पड़ जाती है। पत्नीभाव में जब-जब शुद्ध प्रेम की प्रधानता रहती है, भगवान् उसके परवश रहते हैं। किन्तु जब-जब सम्भोग-कामना उभरकर स्वार्थ-वृत्ति झलक आती है, उन्हें वश करना दुष्कर हो उठता है।[3] इसी कमी के कारण उसका स्थान सर्वोत्कृष्ट नहीं है।

सर्वोत्कृष्ट रति समर्था है, जिसमें सम्भोगलालसा कहीं दिखाई ही नहीं देती। सम्भोग की पूरी-पूरी लालसा और प्रवृत्ति होते हुए भी, उसमें आत्मसुख की कामना न करके केवल प्रियतम कृष्ण को आनन्दित करने की भावना से अनुप्राणित यह समर्था रति वस्तुतः आश्चर्य की वस्तु है।[4] यहां सम्भोग के दो रूपों को समझ लेना चाहिए। एक रूप का सम्भोग तो वह है जिसमें अपने प्रिय के द्वारा दिया हुआ अपनी इन्द्रियों का परितोष प्राप्त होता है, दूसरा वह है जिसमें अपने द्वारा दिया हुआ प्रिय को परितोष प्राप्त होता है। पहले प्रकार के सम्भोग को लौकिक काम कहना चाहिए, दूसरे का स्थान शुद्ध कांतारति के अन्तर्गत है।[5] यह सम्भोग रति से घुलकर एकाकार हो चुका होता है। इसी कारण सबसे उत्कृष्ट है। उसकी इसी सामर्थ्य के कारण उसे 'समर्था' नाम दिया गया है।[6]

समर्था रति में यह नहीं समझना चाहिए कि प्रियतमा को किसी प्रकार का सुख होता ही नहीं। आलिंगन-दान में अपने सुख की भावना का उद्देश्य न रहते हुए भी प्रिय के आलिंगन का सुख प्रियतमा को स्वतः ही मिलता है। ऐसा सम्भोग सुख इस मधुरा रति में भी

---

१. "नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसम्भवा।
संभोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता॥
असान्द्रत्वाद्रतेरस्याः सम्भोगेच्छा विभिद्यते।
एतस्या ह्रासतो ह्रासस्तद्धेतुत्वाद्रतेरपि॥" उ० नी० : पृ० ४०८।

२. उ० नी० : पृ० ४०७।

३. "पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदितसम्भोगतृष्णा सान्द्रा समंजसा॥
समंजसातः सम्भोगतृष्णाया भिन्नता यदा।
तदा तदुत्थितैर्भावैर्वश्यता दुष्करा हरेः॥" उ० नी० : पृ० ४०९-४११।

४. उ० नी० : पृ० ४१२।

५. "अयमर्थः—सम्भोग खलु द्विविधः। प्रियजनद्वारा स्वेन्द्रियतर्पणसुखमयः, स्वद्वारा तदिन्द्रियतर्पणसुखभावनामयश्च। तत्र पूर्वेच्छा कामः, स्वहितो सुखत्वात्। उत्तरेच्छा तु रतिः, प्रियजनहितोसुखत्वात्।" लो० रा० : पृ० ४१२।

६. "सा रतिः सर्वातिक्रामिसामर्थ्यात् समर्थेति भण्यते।" लो रो० : पृ० ४१२।

अन्तर्निहित है, पर वह उभरा हुआ उद्देश्य नहीं है। यही तो रति के साथ उसकी एकाकारता है।[1]

इस समर्था रति की सच्ची अधिकारिणियाँ गोपियाँ हैं, जिनमें राधा का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। समर्था ही चरम कोटि को प्राप्त कर 'महाभाव' कहलाती है, और इस महाभाव का आस्वादन स्वभावतः राधा को होता है।[2]

परकीया-भाव में प्रेम की पराकाष्ठा

गोपी-प्रेम परकीया-भाव का प्रेम है। राधा इस सम्प्रदाय में परकीया हैं। यह मानकर चला गया है कि परकीया-प्रेम में जो तीव्रता और प्रेम की चरम काष्ठा होती है, वह स्वकीया में नहीं होती। रति का मूल उद्देश्य है कृष्ण प्रियतम को सौख्य-दान। यह जितना परकीया-भाव में आता है, उतना स्वकीया-भाव में नहीं आ पाता। उतनी तीव्रता स्वकीया प्रेम में होती ही नहीं। जल की धारा में रोक से जो तीव्रता आ जाती है, वह निर्बाध जल-गति में नहीं होती। गोपी-प्रेम लोक और धर्म की सीमाओं को तोड़कर, आर्य-पथ का भंग करके, स्वजनों का मोह एवं उनके द्वारा दी गयी बाधाओं की परवाह न करके, उच्छल बहने वाला प्रेम है। राधा परकीया हैं, जो समस्त परकीयाभावोपासिका गोपियों में श्रेष्ठ हैं। कृष्ण उनके उपपति हैं। इसी रूप में भाव का परम उत्कर्ष माना गया है[3]:

"अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।"[4]

परकीया-भाव पारमार्थिक नहीं

किन्तु यह इस भाव का रहस्य है कि यह पारमार्थिक दृष्टि से परकीया-परक नहीं है। गोपियाँ भगवान् की नित्य प्रेयसियाँ हैं, राधा उनकी अभिन्न ह्लादिनी शक्ति है। यह सारा विवेचन तो लौकिक दृष्टि से किया गया है कि कृष्ण उपपति हैं, एवं राधादि परकीयाएं।

---

१. "तत्र चोत्तरसम्भोगे प्रियजनस्पर्शसुखं च भवत्येवेति यद्यपि तदिच्छा दुर्वारा, तथापि बलवत्त्वात् कैंचिद्विशेषमायाख्या यया रत्या मिलितत्वात् तादात्म्यमापन्ना भवति।" लो० रो० : पृ० ४१२।

२. "व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते।" उ० नी० : पृ० ४६२।

३. "प्रच्छन्नकामता तु सुखविशेषाय संपत्स्यते।" लो० रो० : पृ० ५४।

"कन्यकाश्च परोढाश्च परकीया द्विधा मताः।
व्रजेशव्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः॥" उ० नी० : पृ० ५३-४।

"तथा च मुनिः—
बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः।" उ० नी० : पृ० १४।

"स हि वार्यमाणत्वादिसद्भावेन रसोत्कर्षं स्थापयति तच्चात्रापि 'ता वार्यमाणाः पतिभिः' इत्यादिना स्पष्टमेवास्तीति।" लो० रो० : पृ० १४।

"रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणा।
धर्मेण स्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः॥" उ० नी० : प्र० ५२।

"हित्वा स्वजनमार्यपथं च हित्वा……।"

४. उ० नी० : पृ० १४।

"साधारणस्योपपतेर्लक्षणमत्र यल्लिखितं तत्खलु कृष्णे तल्लक्षणस्य वास्तवत्वाभावात् तत्रातिदेश एव युज्यते इति विवक्षया स्वजनप्रेमवशावतारलीलावशेन नित्यलीलामनुसन्धानस्य तस्य तासां च तादृशीनां लीलाशक्तिर्मायैव रसविशेषपरिपोषाय तासु परकीयात्वं प्रत्याययय तत्रौपपत्यं प्रत्यायितवतीति ।"[1]

इस बात को ठीक से समझने के लिए हमें भगवान् की नित्यलीला का स्वरूप और गोपियों की वास्तविक स्थिति समझनी होगी ।

भगवान् की नित्य लीला

भगवान् का धाम नित्य है, जो प्रकृति से परे है । उस नित्य वैकुण्ठ लोक में नित्य वृन्दावन है, नित्य गोवर्धन है, नित्य यमुना हैं । जहाँ नित्य प्रेम में निरत उनका लीला-परिकर है, जिसमें सभी प्रकार के भक्त हैं । वहीं नानारासरसोन्मत्त गोपी-मण्डल है, जिसके बीच रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्ण नित्य लीलाएं करते हैं । उनकी ह्लादिनी शक्ति राधा उनके साथ नित्य विलास में सम्मिलित रहती हैं ।[2]

भगवान् का यह लीला-विलास उस लोक में ही नित्य नहीं है, इस लोक में भी नित्य है । भगवान् की प्रत्येक लीला, प्रत्येक कर्म नित्य हैं, सदा होते रहते हैं । विशिष्ट-विशिष्ट उनके नाम उनके विशिष्ट-विशिष्ट कर्मों एवं लीलाओं की दृष्टि से हैं । ये कर्म और नाम भी नित्य हैं । बस होता यह है कि विशिष्ट-विशिष्ट भक्तों की भावना के अनुरूप विशिष्ट-विशिष्ट कर्मों एवं रूपों का आविर्भाव होता रहता है, अन्यथा वे तिरोहित रहते हैं । उदाहरण-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि गिरिवरधारी भगवान् नित्य ही गोवर्धन धारण किये हुए हैं । उनका गिरिवरधारी नाम नित्य है, गोवर्धन नित्य है, उसका उनके द्वारा उठाया जाना नित्य है । यदि ऐसा न होता, तो भावुक भक्त आज भी उसका अनुभव कैसे कर पाते ? सामान्यतः वह रूप तिरोहित रहता है, भक्तों की भावना से आविर्भूत हो जाता है :

"तेन यत्कर्मविशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम यत्कर्मविशिष्टं तद्रूपं नित्यमेव । लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः । कस्याप्यंशस्य कदाप्याच्छादनमेव इत्येव मन्तव्यम् । तेन भगवान् गोवर्धनमुद्धरन्नेव सदैव वर्तते इति । गोवर्धनोद्धरणधार इति क्रियानामाभ्यां सहितो गोवर्धनोद्धरणरूपः सदैव वर्तते । अत एव अद्यापि भक्तानां तथानुभवः ।"[3]

इसी प्रकार भगवान् के अवतार, जन्म और लीलाएं सभी नित्य हैं, सदा होती रहती

---

१. लो० रो० : पृ० १३ ।

२. "श्रुत्वैतद् दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् । केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम् ॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः । मनोरमं निकुंजाढ्यं सर्वर्तुरससंयुतम् ॥
यत्र गोवर्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः । रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंकुलः ॥
यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा । रत्नबद्धोभयतटी हंसपद्मादिसंकुला ॥
नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् । तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः ॥
आनन्दचन्द्रिका : विश्वनाथ चक्रवर्ती : पृ० १९ ।

३. वही, पृ० २० । विशेष विवेचन आनन्दचन्द्रिका, पृ० १४ से ३० तक के आधार पर ।

हैं। अतः नित्यलीला की सहचरी गोपियों के साथ भगवान् के विलास का नित्य सम्बन्ध है, तब उनके साथ जिस परकीयात्व और औपपत्य की चर्चा की जाती है, वह वास्तविक नहीं, लौकिक दृष्टि से कहा हुआ है।

गोपियां

परकीया प्रेमिकाओं के रूप में हमारे सामने आने वाली व्रजबालाओं को मूल रूप से कृष्ण की प्रेमिका बताया गया है। उनके औपपत्य को आभासिक सिद्ध किया गया है। व्रज में उनके आविर्भाव के सम्बन्ध में कई प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, जिनके आधार विभिन्न पुराण हैं। सामान्यतः यह मानकर चला गया है कि व्रज में इन सभी रूपों से गोपियों का आविर्भाव हुआ है। प्रमुख रूप ये हैं :

१. रामावतारकालीन मुनिजन—पद्म-पुराण में एक कथा आती है। वन में भ्रमण करते हुए राम के सौन्दर्य को देखकर तत्रस्थ मुनिजनों में कान्ताभाव से राम के साथ रमण की कामना हुई। उनकी कान्तासक्ति की भावना उनकी प्रेमसाधना से पूरी हुई और वे लोग कृष्णजन्म के समय व्रज में गोपीरूप में अवतरित हुए।[1]

ध्यान रहना चाहिए, कि कान्ताभाव की प्राप्ति इसी जन्म में पुरुषों को भी सम्भव मानी गयी है। यह तो जन्मान्तर की बात है।

२. वृहद्वामनीय पुराण में एक और कथा आती है। एक बार उपनिषदों से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अपने नित्य लोक की झलक दिखायी, जिसमें वे गोपियों के साथ अनन्त आनन्दमयी लीला में निरत थे। इस गोपी-सौभाग्य को देखकर उपनिषदों के मन में भी उसी भाव से भगवान् को प्राप्त करने की अभिरुचि उत्पन्न हुई और तपःसाधना के द्वारा उन्होंने कृष्णावतार के समय गोपीरूप प्राप्त किया।[2]

३. भगवती गायत्री ने कान्ताभाव से भगवान् को प्राप्त करने की कामना की, तदनुसार वे व्रज में गोपीरूप में अवतरित हुईं और श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप में प्राप्त किया।[3]

४. देव-नारियाँ—समस्त देवताओं में भगवान् अंशतः विराजित रहते हैं। उस अंश के रमणार्थ उनकी पत्नियों में भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति अंशतः अन्तर्निहित रहती है। जब देवताओं की प्रार्थना पर लोकरक्षण के लिए भगवान् वैकुण्ठ से व्रजधाम में अवतरित हुए तो उनका लीलापरिकर भी अवतरित हुआ। और वे देवनारियाँ भी गोपीरूप में अवतरित हुईं।[4] ये अंशिनी व्रजदेवियों की सखियों के रूप में अवतरित हुईं।

५. नित्यसिद्धा प्रेयसियाँ—भगवान् के लीलाधाम व्रज में भगवान् के आविर्भाव के साथ ही उनके सौख्यसम्पादनार्थ उनका लीलामण्डल भी अवतरित हुआ, जिसमें राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा आदि समस्त नित्य सखियाँ थीं।[5]

---

१. उ० नी० : पृ० ६५।

२. उ० नी० : पृ० ६४।

३. "गायत्री च गोपीत्वं प्राप्य श्रीकृष्णं प्राप्तवतीत्याख्यायते।" लो० रो० : पृ० ६७।

४. उ० नी० : पृ० ६९-७०।

५. उ० नी० : पृ० ७०।

६. सिद्ध प्राचीन भक्त—अनेक सिद्ध भक्त जो अपनी प्रेम साधना से भगवान् के नित्य लीलापरिकर के साथ नित्यप्रियाओं में मिलकर भगवान् के मधुर भाव में लीन थे, भगवान् के व्रज निवास काल में नित्यप्रिया गोपियों के साथ ही गोपीरूप में अवतरित हुए।[1]

७. सिद्ध नव्य भक्त—अनेक सिद्ध भक्त जिन्होंने नयी नयी भक्ति-सिद्धि प्राप्त की थी, अभी नित्य लीलापरिकर में गोपियों का सालोक्य चिरकाल के लिए नहीं पा पाये थे, ब्रजावतार काल में भगवान के साथ गोपीरूप में अवतरित हुए।[2]

रूप गोस्वामी ने इनको कई वर्गों में विभाजित किया है। इनमें मुनिजन और उपनिषदें साधना के द्वारा सामूहिक रूप में गोपीरूप को प्राप्त हुई हैं, प्राचीन और नवीन भक्त, चाहे वे मर्त्य योनि से आये हों चाहे अमर्त्य योनि से, अकेले या छोटे-छोटे दो-चार के समूहों में गोपीरूप में अवतरित हुए हैं। दूसरा वर्ग देवनारियों का है, तीसरा नित्यप्रियाओं का। रूप गोस्वामी के वर्गीकरण को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:[3]

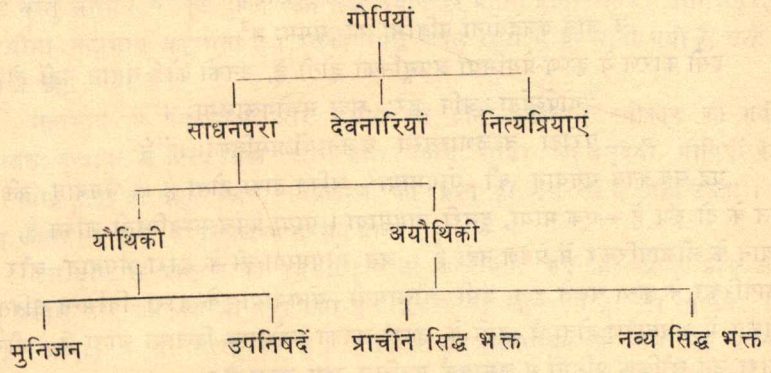

इस प्रकार समस्त व्रजवनिताओं से भगवान् का नित्य सम्बन्ध है, वे ही उनके वास्तविक पति हैं। तब उनके साथ औपपत्य और पाप-सम्बन्ध का प्रश्न ही कहाँ उठता है? औपपत्य की लीला तो इसलिए की जाती है कि प्रेम का चरम सान्द्र एवं उच्छल वेगमय रूप प्राप्त किया जा सके। उस लीलारसिक को प्रच्छन्नकामुकता की पद्धति से मिलने वाला प्रेम अत्यन्त प्रसन्न करता है,[4] और वह यह सब स्वजन-प्रेम-वश होकर करता है।[5]

इस प्रकार भगवान् के नित्य लीलाकर्म और उनकी प्रेयसी गोपियों के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह उपपति-लीला-विधान वास्तविक नहीं, अवतार-लीला से ही सम्बन्धित है। इस औपपत्याभास की लीला महाशक्ति

---

१. उ० नी० : पृ० ६७।

२. उ० नी० : पृ० ६७।

३. उज्ज्वलनीलमणि : पृ० ६३ से ७३ तक के आधार पर निरूपित।

४. प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा।" उ० नी० : पृ० ५४।

५. "स्वजनप्रेमवशावतारलीलावेशेन नित्यलीलामनुसन्धानस्य तस्य तासां च.....लीलाशक्तिर्मायथैव रसविशेषपरिपोषाय तासु परकीयात्वं प्रत्यायय्य तत्रौपपत्यं प्रत्यायितवतीति।" लो० रो० : पृ० १३।

योगमाया की सहायता से होती है।[1] इसी कारण उपपतित्व के प्रति हीन-दृष्टि सामान्यतः उठती है, वह प्राकृत नायक के प्रति ही उठ सकती है, लीला के लिए रससार मधुर का आस्वादन करने वाले शृंगाररससर्वस्व भगवान् कृष्ण के विषय में नहीं।[2]

गोपियों का लौकिक पतित्व

इतना ही नहीं, लौकिक दृष्टि से गोपियों के जो पति हैं, वे भी वास्तविक पति नहीं हैं। इन गोपियों के साथ उन लौकिक पतियों का कभी भी संगम नहीं होता। जब वे भगवान् के साथ लीलाविलास में केलिकुंजों में विहार कर रही होती हैं, उन लौकिक पतियों के पार्श्व में योगमाया द्वारा निर्मित उनकी सदृशी प्रतिमूर्तियाँ पड़ी रहती हैं। उन्हें यह भान भी नहीं होता कि उनकी वास्तविक पत्नियाँ कहाँ हैं। तब किसी प्रकार की असूया उठने का प्रश्न ही क्या है ?

"मायाकलिततादृक्स्त्रीशीलनेनानसूयुभिः।
न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः॥[3]

इसी कारण ये कृष्ण-प्रेयसियाँ अप्रसूतिका होती हैं, उनकी कोई संतान नहीं होती—

"गोपैर्व्यूढा अपि हरेः सदा संभोगलालसाः।
परोढा वल्लभास्तस्य व्रजनार्योऽप्रसूतिकाः॥"[4]

यह सब कार्य भगवान् की योगमाया[5] शक्ति द्वारा होता है। भगवान् की माया शक्ति के दो रूप हैं—एक माया, दूसरी योगमाया। माया प्रपंच-सम्बन्धिनी शक्ति है, उसका भगवान् के लीलापरिकर में प्रवेश नहीं है। अतः योगमाया ही के द्वारा भगवान् और उनके लीलापरिकर के कृत्य चलते हैं। इसी लीलामयी योगमाया के द्वारा विभिन्न शक्तियों का गोपीरूप में अवतारण होता है, इसी के द्वारा उनका परोढात्व दिखाया जाता है, और इसी के द्वारा उन लौकिक पतियों से असम्पर्क सुरक्षित रखा जाता है :

"आशंसया रसविधेरवतारितानां
कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"[6]

"तादृशलीलाक्रमसाध्यप्रेमरसविशेषास्वादनाय सर्वज्ञतां सर्वशक्तितां सर्वेश्वरतामपि नात्यादृत्य तदुपयुक्तां लीलाशक्तिमेवादृत्य तद्द्वारावतारितानां नित्यप्रेयसीनामेव तासां परदारत्वभ्रमेण यथा रसस्य विधिः प्रकारविशेषः सम्भवति तथा जन्मादिलीलाया नित्यत्वं

---

१. अथैतस्य सहाया स्युरित्यौपपत्याभासलीलायामेव ज्ञेयाः, किन्तु किशोरा अपि केलौ क्लीववत् पौरुषभावहीना एवैते मन्तव्याः।" लो० रो० : पृ० ४१।
"लीलाशक्तिर्मायैव रसविशेषपरिपोषाय" : लो० रो० : पृ० १३।

२. "लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।" उ० नी० : पृ० १४-५।

३. उ० नी० : पृ० ५८।

४. उ० नी० : पृ० ६१।

५. मायया योगमायैव, न तु बहिरंगमायया। भगवतो धाम्नि सिद्धपरिवारेषु च तस्या अधिकाराभावात्। तन्मोहितानां भगवद्वैमुख्यस्यावश्यंभावात् तेषां गोपानां तु भगवद्वैमुख्यमात्रादर्शनात्।" आनन्दचन्द्रिका : पृ० ५८।

६. उ० नी० : पृ० १००।

विस्मार्य प्रकटीकृतानामित्यर्थः। तदाशंसायां हेतु :—रसिकेति। तस्माल्लीलाशक्तिप्रेरिततया कृतमेव तासां परोढात्वप्रत्यायनं, परसंगत्यभावश्च।"[1]

यह लीलामयी शक्ति उन गोपियों को भी यह भुला देती है कि वे भगवान् की नित्यप्रियाएं हैं, उनके जन्म, उनकी लीलाएं नित्य हैं, उनका उपपतित्व आभासात्मक है, आदि। तब उनकी ओर से जो अबाध्य स्नेह कृष्ण को मिलता है, उसी के आस्वादन के लिए तो वे अपने सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर रूप की भी अधिक बिना परवाह किये इस लीला के रसिक बनते हैं।

महाभाव में विप्रलम्भ और सम्भोग

समर्था रति के पूर्ण विकसित रूप को महाभाव कहा गया है, यह हम देख चुके हैं। यह अनुराग की पराकाष्ठा है। स्वरूपतः अनुराग राग की वह भूमिका है जिसमें अनुभव की हुई वस्तु अनुभव की हुई ही न लगे, सदा नवीन ही प्रतीत होती रहे।[2] इसी अनुराग की चरम सीमा महाभाव कहलाता है। इसकी सिद्धि केवल राधा में ही मानी गयी है, उन्हें महाभावमयी कहा गया है।

महाभाव में विप्रलम्भ और संभोग की दोनों अवस्थाएं स्वीकार की गयी हैं। सिद्धान्ततः वृन्दावन में नित्य विहार करने वाले श्याम सुन्दर का व्रजदेवी गोपियों के साथ कभी वियोग होता ही नहीं,[3] अतः विप्रलम्भ का प्रश्न ही इस रस में नहीं उठता। किन्तु प्रकाश लीला की दृष्टि से विप्रलम्भ सम्भव होता है।[4]

इस दृष्टि से श्रीकृष्ण की व्रजलीला के दो रूप माने गये हैं—प्रकट और अप्रकट, जिन्हें प्रकाश और अप्रकाश भी कहा गया है। प्रकाश वह लीलारूप है, जो स्पष्टतः दिखाई देता है। प्रत्यक्ष में तो विरह ही है। गोपियाँ इसे वास्तविक ही मान कर चलती हैं, योगमाया उन्हें भुलाये रहती है।[5] अप्रकट लीला दृष्टि से भगवान् और व्रजबालाओं का नित्य मिलन है। पूर्ण विरह के भी बीच में कहीं-कहीं इस नित्य मिलन की मधुर झलक हिन्दी कृष्ण काव्य में देखने को मिल जाती है। प्रकट और अप्रकट लीला का प्रभाव विरह ही नहीं, अन्य अनेक बातों में दिखाई पड़ता है, जिसकी पर्याप्त विस्तार के साथ चर्चा लोचन-रोचिनी में जीव गोस्वामी ने की है।[6]

गोपियाँ विप्रलम्भ को नित्य मिलन की बात न जाने हुए, किन्तु श्रीकृष्ण जाने हुए ही अनुभव करते हैं। जान-बूझकर भी इस कष्टप्राय मार्ग को वे इसीलिए अपनाते हैं कि इससे सम्भोग-सुख का चरम परिपाक होता है।[7] साथ ही उन्हें अपनी प्रेयसियों के निर्मलतम

---

१. लो० रो० : पृ० १००।
२. सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्। रागो भवन्नवनवः सोनुराग इतीर्यते।" उ० नी० : पृ० ४५४।
३. वृन्दावने विहरता सदा रासादिविभ्रमैः। हरिणा व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित्।" उ० नी० : पृ० ५६२।
४. "हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ।" उ० नी० : पृ० ५६०।
५. "अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरुपादानाद्वृन्दारण्ये विहरतेत्यत्राप्रकटलीलाविशेषतया विहरतेति गमितम्।" लो० रो० : पृ० ५६०।
६. लो० रो० : पृ० ५६० से ५७० तक।
७. लो० रो० : पृ० ५०७।

प्रेम का समर्पण मिलता है। भगवान् प्रेमजीवी हैं, प्रेम उनकी जीविका है।[1]

विप्रलम्भ दुःखमय नहीं है, हाँ, दुःखमय-सा दिखायी पड़ता है। एक तो उसका पर्यवसान अतुल संभोग-सुख में होता है, दूसरे उसके अनुभव में भावी मिलन की सुखद आशा बनी रहती है। उस मिलन की कल्पना में जो सुख रहता है, अद्भुत होता है।[2] विप्रलम्भ की पीड़ा के विषय में सबसे अधिक बल इसी बात पर दिया गया है कि वह संभोग के सुख की भावना को गहरा करता है। इसीलिए सम्भोग को 'वैप्रलम्भिक' कहा गया है। वैप्रलम्भिक संभोग को महाभावात्मक संभोग माना गया है।[3]

वैचित्य विप्रलम्भ

महाभाव के रूढ और अधिरूढ नाम से दो भेद किये गये हैं, जिनमें अधिरूढ अधिक प्रदीप्त दशा है। अधिरूढ महाभाव दो स्वरूपों में होता है—मोदन और मादन। मोदन भाव में ह्लादन या मोदन की प्रधानता होती है, मादन में आनन्द की मादकता होती है।[4] संभोग में तो ये दोनों ही स्थितियाँ होती हैं, किन्तु विप्रलम्भ में केवल मोदन महाभाव ही परिणत होता है। भक्ति की जिस चरम काष्ठा में विप्रलम्भ की चर्चा की गयी है, वह इसी मोदन भाव की वियोगात्मक परिणति है। इस रूप में इसे 'मोदन' न कहकर 'मोहन' कहा जाता है।[5]

इसी मोहन विप्रलम्भ के चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास। करुण विप्रलम्भ प्रवास में ही अन्तर्भूत माना गया है। इन भेदों में 'प्रेमवैचित्य' नामक विप्रलम्भ विशेषतः उल्लेखनीय है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है:

"प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्यमुच्यते॥"[6]

प्रेम की तीव्र घनीभूत अनुभूति के कारण संयोग में भी जो वियोग की अनुभूति हो उठती है, उसे प्रेमवैचित्य कहते हैं। एक शब्द में संयोग में वियोग की विस्फूर्ति ही वैचित्य

---

१. "अमीषां या अनुवृत्तिर्मदेकभावनामयप्रेमा तद्रूपा या वृत्तिर्मम स्वीया जीविका तस्यैतां वर्धयितुमित्यर्थः।" लो० रो० : पृ० ५०८।

२. "विप्रलम्भसमयेऽपि प्रत्याशालब्धभावनामयस्य संभोगोन्नतिकारकत्वात् रसतामसावाप्नोति।" लो० रो० : पृ० ५०७।

३. "न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते।" उ० नी० : पृ० ५०७।
"सविप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः।" वही, पृ० ५०७।
"तदनुसारेण निर्विघ्नसंभोग एव विप्रलम्भगणानां फलतया पर्यवसायनीयः।" लो० रो० : पृ० ५६९।
"ततश्च सत्यामपि तस्यां नित्यलीलायां जन्मादिलीलैव प्रपन्नजनवृन्दानामानन्दहेतुरिति।" लो० रो० : पृ० ५७०।
"प्रकटलीलायाः परिणामतः क्लेशमयत्वं प्राप्तमितिस्वयमपि परितप्य तत्तन्नित्यलीलासुखनिरूपित-लीलाक्रमरसपरिपाटी·····।" लो० रो० : पृ० ५७०।

४. "हर्षवाचित्वमोदन·····।" "मादनोऽत्र दिव्यमधुविशेषवन्मत्तताकर इत्यर्थः।" लो० रो० : पृ० ४७४।

५. "मोदनोयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत्।" उ० नी० : पृ० ४७७।

६. उ० नी० : पृ० ५४८।

विप्रलम्भ होता है।[1]

प्रेम की गहरी भूमिका में एक भारी विस्मृति की दशा आती है। संयोग की चरम अनुभूति में भी वह आती है। समर्था की सान्द्र दशा को 'सर्वविस्मारिगन्धा' नाम दिया गया है,[2] जिसका गन्ध भी सब-कुछ भुला देता है। संयोग में वियोग की चेतना इसी विस्मृति का फल है। साक्षात् प्रिय का अनुभव हो रहा है, और प्रेमी डूबकर यह भूल रहा है कि प्रिय उसके ही पास है। इसका स्पष्ट अर्थ है, उसकी मिलन-पिपासा इतनी बढ़ चुकी है कि उसे तृप्ति होती ही नहीं।[3] होता यह है कि प्रेम की तीव्रतम अनुभूति में बुद्धिवृत्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है, वह वस्तुस्थिति को भूल जाती है, उसका पर्यालोचन नहीं कर सकती। प्रिय का अनुभव करते हुए वह उस अनुभव का ग्रहण ही नहीं कर पाती।[4] मिलनकाल के अनुभव में अनुभवकर्ता के अनुभव में दो तत्त्व होते हैं—एक तो स्वयं प्रिय की सत्ता, दूसरे प्रिय के गुणगणों का माधुर्य। जब बुद्धिवृत्ति कुछ सबल होती है, दोनों तत्त्वों का ग्रहण करती रहती है, किन्तु जिन क्षणों में वह आवश्यकता से अधिक क्षीण हो जाती है, एक ही तत्त्व का ग्रहण कर पाती है, जैसे पतली सूई सिलाई करते समय वस्त्र के सूतों के एक छेद को ही एक बार में वेध पाती है। तो, जिस क्षण में वह बुद्धिवृत्ति क्षीण हो जाती है, प्रिय के एक ही पक्ष को ग्रहण करती है, सत्ता को या गुणों को। जब वह किसी क्षण में गुणमाधुर्य में मग्न होती है, तो लौटकर उस गुणी को भी देखना चाहती है। देखना चाहती है कि जिसकी गुण-मधुरता इतनी आनन्दिनी है, वह कितना मधुर होगा, वह कौन है? पर अपनी क्षीणता के कारण गुणमाधुर्यानुभव के क्षण में वह प्रिय की सत्ता को भूल चुकी थी, अतः उसे एकदम लौटने पर प्रिय नहीं मिलता। कहिए, वह एकदम प्रिय को नहीं पकड़ पाती। और कुछ घबरा जाती है, 'विचित्ती' हो जाती है। फिर लौटकर गुणमाधुर्य को ही पकड़ने जाती है। किन्तु तब तक वह भी उसके हाथ से छूट चुका होता है। इस प्रकार वह मिलन काल में भी प्रिय का अभाव अनुभव करती है, और विरह-वेदना में तड़प उठती है। विरह की इसी विशिष्ट स्फूर्ति को 'प्रेमवैचित्य' कहा गया है।[5]

प्रेमवैचित्य की यह विश्वनाथ चक्रवर्ती की व्याख्या है। कुछ भी हो, माना यही गया है कि प्रेम की घनीभूत अनुभूति में प्रेमी वस्तु-स्थिति का विस्मरण कर बैठता है, और गहरे वियोग की अनुभूति करने लगता है। लीलामय कृष्ण के प्रति इसी भांति के वियोग की अनुभूति प्रेमवैचित्य महाभाव है, जिसका अनुभव केवल राधा को होता है। यह सब-कुछ को भुला देने वाले मोहन विप्रलम्भ का एक विशिष्ट रूप है।

संभोग—जहाँ तक संभोग का प्रश्न है, उसकी स्थिति स्पष्ट ही हो चुकी है। अप्रकट लीला की दृष्टि से नित्य सम्भोग माना गया है, किन्तु उसके परिपाक की तीव्रतम गहराई और चरम माधुरी की अनुभूति के लिए उस तक विप्रलम्भ के माध्यम से ही पहुँचना

---

१. "स च संयोगेपि वियोगविस्फूर्तिः।" लो० रो० : पृ० ४६५।

२. "समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता।" उ० नी : पृ० ४१२।

३. प्रेमवैचित्यं नाम तृष्णाया परावधिकाष्ठां व्यनक्ति।" आ० चं० : पृ० ५४८।

४. यत्र सति श्रीकृष्णं साक्षात् शश्वदनुभवतोपि जनस्य बुद्धिवृत्तेरपि तथा लोपः स्यात् यथा श्रीकृष्णं नानुभवानीत्येव प्रत्ययः स्यात्।" आ० चं० : पृ० ५४८।

५. आनन्दचन्द्रिका : पृ० ५४८-४९ के आधार पर।

अभीष्ट माना गया है। संभोग के जो भेद रूप गोस्वामी ने प्रस्तुत किये हैं, उनमें सहज एवं नित्य संभोग का कोई विशेष स्थान नहीं है। वैप्रलम्भिक संभोग का ही गुणगान है।

"रूढाख्यभावजातोयं संभोगो वैप्रलम्भिकः।
निर्भरानन्दपूराणां परमावधिरिष्यते ॥"[1]

संभोग विप्रलम्भ का तापशामक कहा गया है, और वही प्रेम का चरम परिणाम या परिपाक है, जिसमें स्वसम्भोगलालसा प्रियसौख्य के साथ घुलकर एकाकार हो चुकी होती है।

भक्ति-रस एवं तत्सम्बन्धी समस्याएं

अब तक हमने रस के स्वरूप पर कई दृष्टियों से विचार किया है। प्रस्तुत अध्याय में हमारे सामने गोस्वामी आचार्यों के रस-निरूपण की रूपरेखा आयी है। यहाँ भक्ति-रस से सम्बद्ध कतिपय उल्लेखनीय समस्याओं पर विचार करना है।

भक्ति-रस की काव्यशास्त्रीय स्थिति

संस्कृत काव्य-शास्त्र के मान्य आचार्यों ने भक्ति के स्वतन्त्र रसत्व को स्वीकार नहीं किया, और आज भी काव्यशास्त्रीय दृष्टि उसके रसत्व पर प्रश्न-चिह्न समाप्त नहीं करती। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक भक्ति के सम्बन्ध में कई दृष्टियाँ सामने आती हैं, तथा उन दृष्टियों में एक विकास की परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है। आज हम उन दृष्टियों एवं उनके परिवर्तनों के पीछे निहित कारणों की सम्भावना भी कर सकते हैं।

आचार्य भरत ने भक्ति का न रस के रूप में और न भाव के रूप में, किसी प्रकार उल्लेख नहीं किया। संचारी भावों में भी भक्ति या उसका समकक्षी कोई भाव परिगणित नहीं है।[2] इसका सहज कारण यही प्रतीत होता है कि भरत के समक्ष भक्ति-परक कोई अभिनेय साहित्य नहीं था, जो उन्हें भक्ति को अपने विवेचन में सम्मिलित करने के लिए प्रेरणा देता। भरत के लिए विवेच्य मूलतः अभिनेय साहित्य है। सम्भव है, भरत के सामने पुराणों में कुछ भक्ति-परक सूत्र हों, किन्तु वे सूत्र नाट्यशास्त्र में भक्ति-विवेचन के लिए आवश्यकता उपस्थित नहीं करते।

भक्ति भगवद्विषयक रति या प्रीति है। काव्यशास्त्र में इसके लिए सबसे पहले

---

१. उ० नी० : पृ० ५७५।

२. भरत ने दाम्पत्येतर रति के किसी अन्य रूप की भी चर्चा नहीं की। डा० राघवन ने 'नम्बर आफ़ रसाज़' पृ० ११२, फुटनोट में भरत के एक उद्धरण की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसमें 'वात्सल्य' का उल्लेख है—"तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैः, वीराद्भुतरौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुण-वात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुपपादयति।" का० मा० सं० ना० शा०, पृ० १८७। गायकवाड संस्करण में यह पाठ नहीं है। उसमें 'करुणवात्सल्यभयानकेषु' के स्थान पर 'करुणबीभत्सभया०' पाठ है। काव्यमाला पाठ की अप्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उसमें वात्सल्य को मिलाकर रस संख्या ८ बैठती है, और भरत का मान्य बीभत्स छूट जाता है। अतः भरत की यही मान्यता हमारे सामने रहती है कि उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त रति-रूपों को अपने विवेचन में स्थान नहीं दिया।

स्थान-निर्धारण की आवश्यकता दण्डी को अनुभव हुई है। किन्तु वे भी उसे रस नहीं कह सके। कारण स्पष्ट है, उनके सामने भरत का निरूपण था। भरत द्वारा परिगणित रसों से अलग किसी भाव को रस कहने का साहस अब भी सहज नहीं है, दण्डी से इसकी अपेक्षा करना अस्वाभाविक है।

दण्डी ने अपने युग की चेतना के अनुरूप सभी भावात्मक परिपाकों को 'अलंकार' के अन्तर्गत रखा है। रस 'रसवद्' अलंकार के अन्तर्गत हैं, और 'प्रीति' 'प्रेयः' नामक अलंकार के अन्तर्गत। प्रेयः के उन्होंने दो उदाहरण दिए हैं, एक कृष्ण-परक प्रीति का है, दूसरा शिव-परक प्रीति का। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनकी 'प्रीति' भगवद्विषयक प्रीति ही है। जिस काव्य में प्रियतर अनुभूति का आख्यान या प्रकाशन हो उसे दण्डी 'प्रेयः' कहते हैं —'प्रेयः प्रियतराख्यानम्।'[1] भगवद्विषयक प्रीति को दण्डी ने सम्भवतः अन्य लौकिक प्रीति-रूपों से काम्य-तर होने के कारण ही 'प्रियतर' कहा है। निरूपण इन शब्दों में है :

"अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥
इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः॥"
"सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रात्वर्मणः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्॥"[2]

जैसा कि डा० राघवन ने ठीक ही कहा है,[3] कृष्ण-परक उदाहरण में भक्ति शब्द का दण्डी ने निर्देश भी किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत होगा कि इस प्रेयः के अन्तर्गत दण्डी दाम्पत्येतर अन्य रति-रूपों को भी समाविष्ट करना चाहते हैं। भक्ति शब्द का प्रयोग एवं उदाहरणों की सीमा तो यही बताती है कि दण्डी इस भेद में केवल भगवद्विषयक प्रीति को ही रखना चाहते हैं।

शृंगारी रति से इस 'प्रीति' को दण्डी ने स्पष्टतया अलग किया है :

"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।"[4]

प्रेयः और शृंगार के निरूपण के अनन्तर दण्डी कहते हैं—पहले हमने 'प्रीति' को दिखाया, और यह पीछे शृंगार का अंग बनने वाली रति है।

इस प्रकार दण्डी के अनुसार भक्ति रस नहीं 'प्रेयः'[5] अलंकार है, जिसका स्थायी भाव भगवद्विषयिका प्रीति है। सम्भवतः दण्डी को इस निरूपण की प्रेरणा पुराण और स्तोत्र[3]

---

१. काव्यादर्श : दण्डी : श्लो० २७५।
२. वही, श्लो० २७६-२७९।
३. नम्बर आफ़ रसाज़ : वी० राघवन : पृ० १०९-११०।
४. काव्यादर्श : दण्डी : श्लो० २८१।
५. प्राचीन आचार्यों के 'प्रेयः' अलंकार का निरूपण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से हुआ है। भक्ति का समावेश प्रस्तुत करने वाला केवल दण्डी का ही 'प्रेयः' है। रुद्रट का 'प्रेयान्' रस भी सुहृद्विषयक लौकिक रति का ही रूप सामने करता है।

साहित्य में व्याप्त भगवद्विषयिका प्रीति को देखकर मिली है। दण्डी भक्ति को रस नहीं कह सके, इसका कारण इन शब्दों से समझा जा सकता है :

"इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्।"[1]

वाणी की रसवत्ता भरत की मान्यता के अनुसार आठ रसों तक ही परिसीमित है।

दण्डी के इस प्रेयः को रुद्रट ने कुछ उठाने और व्यापकता देने का प्रयास किया। उन्होंने 'प्रेयान्' को एक अतिरिक्त रस के रूप में स्वीकार किया, शान्त सम्भवतः प्रथम बार उद्भट के द्वारा पहले ही रस रूप में स्वीकृत हो चुका था। रुद्रट ने व्यापकता यह दी कि इसके स्थायी को 'प्रीति' के स्थान पर 'स्नेह' के व्यापक रूप में लिया और उसमें सभी दाम्पत्येतर रति-रूपों की सम्भावनाओं का अवकाश छोड़ा। वैसे उन्होंने अपने प्रेयान् का जो निरूपण किया है उसमें दो सुहृदों के बीच का निर्व्याज प्रेम या स्नेह ही परिगणित किया गया है।[2]

अभिनवगुप्त से पूर्व तक भगवद्विषयक रति के परिपाक को 'भक्ति-रस' या 'श्रद्धा-रस' के नाम से रस-कोटि में लाने की चर्चाएँ उठ चुकी थीं, इसका प्रामाणिक संकेत स्वयं अभिनवगुप्त से ही मिल जाता है।[3] अभिनवगुप्त ने भक्ति या श्रद्धा को एक पृथक् रस के रूप में स्वीकार नहीं किया, अपितु शान्त रस के संचारियों में अन्तर्भूत करके दिखाया :

"अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृति-मति-धृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्।"[4]

ईश्वर-प्रणिधान-विषयक भक्ति और श्रद्धा को पृथक् रसों के रूप में इसलिए स्वीकार नहीं किया गया कि वे स्मृति, मति, धृति या उत्साह जैसे भावों में अनुप्रविष्ट हैं, और शान्त के अंग बन जाते हैं। अभिनव के उक्त वचन शान्त रस के प्रकरण में आये हैं और भक्ति को शान्त का अंग प्रतिपादित करते हैं।

अभिनव की इस मान्यता का अनुसरण नहीं किया गया। पर उन्होंने जो यह अन्तर्भाव का मार्ग दिखाया था वह उनकी दार्शनिक मान्यता के अनुरूप ही था। उन्होंने शैव दर्शन की चेतना के अनुरूप शान्त को ही एक मूल नित्य एवं स्थायी रस प्रतिपादित किया है। वह 'सर्वरसप्रकृति' है।[5] इस प्रकार अभिनव नौ रसों को दो वर्गों में विभक्त कर लेते हैं—शान्त को प्रकृति और शृंगारादि आठ रसों को उसकी विकृति कहकर। अभिनव

---

१. काव्यादर्श : दण्डी : श्लो० २९२।

२. "स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् संगतशीलार्थनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात्॥
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतो यत्र॥ काव्या० : रुद्रट : अ० १५ : का० १७-९।

३. "ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टे" : अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३४०। डा० राघवन, न आ० र० : पृ० ११०।

४. अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३४०।

५. "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते। "इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम्।" वही, पृ० ३४०।

भक्ति का अन्तर्भाव विकार-भूत शृंगारादि रसों में या उनके संचारियों में नहीं करते, अपितु उच्चतम रस-स्थिति शान्त से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। यह उनके सर्वथा अनुरूप ही था। वे एक महान् पण्डित एवं दार्शनिक ही नहीं थे, उच्च कोटि के रहस्यवादी भक्त भी थे। स्वयं उनके स्तोत्रों में भगवद्विषयक प्रेम की धारा प्रवाहित है। दूसरे उनके सामने भक्ति का साहित्य भी आ चुका होना चाहिए। अतः भक्ति के प्रति अभिनव की हीन भावना नहीं है। भक्ति अध्यात्म अनुभूति है, अतः उसका सम्बन्ध अध्यात्म शान्त रस से ही उपयुक्त है।

पर अभिनव ने भक्ति को अंगी या प्रधान रस नहीं माना, अंगी शान्त का संचारी स्वीकार किया। काश्मीरी शैव दर्शन स्वरूपतः अद्वैतवादी है, भक्ति द्वैत की अनुभूति है। अतः रसत्व की जो चरम स्थिति है उसे भक्ति से एकाकार करके नहीं देखा जा सकता। अद्वैती चेतना में भक्ति उस स्थिति का साधन ही बन सकती है। भक्ति की अनुभूति स्वात्मपरामर्शमयी शान्त रसस्थिति के लिए इसी हेतु अभिनव ने अंगरूप में स्वीकार की।

किन्तु अभिनव की दर्शन-मूलक इस मान्यता को आचार्य मम्मट ने काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अपनाया, दार्शनिक दृष्टि से नहीं। मम्मट ने अभिनव के शान्त रस को एक अध्यात्म रस के रूप में ग्रहण न कर एक काव्यरस के रूप में प्रस्तुत किया। निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव दिखाते हुए उसे भरत-सम्मत भी दिखाया। इस व्याख्या में अभिनव की भी असहमति न थी। जब प्रकृति-रस और विकृति रस की बात छोड़ दी जाय तो शान्त के अंग या संचारी के रूप में परिगृहीत भक्ति का स्थान काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से स्थायी भाव का न रहकर संचारी भाव का ही रह जाता है। संचारी रूप में स्वीकृत तेतीस भावों के स्वतन्त्र परिपोष को आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुरूप अभिनव ने भी भाव-ध्वनि ही कहा था, रस-ध्वनि नहीं।[1] तब, मम्मट के सामने सीधा हल था कि अभिनव के द्वारा एक संचारी के रूप में स्वीकृत भक्ति को 'भाव-ध्वनि' की कोटि में रख दिया जाय। ऐसा करने में कुछ अन्य समस्याओं का समाधान भी हो गया। दाम्पत्येतर रति के विविध रूपों के लिए आचार्य लोग स्वतन्त्र रसत्व की माँग कर रहे थे। अभिनव ने इस माँग को ठुकराया था, और विविध भावों में उनका अन्तर्भाव ही स्वीकार किया था,[2] यद्यपि उनका वह अन्तर्भाव अधिक तर्क-सम्मत नहीं था। मम्मट ने एक व्यवस्था दी कि भक्ति ही क्यों, भक्ति को सम्मिलित करते हुए समस्त दाम्पत्येतर रति-रूप 'भाव-ध्वनि' हैं।

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः"
आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः।"[3]

---

१. "रसभावतदाभास०" ध्वन्या० उ० २ : का० ३ की व्याख्या में लोचन में अभिनव—
"तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भावध्वनिः।" ध्वन्यालोकलोचन : पृ० १७५।

२. अभिनव ने मित्रस्नेह को रति या उत्साह में, बालक के पितृ-स्नेह को भय में, लक्ष्मण के भ्रातृस्नेह को धर्मवीर में अन्तर्भूत दिखाया है। अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३४१। यह अन्तर्भाव स्पष्ट ही दूरारूढ़ एवं असंगत है।

३. का० प्र० : उ० ४ : पृ० ११८।

इस प्रकार मम्मट के अनुसार भाव-ध्वनि में दो प्रकार की ध्वनियाँ सम्मिलित हुईं, तेतीस संचारी भावों की व्यंजनाएं एवं दाम्पत्येतर रति के विविध रूप। यद्यपि मम्मट ने इस देवादि-विषयक रति में स्पष्टतः भगवद्विषयक रति का उल्लेख नहीं किया, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसकी परिधि इसी व्यापकता के साथ स्वीकार की कि उसमें भगवद्रति भी गिनी जाती रहे।

इस प्रकार मम्मट की मान्यता ने ही व्यवस्था का रूप पाया। अभिनव का अन्तर्भाव-वाद लोगों को स्वीकार्य नहीं हुआ। धनंजय ने भी दशरूपक में अन्तर्भाववाद का मार्ग अपनाया था।[1] किन्तु मम्मट की यह मान्यता कि स्नेह के विविध रूप किन्हीं संचारियों या किसी अन्य स्थायी में अन्तर्भूत नहीं अपितु रति भाव के ही विशेष रूप हैं, उनके युग में ही सम्मान पाने लगी थी, इसकी साक्षी हेमचन्द्र हैं।[2]

विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी मान्यता को सुरक्षित रखा है[3], और आज भी काव्यशास्त्र का विद्यार्थी इसे प्रामाणिक रूप में रखकर चलता है, यद्यपि इसपर बहुत दिनों से एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है।

पण्डितराज जगन्नाथ के सामने संस्कृत और हिन्दी का विशाल भक्ति-साहित्य आ चुका था। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों द्वारा ही नहीं, रूपगोस्वामी-जीवगोस्वामी आदि के द्वारा भक्ति के रसत्व की समर्थ प्रतिष्ठा भी उनके सामने थी। फिर भी उन्होंने भरत की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए मम्मट का ही पक्ष लिया कि भक्ति रस नहीं, भाव ही है :

"अथ कथमेत एव रसाः, भगवदालम्बनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवात्? भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।"[4]

इस निरूपण में पण्डितराज ने भक्ति का बड़े सटीक शब्दों में समर्थन प्रस्तुत किया है। उसे रस कहने के लिए जो भी दिखाना अपेक्षित था, उन्होंने दिखाया है। पर अन्त में उसे सिद्धान्ततः भाव-रूप ही स्वीकार किया है। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे

---

१. "प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥" दश० : प्र० ४ : का० ८३।

धनंजय और अभिनव के अन्तर्भाव में केवल इतना अन्तर है कि अभिनव ने अपनी दार्शनिक दृष्टि से परिचालित होकर भक्ति का अन्तर्भाव प्रकृति रस शान्त के संचारियों में किया है, जबकि धनंजय सीधे काव्यात्मक भावों में उसे रखते हैं। वे निर्णय नहीं देते हैं कि भक्ति को स्थायी भाव में अन्तर्भूत किया जाय या संचारियों में। उन्होंने हर्ष का भी नाम लिया है, उत्साह का भी। एक संचारी है, दूसरा स्थायी। ऐसा कहने में अभिनव का प्रभाव स्पष्ट है।

२. हेमचन्द्र ने अलंकार चूड़ामणि में तो अभिनव की मान्यता प्रस्तुत की है, किन्तु विवेक में विवेचन इस प्रकार है—"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः·····एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।" काव्या० वि० : पृ० १०६।

३. साहित्यदर्पण : तृतीय परिच्छेद : का० २३५। तथा रसगंगाधर, पृ० ४६।

४. रसगंगाधर : पृ० ४५।

भक्ति-भाव को स्थायी रूप में स्वीकार नहीं करते जो वह रस कहा जा सके।[1] ऐसा क्यों है ? इसके उत्तर में हम उनके शब्दों के आधार पर निम्न तर्कों की कल्पना कर सकते हैं :

१. यद्यपि भक्तिरस दुरपह्नव है, तथापि उसकी सहृदयता का क्षेत्र परिसीमित है। उसके रसत्व के अनुभवकर्ता गिने-चुने भगवद्भक्त ही होते हैं।[2]

२. कामिनी-विषयक रति को स्थायी और अन्य रतियों को भावरूप में मानने की परम्परा भरत ने डाली है और मम्मटादि द्वारा स्वीकृत है। उसके अनुरूप भक्ति एक भाव ही है, रस नहीं।[3]

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के भीतर हमें भक्ति के सम्बन्ध में निम्न तीन प्रमुख मान्यताएं मिलती हैं :

१. दण्डी की मान्यता जिसमें भक्ति को प्रियतर अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए प्रेयस् अलंकार कहा गया है, पर रस नहीं माना गया।

२. अभिनव की अन्तर्भाव की मान्यता जिसमें भक्ति शांत नामक अध्यात्म रस का अंग भाव है और उसके संचारियों में अनुप्रविष्ट है। धनंजय के अनुसार भक्ति अन्य काव्य-भावों में अन्तर्भुक्त है।

३. मम्मट की मान्यता जिसके अनुसार भक्ति की परिणति भाव-कोटि में है रस-कोटि में नहीं। भाव-ध्वनि की कोटि रस-ध्वनि से कुछ निचली है।

इन तीनों में अन्तिम मम्मट की मान्यता ही परवर्ती युग में प्रचलित रही है, और आज भी कम महत्त्व नहीं रखती।

भक्ति के सम्बन्ध में यह काव्यशास्त्रीय मान्यता कहाँ तक संगत है, इसपर विचार करने से पूर्व हमें उसकी दार्शनिक स्थिति पर एक दृष्टि डालनी होगी। भक्ति के आचार्यों ने उसके रसत्व का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति पर ही किया है।

जहाँ काव्यशास्त्रियों ने भक्ति को रस न मानकर भाव-कोटि ही में रखा है, वहाँ इसके विपरीत वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही उपेय परमार्थ रस के रूप में सिद्ध किया है। यों सभी वैष्णव सम्प्रदायों की दार्शनिक दृष्टि में 'रसो वै सः' श्रुति का प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम है, किन्तु उनके लिए भक्ति ही साध्य रही है। भक्ति उस प्रियतम की उपलब्धि का साधन होते हुए भी अपने में साध्य है, चरम आनन्दमयी है। विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टियों के रहते हुए भी सभी वैष्णव आचार्य इस बारे में एक मत हैं। अतः सबकी दृष्टि में भक्ति एक रस ही नहीं, एकमात्र आस्वाद्य अप्राकृत रस है।

इस दृष्टि से लौकिक स्थूल सुख ही प्राकृत कोटि के नहीं हैं, काव्यानन्द भी अर्थात् काव्य के शृंगारादि रस भी प्राकृत ही हैं। काव्यरसों में लौकिक आनन्दों से सूक्ष्मता और

---

१. "न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्, अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम् कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावात्, इति वाच्यम्, भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।" वही, पृ० ४६।

२. "भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्।" रसगंगाधर : पृ० ४५।

३. "भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।"
"रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।" रसगंगाधर : पृ० ४६।

लोकोत्तर चमत्कारप्रवणता होने के कारण अलौकिकता अवश्य है, किन्तु अलौकिकता मात्र से वे रस 'अप्राकृत' तो नहीं हो जाते। अन्ततोगत्वा काव्यानुभूति में चित्त की स्थिति है, भावों की वासनाओं का उद्रेक है, चित्तवृत्तियों के विविध स्पन्दन हैं। भले ही यह सब चित्त की सात्विक स्थिति के भीतर हो जिसमें रजस् और तमस् दब गये होते हैं। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस का स्वरूप 'भग्नावरणचिद्विशिष्टः स्थायी' या 'स्थाय्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चितिः' निर्धारित किया है। यह एक सोपाधिक स्थिति है, इसी कारण भट्टनायक ने इसे ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर ही कहा है। यह चित्त, जिसकी भूमिका में स्थायी का उद्रेक होता है, प्रकृति का ही एक विकार है, अतः काव्य-रसों की अलौकिकता को स्वीकार करते हुए उनकी प्राकृतता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

दूसरी ओर वैष्णव आचार्य भक्ति को अप्राकृत रस कहते हैं। इस मान्यता को स्थापित करने के लिए उन्होंने निजी दार्शनिक मान्यता का सहारा लिया है। उन्होंने एक विशुद्ध सत्त्व नामक एक तत्त्व की कल्पना की हुई है। यह 'विशुद्ध सत्त्व' है तो सत्त्व ही, पर प्रकृति का विकार सत्त्व गुण नहीं है, अपितु अनन्त-शक्ति परमेश्वर की स्वरूपभूत शक्ति है। इस विशुद्ध सत्त्व से ही परमेश्वर का विग्रह बना है, इसी से उनका क्रीडा-लोक, इसी से उनका परिकर आदि। अधिकारी भक्तों के हृदयों में प्रादुर्भूत होने वाली भगवद्विषयिका रति भी उसी विशुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति है जो भगवत्कृपा से ही बड़ी साधना से भाग्यवानों को मिलती है। इस प्रकार भक्तिरस का स्थायी भाव भगवद्विषयिका रति स्वरूपतः प्रकृति-विकार या चित्त-धर्म न होने के कारण 'अप्राकृत' है और उसका परिपाक 'भक्तिरस' भी अप्राकृत ही है। अतः वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में परम तत्त्व लीलामय परमेश्वर के अतिरिक्त भक्ति ही परमार्थ रस है, काव्यरस तो प्राकृत रस हैं। स्वयं वैष्णव आचार्यों के अनुसार यह भक्तिरस हर व्यक्ति की अनुभूति का विषय नहीं है, इसके सहृदय विरले ही होते हैं। इस विशुद्ध सत्त्वरूपा रति के उदय के लिए भी लम्बी भाव-वासना और संस्कारों की अपेक्षा है। रसत्व के लिए जैसे भाव के स्थिर संस्कारों की अपेक्षा है, वैसे ही भक्तिरस के आस्वादन के लिए प्रमाता में भक्ति-रति की सुस्थिर वासना और संस्कार अपेक्षित हैं। इस प्रकार इस भक्तिरस के स्थायी भाव की वासनारूपा अवस्थिति, जो प्रमाता में किसी भी रस की अनुभूति के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित होती है, बड़ी ही सीमित है, जनसामान्य की संवेद्य कदापि नहीं।

फिर, वैष्णव सम्प्रदायों में इस भक्तिरूपा रति का रूप भी अपने-अपने सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टियों के अनुसार विभिन्न रूपों में स्वीकृत हुआ है। मधुरा रति के मान्य विभिन्न रूप तो बिल्कुल ही साम्प्रदायिक हो उठे हैं, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। भक्तिरस के स्थायी भाव की इस साम्प्रदायिक रूपता के कारण उसकी जनसामान्य-संवेद्यता और भी परिमित हो जाती है, और अपने अभीष्ट रूप में भक्त-मात्र के लिए भी संवेद्य नहीं रहती।

भक्ति की यह सीमित प्रमातृता और अप्राकृतता ही काव्यशास्त्री की दृष्टि में काव्य-रसिक सहृदय-सामान्य के लिए स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किये जा सकने का अवकाश समाप्त कर देती है। जो भाव इतना विरल एवं अप्राकृत है वह काव्य-सहृदयों के प्राकृत चित्तों में वासना-रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है। अतः यही स्वीकार करना उपयुक्त है कि प्रवृत्ति-मार्गी जन-मानस में भगवद्रति के संस्कार इतने गहरे और स्थिर नहीं

होते कि उनके बल पर इस भाव को काव्योपयोगिता के लिए 'स्थायी भाव' नाम दिया जा सके। अतः भक्ति की अनुभूति जहाँ एक भक्त सहृदय के लिए परमार्थ रस है वहाँ एक काव्य रसिक सहृदय के लिए 'भाव' ही है, ऐसा ही स्वीकार करना होगा।

इतना होते हुए भी हिन्दी के वैष्णव साहित्य ने वस्तु-स्थिति द्वारा काव्यशास्त्र को भक्तिरस की स्वीकृति के लिए बाध्य किया है। इस सम्बन्ध में दो-तीन तथ्य ऐसे हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। एक तो यह कि विक्रम की तेरहवीं से सत्रहवीं शती तक राम और कृष्ण के लीला-गान करते हुए भक्ति की जो प्रबल धारा भारतीय जनता के बीच बही थी वह आज तक भी एक पर्याप्त मात्रा तक उसे प्रभावित कर रही है। इसके फलस्वरूप चाहे विशुद्ध रस-कोटि की भक्ति की जन-सामान्य को अनुभूति न हो किन्तु इसके सामान्य अनुशीलन के लिए अपेक्षित संस्कार उसमें सुस्थित हो चले हैं। वैसे भी जन-मानस भक्ति के भावात्मक सामान्य संस्कारों से सदा युक्त रहा है, रहेगा। यह देश-काल की सीमा से परे का तथ्य है। प्रत्येक देश में भक्त होते रहे हैं, उनकी भावना का रूप चाहे भिन्न रहा हो। तो, हिन्दी काव्य का वैष्णव साहित्य जिन भाव-राशियों को अपने पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है उनके संस्कारों की आधार शिला उसके पाठकों में इस व्यापक भूमि पर जम चुकी है कि भक्तिशास्त्रीय 'भक्तिरस' के न सही, काव्याशास्त्रीय 'भक्तिरस' के स्थायी भाव को एक अधिकतम जन-संवेद्य भाव के रूप में स्वीकार किया जा सके। यह तथ्य वैष्णव-साहित्य में अभिव्यंजित भगवद्रति को एक स्थायी भाव के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है।

दूसरी बात यह कि हिन्दी का भक्ति साहित्य हमारे पाठक को एक उच्च कोटि के काव्य के रूप में उपलब्ध है। इस काव्य में एक कवि की रसिकता भी है, साथ ही इसके एक भक्त का आत्मावेश भी इसमें घुला हुआ है। कवि जिस आत्मानुभूति को काव्य में घोल देता है उसकी यदि सफल अभिव्यंजना भी हो तो थोड़े से संस्कारों वाले पाठक को भी उस काव्य में सम्बद्ध भाव की रसात्मक अनुभूति हो लेती है। हिन्दी वैष्णव काव्य में यह तथ्य भरपूर है। उसमें उच्चकोटि का कवित्व, गहरी आत्मानुभूति एवं सफल अभिव्यंजना है। फल यह हुआ है कि इस काव्य में भक्ति के भावात्मक हलके रूप से आगे बढ़कर गहरे रसात्मक रूप के आस्वादन का अवकाश खुलता है। हाँ, इतना स्वीकार करना पड़ता है कि यह भक्तिरस भक्तिशास्त्र में निरूपित भक्तिरस न होकर काव्यरस के रूप में ही भक्तिरस होता है।

इसके विपरीत एक सीमा का भी हमें ध्यान रखना होगा। ऊपर के विवेचन में हम काव्य-निष्ठ कवि-व्यक्तित्व और काव्य को अधिक महत्त्व देते हुए स्वयं सामाजिक के व्यक्तित्व की एक मात्रा तक उपेक्षा-सी कर रहे हैं। हमने स्थायी भाव के रूप में वैष्णवी रति को एक व्यापक जन-संस्कार होने के नाते स्वीकृति दी है। इस व्यापक जन-संस्कार में निहित राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का एक स्तर और आदर्श रहा है। राम-भक्ति के प्रति जन-मानस में मर्यादा एवं आदर्श की प्रतिष्ठा है, कृष्ण के प्रति क्रीडा एवं लीला की। फिर भी इस लीला-रसिकता की एक सीमा है। सुसंस्कृत जन-मानस राधा-कृष्ण के अमर्यादित उन्मुक्त शृंगार में भक्ति की अनुभूति करने का अभ्यस्त नहीं है। उन्मुक्त रसिक भावुकों ने अपनी भक्ति को प्रायः जन-सामान्य से गोप्य ही रखा है। जो भी इसका हलका-फुलका रूप कभी-कभी प्रकट किया गया है उसके समर्थन के लिए अनेक प्रकार की व्याख्याएं भी उन्हें साथ में जनता के बीच रखनी पड़ी हैं। इस सबका निष्कर्ष यही है कि जन-मानस भक्ति के आदर्श-

प्रधान रूप से एक पर्याप्त दूरी तक और मधुर रूप से एक मर्यादित सीमा तक ही परिचित रहा है। इतनी मात्रा तक ही काव्य-दृष्टि से वैष्णवी भगवद्रति उसके लिए एक स्थायी भाव बनी है और इस मात्रा की सीमा में उस रति के काव्यात्मक परिपाक में वह भक्ति की रसात्मक अनुभूति करता है। यह वस्तुस्थिति हमें बाध्य करती है कि हम भक्ति को काव्य के भीतर एक काव्य-रस के रूप में भी स्वीकार करें।

निष्कर्ष यह कि काव्यरस के रूप में स्वीकृत भक्तिरस केवल कवि के द्वारा अनुभूत रस के रूप में ही नहीं होना चाहिए, जन-सामान्य के द्वारा, कहिए सुसंस्कृत सहृदय द्वारा अनुभूत भक्तिरस होना चाहिए। इस प्रकार का काव्यरस बनने के लिए भक्ति-रूप स्थायी भाव जन-प्रतिष्ठित संस्कारों के मेल में होना चाहिए। उसमें कवि-व्यक्तित्व एक हल्की मात्रा का ही हेर-फेर ला सकता है, अधिक हेर-फेर में भक्ति की रसात्मक अनुभूति न रहकर या तो भावात्मक रह जायेगी या फिर भक्ति की न रहकर शृंगारादि अन्य की हो निकलेगी।

भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए स्वीकृत भक्तिरूप स्थायी भाव में भगवान् के प्रति आराध्य-भावना और महत्त्व-चेतना मूलाधार तत्त्व हैं। जन-मानस इन चेतनाओं के साथ ही अपने आराध्य की भावना से युक्त है। यह तथ्य विश्वजन-मानस द्वारा स्वीकृत है। इसका आधार पकड़े रहते हुए चलने वाला काव्य भक्ति की रसात्मक अनुभूति दे सकता है, ऐसा कहा जा सकता है। इन तत्त्वों को भुला देने वाला काव्य यदि भक्ति की अनुभूति देता है तो वह उन्हीं लोगों के लिए हो सकती है जिनकी मानस पृष्ठ-भूमि उसी प्रकार के संस्कारों में पहले से ढली हुई है। उसकी सहृदयता अत्यन्त परिसीमित होगी। भारतीय काव्यरस का रसत्व सकल-सहृदय संवेद्यत्व पर आधारित है। इस कमी से उक्त प्रकार के भक्तिरस को साम्प्रदायिक रूप में ही भक्तिरस कहा जा सकेगा।

इन सीमाओं के साथ, वस्तुस्थितियों के अनुरोध से, काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में भक्ति को 'भाव' रूप में स्वीकार किये जाने पर भी, हम एक काव्यरस के रूप में स्वीकार करके चल सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह भक्तिरस भक्ति-ग्रन्थों में निरूपित और उच्च-कोटि के भक्तों के द्वारा स्वानुभूति के रूप में आस्वादित भक्तिरस नहीं, एक काव्य-रस के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

आगे हम भक्तिरस विषयक कुछ और चर्चा करेंगे।

भक्ति-रस या वैष्णव रस

हिन्दी का भक्ति-साहित्य केवल वैष्णव साहित्य तक ही परिसीमित नहीं है अपितु उसकी परिधि में निर्गुण सन्त काव्य तथा सूफ़ी प्रेम काव्य भी परिगणित किया जाता है। सन्त काव्य और सूफ़ी प्रेम काव्य का मूलाधार रति स्थायी भाव ही है जो स्वरूप और स्वभाव से लौकिक नहीं है। अपनी इसी पारलौकिक या अध्यात्म रति के आधार पर इस साहित्य की गणना भक्ति-साहित्य के भीतर होती है, अतः उसकी काव्यानुभूति को भी भक्ति-रस की परिधि में ही स्वीकार करना होगा।

भक्ति-रस की इस व्यापक परिधि को ध्यान में रखकर वैष्णव साहित्य की काव्यानुभूति को भक्ति-रस न कहकर 'वैष्णव रस' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यों निर्गुण, सूफ़ी और वैष्णव साहित्य की काव्यानुभूति की कतिपय समान समस्याएं हो सकती हैं, फिर भी रति के स्वरूपों, विभाव-सम्बन्धी दृष्टिकोणों और प्रमातृता आदि से सम्बन्ध

रखने वाली समस्याओं के आधार पर वैष्णव साहित्य कुछ अलग है। अतः उसकी रसानुभूति को ठीक अर्थों में 'वैष्णव रस' शब्द से ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। हम अपने विवेचन में इस शब्द का प्रयोग इसी दृष्टि से स्वीकार करते हैं।

फिर भी वैष्णव साहित्य की रसानुभूति और तत्सम्बन्धी समस्याओं का निरूपण भक्तिरस के नाम से होता चला आया है, अब भी हो रहा है। प्राचीन आचार्यों ने, साम्प्रदायिक भक्तों ने और आधुनिक विवेचकों ने वैष्णव रस के लिए भक्तिरस शब्द का ही प्रयोग किया है। अतः हम अपने विवेचन में भक्तिरस शब्द को भी नहीं बचा सकते। हमारे विवेचन में दोनों शब्दों का अभिधेय भिन्न नहीं है।

वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता

वैष्णव रस की दो धाराएँ हैं—राम-धारा और कृष्ण-धारा। हमारी आलोच्य शताब्दियों का राम साहित्य मोटे तौर पर चरित-प्रधान और मर्यादावादी रहा है, कृष्ण साहित्य लीला-चरित का उन्मुक्त गायक। कृष्ण काव्य में कई रसिक धाराएँ प्रवाहित हुई हैं और राम-भक्ति में भी रसिकता की कुछ लहर आयी है। दोनों धाराओं के अधिकांश वाणी-कार विभिन्न साम्प्रदायिक निष्ठाओं से परिचालित होकर साहित्य-रचना करते दिखाई पड़ते हैं। बहुत थोड़े ही ऐसे कवि-व्यक्तित्व बच पाये हैं जो साम्प्रदायिक चेतना से कवि के प्रकृत व्यक्तित्व को दबने नहीं देते। यों कुछ सम्प्रदाय-मुक्त कवि हैं, कुछ सम्प्रदाय-गत होकर भी कवि के प्रकृत स्तर पर रहते हैं। ऐसे कवियों की वाणियों में अवश्य रसानुभूति असाम्प्रदायिक रहती है। किन्तु इस साहित्य की एक बड़ी मात्रा साम्प्रदायिक ही है, अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि वैष्णव रस स्वरूपतः प्रायः साम्प्रदायिक हो गया है।

साम्प्रदायिकता का सर्वाधिक उभार मधुर रस में दिखायी पड़ता है। उदाहरण-स्वरूप हरिदासी या निम्बार्क सम्प्रदाय की रस-चेतना ली जा सकती है। इन सम्प्रदायों की मान्यता है कि राधा-कृष्ण का काम-मिलन ही रस है। यही रसिक भक्त की रसानुभूति का सच्चा विभाव है। रसिक चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, इस रस का आस्वादन नारीभावापन्नता में ही हो सकता है। यह नारीभावापन्नता भी दाम्पत्य रति से भिन्न है, रसिक सहचरी भाव से युगल के काम-लीला विलासों को देखता है और दर्शन-सुख से ही आनन्दित होता है। इस प्रकार इन सम्प्रदायों की भक्ति-रति सहचरी-रति है जिसमें कामोपभोग का सुख नहीं, केवल कामलीला-दर्शन का सुख है। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार न तो सहचरी का, न सहचरी-भावापन्न रसिक भक्त का और न ही पाठक का मन कृष्ण के विलास-वर्णन से काम-वृत्ति की ओर झुकना चाहिए, केवल सहचरी भाव से, जो कि एक नारी-भाव की चेतना है, दर्शन-रस का ही आस्वादन करना चाहिए। ये और इस प्रकार के दृष्टिकोण विशिष्ट साम्प्रदायिक आस्थाओं और मान्यताओं पर आधारित हैं। इनके अपनाने के लिए लम्बी साधना और गहरी साम्प्रदायिक निष्ठा अपेक्षित है। इसे एक प्रकार से साम्प्रदायिक 'ट्रेनिंग' भी कह सकते हैं। इस ट्रेनिंग के बिना भक्त को तो अभीष्ट रसास्वादन होता ही नहीं, इसके परिचय और संस्कारों के बिना कोई काव्य-सहृदय भी अभीष्ट रसास्वादन नहीं कर सकता। इस विवेचन से वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता स्पष्ट हो जाती है।

अन्य काव्यरसों से साम्प्रदायिक रस में एक बड़ा भारी अन्तर यह हो जाता है कि जहाँ काव्यरस में विभाव-पक्ष ही कवि-कल्पना की सृष्टि होता है, भाव-पक्ष सहृदय-संस्कारों

के अनुरूप और अत्यन्त परिचित होता है, वहाँ साम्प्रदायिक रस में भाव-पक्ष भी सामान्य सहृदय के लिए कल्पना-सृष्ट होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि यह भाव-सर्जक कल्पना एक विशिष्ट सम्प्रदाय की बौद्धिक चेतना होती है। राधा-कृष्ण युगल की काम-लीलाओं के चित्रों में काम-वृत्ति की तटस्थता, रसिक का पुरुष होते हुए भी अपने में नारी-भावापन्नता, नारी-भाव में भी सहचरीत्व की आत्म-चेतना, और उस भाव के साथ केवल दर्शन-सुख तक परिसीमित रहकर प्रकृत भाव में डूब जाना—यह सब साम्प्रदायिक बुद्धि-वाद से परिचालित कल्पना से अवसृष्ट होकर साम्प्रदायिक काव्य में समाहित होता है। इस प्रकार साम्प्रदायिक काव्य का राग-तत्त्व भी एक दूरवर्ती सीमा तक बुद्धि-तत्त्व से रूपित होता है।

साम्प्रदायिक चेतनाओं के नाना-रूप होने के कारण ही वैष्णव रस के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। ये रूप कभी तो स्थायी भाव के विषय में, कभी आलम्बन के स्वरूप के विषय में, और कभी प्रमाता अधिकारी भक्त के विषय में विभिन्न साम्प्रदायिक धारणाओं के आधार पर सामने आते हैं। इन साम्प्रदायिक रूप-रंगों के कारण वैष्णव रस की काव्यानुभूति का प्रश्न भी अपने में उतना सरल नहीं रह गया है, जितना सामान्य काव्य का है।

भक्ति-रस और भक्तिकाव्य-रस

भक्ति-शास्त्र और भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थों में जो भक्ति को रस कहा गया है वह केवल भक्ति-काव्य की अनुभूति को ही ध्यान में रखकर नहीं कहा गया। भक्त जनों के हृदय में अनुभूयमान परम प्राप्ति ही वह भक्तिरस है, चाहे उसकी अनुभूति काव्य के द्वारा हो रही हो, चाहे पूजा-उपासना-भावना-साधना आदि अन्य प्रकारों से। किंतु जब हम साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिरस की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य भक्ति-काव्य की अनुभूति के रूप में होने वाले भक्ति-रस से होता है।

भक्ति-रस के भोक्ता

काव्यरस का भोक्ता एक विशिष्ट योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति माना गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार वह काव्यानुशीलन का अभ्यासी, भावुकतापूर्ण एवं वर्णनीय विषय एवं भाव में डूबने की क्षमता से युक्त होना चाहिए। राजशेखर ने भी उसमें भावयित्री प्रतिभा की अनिवार्य आवश्यकता की ओर संकेत किया है।

आज इस मान्यता को चुनौती दी जा सकती है। देखा यह जाता है कि काव्यकला की गहराइयों से सर्वथा अपरिचित एक ग्रामीण व्यक्ति भी लोकगीतों की मधुरता में डूब जाता है, प्रेम और भक्ति के गीतों और पदों में आनन्दानुभव करता है। तब फिर यह कैसे कहा जाय कि काव्यरस की अनुभूति एक विशिष्ट स्तर के व्यक्ति को ही होती है। इस तर्क में बल होते हुए भी इसे सरलता से स्वीकृति नहीं दी जा सकती। यदि कला अपनी विशिष्ट रेखाओं से सम्पन्न एक उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति है, और यदि उसमें मनोमय कोश से ऊपर उठाकर विशुद्ध आनन्दमय कोश के स्तर की अनुभूति देने की क्षमता है तो उसका आस्वादन-कर्ता भी कतिपय विशिष्टताओं से सम्पन्न व्यक्ति ही मानना पड़ेगा। रस-काव्य का स्तर वैसे भी सहृदय-विशिष्ट-संवेद्य नहीं, सहृदयमात्र-संवेद्य होता है, उसमें साधारणीकरण की पूर्ण सम्भावना के साथ ही रसत्व की सम्भावना होती है। इन विशेष और सामान्य की दो

सीमाओं के बीच में काव्यानुभूति की सहृदयता की समस्या जटिल नहीं हो पाती।

पर, जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं, वैष्णव रस की अनुभूति की समस्या अपना विशिष्ट रूप रखती है। वैष्णव रस की साम्प्रदायिकता पर हम अभी विचार कर चुके हैं। वैष्णव साहित्य का अधिकांश साम्प्रदायिक आस्थाओं और विश्वासों की छाया में निर्मित हुआ है।

इस साम्प्रदायिकता के कारण इस काव्य में एक सामान्य सहृदय, जिसने काव्यानुशीलन की क्षमता तो प्राप्त की है किन्तु किसी सम्प्रदाय-विशेष की आस्थाओं से तादात्म्य स्थापित नही किया, उसी प्रकार की रसानुभूति नहीं कर सकता जिस प्रकार की एक भक्त और विशेषकर उसी सम्प्रदाय का भक्त कर सकता है। इस दृष्टि से हमारे समक्ष वैष्णव रस के भोक्ता के रूप में निम्न प्रकार के व्यक्ति प्रमुखतया आते हैं :

१. उसी सम्प्रदाय के विश्वासों के अनुरूप संस्कार-सम्पन्न भक्त जिस सम्प्रदाय-विशेष का काव्य है।
२. सामान्यत: वैष्णव आस्थाओं एवं संस्कारों से सम्पन्न भक्त।
३. काव्यानुशीलन-कुशल 'सहृदय' किन्तु साम्प्रदायिक संस्कारों से रहित।
४. जन-सामान्य।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यक्ति भी वैष्णव काव्य के पाठक के रूप में हो सकते हैं, किन्तु वैष्णव रस की समीक्षा के लिए इन्हीं का चुनाव पर्याप्त है। इनमें भी सामान्य जन को तो इसलिए छोड़ा जा सकता है कि उसकी अनुभूति के आधार पर रस निष्पत्ति की समीक्षा नहीं की जाती। पर वैष्णव-काव्य का लोक पर क्या भावात्मक और वैचारिक प्रभाव पड़ता है, इस रूप में हम जन-सामान्य की अनुभूति-प्रतिक्रिया को ले सकते हैं। साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक दोनों प्रकार के भक्तों को भी एक ही वर्ग में रख सकते हैं क्योंकि उन दोनों की चित्त-वृत्ति एक विशेष प्रकार के संस्कारों से अभिरचित है। इस प्रकार दो प्रकार के व्यक्तियों की रसानुभूति वैष्णव रस के विषय में विचारणीय रह जाती है, एक साम्प्रदायिक आस्थाओं के अनुरूप संस्कार वाले भक्त की, दूसरे सहृदय-सामान्य की। इनमें भक्त की रसानुभूति का विश्लेषण हमें साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार करना होगा, सहृदय की रसानुभूति का काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार। यों भक्त में भी वैष्णव-काव्य के रसास्वादन के लिए काव्यानुशीलन की सहृदयता चाहिए, और सहृदय में भी भगवद्रति के संस्कार अपेक्षित हैं, वह भी बिना वर्ण्य भाव के कुछ-न-कुछ संस्कारों के बिना भक्ति-काव्य को भक्ति-काव्य के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। फिर भी सम्प्रदाय और काव्यशास्त्र के प्रतिनिधियों के रूप में 'भक्त' और 'सहृदय' दो प्रकार के वैष्णवरस भोक्ताओं को लेकर हम चल सकते हैं। इस काव्य की साम्प्रदायिकता के कारण ये दो वर्ग स्वीकार करने ही होंगे।

भक्त भगवान् के प्रति एक रागी व्यक्ति होता है। व्यक्तिगत राग व्यक्तिगत द्वेष के समान ही काव्य की रसानुभूति में बाधक माना गया है। काव्यानुभूति के लिए काव्याचार्यों की मान्यताओं के अनुसार किसी प्रकार के निजी भावों की आविष्टता[1] से मुक्ति

---

१. अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८० :
"स्वकगतानां च सुखद : स्वसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्याग्रतया वा..... संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।"

मिलनी चाहिए तभी रसानुभूति का द्वार खुलता है। भक्त का व्यक्तिगत राग जिस आलम्बन के प्रति होता है वही काव्य के द्वारा उसके सामने लाया जाता है। अतः उस काव्य के अनुशीलन में वह व्यक्तिगत रागात्मक आवेश से बच नहीं सकता। ऐसी स्थिति में भले ही वह भक्ति की अनुभूति कर सके, काव्य-दृष्टि से भक्ति-रस की अनुभूति नहीं कर सकता। भक्तों की एवं भक्त आचार्यों की दृष्टि में भक्ति की ही यह अनुभूति परमार्थ रस है, जिसके समक्ष ब्रह्मानन्द भी फीका है,[1] किन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि में इस अनुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति ही कहा जायेगा। उसकी भाषा में व्यक्तिगत अनुभूति 'रसानुभूति' नहीं होती, इसीलिए देखा यह जाता है कि भक्त लोग भक्ति-काव्य का आस्वादन करते-करते भावावेश में डूबकर नाचने लगते हैं, रोने लगते हैं, मूर्छित हो जाते हैं। यों काव्य-सहृदय पर भी रसानुभूति की कुछ प्रतिक्रियाएँ होती हैं, पर वे सात्त्विकों तक ही सीमित रहती हैं।

काव्यशास्त्रीय विद्यार्थी होने के नाते हमारा उद्देश्य वैष्णव काव्य में एक काव्य-सहृदय की दृष्टि से रसस्थिति का विश्लेषण करना है, भक्त की दृष्टि से नहीं। किन्तु जब साम्प्रदायिक धारणा के अतिवाद के कारण सहृदय और सम्प्रदाय की रसानुभूति में अन्तर पड़ने लगे, तो सहृदय की अनुभूति-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया का निरूपण भी करना ही होगा। इसी दृष्टि से वैष्णव रस के सन्दर्भ में सहृदय और भक्त रसिकों की रसानुभूति से हमारा मतलब है।

यद्यपि वैष्णव साहित्य का अधिकांश साम्प्रदायिक चेतना से अनुप्राणित है, तथापि उसका बहुत बड़ा अंश ऐसा भी है जिसमें साम्प्रदायिकता का प्रभाव नहीं है या इस रूप में है कि उससे सहृदय-सामान्य की अनुभूति भी तदात्म होती है। ऐसे स्थलों पर हमारे लिए सहृदय की अनुभूति ही विश्लेषणीय रह जाती है।

वैष्णव रस के भेद

रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी की भक्ति-रस के सम्बन्ध में मान्यताएँ यद्यपि एक विशेष सम्प्रदाय की मान्यताओं तथा भक्ति की समस्याओं को ही ध्यान में रखकर प्रतिष्ठित हुई हैं, किन्तु उनके प्रतिष्ठापन के समय काव्यशास्त्रीय उपलब्धियों को भी पूरे तौर से सामने रखा गया है। परिणाम यह हुआ कि उनमें भक्ति काव्य का मानदण्ड बनने की दूर तक क्षमता है। मोटे तौर पर वैष्णव रस की आलोचना के लिए हम उनके निरूपण से सहायता ले सकते हैं।

उन्होंने भक्तिरस के पाँच मुख्य तथा सात गौण भेद किए हैं। गौण रसों में स्थिति यह है कि उनमें रति का रूप अन्य वर्ण्य भाव से दब जाता है। ऊपरी तौर पर काव्य वीरादि अन्य रसों का प्रतीक होता है। इसका कारण यही है कि रस-परिपाक के लिए जो सामग्री अपेक्षित होती है वह सीधे रति-भाव के किसी विशिष्ट रूप के अनुरूप न होकर वीरादि रसों के अनुरूप होती है। पर उसका भक्ति से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य होता है। भक्ति-क्षेत्र से असम्बद्ध सामान्य काव्य के रसों को तो ये आचार्य प्राकृत और अग्राह्य

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : पृ० २१।

समझकर छोड़ देते हैं। उनके दृष्टिकोण को अपनाकर उन्हें रसाभास कहा जा सकता है।

गौण रसों में भक्ति-सिद्धान्तों के अनुरूप गौण रति का अनुभव होता है, काव्यशास्त्र के नियमों से वहाँ प्राधान्येन व्यपदेश के नियम से उन-उन वीरादि रसों का अनुभव होना चाहिए। अनुभव की यह द्विविधता रस-भोक्ता की द्विविधता के कारण ही होती है।

पाँच मुख्य भक्ति रस निम्न हैं :

१. शान्तभक्तिरस जिसका स्थायी शान्ता रति कही गयी है।

२. प्रीतभक्तिरस जिसका स्थायी भाव प्रीति नामक रतिरूप कहा गया है।

३. प्रेयान् भक्तिरस जिसका स्थायी भाव सख्य रति कही गयी है।

४. वत्सलभक्तिरस जिसका स्थायी भाव वात्सल्य रति कही गयी है।

५. मधुरभक्तिरस जिसका स्थायी भाव शृंगारात्मिका मधुरा रति है।

इन रसों के निम्न नाम अपनाकर हम चल सकते हैं :

१. शान्त भक्तिरस।

२. दास्य भक्तिरस।

३. सख्य भक्तिरस।

४. वात्सल्य भक्तिरस।

५. मधुर रस।

इन रस-भेदों में भोक्तृ-भेद के कारण पड़ने वाले अन्तर के साथ रसानुभूति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातों की चर्चा यहाँ हम करना चाहते हैं। साम्प्रदायिक प्रभावों के कारण बनने वाली विशिष्ट स्थितियों एवं विशिष्ट अभिव्यक्तियों का निरूपण यथा-स्थान ही किया जायेगा।

इन पाँच में से चार ऐसे हैं जिनकी चर्चा काव्यशास्त्र में भी आ चुकी है। शृंगार की भरत से, शान्त की उद्भट से, सख्य या प्रेयान् की रुद्रट से, वात्सल्य की विश्वनाथ से हमें रसरूपता उपलब्ध है। दास्य के आधार पर रसत्व का प्रतिष्ठापन किसी काव्यशास्त्रीय आचार्य द्वारा नहीं किया गया। किन्तु भक्ति के रूप में स्वीकृत इन रस-भेदों और साहित्यिक रसों में कुछ अन्तर है।

साहित्यिक शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद है जो निवृत्तिमूलक भाव है, किन्तु शान्त-भक्तिरस का स्थायी शान्ता रति है जो एक अनुरक्ति एवं भगवत्परक प्रवृत्ति है। वह मूलतः रति है। इसमें संसार से निर्वेद का संचारी रूप में उपयोग सम्भव है।

साहित्यिक वात्सल्य एक अमिश्रित भाव है, किन्तु वात्सल्य भक्तिरस एक मात्रा तक मिश्रित रति है। बाल आलम्बन के प्रति बड़ों का अनुराग साहित्यिक वात्सल्य में आता है। भक्ति में भी भगवान् के बालरूप के प्रति नन्द-यशोदा आदि के स्नेह की अभिव्यक्ति रहती है। किन्तु इस अभिव्यक्ति में आगे-पीछे यह चेतना भी मिली रहती है कि यह बाल आलम्बन सामान्य नहीं, एक अलौकिक अवतारी बालक है, परम तत्त्व का लीलारूप है। यह चेतना आलम्बन के महत्त्व की चेतना है। वात्सल्यभक्तिरस के प्रसंगों में यह महत्त्व-चेतना इस रस के स्थायी भाव का स्वरूप अमिश्रित नहीं रहने देती। जहाँ यह चेतना नहीं होती, वात्सल्य का साम्प्रदायिक रूप भी नहीं होता। वैसे भी, वात्सल्य भक्ति के काव्य में साम्प्रदायिकता का प्रभाव नगण्य होता है।

दास्य, सख्य और वात्सल्य भक्तिरूपों में भगवद्विषयक महत्त्वभावना की स्थिति क्रमशः कम होती चली जाती है। महत्त्व-भावना की चरम अनुभूति जैसी दास्यभक्ति में है वैसी अन्य भक्तिरूप में नहीं होती। सख्य में यह महत्त्व साम्य भावना में अन्तर्हित होकर गौण हो जाता है और वात्सल्य में भक्त में अपने में बड़ेपन और भगवान् में बाल्य और पाल्य का भाव आरोपित रहता है। इस प्रकार वात्सल्य में आलम्बन की लघुता ही सामने रहती है, महत्त्व-चेतना अवचेतन में ही रहती है जो कभी-कभी उभरकर आती रहती है।

भगवान् के प्रति आत्म-लघुता की अनुभूति भक्ति के क्षेत्र में सबसे स्वाभाविक और अनारोपित है। प्राणिमात्र में जो जीव-तत्त्व निहित है, उसे अपनी सीमाओं और अल्पताओं का अनुभव है। मानव अपनी इन्हीं अल्पताओं और अशक्तियों के अनुभव के आधार पर एक अनन्त-शक्ति परम सत्ता की कल्पना करता है और उससे हृदय-निवेदन करते हुए उसकी शरण में अपने त्राण की सम्भावना करता है। इस प्रकार आत्म-लघुता तथा भगवन्महत्ता की अनुभूति के साथ दास्यभक्ति भक्ति का सबसे अधिक स्वाभाविक रूप है। मधुरोपासकों की दृष्टि में दास्यभक्ति महत्त्वानुभूति के कारण ही अवर कोटि की भक्ति है। उनकी धारणा है कि महत्त्वानुभूति आराध्य और आराधक के बीच दूरी स्थापित करने वाली भावना है। मधुर भाव में ही यह अन्तर रेखा पूर्ण विलीन होती है। यह एक विशिष्ट एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। आत्म-लघुता और परमात्ममहत्ता की स्वानुभूत और सर्वानुभूत चेतना के कारण ही दास्य-भक्ति में साम्प्रदायिक संस्पर्श नहीं होता और उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों में लोक-मर्यादा एवं लोक-मंगल का सहज सन्निवेश रहता है। इस काव्य की रसानुभूति साम्प्रदायिक भक्त और सहृदय सामान्य सबके लिए एक ही दिशा में होती है और इसकी लोक-प्रतिक्रिया भी अनुरूप और शुभ होती है।

महत्त्वानुभूति बौद्धिकता-प्रधान चेतना है, प्रेमानुभूति हृदय-प्रधान। दास्य में महत्त्वानुभव के बौद्धिक धरातल की अन्तःप्रेरणा से रति का प्रसार होता है, किन्तु सख्य-भाव में महत्त्वानुभव से निरपेक्ष रति-प्रसार होता है। प्रेम अपने में महत्त्व-विस्मृति है। सख्य में यही प्रेम उभरकर आता है। दास्य वस्तु-स्थिति की सहजता है, सख्य भाव-स्थिति की। सख्य भक्ति में भी साम्प्रदायिक आरोप नहीं हो पाये हैं। अतः सख्यभक्ति का काव्य-रस भी भक्त और सामान्य सहृदय की अनुभूति की भिन्नता की समस्या खड़ी नहीं करता। दोनों की दिशाएं एक हैं, सघनता और गहराई का अन्तर सम्भव है।

वात्सल्य भक्ति में उक्त वस्तु-स्थिति की कुछ उपेक्षा है जो भगवान् अनन्त-शक्ति, पालक और पोषक है, उसके प्रति वात्सल्य भक्ति में लघुता, पाल्यता और पोष्यता की आरोपित चेतना का समावेश है। वस्तुस्थिति की इस उपेक्षा से वात्सल्य भक्तिरस की अनुभूति में भक्त और सहृदय की प्रतिक्रियाओं में कुछ अन्तर सम्भावित है। भक्त रसिक की प्रतिक्रिया भी दो दिशाओं में होनी चाहिए। मान लीजिए, बाल कृष्ण की क्रीड़ाओं का एक चित्र है। इस आलम्बन के प्रति नन्द-यशोदा आश्रय-पात्र के रूप में वर्णित हैं। भक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि से ये नन्द-यशोदा वात्सल्य रति के मूल आश्रय पात्र हैं, वात्सल्य भक्ति के अधिकारी भक्त को इन्हीं से भाव-तादात्म्य करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि इस कोटि का रस-भोक्ता भक्त ऐसे स्थलों पर अपने में संरक्षकत्व, पोषकत्व, पालकत्व आदि धर्मों की सम्भावना करके चलेगा। जीव की स्वाभाविक आत्म-लघुता की अनुभूति के स्थान पर यह आत्म-महत्त्व की अनुभूति आरोपित या साधना-साध्य ही होगी। दूसरे प्रकार के वे भक्त हो सकते

हैं जिनके लिए इस चित्त में नन्द-यशोदा से भाव-तादात्म्य तो सम्भव नहीं, किन्तु वे कृष्ण की इस बाल-क्रीड़ा और बाल-छवि पर मुग्ध होंगे, नन्द-यशोदा की प्रेमानुभूति का वर्णन भी उनकी अपनी कृष्ण-विषयक रति के लिए उद्दीपन होगा। ऐसे भक्त बाल कृष्ण के प्रति भी अपनी भावना के अनुसार ही रति स्थापित कर सकेंगे। सूर के अनेक चित्रों में हमें यह मिलता है कि हाथ लकुट लिए खड़े होने वाले बाल कृष्ण सूर के 'प्रभु' और 'ठाकुर' ही रहते हैं। इस प्रकार भक्त रसिक की रसानुभूति वात्सल्य-भक्तिरस के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक तत्त्व से प्रभावित होती है, तथापि यह प्रभाव बहुत दूरी तक नहीं होता। जो सामान्य सहृदय हैं उनके लिए इस प्रकार के चित्रों में बाल कृष्ण और उनकी लीलाओं से अपने हृदय की वासना-रूपेण स्थित वात्सल्य भावना का ही आस्वादन होता है। इस आस्वादन को साहित्यिक कोटि का ही रसास्वादन कहा जा सकता है, भक्ति-वर्गीय नहीं।

इस प्रकार दास्य, सख्य और वात्सल्य में क्रमशः वस्तु-स्थिति की कृत्रिमता कुछ बढ़ती जाती है और रसानुभूति का स्वरूप साम्प्रदायिकता का संस्पर्श पाने लगता है। जिस मात्रा में यह संस्पर्श सम्भव होता है उसी मात्रा में भक्त और सामान्य सहृदय की रसानुभूति का स्वरूप अलग-अलग हो जाता है।

इस दृष्टि से मधुर रस में सर्वाधिक साम्प्रदायिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इसीलिए वह जहाँ एक साम्प्रदायिक भक्त की दृष्टि में सर्वोत्तम भक्तिरूप है वहाँ एक साहित्यिक सहृदय की दृष्टि में सामान्य शृंगार। इतना ही नहीं, उसके अनेक प्रसंगों में औचित्यवादी साहित्यिक सामाजिक शृंगार नहीं, शृंगाराभास की गन्ध पाता है। इस रस की साम्प्रदायिकता इस मात्रा तक बढ़ी हुई है कि वह विविध साम्प्रदायिक दृष्टियों में बंट गया है, उसके स्थायी भाव के स्वरूप में दृष्टिकोण की एकता नहीं है और एक विशिष्ट सम्प्रदाय के मधुर काव्य में दूसरे सम्प्रदाय का मधुर रसिक समान रूप से भाव-तादात्म्य की स्थितियाँ नहीं पाता। इस प्रकार मधुर रस की अनुभूति-प्रतिक्रिया अन्य सभी भक्तिरस के रूपों की अपेक्षा विविध-रूपा होती है, और साम्प्रदायिक भक्त और साहित्यिक सामाजिक की अनुभूति में प्रायः तालमेल नहीं बैठता।

मधुर रस

भगवद्विषयक शृंगार को मधुर रस कहा गया है और मधुर उपासकों ने इसे ही भक्ति का सर्व-श्रेष्ठ रूप माना है। इसके उद्भव एवं विकास का प्रमुख क्षेत्र कृष्ण धारा ही रही है। यद्यपि राम-धारा के वर्तमान रसिक सम्प्रदायियों एवं उस साहित्य के कतिपय समीक्षकों का विश्वास है कि मधुर भावना पहले राम-धारा में ही अवतीर्ण हुई, तुलसी जैसे मर्यादावादी भक्त भी व्यक्तिगत उपासना में मधुरोपासक ही थे, आदि[1] तथापि उनकी यह मान्यता ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक वज़न नहीं रखती। श्रीमद्भागवत में जो कृष्ण-भक्ति का रसिक रूप परिलक्षित होता है वह इस मात्रा तक पूर्ण और विकसित है कि अपने पूर्व में किसी विकसमान परम्परा की भी कल्पना उठाता है। जो भी हो, हमारे आलोच्य काल में मधुर भावना राम और कृष्ण दोनों धाराओं में पायी जाती है, किन्तु

---

१. रामभक्तिसाहित्य में मधुर उपासना : भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव : पृ० ११५ : तुलसी की गुह्य साधना : 'नया समाज' : सितम्बर १९५३ : चन्द्रबली पाण्डेय।

राम-धारा का मधुर साहित्य बहुत थोड़ा और कृष्ण-धारा के मधुर साहित्य की तुलना में मात्रा ही नहीं महत्त्व की दृष्टि से भी समकक्षी नहीं है। इस दृष्टि से भी कृष्ण-धारा की मधुर भावना ही आलोचक के लिए विशेषतः विवेच्य रह जाती है।

किस-किस सम्प्रदाय में मधुर रस का क्या स्वरूप है, यह विशिष्ट निरूपण तो आगे यथा-स्थान ही होगा, यहाँ तो इस रस के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें समझनी हैं जिनकी सहायता से मधुर-साहित्य की रस-परिकल्पना समझी जा सके।

कान्ता-भाव—मधुरोपासना कान्ता-भाव की साधना है। बिना कान्ताभाव के लीला-रसिक मधुराधिपति कृष्ण के माधुर्य का आस्वादन सम्भव ही नहीं है।

कान्ता भाव में यद्यपि आधार काम-रति है किन्तु यह काम लौकिक नहीं है, ऐसा प्रतिपादित किया जाता है। इसमें वासना-मूलक स्वार्थ-परितर्पण को कोई अवकाश नहीं होता, इसमें केवल अपने प्रियतम कृष्ण को सुखी करने की ही एक-मात्र लालसा रहती है। इस भावना को 'तत्सुखसुखित्व' कहा गया है। यह तत्सुखसुखित्व आधुनिक चिन्तन की दृष्टि में कामवृत्ति का चरम उन्नयन है।

कान्ता शब्द को दो अर्थों में लिया जा सकता है—एक सामान्य नारी के अर्थ में; दूसरे काम-वृत्ति से सम्बद्ध नारी के अर्थ में। दूसरा अर्थ धात्वर्थ के अधिक समीप है। इस प्रकार सामान्य अर्थ में कान्ताभाव मधुर-भाव का पर्याय है, विशेष अर्थ में प्रेयसी भाव का। प्रेयसी भाव में कृष्ण के साथ कामवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध रहता है, अतः उनके काम-विलास, आलिंगन-परिचुंबन में प्रेयसी एक पक्ष होती है, भले ही उसमें पूर्ण तत्सुखसुखित्व की भावना हो।

साक्षात् कामरति वाले कान्ताभाव का, जिसे हम प्रेयसी भाव कह रहे हैं, अधिकार सभी सम्प्रदायों में राधा का ही स्वीकार किया गया है। राधा रसरूप कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। उन्हें कृष्ण-तत्त्व से अभिन्न, लीलार्थ उन्हीं की अभिव्यक्ति कहा गया है। इन कृष्ण-शक्ति-रूपा राधा की अनन्त सखियाँ हैं, जिनमें आठ प्रमुख हैं। ये सखियाँ राधा-शक्ति की ही अंशरूपा हैं, अतः तत्त्वतः अभिन्न हैं। फिर भी इनके साथ कृष्ण का काम-सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया। इस प्रकार सखीभाव में कान्ताभाव का सामान्य रूप ही रहता है।

विभिन्न सम्प्रदायों में राधा और सखियों के स्वरूप और सम्बन्ध में पर्याप्त अन्तर के साथ मान्यताएं प्रचलित हैं। कई राधा को स्वकीया मानते हैं तो कई परकीया। प्रायः राधा-भाव काम्य नहीं समझा जाता, सखी भाव ही भक्त का काम्य होता है। विभिन्न सम्प्रदायों में सखी भाव की मान्यता भी कई प्रकार से है।

सभी कृष्ण भक्ति-सम्प्रदाय भागवत की महत्ता स्वीकार करके चलते हैं। उसके रास-प्रसंग की चर्चा सभी करते हैं। इस प्रसंग के चित्रणों में सखियाँ भी कृष्ण के लीला-विलास में सम्मिलित हैं। ऐसे स्थलों पर सखी भाव कामवृत्ति से तटस्थ नहीं होता जैसा कि अन्य स्थितियों में माना जाता है। सामान्य कान्ताभाव के सखी भाव, सहचरी भाव, खवासी भाव आदि अनेक रूप माने गये हैं। इन सबमें कामवृत्ति की तटस्थता होती है, श्रीकृष्ण के साथ इन सखियों का लीला-विलास नहीं होता। ये सेवा-परिचर्यादि के द्वारा ही अपने प्रेम को चरितार्थ समझती हैं।

राधा-कृष्ण के विलास के प्रति इन सखियों में इसी अर्थ में तटस्थता समझनी चाहिए कि ये स्वयं कृष्ण के साथ कामोपभोग में सम्मिलित नहीं होतीं, किन्तु कामवृत्ति से इनकी

सर्वांश में तटस्थता नहीं होती। वे राधा-कृष्ण के विहार-काल में सेविका, परिचारिका, सहचरी आदि के रूप में उपस्थित रहने की अधिकारिणी होती हैं और उस विहार के दर्शन से परम तृप्ति का अनुभव करती हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी कामवृत्ति के उन्नयन का अपना ढंग है। साम्प्रदायिक दृष्टियों से उनमें केवल सेवा-परिचर्या-परक रति ही होती है, उन अवसरों पर अपनी काम-रति होती ही नहीं। पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह संभव है कि उस समय उनमें कामवृत्ति का उदय होना चाहिए, भले ही वह कितनी ही उन्नीत हो। इस प्रकार कुछ स्थल ऐसे होते हैं जिनमें सखी भाव में कान्ता भाव या प्रेयसी भाव का मिश्रण रहता है, कुछ ऐसे जिनमें सखी भाव केवल सेवा-परिचर्या-दर्शन आदि तक ही सीमित एवं तटस्थ होता है।

सखी भाव चाहे कान्ता-भाव से मिश्रित हो या अमिश्रित, उसके दो रूप पाये जाते हैं—एक दास्य-मूलक, दूसरा सख्य-मूलक। सखी भाव में वात्सल्य की गुंजाइश नहीं है, अतः भक्ति-सामान्य की दास्य और सख्य वृत्तियों का ही इस में मिश्रण हो सकता है। जब सखियों में आराध्यों के महत्त्व की चेतना और अपनी लघुता की भावना बढ़ जाती है, तब सखी भाव को दास्यानुप्राणित समझना चाहिए। जब सखियों में खुलेपन और साम्य की भावना होती है, तब सख्यानुप्राणित। हम इन भेदों को निम्न रूप में रखकर समझ सकते हैं :

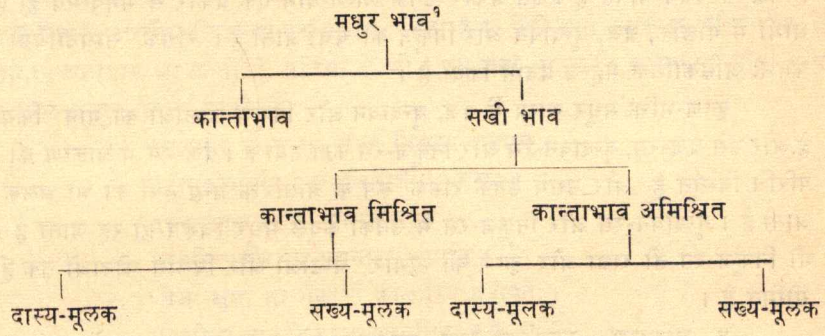

रस-तत्त्व

वैष्णव ग्रन्थों में सामान्यतः निम्नलिखित की रस के रूप में चर्चा आती है :

१. **श्रीकृष्ण**—'भक्तिदर्शन और रस' नामक गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि सभी वैष्णव सम्प्रदायों की दृष्टि में 'रसो वै सः' श्रुति का प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्म है। यह सगुण,

---

१. सखीनां द्विविधत्वं तु केचिदाहुर्मनीषिणः।
सेवामात्रपराः काश्चित् कान्तभावविवर्जिताः॥
कान्तभावान्विताः काश्चिद्युग्मसेवान्विता पि च।
श्रीदेव्यामेककातत्वमपि केचिद् वदन्ति हि॥
केचित्तु द्विविधत्वेऽपि रूपभेदो न मन्यते।
लीलाभेदेन भेदस्य सर्वासामपि संभवात्॥
श्रीयुग्मतत्त्वसमीक्षा : एकादश भाव-मयूख : पृ० २९३।
ले० श्री भगीरथ शर्मा : प्रेमधाम प्रेस वृन्दावन।

लीलामय पुरुषोत्तम है, जिसे राम-भक्ति में राम और कृष्ण-भक्ति में कृष्ण कहा गया है। सिद्धान्ततः यही 'रस-तत्त्व' है।

इस तत्त्व के लीलामय होने के कारण इसकी लीला भी स्वरूपतः 'रस' है।

२. **राधा**—हम कह चुके हैं कि वैष्णव सम्प्रदायों में राधा को कृष्ण की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'एकाकी न रमते' की आवश्यकता-पूर्ति के लिए परम तत्त्व अपनी आह्लादिनी शक्ति को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित कर उसके साथ रमण करता है, अतः उसकी आराधिनी राधा भी तत्त्वतः 'रस' है।

३. **युगल-रस**—तत्त्वतः राधा और कृष्ण एक ही अभिन्न रसमय तत्त्व हैं, पर लीलार्थ दो दिखायी पड़ते हैं। राधा-कृष्ण युगल स्वरूपतः एक और अभिन्न 'रस' हैं। इनका क्रीडा-विलास भी नित्य है। इनके लीला-विलास को रसिक सम्प्रदाय 'नित्य-विहार' कहते हैं।

इस युगल में परस्पर आलम्बन-भाव है। राधा कृष्ण की आलम्बन हैं, आस्वाद्य हैं, कृष्ण राधा के। अतः दोनों ही एक-दूसरे के लिए आस्वाद्य रस हैं, एक-दूसरे के आस्वादयिता रसिक।

इस प्रकार राधा-कृष्ण का युगल एवं उसका नित्यविहार तत्त्वतः रस कहा गया है।

४. **धामरस**—रसेश्वर लीलामय कृष्ण के लीला-धामों को भक्त नित्य, अप्राकृत, विशुद्ध सत्त्वमय मानते हैं। इस प्रकार उनके लीला-धाम एक प्रकार से भगवन्मय ही हैं। इन धामों में गोलोक, व्रज, वृन्दावन और निकुंज की चर्चा आती है। रसिक सम्प्रदायियों ने इन्हें क्रमशः अधिकाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

कृष्ण-भक्ति मधुर काव्य में व्रज, वृन्दावन और निकुंज लीलाओं का गान किया गया है और उसे व्रज-रस, वृन्दावन-रस और निकुंज-रस कहा गया है। व्रज-रस में श्रीकृष्ण की लीला-परिधि विस्तृत है और उसमें उनके रसिक रूप के अतिरिक्त अन्य रूपों की भी झलक सामने आती है। वृन्दावन-रस और निकुंज-रस में उनका केवल मधुर स्वरूप ही रह जाता है। इनमें भी निकुंज-रस तो राधा और कृष्ण की शृंगार चेष्टाओं और विलास क्रीडाओं तक ही परि-सीमित है।

५. **भक्तिरस**—उपर्युक्त चार रस-तत्त्वों को रस-भोक्ता सहृदयों एवं भक्तों की दृष्टि से केवल विभाव रस समझना चाहिए, अतः ये सब आस्वाद्य रस के रूप हैं। भक्तों का आस्वाद-रूप तो भक्ति-रस है जो उनका अपनी भगवत्परक रति की स्वाद्य परिपाक है। इस रति के पीछे हम पाँच प्रमुख रूप देख चुके हैं, जिनके आधार पर यह पाँच प्रकार का माना गया है। इन सब रूपों में मधुर रस को रसिक सम्प्रदायों ने सर्व-श्रेष्ठ स्वीकार किया है। इस मधुर रस के स्थायी रति के विषय में विभिन्न सम्प्रदायों की विभिन्न मान्यताएं हैं, और तदनुरूप उसकी विभावादि सामग्री के विषय में भी अन्तर हो जाता है।

यह विवेचन कृष्ण-भक्ति की दृष्टि से है, राम-भक्ति की दृष्टि से भी ये ही मान्यताएं हैं, केवल नामों का अन्तर कहा जा सकता है।

हिन्दी-वैष्णव कवियों की रस-विषयक आचार्य-चेतनाएं

विगत अध्यायों में हमने रस-स्वरूप के संबंध में संस्कृत काव्य-शास्त्र, भक्ति-दर्शन एवं भक्ति-काव्यशास्त्र की मान्यताएँ देखी हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम उन वैष्णव कवियों की रस-विषयक आचार्य चेतनाओं को समझना चाहते हैं जिनका अध्ययन हम अगले अध्यायों में करने जा रहे हैं।

कवियों की आचार्य-चेतनाओं से हमारा क्या मन्तव्य है, इसे हम स्पष्ट समझ कर चलें। यद्यपि कवि का काम शास्त्र-निरूपण नहीं, फिर भी वह अनेक बार ऐसी बातें कह जाता है जिससे शास्त्रीय सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है। ऐसी बातें उसके व्युत्पत्ति-कोश से भी सायास-अनायास आ जाती हैं, प्रतिभा से भी। हम यहाँ महाकवि कालिदास और माघ से दो स्थल प्रस्तुत करना चाहते हैं :

१. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।"[1]

२. 'तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥"[2]

प्रथम उद्धरण में कालिदास ने "भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि" कहकर भावों के स्थायित्व एवं संस्काररूपत्व को स्वीकार किया है, दूसरे में माघ ने बताया है कि रस-भाव का वेत्ता कवि ओज या प्रसाद किसी एक गुण से चिपका नहीं रहता, रसानुरूप गुणों का परिपाक प्रस्तुत करता है। इन दोनों उद्धरणों में यद्यपि ऐसी बातें कही गयी हैं जो काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र की हैं, पर पहली बात इस रूप में कही गयी है कि वह शास्त्रीय ज्ञान का सीधा निरूपण नहीं मानी जा सकती। वह कवि-प्रतिभा से स्वतः आयी हुई प्रतीत होती है, व्युत्पत्ति का सज्ञान उन्मेष नहीं। किन्तु माघ का कथन जाना-बूझा अप्रस्तुत योजना के रूप में रखा गया है। ऐसे सभी कथनों को हम कवि की आचार्य-चेतना कहना चाहते हैं, और अपने विवेच्य कवियों में यदि कहीं ऐसी चेतनाएँ हमें मिलें तो हम उनके आधार पर उनकी रस-विषयक धारणाएँ निरूपित करना चाहते हैं। कालिदास के उल्लेख को हम एक असाक्षात्

---

१. अभि० शाकुन्तल : अंक ५ : श्लो० २।

२. शिशुपालवध, सर्ग २ : श्लो० ८।

निरूपण कह सकते हैं, माघ का उल्लेख साक्षात् निरूपण कहा जायेगा। इस प्रकार काव्य-निष्ठ आचार्य-चेतनाओं के हम दो रूप पाते हैं :

१. साक्षात् रूप में निरूपित मान्यताएँ,
२. असाक्षात् रूप में निरूपित मान्यताएँ।

प्रस्तुत अध्याय में अपने विवेच्य कवियों में से कतिपय प्रमुख कवियों की इसी प्रकार की साक्षात्-असाक्षात् निरूपित रस-विषयक आचार्य-चेतनाओं की चर्चा हमें यहाँ करनी है। इसके लिए हम रस-दृष्टि, रस-स्वरूप और रसानुभूति से सम्बद्ध चर्चाओं तक ही सीमित रहेंगे। अन्य आचार्य-चेतनाओं को हम नहीं लेंगे। इस दिशा में हमें इन कवियों द्वारा प्रयुक्त रस शब्द से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। रस-शब्द अनेकार्थ-वाची शब्द है। साहित्य में भी उसका प्रयोग नाना अर्थों में मिल जाता है। हम सभी अर्थों में कवि-प्रयुक्त इस शब्द को न लेकर काव्यानन्द, ब्रह्मानन्द अथवा भक्ति-जन्य आनन्द जैसे स्वविषय-सम्बद्ध अर्थों में प्रयुक्त रस-शब्द तक सामित रहेंगे, और इन कवियों की रस-संबंधी धारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे। कवियों की उक्तियों से असाक्षात् रूप में किसी सिद्धान्त की प्रक्रिया बहुत दूर तक खींची जा सकती है। हम उन्हीं निष्कर्षों को असाक्षात् रूप में निकालने का प्रयास करेंगे जो स्पष्ट प्रतीत होते हों, और अनावश्यक खींचा-तानी की जिसमें आवश्यकता न हो। जिन कवियों के साहित्य में इस प्रकार की विशिष्ट धारणाओं को नहीं पाया जाता, उनकी चर्चा इस अध्याय में करना अपेक्षित नहीं। इस प्रकार के निरूपण के लिए हम निम्न कवियों को चुन रहे हैं :

कृष्ण-भक्त कवि	**राम-भक्त कवि**
अष्टछापी—	तुलसीदास
सूरदास, परमानन्ददास,	केशवदास
कुम्भनदास, नन्ददास,	सेनापति
चतुर्भुजस्वामी, गोविन्दस्वामी,	
छीतस्वामी।	
निम्बार्क-सम्प्रदायी—	
श्री भट्टजी,	
श्रीहरिव्यास देवजी।	
हरिदास-सम्प्रदायी—	
श्री हरिदासजी,	
श्री विट्ठलविपुलदेवजी।	
राधावल्लभ-सम्प्रदायी—	
श्री हितहरिवंशजी,	
श्री व्यासदेवजी,	
श्री ध्रुवदासजी।	

इसी क्रम से हम अभीष्ट निरूपण की ओर आते हैं।

सूरदास

यों सूर ने रस-शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रचलित अर्थों में किया है, तथापि अपने काव्य में वे जिस 'रस' को घोलना चाहते हैं वह है 'कृष्ण-रस।'[1] यह रस लीलामय है और सूर के लिए यह रस काव्य में कृष्णलीला-गान के रूप में है।[2] इसी अर्थ में सूर का समूचा काव्य कृष्णरसमय है।

'कृष्ण-रस' ब्रह्मरस से उत्कृष्ट है। ब्रह्मरस यद्यपि परमास्वाद-रूप एवं अशेषतः रस-मात्र है, पर वह साकार न होने के कारण मन-वाणी का अगम-अगोचर है। कृष्ण-रस सगुण-साकार है, मन-वाणी का गम-गोचर है।[3] कृष्णरस ब्रह्मादि के लिए अप्राप्य है, किन्तु गोकुल की गलियों में उमड़ता-बहता फिरता है।[4]

'कृष्ण-रस' मूलतः प्रेमरूप है, अतः कहा जा सकता है कि 'प्रेम' ही 'रस' है। प्रेम का स्वरूप सब-कुछ की उपेक्षा करते हुए प्रिय के प्रति चरम आकर्षणमय है। यह आकर्षणात्मक प्रेम जड़ और चेतन में समान रूप से परिव्याप्त है।[5]

यह प्रेमरस अधिकारी और भावक के भेद से विविध रूपों में व्यक्त होता है। अतः अधिकारी प्रमाता इस रस का अपनी भावना के अनुरूप आस्वादन करता है। इसी दृष्टि से सूर ने लीलामय कृष्णरस के विविध रूपों में दर्शन किये हैं।[6] दास भक्तों के लिए सेवकपन रसात्मक है, यशोदा के लिए बाललीला-दर्शन ही रस है। इन सब रस-रूपों में शृंगारमयी लीलाओं वाला मधुर रस ही 'महारस' है।[7] मधुररस के भीतर विरह भी रसरूप ही है।[8]

---

१. "सुक-हिय रह्यौ कृष्न-रस छाइ" : सूरसागर, पूर्वार्द्ध : पद ३४१।

२. "सूर सगुन-लीला-पद गावै" : वही, पद २।
"नीरस कवि न कहै रस-रीति। रसिकहि रस-लीला पर प्रीति।" वही, पद १७-१८।
"सूर स्याम-रस सहज माधुरी रसिकनि कौ अवलेह।" वही, पद ४३३६।

३. "परमस्वाद सबही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै।" वही, पद २।

४. "जा रस ब्रह्मादिक नहिं पावैं। सो रस गोकुल-गलिनि बहावैं।" वही, पद ६२१।

५. "भौरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप। सब कुसुमनि मिलि रस करै, कंवल बंधावै आप।"
"सुनि परिमिति प्रियप्रेम की चातक चितवनि पारि। घन-आसा सब दुख सहै, अनत न जाचै बारि।"
"सब रस कौ रस प्रेम है, विषयी खेलै सार। तन मन धन जोवन खसै, तऊ न मानै हार।"
वही, पद ३२५।

६. सूरदास स्वामिपन तजिकै सेवकपन रस-भीन्यौ।" वही, पद ४४२।
"जा चरनारबिन्द के रस कौं सुर-मुनि करत विवाद।
सो रस है मोहू कौं दुरलभ, तातैं लेत सवाद।" वही, पद ६८२।
"नाहिन इतनौ भाग जो यह रस नित लोचन पट पीजै।
सूरदास ऐसे सुत कौ जस स्रवननि सुनि सुनि जीजै।" वही, पद ६२७।
"सूरदास प्रभु सिसुलीला-रस आवहु देखि नंद-सुखधाम।" वही, पद ७७५।

७. "तरुनी स्याम-रस मतवारि।
महारस अंग-अंग पूरन, कहां धर कहूं बार।" वही, पद २२४२।
"सूर स्याम कौ रूप 'महारस' जाकैं बल काहू न डरैं।" वही, पद २२५४।

८. दोउ रस-विरह मगन भए, निसि भई अगौ हूं।" वही, पद २५८१।
"सुनहु सूर प्यारी-हृदय रस-विरह उपाऊ।" वही, पद २७६३।

विरह तो प्रेमरस को परिपक्व बनाने वाला है ।[१]

इस मधुर रस में राधा गुण-सागर हैं, कृष्ण रस-सागर । दोनों का मिलन दो सागरों का मिलन है ।[२] राधा और कृष्ण के मिलन और केलियों को वस्तुतः इस मधुर-रस की साधना ही समझना चाहिए ।[३] यह केलि-मय रस नित्य नूतन है अतः चिर-नवीन है ।[४] नवधा भक्ति को तो इस मधुररस-कमल की किंजिल्क ही समझना चाहिए ।[५] इसमें काम और ज्ञान घुलकर एकाकार हो जाते हैं ।

इस मधुरात्मक महारस का आस्वादन अनन्त रसों में डुबकी लगाना है ।[६] इसकी अनुभूति विगलित-वेद्यान्तर होती है जिसमें समस्त विकल्पात्मक अनुभूतियां विलीन हो जाती हैं ।[७] रस की अनुभूति का काव्यात्मक निरूपण करते हुए एक स्थल पर सूर कहते हैं—जिस प्रकार अगाध जलराशि में कच्ची गगरी डुबोने पर गल-घुल जाती है, उसी प्रकार इस श्याम-रस में प्रमाता भक्त का मन डुबकी लगाते-लगाते गल-घुल जाता हैं ।[८] इसीलिए तो इस श्याम-रस की सहज माधुरी रसिकों के लिए सर्वोत्कृष्ट आस्वाद्य है ।[९] इस रस सरिता में डुबकी लगाने वाले को माया और काल व्यापते नहीं ।[१०] अतः इस रस की अनुभूति माया-गुणों से ऊपर नित्य एवं निर्मल है ।

यह श्याम-रस काव्य-रस के समान अल्पकालिक अनुभूति नहीं । साथ ही लौकिक दृष्टि से भी इसकी अनुपयोगिता नहीं । इस रस को एक बार चख लेने वाले व्यक्ति को मणि और कांच में, शीत और उष्ण में, सुख और ताप में गहरा सामरस्य प्राप्त हो जाता है और वह उस आनन्द-निधि में जाकर समा जाता है जहाँ से लौटकर विषय-रस के छीलरों के लिए उसे फिर न भटकना पड़े ।[११]

इस प्रकार सूर की दृष्टि में रस-तत्त्व सगुण, लीलामय, परम प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्ण है । इसका दर्शन-सेवन-श्रवण-गान किसी भी भाव से किया जाय, अपने में रसात्मक है । इस रस का सर्वोत्कृष्ट रूप है मधुर रस जिसे 'महारस' कहा जा सकता है । यह रस ब्रह्मानन्द से

---

१. ऊधौ, बिरहौ प्रेम करै ।" वही, पद ४६०४ ।
२. "सुन्दरता रस गुन की सींवां सूर राधिका स्याम ।" वही पद १६६३ ।
३. "गुन-सागर और रस-सागर मिलि मानत सुख-व्यवहार ।" सूरसागर, पद १३०५ ।
"सूर स्याम-स्यामा नव रस रमि रीझें नन्दकुमार ।" सूरसागर, पद १३०५ ।
"सँग खेलत दोउ झगरन लागे, सोभा बढ़ी अगाधा ।
मनहुं तडित-घन इन्दु-तरनि ह्वै बाल करत रस-साधा ।" वही, पद १३२३ ।
४. "नवलगुपाल नवेली राधा, नये प्रेमरस पागे ।" वही, पद १३०४ ।
५. "जहं किंजिल्क भक्ति नव लच्छन, काम-ज्ञान रस एक ।" वही, पद ३३९ ।
६. "अतिहि मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं ।" वही, पद ३३८ ।
७. निसि-दिन स्याम सुमिरि जस गावै, कल्पन मेटि प्रेम-रस माचै ।" वही, पद ३५४ ।
८. "पुलकित सुमुखी भई स्यामरस ।
ज्यों जल में कांची गागरि गिरि ।" वही, पद ७३८ ।
९. "सूर स्याम-रस सहज माधुरी रसिकनि कौं अवलेह ।" वही, पद ४६३६ ।
१०. "माया-काल कहूं नहिं व्यापै, यह रस-रीति जो जानै ।" वही, पद ४० ।
११. "यह व्रत धरे लोक में बिचरै सम करि गनै महामनि काचै ।
सीत-उष्ण सुख-दुख नहिं मानै, हानि-लाभ कछु सोच न राचै ।
जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाचै ॥" सूरसागर, पद ३५४ ।

उत्कृष्ट एवं योगियों के लिए अगम्य है। मधुर रस में ज्ञान और काम घुलकर एकाकार हो जाते हैं।

सूर के अनुसार इस रस की अनुभूति निर्विकल्प, विगलित-वेद्यान्तर एवं विश्व के प्रति सामरस्य-प्रदायिनी होती है। इसकी अनुभूति में लीलामय कृष्ण ही उद्भासित होता है। उसके प्रति चरम आकर्षमय रति का ही रसिक भक्त आस्वादन करता है।

परमानन्ददास

परमानन्ददासजी की दृष्टि में भी 'रस' भगवल्लीला-गान ही है।[1] इसी लीलाकथा-रस का आस्वादन शुक ने भागवत के रूप में किया है।[2] यह लीला-रस मंगलमय है, आनन्दमय है।[3]

यह रसात्मक लीला-गान जिन कृष्ण का है वे आनन्द की निधि हैं, प्रेरमरस के सागर हैं।[4] लीला-रसिक कृष्ण का पूर्ण रसात्मक रूप है केलि-विलासमय। वे मूर्तिमान् शृंगार हैं। शुक के द्वारा गाया हुआ यह रस-तत्त्व राधा के उर में समाया हुआ है।[5] यह सुरतरस-रंगी और केलिरस-भीगा है।[6] रसमयी राधा के साथ केलि-विलास ही इस रस का मूर्त एवं व्यक्त रूप है।[7] परमानन्ददासजी ने राधा, कृष्ण, उनके केलि-विलास, प्रेम एवं काम-प्रेम के उमंग-उल्लासों के लिये अनेक बार 'रस' शब्द का प्रयोग किया है।[8] गोपियों को यह रस-तत्त्व बत-

---

१. "यह अवतार बाललीला-रस परमानन्दहिं भीनौ।" परमानन्दसागर, पद १४।
"परम रहसि गिरिधर रस लीला जन परमानन्द गावत।" वही, पद ७२१।
"मदनमोहन-राधा रस लीला कछु परमानन्द गाई।" वही, पद ४३६।
"कछू यक रस परमानन्द गावै।" वही, पद ४५५।

२. "जैसे सुक नारद मुनि ज्ञानी यह रस अनुदिन पीवत।
आनन्दमूल कथा के लंपट या रस ऊपर जीवत।" वही, पद ८६६।

३. "मंगल स्रवन, कथारस मंगल।" वही, पद ५८७।
"मंगल मंगल गोवर्धनधर, मंगलमय रसलीला सागर रसपूरित भावम्।" वही, पद ५८८।

४. आनन्द की निधि नंदकुमार।" वही, पद ३९।
"लीलासागर गिरिधरलाल।" वही, पद २२६।
"वे रसपुंज नंदजू की जीवनि।" वही, पद २४५।

५. "जो रस कीरमुनि गायौ।
सो रस रसिक दास परमानन्द व्रषभान सुता उर मांझ समायौ।" परमानन्दसागर, पद, ४५३।

६. "परमानंद स्वामी नट-नागर विनोद सुरत रस रंगी।" वही, पद २४९।
"अतिहिं चपल सुखदायक निसिदिन रहत केलिरस ओद।" वही, पद ८४।

७. "राधा भाग सौं रस-रीति बढ़ी।" वही, पद २४३।
"परमानन्द रसिक उर जानत बाढ़त रस की रेलैं।" वही, पद ३८५।
"मदन महोछव फाग मनोहर रतिरस फागुन मास।" वही, पद ४०१।
"परमानन्द प्रभु सुरत सने रस मदन नृपति की सेवा लूटी।" वही, पद ४०६।
"नंद कौ लाल संग राधा के करत रंग रस ख्याल।
विविध विनोद करत रस-क्रीड़ा सिज्या फूल गुलाब।" वही, पद ६८२।
"प्रौढ़े रंग-महल व्रजनाथ।
रंग रस की करत बतियां राधिका लै साथ।" वही, पद ६९०।

८. उपर्युक्त पद।

रस, कन-रस, अंखि-रस, रति-रस आदि अनेक रूपों में मिलता है।[१] इसी मूर्त रस के लिए उनका मन सदा लुभाया रहता है।[२] यह वस्तुतः उनका ही प्रेम-रस है।[३] परमानन्ददासजी इसी रस के लोभी है[४] जो अमल है, महामंगलमय है।[५]

इस रस की अनुभूति में दैहिक अनुभवों की पूर्ण विस्मृति है।[६] इस रस-सागर में जो एक बार डूबा, लीन हुआ।[७] व्यक्तित्व का विगलन रसानुभूति की विशेषता मानी गयी है। सागर से रूपान्तर प्राप्त कर मेघ बनता है, फिर उसकी वर्षा सागर में पड़ कर उसी में घुल-मिल जाती है। कृष्णरस में डूबने वाले का भी यही हाल है :

"परमानन्द प्रभु प्रेम समुद में ज्यों जलधर की बूँद समानी।"[८]

मुरली को रस-रूप एवं रस-स्वभाव कह कर परमानन्दजी ने रस का बाह्यवृत्ति-निरोधक प्रभाव इन शब्दों में अंकित किया है :

"मदन गोपाल बेनु बजावत मोहन नाद सुनत भई बावरी।
बछरा खीर पीवत थन छांड्यौ दाँतन तृन खंडित नहिं गावरी।
अचल भये सरिता मृग पंछी खेवट चकित चलत नहिं नाव री।
कमल नयन घनस्याम मनोहर सब विधि अकथ कथा है रावरी।
परमानंद स्वामी रति-नाइक यह मुरली रस-रूप सुभाव री।"[९]

इस प्रकार परमानन्दजी के अनुसार रस-तत्त्व लीला-क्रीडा-मय कृष्ण है। उनकी किशोर-केलियाँ ही नहीं, सख्य और बाल-क्रीडाएं भी रस-रूप हैं।[१०] इस रस की अनुभूति बहिर्वृत्ति-निरोधक एवं मंगलमय है।

---

१. "यातैं माई भवन छांड़ि वन जैये।
अंखिरस कनरस बतरस सबरस नंदनंदन पै पैये।" वही, पद २१०।
"परमानंद स्वामी के संगम रतिरस मगन मुदित व्रजनारी।" वही, पद ३७१।
"रसमय रूप अनूप विराजित गोपवधू-उर सीतल चंदन।
नैननि में रस, चितवनि में रस, बातनि में रस ठगत मनुज-पसु।
गावनि में रस, मिलवनि में रस, वेनु मधुर रस प्रगट पावन जसु।" वही, पद ४५६।
"गोपिन के रस-देतन।" वही, पद ३४४।

२. 'वदन कमल मधुकर ज्यौं अटक्यौ, रस-लुब्ध्यौ मन मोर।" वही, पद ४१८।
"परमानंद प्रभु रस-अटक्यौ बांध्यौ है सखी मदन कौ बेरौ।" वही, पद ४२८।
"परमानंद स्वामी रस अटकी गीधी दिन-प्रति आवति।" वही, पद ४२९।

३. "बातें कहत प्रेमरस बाढ़्यौ नैन रहे अरुझाई।" वही, पद ४७६।
"परमानंद प्रभु चतुर सिरोमनि व्रज-वनिता प्रेमरस भीनी।" वही, पद ७१५।
"गोपी-नैन-भृंग रस-लंपट उड़ि-उड़ि परत वदन मांही।" वही, पद १४३।

४. "परमानंददास रस-लोभी अति आतुर कहैं जाहीं।" वही, पद १४३।

५. पद ५४२, ४९० वही।

६. "एकटक रही संभार न तन की मोहन सूरति पेखे।" परमानंदसागर, पद १४१।

७. "परमानंद प्रेम रस सागर मंह पर्यौ सो लीन भयौ।" वही, पद ५१५।

८. वही पद ७३१।

९. वही, पद २५०।

१०. वही, पद २२५, ६१७, ८०४।

कुम्भनदास

कुम्भनदासजी ने रस-शब्द का प्रयोग अधिकत: राधा-कृष्ण की काम-केलि, विलास-क्रीडामय प्रेम एवं तत्सम्बन्धी उल्लास-आनन्द के लिये किया है।[1] इन अर्थों में उनके शब्दों में काम ही आनन्दमूर्ति या रस है।[2]

कृष्ण स्वरूपत: मूर्तिमान् रस हैं। उनके बालरूप की माधुरी का भी रसात्मक आस्वादन होता है, किशोर रूप का भी।[3] अपने मधुर रूप में व्यक्त यह कृष्ण-रस वर्णनातीत है।[4] इस रस का आस्वादन भावुक रसिक भक्त ही कर सकते हैं, अरसिक लोग नहीं।[5] इसके लिये हृदय का प्रेम चाहिए।[6] प्रेमी भक्त एक बार इस रस को चख कर छोड़ता नहीं। मृग की भांति इसके संगीत की तान पर मुग्ध हो जाता है।[7] आरूढ आसक्तिमय प्रेमी इस मधुर रस-राशि पर अपना मन लुटाये रहता है।[8] प्रेमी इसकी आनन्दमय अनुभूति होने पर विवश होकर झूम उठता है, पग डगमग पड़ने लगते हैं, वह सर्वात्मना डूब जाता है।[9]

---

१. कुम्भनदास, पद-संग्रह।
"कुचनि अंचल ढांकि लगी मोतिन पांति भरे रस-कलस दोऊ मदन ललचाति है।
नेकु रस चाहिए अंचल के कलस कौ कृपा करि प्यारी अब कहा कछु बाति है।" १४
"अद्भुत रस-केलि निरखि मदन मान हारि रह्यौ।
मुरली अधर गुंजत रसरंग धामिनी।" वही, पद ४५।
"स्यामा-स्याम उमंगि रस-भरियां अंबर लपटे गातनि।" वही, पद ९९।
"कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर अधर सुधारस पाऊंगी।" वही पद, १३७।
"जब अपने रस गूढ़ भाव की कछुक जनावति सैन।
कुंभनदास प्रभु गोवर्धनधर जुवतिन मन हरि लैंन।" पद १४४।
"कुंभनदास गिरिधर रस अटकी श्रुति मरजादा पेली।" वही, पद १९७।
"कुंभनदास गिरिधर रस लोभी भलौ तैं आरज पथ पायौ।" वही, पद १९८।
"नंदनंदन वृषभान-नंदिनी रति-रस रंग सनी।" वही, पद २०४।
"सकल रयनि रतिरस रंग खेलत पलक सौं पलक लागन न दियौ।" वही, पद ३१०।
कंठ लागि दै भुजा सिरहाने रसिकलाल को अधर सुधारस पियौ। वही, पद ३१०।
"करत केलि मिलि कुंज भवन में पिय-प्यारी रस-रंग भरे।" वही, पद ३८७।

२. "आनंदमूरति काम।" वही, पद ११७।

३. "राखी बांधति है नंदरानी।
कुंभनदास गिरिधर के ऊपर रसबस बारति पानी।" वही, पद १२६।

४. "कहा कहौं रस बढ्यौ परस्पर त्रिभुवन बरन्यौ न जाई।" वही, पद ८०।

५. "या रस कौं अनरस नहिं जानत, जानत है हित ही कौ।" वही, पद २०३।

६. "कुम्भनदास गिरिधर कौ ध्यान उर और रुचिर रस फीकौ।"

७. "रस-लुबुधक इक निमिष न छांड़त ज्यौं अधीन मृग जानैं।
कुंभनदास सनेह मरमु इहि गोवर्धनधर जानै।" वही, पद २१३।

८. "बढ्यौ रंग सु अंग स्यामा चित्त हावभावनि लुटै।" वही, पद ४३।

९. "परत पग डगमग बिबस-रस।" वही, पद ४३।

रास और विविध केलियाँ कुम्भनदासजी के अनुसार इसी रस का प्रकाशन है। राधा का सौन्दर्य, उनका नख-शिख एवं समूची श्रृंगार की सामग्री इसी रस की विविध गतियाँ हैं :

"मोहनराइ लगाइ लीनी छतियाँ।
चंचल चपल मृगनैनी राधे बोली मधुर सब बतियाँ।
नख-शिख रूप अनूप विराजित, ए सब रस की गतियाँ॥"[1]

इस प्रकार कुंभनदास के अनुसार काम-विलासमयी लीलाओं का आगार श्रीकृष्ण है। उसकी समस्त श्रृंगारात्मक क्रीडाएं एवं तदनुरूप सामग्री सभी रसात्मक है। इस रस का गान भी रसात्मक है। इसकी अनुभूति में अनिर्वचनीय तल्लीनता है। रसोपासना में मधुर ही कुंभनदासजी के अनुसार सर्वश्रेष्ठ रस है।

नन्ददास

नन्ददासजी के अनुसार रस-तत्त्व श्रीकृष्ण हैं। संसार में जहाँ भी जिस किसी रूप में आनन्द या रस दिखायी पड़ता है, सब उसी रस-सागर का जल है। इस प्रकार वह रसमय तत्त्व अखिल विश्व में नाना रूपों में स्थित होने के कारण विश्वरस का कारण भी है। अतः जो कोई भी, कहीं भी, किसी रूप में आनन्द का आस्वादन करता है या आनन्द का वर्णन करता है, उसी परम रस-तत्त्व का आस्वादन या वर्णन करता है।[2]

यों प्रेम के लौकिक रूप भी उसी रस-तत्त्व के रूपान्तर हैं। तथापि प्रेम उस रस-निधि कृष्ण से ही करके शोभित होता है। प्रेम उसी की अभिव्यक्ति है, उसी के साथ सम्बद्ध होने में उसकी शोभा है।[3]

अतः भक्तिरस का काव्यपरक अर्थ है हरिलीला-गान। यह हरिलीलारस ही काव्य का एक सच्चा रस है। जिस काव्य में यह रस नहीं वह काव्य नहीं, भित्ति-चित्रण भले हो।[4]

रस स्वरूपतः प्रेम-तत्त्व है जो 'प्रेम-धुजा' गोपियों के सम्बन्ध से व्यक्त हुआ है। गोपी-कृष्ण के बीच क्रीडा-विलास के रूप में अभिव्यक्त प्रेम ही रस का उत्कृष्ट रूप है। यह रस आपाततः एवं क्रियातः कामरूप है, पर काम नहीं है।[5] काम न होकर, यह शुद्ध प्रेम-

---

१. 'कुम्भनदास' : पद २९५।

२. नमो नमो आनन्दघन सुंदर नंदकुमार। रसमय रस-कारन रसिक, जग जाके आधार॥
है जो कछू रस इहि संसार। ता कहं प्रभु तुम ही आधार॥
ज्यौं अनेक सरिता जल बहै। आनि सबै सागर में रहै॥
जग में कोउ कवि बरनौ काही। सो जसु रस सब तुम्हरी आही॥"
नन्ददास-ग्रन्थावलि : रसमंजरी : पृ० १४५।

३. "ऐसेहि रूप प्रेम रस जोहै। तुम तैं है तुम ही करि सोहै॥
रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौं निधरक बरनौ ताहि॥" वही, पृ० १४५।

४. "तुव जस रस जिहि कवित न होई। भीत्ति-चित्र सम चित्र है सोई॥" वही, पृ० ११८ : रूपमंजरी।

५. "सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस।
जाकै रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस॥" श्रीकृष्णसिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ० ४८, नंद० ग्रं०।

रस है।[1] प्रेम-रूप होने के कारण इसका स्थायी भाव रति कहा जा सकता है। इसका परम एकान्त मधुर रूप शृंगारमय है और इसी रूप में यह परम-रस या महा-रस कहा जा सकता है।[2]

यह प्रेम-रस अनिर्वचनीय आनन्द है।[3] मेघ की तरह सघन घुमड़ कर बरसने वाला है।[4] यह मोहक, द्रावक एवं स्तम्भक है।[5] पर स्वयं नर्तित, चेतन एवं क्रीडामय है।[6] रस स्तब्ध सागर नहीं, तरंगायित प्रेमाब्धि है।[7] नदी की धारा की भांति गतिमत् एवं अबाध्य है।[8]

ज्ञान की चरम दशा और प्रेमरस की चरम दशा एकसी है। प्रेम-तत्त्व कृष्ण के समान ही सघन सच्चिदानन्द है[9], अखंड चिद्रूप है,[10] परा से भी इस कारण उत्कृष्ट है कि अत्यन्त निर्वृत्त होते हुए भी अत्यन्त रमणीय भी है।[11] यह प्रेम रंगीला है और कृष्ण-वशीकारी है।[12] कृष्ण इस प्रेम से अपने लीलामय रूप में प्रकट होता है।[13] अतः प्रेम और रस या प्रेम और कृष्ण अभिन्न हैं।

"तैसेंइ गोपी प्रथम काम अभिराम रसीं रस।
पुनि पाछैं निःसीम प्रेम जिहि कृष्ण भए बस॥" वही, पृ० ४६।
"तैसेहिं ब्रज की बाम कामरस उत्कट करिकैं।
शुद्ध प्रेममय भईं लईं गिरिधर उर धरिकैं॥" वही, पृ० ४६।
"जे पंडित शृंगार ग्रन्थ मत यामें मानै।
ते कछु भेद न जानैं, हरि कों विषयी मानैं॥" वही, पृ० ४१।

१. "शुद्ध प्रेम मय भईं, लईं गिरिधर उर धरि कैं।" नन्ददास ग्रन्थावली, श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ० ४६।
२. "सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस।" वही, पृ० ४६।
३. "सो रस कैसे बरनि सकै कहं ऐसो को कवि।" वही, रासपंचाध्यायी, पृ० २३।
"यह अद्भुत रसरासि कहत कछु नहिं कहि आवै।" वही, पृ० २४।
४. "मनो सघन अनुराग धरा उमड़त घुमड़त रस।" वही, पृ० ३३।
५. "अद्भुत रस रह्यौ रास, गीतधुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली, सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।" वही, पृ० २३।
६. "कुहिकि कुहिकि मनो नाचत मंजुल मोर भर्यौ रस।" वही, पृ० ३३।
७. "कमलनैन प्रिय कौं हिय सुन्दर प्रेम समुद जस।
पूरन शशितनु निरखि हरषि बाढ़ी तरंग-रस।" वही, श्रीकृष्णसिद्धान्तपंचाध्यायी, पृ० ४०।
८. "नाहिन रुकी रस-धुकी जाय सो मिलीं तहां सब।" वही, पृ० ४०।
९. "सघन सच्चिदानन्द नन्दनन्दन ईश्वर जस।
तैसेइं तिनके भगत जगत में भये भरे रस।" नं० ग्रं०, श्रीकृष्ण सि० पं०, पृ० ३९।
१०. "जैसोइ कृष्ण अखंड रूप"। वही, पृ० ४५।
११. "सुन्दर अति निरवृत्त परा तें इती बड़ाई।" वही, पृ० ४०।
१२. रसवर को रस प्रेमरस जाके बस बलबीर।" वही, अनेकार्थमंजरी, दोहा ११९। पृ० ६४।
१३. "जदपि अगम तैं अगम अति निगम कहत हैं जाहि।
तदपि रंगीले प्रेम तैं निपट निकट प्रभु आहि।" रूपमंजरी, छंद ५३४, पृ० १४३।

विरह इस प्रेम-रस का उच्छलन है और वह भी आनन्दमय है ।[1] यह प्रेम-रस अपनी विशुद्धता के कारण ही 'उज्ज्वल रस' कहलाता है ।[2]

यह प्रेमरस लक्ष्मी को भी अप्राप्य है ।[3] शेष इसका गान करने में असमर्थ हैं, शिव इसका अन्तर्मुखी ध्यान करते हैं, शारदा को यह अत्यन्त प्रिय है ।[4]

गोपी-कृष्ण के बीच उद्भासित होने वाला यह लीला-रस समस्त रसों का सार है ।[5] यह रसात्मकता की परम अवधि है ।[6] यह 'परम कान्त एकान्त भक्ति-रस' है ।[7] यह केवल हरिलीला-गान से ही प्रेमी भक्तों को उपलब्ध होता है ।[8]

यह गोपी-कृष्ण का प्रेमरस, जिसे रासरस, प्रेमरस, सुरतिरस, लीलारस जैसे अनेक शब्दों द्वारा वर्णित किया जाता है, नन्ददासजी के शब्दों में 'रस-वस्तु' है जिसका आस्वादन रसिक भक्त करता है । इसकी अनुभूति के लिये भावक-हृदय में अभीष्ट सरसता आवश्यक है । नन्ददासजी उसका निरूपण इन शब्दों में करते हैं :

"परम प्रेम-पद्धति इक आही । नन्द यथामति बरनी ताही ।।
जाके सुनत गुनत मन सरसै । सरस होय रस-वस्तुहिं परसै ।।
रस परसे बिनु तत्त्व न जानै । अलि बिनु कवंलहिं को पहिचानै ।।"[9]

"भगवत्प्रेम-गान सुनने-गुनने से सरसता आती है । सरसता आने पर ही हृदय रस-वस्तु का स्पर्श कर सकने की क्षमता पाता है । जब तक हृदय सरस होकर रस-वस्तु में नहीं डूबता, रस-तत्त्व को नहीं पा सकता । अतः सरस हृदय ही रस का आस्वादन करता है । भौंरे के बिना कमल-रस की सच्ची पहचान किसे हो सकती है ।"

'आछै हिय' अर्थात् सहृदय-हृदय में ही कवि की रसमयी वाणी और तरुणी के कटाक्ष सु-अग लगते हैं :

"कवि अच्छर अरु तरुनि कटाछैं । दोऊ सुलग लगैं हिय आछैं ।"[10]

---

१. "कृष्ण-विरह नहिं विरह प्रेम-उच्छलन कहावै ।
निपट परम सुखरूप इतन सब दुख विसरावै ।" श्रीकृष्णसिं० पं० : वही, पृ० ४३ ।

२. "व्रजदेविन कौ शुद्ध प्रेमरस प्रगट करन हित ।" वही, पृ० ४२, छंद ५१ ।
"यह उज्ज्वल रसमाल कोटि जतनन करि पोई ।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि जिनि तोरौ कोई ।" रासपंचाध्यायी, छंद ४०, पृ० २५
"उज्ज्वल प्रेम उजागर, सब गुन आगर नागर ।" वही, पृ० ३४, छंद ९१ ।

३. "जदपि पद-कमल अमल कमला सेवति निसिदिन ।
यह रस अपनै सपनै कबहुं नहिं पायौ तिन ।" वही, पृ० २४, छंद ३३ ।

४. रासपंचाध्यायी, पृ० २४, नं० ग्रं०, छं० ३०-१ ।

५. "सब रस कौ निर्तास रासरस कहिए सोई ।" रासपंचाध्यायी, पृ० ३९, छंद १२ ।

६. "यह लीला गोपाल की परम रसावधि ।" वही, पृ० ३७, छंद ११६ ।

७. "हरिदासन कौ संग करै हरिलीला गावै ।
परम कान्त एकान्त भगतिरस तौ भल पावै ।" वही, पृ० ३७, छंद ११८ ।

८. वही, पृ० ३७, छंद ११८ ।

९. रूपमंजरी, पृ० ११७, नं० ग्रं० ।

१०. वही, पृ० ११८ ।

यह भक्ति-रस के आस्वादन के लिए अपेक्षित सहृदयता नन्दनन्दन के ढरने पर ही मिलती है।[1] अतः यह परम रस उन्हीं भावुक रसिकों से कहने-सुनने की चीज़ है जो श्रद्धा-युक्त होकर आस्तिक एवं प्रेमधर्मानुयायी हैं।[2]

रसानुभूति में आत्म-विगलन होता है, मन इसमें डूबकर और डूबता ही चला जाता है जैसे चहले में पड़ा हाथी।[3] इस रस की अनुभूति में एक मादकता, एक मस्ती होती है। साथ ही होती है एक विस्मृति जिसमें सब-कुछ भूल जाता है।[4]

हरिरस सगुण-साकार है। अतः भावक की मनस्तृप्ति ही नहीं करता, इन्द्रिय-तृप्ति भी करता है। मन में मतवालापन, आँखों में रूप का खुमार, कानों में नाम की गूंज, तात्पर्य यह कि रसानुभूति में आत्म-व्यक्तित्व की सर्वतोभावेन डुबकी है।[5]

भक्ति-रस 'अमीरस-सरोवर' है, मोक्षादि के सुख इस पर निर्भर करते हैं।[6] काव्य में यही रसमय ब्रह्म प्रकट होता है तो काव्य रसमय बन जाता है।[7] इस प्रकार के काव्य की रचना कोई सरस कवि ही कर सकता है, वह भी रसमयी सरस्वती की कृपा से।[8]

रसमयी वाणी हृदय पर अवश्य प्रभाव डालती है। जिस हृदय पर इसका प्रभाव न हो उसपर फिर अर्जुन का बाण भी चोट न कर पायेगा।[9] इसीलिए कवि की कामना रहती

---

१. कब मो पर नन्दनन्दन ढरिहैं। मधुर कटाक्ष चितै रस भरिहैं।" भाषादशामस्कन्ध, पृ० २७०।

२. "हीन असर्ध निंदक नास्तिक धर्म बहिर्मुख। तिनसौं कबहुँ न कहै, कहै तौ नहिंन लहै सुख।
भगवत-जनन सौं कहु जिनके भागवतधरम बल। ज्यौं जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन-जल॥"
रास० पं० : पृ० २४, छन्द ३७-८।

३. "गड्यौ जु मन पिय प्रेमरस क्यौं हूं निकस्यौ नाहिं।
कुंजर ज्यौं चहलैं पर्यौ छिन छिन अधिक समांय।" रूपमंजरी, पृ० १२७।

४. "ताकैं रूप अनूप रस हौं बौरी मेरी आलि।
आज तनक सुधि परन दै सबैं कहौंगी कालि।" रूपमंजरी, पृ० १२९, छंद २४५।
"भूत छिपे मदिरा पिये सब काहू सुधि होय।
प्रेम सुधारस जो पिवै तिहि सुधि रहै न कोय।" वही, पृ० १३८, छन्द ४२३।

५. "हरिलीलारस मत्त मुदित नित विचरत जामैं।" रासपंचाध्यायी, पृ० ३।
"कृष्ण रसासव पान अलस कछु धूम धुमारे।" वही, पृ० ३।
"स्रवन कृष्न रस भवन।" वही, पृ० ३।
"हिय सरवर रस पूरि चली मनु उमगि पनारी।" वही, पृ० ४। छंद १०।

६. "तुम्हारी भगति अमीरस सरवर। मोक्षादिक जाके सब निर्भर।" भा० दशमस्कन्ध, पृ० २६९।

७. "जो कोउ जोति ब्रह्ममय रसमय सबही भाइ।
सो प्रगटित निज रूप करि इहि तिसरे अध्याय।" भाषा दशम स्कन्ध : पृ० २३१।

८. "रसमय सुरसुति के पग लागौं। अस अक्षर द्यौ इहि बर मांगौं।
सुन्दर कोमल वचन अनूठे। कहत सुनत समुझत अति मीठे।
नाहिन उघरे गूढ न ऐसे। म हठ देस बधू कुच जैसे॥" रूपमंजरी, पृ० ११८, छंद २३-२५।

९. "जो हिय अच्छर-रस नहिं भिदै। सो हिय अर्जुन बान न छिदै।
कवि तौ तेइ पाहन सम मानै। नहिन पखान पखान बखानै।" वही, पृ० ११८।

है कि उसकी रसमयी वाणी किसी सहृदय के ही कान पड़े, नहीं तो उसकी वाणी को पश्चात्ताप करना होगा।[१]

यह हरिलीला-रस हिल्लोल लेता हुआ अगाध सिन्धु है।[२] निगमकल्पतरु का परिपक्व फल है जिसमें न बीज है न छिलका। है तो केवल रस, एकमात्र रस।[३]

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदासजी के अनुसार श्रीकृष्ण रस-रूप हैं, रस-राशि राधा उसी रस-तत्त्व का अंकुर हैं।[४] यों श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला, प्रत्येक रूप रसमय है, किन्तु ललित किशोर की ललित लीलाओं का रस तो महारस है। इसके आस्वादन से मन अपनी गति विसर जाता है।[५]

इस लीलारस में काम और प्रेम एकरस हो गये हैं।[६] वस्तुतः रतिक्रीड़ा से संयोग होने पर ही 'रस' का रंग गहरा होकर व्यक्त होता है।[७] अतः इस लीलारस में स्वयं श्रीकृष्ण आसक्त होते हैं।[८]

यह रस काव्यरसों के समान त्रिगुण-सम्पन्न नहीं, अगणित गुण-सम्पन्न है।[९] भाषा और संगीत का माधुर्य इसमें आनायास एवं सहज अन्तर्निविष्ट है।[१०]

श्रीकृष्ण अपने इसी मधुर लीलारस का वर्षण करते रहते हैं, रसिक भावक इसका

---

१. "पुनि कवि अपने मन में गुनै। मो कवित्त कोउ निरस न सुनै।
रस-विहीन जे अच्छर सुनहीं। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं।" वही, पृ० ११८।

२. "हरिलीला रस सिन्धु हिलोलै।" भा० द० स्क० : पृ० २२९।

३. "निगम कल्पतरु कौ सुफल बीच न बकला जाहि।
कहन लगे रस रंगमगे सु दर श्रीसुक ताहि।" भा० द० स्क० : पृ० २२०।
"निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" इत्यादि श्रीमद्भागवत।

४. "रूपराशि रसराशि रसिकिनी नव अंकुर अनुरागमई।" चतुर्भुजदास, पद १७।

५. "उतहिं समाज गोपाल सौं भरे महारस खेलैं।" वही, पद ८१।
"सुरंग गुलाव अबीर फटे भरि भिरत महारस माते।" वही, पद ९२।

६. "रतिपति रसरंग सहित तन निहारती।" वही, पद २८५।
"रतिरसपागे स्याम श्रीस्यामा स्रवन सुनत सुखकारी।" वही, पद ३२३।
"रतिरंग-रस पलटाए बसना।" वही, पद ३३९।

७. "चत्रुभुज स्याम तमाल पर लपटी कनक बेलि।
मानौ रतिरन चढ्यौ प्रेमरंग रसबोरें।" वही, पद २०७।

८. "चत्रुभुज प्रभु लीलारस रीझत गिरिधरलाल रसिक-सिरमौर।" वही, पद १६५।
"क्रीडा-रस बस मगन, आनंद उर न समाई।" वही, पद ८०।
"खेलत अति रसभरे मगन मन नवल किसोर रु नवलकिसोरी।" वही, पद ९१।
"सुरंग गुलाल अबीर फेंट भरि फिरत महारस माते।" वही, पद ९२।
"चत्रुभुजदास प्रफुलित राधा-रस फूले गोवर्धनधारी।" वही पद ९९।

९. "अगनित गुन रस गान करति हैं।" वही, पद १३९।

१०. मधुरे सुर कर बीन बजावैं।" वही, पद १३९।

पान करते हैं ।[1] यह रस मोहक एवं संसार-गति का स्तम्भक है ।[2] इस मूर्त रस का पान करते तृप्ति नहीं होती ।[3] इसकी अनुभूति में तन डूबता है, इन्द्रियाँ डूबती हैं, प्राण डूबता है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय सब उसमें घुलकर तदाकार हो जाते हैं ।[4] श्रुति और आर्य-पथ की स्वीकृत मर्यादाएँ टूट जाती हैं ।[5] बस एक घनीभूत रस-वशता ही अनुभूति में रह जाती है ।[6] इस अवस्था को चतुर्भुजदासजी ने 'रसभीनी' अवस्था कहा है । यह रसभीनी दशा अनिर्वाच्य है । ऐसा कौन समर्थ कवि है जो इसका वर्णन कर सके ।[7] इस रसिक रसराशि की यह रसभीनी अनुभूति परम दुर्लभ एवं बड़े सौभाग्य की बात है ।[8]

इस प्रकार चतुर्भुजदास के अनुसार रस-तत्त्व लीलामय श्रीकृष्ण है । अतः रस एक साकार घनीभूत अनुभूति है जिसमें व्यक्तित्व का आत्म-विगलन है ।

गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामी ने अपने काव्य में अनेक बार रस शब्द का प्रयोग किया है, पर उन प्रयोगों से कोई विशिष्ट रस-सिद्धान्त नहीं झलकता । संक्षेप में उनका जो गेय रस है वह है कृष्णलीला-रस ।[10] यह रस केलिमय एवं परम पावन है । अकथ्य एवं मंगलकारी है । यह लीलारस बालकेलिमय भी है, किशोरकेलिमय भी ।[11]

---

१. "खसकि कंचुकी, पिय सरसत परसत, बरसत रस दृग-कोरें ।" चतुर्भुजदास, पद १२९ ।
"रूपसुधारस पान कौं सादर कुमुद चकोर हो ।" वही, पद २४६ ।

२. चतुर्भुज प्रभु स्यामास्याम की नटनि देखि ।
मोहे खग मृग वन, व्योम थकित विमान ।" वही, पद ३१ ।
"रासरस गति निरखि उडुपति तजि पच्छिम चाल ।" वही, पद ३३ ।

३. "चतुर्भुज प्रभु गिरिधर कौ रूप-रस पिवत नयन पुट तृपिति न पावत ।" वही, पद १२७ ।
"नैन रूपरस भरे बारंबार निहारि ।" वही, पद ८० ।

४. "स्याम सिन्धु में परौ प्रान कौं बेरौ ।" वही, पद २५६ ।

५. चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस अटकी श्रुति मर्यादा पेली ।" वही, पद २७५ ।

६. प्रेम-मगन रस-बस भई स्याम मनोहर नारि ।" वही, पद ९० ।

७. "गोवर्धन पूजि सबै रस-भीने ।" वही, पद ४७ ।

८. "चतुर्भुज प्रभु रस-रासि रसिक की बानक बरनै को ऐसो कबि ।" वही, पद १८८ ।

९. "चतुर्भुज प्रभु रसरासि रसिक कौं बड़े भाग बल इकटकु पेखें ।" वही, पद ३५२ ।

१०. "लीलारस सुख निहारि तनमनधन प्रान वारि,
गोविंद प्रेम अखिल केलि जगत पावनी ।" गोविन्दस्वामी, पद ६५ ।
"गोविंद प्रेम इह रस कहां लौं बखानौं,
जोई करि रहत ध्यान सोई क्यौं न जानौं ।" वही, पद १४२ ।
"नंदसुवन गोविंदप्रभु की यह लीला मंगलकारी ।" वही, पद १४३ ।
"इहि लीलारस वहां लौं बरनौं निगम न पावै पारजू ।" वही, पद १७२ ।

११. "विविध केलि क्रीडत रसभीने सखा संग लिये लाल कन्हैया ।" वही, पद ५३२ ।
"निर्तत दोऊ भाई रंग ।" वही, पद ३२८ ।

कृष्ण, राधा, गोपियाँ, राधा-कृष्ण के केलि-विलास, कामोल्लास सभी कुछ रसरूप है। गोविन्दस्वामी ने काम, प्रेम, आनन्द, उल्लास के मिले-जुले अर्थ में अनेकश: रस-शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस रस में माते राधा-कृष्ण, गोपियाँ सभी वर्णित हैं।[2] उधर राधा एवं गोपियाँ कृष्ण-रसासव में मत्त हैं, इधर कृष्ण भी रूप-रस छाके राधारस-लंपट चर्चित हैं।[3] आनन्द-निधि कृष्ण मदनरस-लंपट और दाम्पत्यरस-मूर्ति के रूप में रास-रस में निमग्न होते हैं, गोपियाँ इस चरम आनन्दमय रस का आस्वादन करती हैं।[4]

गोविन्दस्वामी की यह रस-दृष्टि मधुरोपासना का गहरा प्रभाव लिये हुए है।

छीतस्वामी

छीतस्वामी ने रसशब्द का अधिकांश प्रयोग गोविन्दस्वामी के समान ही काम, प्रेम, आनन्द, केलि, उमंग के अर्थों में किया है। नीचे के प्रयोग इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं :

१, २. "गोविंद प्रभु करत केलि भामिनी रससिन्धु झेलि।" वही, पद ५२।
"जय जय सुर सब कहत आनंदरस भीनी।" वही, पद ५२।
"उमंगत रस ग्रीवभुजा नाचैं स्यामा स्याम।" वही, पद ६१।
"नवल कुंवरि व्रजराइ के लाल खेलत रसभरे भरे होरी हो।" वही, पद ११७।
"अति रसभरी व्रजसुन्दरी।" वही, पद १२५।
"वल्लभ खेलै हो अति रसरंग भरे होरी।" वही, पद १३३।
"दंपति अति रसभरे बांहजोरी बीनत कुसुम कालिंदी तटा।" वही, पद १७२।
"रसरंग केलिविलास लाल रंग-भीने हो।" वही, पद २६१।
"चार पहर रसरंग किये रंग भीने हो।" वही, पद २६१।
"गजगति चाल चलति व्रजसुंदरि लटकट स्याम रसमत्त पियारी। वही, पद ३९३।
"रसबस करत प्रेम की बतियां हंसि हंसि देत परस्पर तारी।" वही, पद ३१०।
"गौर स्याम तन अधिक विराजत अरस परस रस उमगि भरी।" वही, पद ४०३।
"जमुना पुलिन सुभग वृन्दावन गिरि गहवर रस-खेलि।" वही, पद ४०९।
"गोविन्द प्रेम रसबस करि तोरि तोरि जोरि जोरि अवलोकत।" वही, पद ४२३।
"गविन्द प्रभु रसमत्त परस्पर चले ही जहां-तहां कुंज अंधेरी गली।" वही, पद ५४२
"गोविन्द प्रभु प्यारी जु परस्पर रसमत्त लीन।" वही, पद ३११।

३. "स्याम सलोने अति रसलंपट धसि पिय लीनी हाथ।" वही, पद ११५।
"रूपरस छाक्यौ कान्ह करत न काहू की कानि।" वही, पद ११९।

४. "स्रमकन वदन, मदनरस लंपट राधा रसिकिनी नंदकुमार।" वही, पद १९७।
"गोविंद प्रभु दंपति रसमूरति प्रेमरस पागी।" वही, पद ४५७।
"गोविंद प्रभु दंपति रसमूरति दृष्टि सों भरत अंकवारी।" वही, पद ४६३।
"खेलत रास रस रसिक राधिका गुपाललाल।" वही, पद ६३।
"सानुराग क्रीडत रस उपजत भारी।" वही, पद ६३।
"रास-रस।" वही, पद ५२, ५७।

१. गिरिधर रस-बस करि लीने ।[1]
२. खेलत अति रस जु रह्यौ रसना नहिं जात कह्यौ ।[2]
३. पाइ परि द्वार पठै दये रस की रासि विचारि ।[3]
४. रसबस सुखरास रसरास ब्रजजन चित चोरैं ।[4]
५. छीतस्वामी गिरिधर बने नटवर मानो जुवति-रसबस-फंदनि ।[5]
६. गोवर्धनधारी लाल कीन्हीं रस ही में बस ।[6]
७. श्रीगोपेन्द्र गोपी संग, स्रमजलकन सिक्त अंग,
अति तरंग निरखि नैन रस-सुफंदिनी ।[7]

इसके अतिरिक्त प्रेम-पद्धति, आनन्द की साकार अनुभूति, कथारस, नामरस, रासरस, भक्ति, भगवत्कृपारस, कृष्णरस आदि के रूप में रस-शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[8]

इन प्रयोगों से कोई साक्षात् प्रकाश नहीं पड़ता । असाक्षात् रूप में उनकी चर्चाओं से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका रस-तत्त्व भी लीलामय श्रीकृष्ण है, जिसकी क्रीड़ा, विलास, लीला सब रसमय हैं । गोपी प्रेम आपाततः कामरूप होकर भी काम नहीं, विशुद्ध प्रेम रस है । यह रस साकार आनन्द है । इसकी भक्ति भी परम मधुर एवं रस-मयी है ।

श्रीभट्टजी

युगल-शतक के ३८वें पद की निम्न पंक्तियों के आधार पर श्रीभट्टजी के वर्णित रस की एक असाक्षात् रूप-रेखा बँधती है :

---

१. छीतस्वामी, पद ५ ।
२. वही, पद ५३ ।
३. वही, पद ५७ ।
४. वही, पद ६३ ।
५. वही, पद ८४ ।
६. वही, पद १४९ ।
७. वही, पद ८१ ।
८. (क) "श्रीवल्लभ चरन सरन आइ सब सुख तू लहि रे ।
इनही के रूप-रंग, इनही रस बहि रे ।" वही, पद १७४ ।
"या रस के प्रतिबन्धक जेते उनि बातनि अनदरि रे रसना ।" वही, पद १८५ ।
(ख) "नैन चकोर पीवत रस अमृत तन की तपति मिटाए री ।" वही, पद ३० ।
"देखन कौं जुरि आईं सबै तिय मुरली नाद सुधारस गटकति ।" वही, पद १३१ ।
"अधर अमृत रस पीवति प्यावति छवि क्रीडति तरंग ।" वही, पद १५८ ।
(ग) "जब लगि श्रीभागवत कथारस तब लगि कलजुग नाहीं ।" वही, पद ४२ ।
"श्रीविट्ठल नामरस अमृत पान सदा तू करि रे ।" वही, पद १८५ ।
(घ) "छीतस्वामी रस रास-रसिक कौ भाग बड़े फल इकटक पेखु ।" वही, पद ८३ ।
(ङ) "पाइं परि द्वार पठै दये रस की रासि विचारि ।" वही, पद ५७ ।
(च) "छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल भक्तकृपारस भीनौ ।" वही, पद ९, ११२ ।

"निरखि हिताई दुहुन की हाव-भाव हिय धारि।
सजि आरति वारति सबै प्रात मुदित सहचारि ॥
हिय में हाव-भाव लिये थारा।
रति घृत ज्योति रु बाति विहारा ॥
तन मन मुक्ता चौक पुरावैं।
आरति श्रीभट अमित प्रचावैं ॥"[1]

इस पद के अनुसार विभिन्न रस-सामग्री को इस रूप में रखा जा सकता है :

विभाव—आलम्बन	युगल-प्रेम। दुहुन की हिताई।
उद्दीपन	हाव-भावादि युगल-क्रीड़ाएं, विहार-विलास
आश्रय—सहचरी-हृदय	हिय-धारा।
स्थायी भाव—	रति

श्रीभट्टजी के उक्त पद में आरती का रूपक है। सहचरी के हृदय रूपी थाल में युगल-विहार की ज्योति और बत्ती तभी प्रकाशित होती है जब उसे सहचरी का रत्यात्मक स्नेह मिलता है। तब तन और मन का, अन्नमय और प्राणमय का चौक पुरा कर उसमें आराध्य को बिठा कर आरती उतारी जाती है। आराध्य रसमय कृष्ण-राधा तन-मन में समा जाते हैं, उनका लीला-विहार हृदय में ज्योतित होकर भर जाता है। यही श्रीभट्ट का रस है।

श्रीभट्ट के इस रस के स्थायी भाव सहचरी-रति में दम्पति के हित-करण की एक चाढ़, एक लालसा होती है; उन्हीं के सुख-विलास का दर्शन सहचरी की रसोपलब्धि है :

"रस की रेलि वेलि अति बाढ़ी।
दम्पति की हित-बावरि विहरति, रहौ सदा मेरे चित चाढ़ी।"[2]

सहचरी का आस्वाद्य यही निकुंज-रस है :

"सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास।
नव निकुंज रस पुंज छवि श्यामा-श्याम निवास।"[3]

"श्रीभट्टजी के अनुसार रस की अनुभूति में एक विवशता एवं सर्वस्व-विगलनात्मक आनन्द है :

"सर्वस तजि रस-वश भये नैंन कोरे तन चाहि।"[4]

सहचरी के उक्त आस्वाद्य रस का विभाव है युगल-रस। राधा और कृष्ण दोनों स्वरूपतः रस-सिन्धु हैं,[5] तत्त्वतः दोनों अभिन्न हैं। विश्वमूर्ति श्रीकृष्ण महारस हैं।[6]

---

१. युगलशतक, पद ३८।
२. वही, पद ७८।
३. वही, पद ७४।
४. वही, पद ६४।
५. "श्रीवृन्दाविपिनेश्वरी रस-सिन्धु विहारी।" युगलशतक, पद ६६।
६. "महारसो विश्वमूर्तिः श्रीकृष्णः शरणं मम।" श्रीकृष्णशरणापत्तिस्तोत्र : श्रीभट्टकृष्ण : श्लोक २२।
युगलशतक, पृ० ४६।

इनका प्रेम-विहार ही बत्ती और ज्योति के रूप में सहचरी के हृदय में उद्भासित होता है।

इस विभाव रस में राधा कृष्ण की आस्वाद्य हैं, कृष्ण राधा के।[1] कृष्ण राधा-रस के लम्पट हैं और नाना केलि-क्रीडाओं के बहाने इस रस का आस्वादन करते हैं।[2] साथ ही वे इन केलि-क्रीडाओं को राधा को सुख देने के उद्देश्य से करते हैं।[3] राधा और कृष्ण जिस रति-केलि में डूबे रहते हैं वह प्रेम-केलि नित्य है।[4] यह केलिरस परस्पर एक-दूसरे के वशीकरण का दृढ़ फन्दा है।[5]

जिस काम-प्रेम-मय केलि में नव उमंग-उत्साह में युगल नित्य डूबे रहते हैं वह अन्य कुछ नहीं अपने रसमय स्वरूपामृत का ही आस्वादन है :

"श्रीभट भटू कटाक्ष करन सौं युगल स्वरूप-सुधारस सेवैं।"[6]

अतः इस ललित क्रीडाशील युगल रस का स्वरूप श्रीभट्टजी के अनुसार इस रूप में समझा जा सकता है :

"मत्त प्रेमवश सदा एकरस विविध निकुंज-निवासी।"[7]

इसी विभाव-रस की बत्ती एवं ज्योति सहचरी की रति के घृत की शक्ति से चरम प्रकाशमयी एवं आनन्दमयी होकर प्रकाशित हो उठती है, जिससे तन-मन सब झमझमा उठते हैं। यही रस है।

श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी

श्री हरिव्यासदेवजी की 'महावाणी' श्री भट्टजी के 'युगलशतक' में निहित सिद्धान्तों की व्याख्या समझी जाती है। महावाणी में भी सहचरी-आस्वाद्य युगल-रस का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. "मिलि कुंज-महल गोपाल लाउ प्यारे श्रीराधारस-वश जैवैं।" यु० श० : पद १७।
"राधारस-वश सांवरो सरवसु दियौ प्यारे।" वही, पद ६४।
"प्रीति-रीति रसवश भये यदपि मनोहर मैंन।" वही, पद ६८।
"श्रीभट हरिरसवश भई सुनि धुनि नैंक भनक ही।" वही, पद १२।
"सांवरे चन्द गोविन्द के रसभरी दूसरी कोकिला मधुर सुर बोलै।" वही, पद ६७।

२. "कहैं श्रीभट नटवर रस-लंपट प्रियतन हाथन डारी।" वही, पद ३६।
"दान-केलि मिस रस चखत श्रीभट श्रीगोपाल।" वही, पद ३६।

३. बहुत रूप धरि हरि प्रिया-मनरंजन रस हेत।
मनमथ मनमोहन मिथुन मण्डल मधि छवि देत।" वही, पद २३।

४. "प्रेम-प्रवाह रसिक जन प्यारे कबहुं न छांड़त पास।" वही, पद १०।
"श्रीवृन्दावन खेलहीं रस-सिन्धु विहारी।" वही, पद ७७।
"सूंघत सौरभ लिये कमल कर रतिरस प्रियतम प्यारी।" वही, पद १६।
"कनक कटोरे डारि नग पगे प्रेमरस जाल।
पै पीवत कै खेलहीं द्यूत खेल दोउ लाल।" वही, पद २१।

५. वही, पद ५३—"श्रीभट प्रेमरस बन्धन क्यौं छूटै दृढ़ फन्द।"

६. वही, पद १७।

७. वही, पद ५।

चिदानन्द-घन रसमय वृन्दावन[1] में रस-स्वरूप राधा और कृष्ण[2] की रसमयी विहार लीलाएँ नित्य चलती हैं। रसभरी रसीली रसिक राधिका और राधारस-लम्पट श्रीकृष्ण[3] की रसलीला काम-प्रेम का एकरस घोल है।[4] इस परस्पर रति-लीला के सागर में न जाने कितनी भाव-तरंगें उठती रहती हैं[5] और इसमें निरन्तर नित्य लीन रहने वाले रसिकों को आनन्दित करती रहती हैं। नित्य लीन रहने पर भी रसिकों को इस रस से तृप्ति नहीं होती।[6] इस केलि-क्रीडा की प्रत्येक तरंग रसमय है, रसरूप है।[7] निम्न पद में रस का यह रूप इस प्रकार वर्णित है :

"विहरत जुगल दिये भुज-ग्रीवां।
सुन्दरता-सौभाग्य-सिरोमनि रस की रासि रूप की सीवां।
हाव-भाव आलिंगन चुम्बन देत परस्पर प्रीतम प्यारी।
अति अधीर अनुराग बिवस दोउ सुरत-रंग रंग-रंगे महा री।
रसमय रसिक रसीली भामिनि, रसमय रसिक रसीली केली।
रसमय रहसि निरखि हरषत हिये रसिक हितू हरि प्रिया सहेली।"[8]

इसी रसमयी काम-केलि के उल्लास-उमंग मिलन-प्रेम सम्बन्धी विविध पक्षों को प्रकाशित करते हुए हरिव्यासदेवजी ने महावाणी में रस शब्द का अनेकशः प्रयोग किया है।

---

१. "जय श्रीवृन्दावन धाम। चिदानन्द घन पूरन काम।
मान बिरह भ्रम कौ न लेस जहां रसिक ाय कौ रसमय भौन।" महावाणी, पृ० १३३।

२. "राधाकृष्णमहं वन्दे रसरूपौ रसायनौ। वृन्दावननिकुंजेषु नित्यलीला समाश्रितौ।"
सुरत-सुख : वन्दना : वही।

३. "रसिक रसीली रसभरी अलबेली सुकुमारि।" वही, सेवासुख।
"श्रीराधारमनी रसरूपा अमित अनूपा अंग।" वही, सेवासुख, पृ० २७, पद १५।
"महामधुररस लालची" वही, पृ० ७४।
"केवल रस ही में रम्यौ री रसिया परम प्रवीन।
मैं हूं ता विन कछू न मानत वाही रस लवलीन।" वही, उत्साहसुख, पृ० ७४, पद ४१।

४. "करत हैं दंपति सुखसंपति अति रसिक रसिकिनी रतिरस केलि।" वही, सेवासुख, पृ० २६।
"मदन केलिरस मत्त मगन भये मन न समावत मोद।" सेवासुख, पृ० ३७, पद ४१।
"भुज सिरहाने दिये हिये सौं लगाये हिये प्रेमरस पिये पलकें लग गईं।" वही, पृ० ४३।
"श्रीहरि-प्रिया प्रेमरस-रंजन संजन सुरति विहारे।" वही, पृ० ५९, पद २२, उत्साहसुख।

५. छिन छिन नव नव भाव-तरंगनि अंग अनंगनि के सरसंत।" सिद्धान्तसुख, पृ० १७५।
"पल पल में बढ़ै चोज सहज सुरतिरंग उपजत अति चाव-हाव-भाव-भृकुटिभंग।" पृ० २४।
"वितवत दिन विलसत सुखहि इकरस भरे उमंग।" सुरतसुख, पृ० १३९, पद ५०।
"याही रस में मगन निरन्तर नहिं जानत कित रजनी भोर।" वही, पृ० २९, सेवा० १९।

६, ७. "अति रसभीनी होरी हो।" वही, उत्साहसुख, पृ० ६५, पद ३१।
"जलक्रीडा-रस सौं दोउ सहज सुभग उर लागे।
सुरत सहित श्रीहरि-प्रिया अतन अंग अनुराग।" वही, उत्साहसुख, पृ० ८२, पद ६५।

८. महावाणी, पृ० १४३, सुरतसुख, पद ७७।

यह 'मधुर रस' मिष्ट से भी मिष्ट है।[1] महा मधुररस लीलामय कृष्ण का काम-रूपात्मक प्रोद्भास है।[2] यह रसामृत सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है।[3] रस नित्य प्रकाशरूप है, बाह्य क्रीडाएँ-चेष्टाएँ अंग-अंग में प्रकट होने वाला उसी प्रकाशमय आनन्द-तत्त्व का प्रभास है।[4]

इस रस में राधा-कृष्ण, सहचरी, वृन्दावन सब मूलतः एक अभिन्न अद्वय तत्त्व होते हुए भी रसात्मक स्वरूप में नित्य अलग-अलग व्यक्त होते हैं। प्रिया राधा आह्लादिनी शक्ति हैं, प्रिय कृष्ण आनन्द-स्वरूप हैं। वृन्दावन उनका स्थूल शरीर है, सहचरियाँ इच्छारूपा हैं।[5] आनन्द की आह्लादिनी राधा हैं तो आह्लादिनी के आनन्द कृष्ण।[6] और इस प्रकार यह रस एक सरिता के रूप में नित्य प्रवाहित होता रहता है।[7] इसी सरिता में अवगाहन करने वाली रसिक-रस-रसी सहचरियाँ हैं।[8]

इस रस के आस्वादन के लिये एक विशेष प्रकार के सहृदय की आवश्यकता है। कामरूप में भासित होने वाले मधुर रस की साधना अत्यन्त कठिन है। अतः यह रस दुर्लभ से भी दुर्लभ है। हरिव्यासजी के अनुसार ऐसा दूभर रस हर एक के लिए प्रकाशनीय नहीं है, परिपक्व पात्र में ही ऐसे सुन्दर पेय को रखना चाहिये। अन्यत्र विकृति की ही सम्भावना है :

"महा मनोभव भासि भूलि जिनि देहु शठहिं कोऊ।
परम प्रेम परकाशि आस पद वास चहौ कोऊ।
परिपक भये भाजन बिना सुरंग ढारि दीजिये कहा।
श्रीहरिप्रिया को सर्व विभव दुर्लभ ते दुर्लभ महा।"[9]

---

१. "श्रीहरिप्रिया को रहसि रस मधुर मिष्ट ते मिष्ट।" महावाणी, उत्साहसुख, पृ० १२८।

२. "महामृदुल महा मधुर मधु महा रहसि रसरासि।
महा सुखद सर्बेस की महा मनोभव भासि।" सुरतसुख, वही, पृ० १४९।

३. "सच्चिदानन्द रसामृत को त्यक्त करि अन्य याते कछु अधिक मानैं।" वही, सि० सु०, १७१।

४. "नित्य रसरासि उल्लास आनंद उर, नित्य प्रतिकाश, परभास अंग अंग।"
सिद्धान्तसुख, पृ० १७६, पद १०।

५. "प्रियाशक्ति आह्लादिनी, प्रिय आनन्द सरूप।
तन वृन्दावन जगमगैं इच्छा सखी अनूप।" वही, सिद्धान्तसुख, पृ० १८४, पद १६।

६. "एक रूप सदा द्वै नाम।
आनन्द के आह्लादिनि राधा, आह्लादिनि के आनन्द सयम।
सदा सर्वदा जुगल एकतन एक जुगल तन विलसत धाम।
श्रीहरि-प्रिया निरन्तर नित प्रति कामरूप अद्भुत अभिराम।" सि० सु०, पृ० १८६, पद २९।
"स्याम-स्यामा सहज सुन्दर काम-रति कमनीय।" सि० सु०, पृ० १८८, पद ३५।

७. "सरिता रस शृंगार की रहनि सदा चहुं ओर।
इक छत राज करैं जु श्रीहरि-प्रिया जुगल किसोर।" सि० सु०, पृ० १८४, पद १६।

८. जय जय राधिका रसिक रसमंजरी, रसिक-सिरमौर मोहन विराजैं।
रसिकिनी रहसि रसधाम वृन्दाविपिन रसिक-रस-रसी सहचरि समाजैं।" सि० सु०, पृ० १७४, पद ६।

९. महावाणी, सुरतसुख, उपसंहार, पृ० १४९।

स्वामी हरिदासजी

स्वामी हरिदासजी के उपलब्ध पदों में रस के ऊपर प्रकाश डालने वाली विशिष्ट शास्त्रीय चर्चा नहीं है। उनकी रस-परिकल्पना पर अगले अध्याय में यथास्थान विचार होगा ही।

हरिदासजी ने रस-शब्द का प्रयोग अन्य मधुरोपासकों के समान ही प्रायः राधा-कृष्ण के केलि-विलास-मय प्रेम, सुरतजन्य आनन्द-उमंग आदि के लिये किया है। वे संगीत के आचार्य थे, अतः उनके पदों में संगीत-शास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, किन्तु युगल-रस की भावात्मक अनुभूति के प्रति उनका झुकाव था, उसके शास्त्रीय निरूपण की ओर नहीं। यदि यह झुकाव उनमें रहा होता तो संगीतशास्त्र की पारिभाषिक पदावली के समान काव्य-शास्त्र की भी पारिभाषिक पदावली यत्र-तत्र उनमें अवश्य मिलती।

हरिदासजी के अनुसार 'रस' प्रेम-प्राप्य है।[1] यह प्रेम निर्गुण के प्रति नहीं, सगुण कृष्ण के अन्य रूपों के प्रति भी नहीं, काम-प्रेममयी लीलाओं के अनुरागी रसिक कृष्ण के प्रति है। इस प्रेम-समुद्र में रूप-रस की अगाधता है, जिसमें एक बार घुसकर घाट लगना कठिन है। अपने जानपने का दावा करने वाले लोग यों ही धूल में मारते हैं।[2] ऐसा कौन सा कवि है जो राधा और कृष्ण के सौंदर्य एवं प्रेम को अंकित कर सके ?[3] सामान्य कवियों की तो बात ही क्या, कोटि-कोटि रसिक कवि भी मिल जाएँ तब भी उस रूप निधि का शब्दांकन असम्भव ही होगा।[3]

नित्य-विहार के प्रेम-समुद्र में राधा-कृष्ण दोनों सदा झागे-पागे रहते हैं।[4] छबीला रसिक कृष्ण काम-रस में भोया रहता है[5] और राधा इस रसिक के रस में प्रेमरस पान कर 'भोइ' गयी हैं।[6] रसद कृष्ण का आलिंगन पाकर उनके अंग-अंग में कामरस फूट पड़ता है।[7] यह रस व्यक्त होकर उद्दाम काम-केलि के रूप में युगल के बीच नर्तित होता है।[8] कृष्ण इसी राधा-रस के वशीभूत हैं।[9] जब संगीत, नृत्य, रास आदि अन्य क्रीडाएँ चलती हैं तब भी प्रीति के बीच यही 'रहसि रसरीति' उभर कर आ जाती है और इसकी प्रेरणा से

---

१. "प्रेम सौं पाइयत रस सून री।" स्वामी हरिदासजी, पद ७२, केलिमाल।

२. "प्रेमसमुद रूपरस गहरे कैसे लागै घाट।
बेकारौ दै जान कहावत जानपने की कहा परी बाट।" वही, पद १८।

३. श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी की सोभा बरनी न जाय, जो मिलैं रसिक कोटि कवि।

४. "रंग के समुद्र में दोउ झागे।" वही, पद २।

५, ६. "छबीलौ कामरस भोइल री।" "प्रेमरस पान करि भोइ गई।" वही, पद ४६।

७. "रसद श्रीहरिदास बिहारी अंग अंग मिलि अतन उदोत करत।" वही, पद १०६।
"परिरंभन-रस रोरी।" वही, पद ३३।

८. "कुच की सुराही, नैननि के प्याले, दारू देहुंगी यों अंकों भरि।
अधरन च्वाइ लेउ सबरौ रस, तनिकौ न जानि देउ इत-उत ढरि।" वही, पद ७४।

९. "श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा-कुंजबिहारी या रसबसभये हरैं हरैं सरकनि नेरी।" वही, पद २०।
"···या रस ही बस भये, भई और की औरैं।" वही, पद ५४।
"श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा-कुंजबिहारी रसबस करि लीन।" वही, पद ५६।

वह क्रीडा अनन्त-रूपा हो जाती है।[1] परस्पर हास-विलास की गति में रस-भीनी कुंज-विहारी स्यामा-स्याम की यह जोरी अद्भुत है।[2] इस रस का वर्णन करने की क्षमता भला किसमें है ?

"श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारीजू कौ
रस रसना कहै को री ?"[3]

श्री विट्ठल विपुलदेवजी

श्रीविट्ठलजी की दृष्टि में भी रस है युगल की केलिविलासमयी क्रीडा। यह क्रीडा स्वरूपतः काम-केलि ही है।[4] सहचरी इसी रस का आस्वादन करती है।

विट्ठलजी ने सम्भवतः हितहरिवंशजी के प्रभाव से कृष्ण की अपेक्षा राधा के महत्त्व को अधिक उभारा है और कृष्ण को राधा के सामने रति-दीन दिखाया है।[5] इस प्रकार विट्ठलजी के कृष्ण राधारसवश हैं।[6] राधा भी इन्हीं रस-रसिक के साथ केलि-विनोद-रस का आस्वादन करती हैं।[7] लौकिक कवियों के लिए तथा लौकिक रसिकों के लिए इस रस का रहस्य अज्ञात ही है।[8] विट्ठलजी अपने पदों के माध्यम से उसी विनोदविहारी के रस का पान करना चाहते हैं।[9]

सखी-भावापन्न भक्त इसी क्रीडाशील मूर्त रस के दर्शन का सुख चाहते हैं :

"श्रीविट्ठलविपुल विनोद रीति रस
सुख देख्यौ चाहत रसना रस।"[10]

ये प्रेमिका सखियाँ वस्तुतः अपने ही प्रेम का, अपनी ही रति का आस्वादन करती हैं। भ्रमर पुष्प के मकरंद का पान कर आनन्दित होता है, पर वस्तुतः वह अपने ही प्रेम का आस्वादन करता है। प्रेमी भी अपने प्रेमास्पद के रूप-यौवन के रस का पान कर आनन्दित होता है, पर वस्तुतः वह अपने प्रेम का ही आस्वादन करता है।

---

१. "बिच बिच प्रीति रहस रस-रीति की, राग-रागनीनि के जूथ बाढ़े।" वही, पद १०७।
२. "गति विलास रस हास परसपर भूतल अद्भुत जोरी।" वही, पद ३३।
३. केलिमाल, पद ३३।
४. "हमारे माई स्यामाजू कौ राज।" श्रीनिम्बार्कमाधुरी, विट्ठलविपुलदेवजी, पृ० २३०, पद २६।
"जा के अधीन सदाहिं साँवरौ या ब्रज कौ सिरताज।"
"प्यारी नेक निरखौं नवरंग लालै।
तुव पदपंकजतल-रज वंदत तिलक बनावत भालै।" वही, पृ० १७।
"लालन तेरेई आधीन।" वही, पद १८।
५. श्री विट्ठलविपुल रस-रसिक विहारी तिहारे बस।" वही, पृ० २२७, पद ९।
"तेरेई रसबस स्यामसुंदर जांचत हैं ज्यौं दीन।" वही पृ० २२९, पद २०।
६. "रसबस होत लाल प्यारी तेरी वदन-झलक।" वही, पृ० २२९, पद २०।
७. "श्रीविट्ठल विपुल विनोद विहारी कौं जानत भेद कवी ना।" वही, पद २९, पृ० २३१।
८. वही, पृ० २२८, पद १४।
९. वही, पृ० २२८, पद १४।
१०. श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २२८, विट्ठलविपुलदेवजी, पद १४।

"प्यारी तेरे नैनन पर तृन टूटत ।
मानौ कुंदकली पर भौंरा
हित अमृतरस छूटत ।"[1]

काव्यशास्त्र भी अपनी ही रति के आस्वादन को शृंगार कहता है। विट्ठलजी की व्याख्या में वर्णित प्रेम-दशा में प्रेमी का प्रेम और प्रेमास्पद का व्यक्तित्व एकाकार हैं।

इस प्रकार विट्ठलजी के अनुसार कृष्ण-राधा का केलि-विलास ही रस का व्यक्त स्वरूप है। सहचरी के लिए यह विभाव-रूप आस्वाद्य रस है। सहचरी दर्शन-सुखमयी आत्म-रति का आस्वादन करती है। यह रति और विभाव-रूप युगल रस तत्त्वतः अभिन्न हैं। विट्ठलजी का यही मधुर रस है।

श्री हितहरिवंशजी

श्रीहितहरिवंशजी ने रस का साक्षात् निरूपण नहीं किया, किन्तु इस शब्द को उन्होंने अनेक बार प्रयुक्त किया है। इन प्रयोगों के आधार पर कहा जा सकता है कि रस की चेतना लगभग वैसी ही है जैसी अन्य मधुरोपासक हरिदासादि भक्तों की हम देख चुके हैं।

रसिक भक्तों के आस्वाद्य रस को श्रीहितजी ने 'प्रेमरस', 'भजनरस', श्रीकृष्णरस', आदि नामों से अभिहित किया है।[2] यह रस सहचरी भाव से रसमय राधा-कृष्ण की केलि-लीलाओं का दर्शन-सुख है।[3] अतः श्रीहितजी के अनुसार भी रसिकों के आस्वाद्य और आस्वादनात्मक रसों को अलग-अलग कर समझा जा सकता है।

आस्वाद्य रस राधा-कृष्ण-केलिमय है जिसे श्रीहितहरिवंशजी ने 'सौरत रस' भी नाम दिया है।[4] यह उनका नित्य-विहार रस है। स्वयं रसमय तत्त्व श्रीकृष्ण राधा के साथ इन्हीं काम-केलियों के रसिक हैं, राधारस-लंपट हैं।[5] श्रीकृष्ण राधारस के लिए प्रेम-दीन एवं राधा की कृपा पर अवलम्बित हैं।[6] राधा भी अपने प्रियतम को रसपान कराती हुई रस-

---

१. श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २३०, विट्ठलविपुलदेवजी, पद २५।

२. "भृकुटि विलास हास रस बरषत, जै श्रीहितहरिवंश प्रेमरस भूलहु।" हितचौरासी, पद ६२।
"दास अनन्य भजन-रस कारन जै श्रीहितहरिवंश प्रगट लीला नट।" वही, पद ६४।
"जै श्रीहितहरिवंश यथामति बरनत कृष्णरसामृत सार।" वही, पद ३०।

३. जैं श्रीहितहरिवंश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली।" वही, पद ६३।

४. "नर वाहन प्रभु सुकेलि बहुविधि भर भरत झेलि सौरत रस रूप नदी जगत पावनी।" वही, पद ११।

५. "जै श्रीहितहरिवंश मिले रस-लंपट राधिका रवन।" वही, पद ४०।
"अधर रदन चुंबन परिरंभन तन पुलकित आनंद रस झेलि।
पट बंधन कंचुकि कुच परसत कोप कपट निरखत कर पेलि।
जै श्रीहितहरिवंश लाल रस लम्पट धाइ धरत उर बीच सकेलि।" वही, पद ४९।

६. "जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि, दीप अपनपौ मानै।" वही, पद ४१।
"अति गज मत्त निरंकुश मोहन, निरखि बंधे लट पास।" वही, पद ५३।

मग्न हैं।[1] सहचरियों के इस आस्वाद्य नित्यविहार-रस में राधा और कृष्ण परस्पर एक-दूसरे के रसिक और रस्य हैं।

राधा-कृष्ण के इस दम्पति-रस या सौरत रस की एक-एक क्रीडा-चेष्टा, उल्लास-उमंग रसमयी है, रस है।[2] कृष्ण के लिए यह रस राधा के अंग-अंग में समाया हुआ है, उधर राधा के लिए भी कृष्ण ही नहीं उनकी मुरली भी रसमूल है।[3] रास स्वयं रसमय है, उसके रसमय नृत्य में सहचरियां और राधा ही रसमग्न नहीं होते, स्वयं कृष्ण भी रसमग्न होते हैं।[4] सेवकजी ने एक पद में श्रीहितहरिवंशजी के इस रस का बहुत सुन्दर निरूपण किया है :

"रसिक रमनी रसद रस रासि रस सीवां
रस सागरी रस निकुंज रसपुंज बरषत।
रसनिधि सुविज्ञ रसज्ञ रस रेख रीति रस प्रीति हरषत।
रस मूरति सुरति सरस रस विलसनि रस रंग।
रसप्रवाह सरिता सरस रतिरस लहरि तरंग।"[5]

श्रीकृष्ण-राधा का नित्यविहार रस कामकेलिमय है[6] जिसका मुक्त चित्रण कई पदों में श्रीहितजी ने किया है।[7] सहचरी इसी रस का दर्शनात्मक अनुभव करती हुई परम रस का आस्वादन करती है।

सेवकजी ने सहचरी के रस को 'प्रेम रस' कहा है, श्रीहितजी ने भी ऐसा ही कहा है। इस प्रकार हितहरिवंशजी के अनुसार रसिकों का आस्वादन अपनी ही विशिष्ट संस्कृत रति का आस्वादन है जो स्वरूपतः परम प्रेममय और परम आनन्दमय है।

श्री हरिराम व्यास

व्यासजी की वाणी में प्रयुक्त रस-शब्द के आधार पर कोई विशेष रस-स्वरूप नहीं बँधता। न ही काव्य-शास्त्रीय पक्षों पर कोई विशेष प्रकाश पड़ता है। फिर भी कुछ

---

१. "फूली फिरत मत्त करनी ज्यौं सुरत समुद्र झकोरी।
पिय पर करुन, अभी रस बरसत अधर अरुनता थोरी।" वही, पद ७०।
"मोहनलाल के रस-माती।" वही, पद २०।

२. "परिरंभन विपरित रति वितरत सरस सुरत निजु केलि।" वही, पद ३०।
"पल पल प्रबल चौंप रस लंपट अति सुन्दर सुकुमार।" वही, पद ३२।
"सरस गति हास परिहास, आवेश वश दलित दल मदन-बल, कोकरस कामिनी।" वही, पद ४६।

३. "ताकौ तैं अधर रस चाख्यौ।" वही, पद १९।
"पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खंजन की जोरी।" वही, पद ५१।

४. "आजु गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतर तीर री सजनी।" वही, पद २४।
"नित्यं रस पहिर पट नील प्रकटित छबी।" वही, पद ७०।

५. वही, पद ४, श्रीहितरसरीति-प्रकरण, सेवकवाणी, पृ० ७१।

६. "सुरति रंग के रस में भीने नागरि-नवलकिशोर।" वही, पद ३१। हितचौरासी।
"उर नख पात तिरीछी चितवनि दंपति रस समतूल।" वही, पद ३२।

७. हितचौरासी, पद २३, ३०, ३४, ३८, ४९, ६६।

उल्लेखनीय बातें उनसे संकलित की जा सकती हैं।

व्यासजी ने भक्ति को रस-रूप में स्वीकार किया है।[१] भक्त कवियों के लिए यह भक्तिरस लीला-गान के रूप में है।[२] इसी लीला-रस को शुक ने भागवत में गाया था,[३] इसे ही जयदेव ने गाया।[४] इस रस में सब रस घुल जाते हैं।[५]

भक्तिरस व्यासजी को प्रचलित पाँचों रूपों में स्वीकार्य है।[६] अपने काव्य में उन्होंने केवल माधुर्य के ही गीत नहीं गाये हैं, शान्त और दास्य की भी शीतल झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सब कवियों में शान्त और दास्य की शीतलता व्यासजी में सबसे अधिक है। 'दास्य' को उन्होंने भक्ति और कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय बताया है।[७]

भक्तिरस के पाँचों रूपों को स्वीकार करते हुए तथा उनमें से तीन पर काव्य-रचना करते हुए भी व्यासजी मधुर रस को ही सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं।[८] इस पर रस-सिन्धु की माधुरी अगाध है।[९] जिनके तन-मन में यह रस पैठ जाता है उन्हें फिर संसार में कुछ और नहीं सुहाता।[१०] इसके सुख के सामने और सुख सूखे पत्ते के समान उड़ जाते हैं।[११] इस रस के बिना सब गुड़ 'माटी' है, सब सूना है।[१२]

मधुर रस राधा-कृष्ण की काम-केलियों में सहचरी भाव से डूबने का आनन्द है।[१३] सहचरी राधा-कृष्ण की केलि-क्रीडाओं को नियोजित भी करती है, सेवा-परिचर्या भी करती

---

१. "मेरे मते साधु है सोई, जहां भक्तिरस भोग।" व्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद १२१।
"भाव विना न भक्तिरस उपजै यह सब सन्त बतावत।" वही, पद २५५।
"सुनि गिरा अगनित जीव उद्धरे, भक्तिरस भक्तनि लह्यौ।" वही, उत्तरार्ध, पद १।

२. "व्यास कृष्ण-लीला-रंग राचे, मिटि गई लोक-वेद की लाज।" वही, पू०, पद ३।

३. "जिहि रस भोजन तज्यौ परीछित उपजौ सुकहिं अतूषा।" वही, पू०, पद ४८।

४. "श्रीजयदेव से रसिक न कोई जिन लीलारस गायौ।" वही, पद ५।

५. "जिन राधावल्लभ की लीलारस में सब रस घोरे।" वही, पद १३।

६. "पंच रस कौ तत्व लै सिंगार प्रेम सुखनि जटे।" वही, उत्त०, पद १।

७. दया-दीनता, दास-भाव बिनु व्यास न हरि पहिचान्यौ।" वही, पू०, पद २४९।
"दया, दीनता, दास्यभाव बिनु मिलै न व्यास कन्हाई।" वही, पद २५०।

८. पंच रस कौ सार लै सिंगार प्रेम सुखनि जटै।" वही, उ०, पद १।
"कुंज-केलि मीठी है।" वही, पू०, पद ५३।
"सर्वोपरि रसरीति प्रीति कौ वारिधि व्यास बढ़ायौ।" वही, पद १००।

९. 'अति अगाध रस-सिन्धु माधुरी वेई पै कहि जानै।" वही।
ताको वार-पार नहिं पावत विधि शिव शेष धरत श्रुति ध्याने।" पद २०, पू०।

१०. "इहि रस जिनके तन मन राचे तिनहिं न और सुहात।" वही, पद ३८।
"यह रस चाखि और सुख भूले फूलत मन लखि अति गहराइ।" वही, पद ३९।

११. "यह सुख देखत व्यास और सुख उड़त पुराने पात।" वही, उ०, पद ७२।

१२. "और सकल साधन निरस या रस बिन सब गुर माटी।" वही, पू०, पद २८।
"या रस बिनु फीकौ सब साधन ज्यौं दूलह बिनु व्यास बरात।" वही, पद ११७।

१३. "इहिं विधि विहरत संतत देखत व्यासदासि सुख पावति।" व्यासवाणी, उत्त०, पद ९९।

है, और उन केलियों के दर्शन का अद्भुत आनन्द भी उठाती है। यह सब उसके लिए रसात्मक है।[1] यह रस मोक्ष के आनन्द से भी बढ़कर है। रसिक भक्त इस रस के आगे कोटि-कोटि मुक्तियों को ठोकर लगाता है।[2]

इस रस के आस्वादन के लिए अनन्यता और संसार-विमुखता अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं।[3] सच्चे रसिकों को ही यह रस मिलता है। इसकी अनुभूति में आत्म-विगलन होकर विदेह-दशा आ जाती है, एक ओर जगत् से उदासी, दूसरी ओर अनुराग की मस्ती, यही इस रस की अनुभूति का बाना है।[4]

सहचरीभावापन्न रसिक की आस्वाद्य और गेय राधा-कृष्ण की विहार-विलासमयी केलियाँ हैं।[5] नित्यधाम रसरूप वृन्दावन में रसनिधि कृष्ण रसमयी राधा के साथ आवेशमय कामरूपात्मक विलास में नित्य निरत रहते हैं। रास, क्रीडा, दरस-परस, आलिंगन-परिरंभण, सुरत सब-कुछ रसावधि रूप में चलता है, और सहचरी अपने नयन चषकों को इस अमृत से भरती रहती है। राधा सुख की, रस की वेगवती नदी हैं, कृष्ण के साथ उनका संगम सिन्धु-मिलन है।[6] सहचरी इसी नित्य, अनन्त, अगाध रस-सिन्धु में निर्मल भाव से गोते लगाती है। लौकिक विषयों के संस्पर्शों से दूर, यह रसानुभूति अत्यन्त पावनी है। व्यासजी की यही काम्य है।

---

१. "श्रीराधा रूसी वेगि मनैहौं। क्रीडारस पीवत न अघेहौं।" वही, उ०, पद ४५६।

२. "अलिकुल नैन चषक रस पीवत कोटि मुक्ति पग ठेलो।" वही, पू०, पद ४९।

३. "यह रस नित पीवत जीवत हैं व्यास बिसरि संसार।" वही, उ०, पद २।

४. "महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै गावत रस जस जगत उदासै।
छिन ही छिन परतीति बढ़त रस रीतिन देखि विवि वदन विलासै।" वही, पू०, पद १६।

५. (क) "वृन्दावन कौ रसमय वैभव..." वही, पू०, पद ६।
"करि मन वृन्दावन सौं हेत।
निसि दिन छिन छाया जिनि छांड़हु रसिकनि कौ रसखेत।" वही, पद ८८।
"सुभग वृन्दाविपिन बाढ़ी सुख-नदी रस-धार।" वही, उ०, पद ११।
(ख) "रसनिधि सुखनिधि जहां विराजत नित्य अनन्त अनादि।" वही, पू०, पद ४२।
"नागर मनमोहन रस-सागर अर्थ अपार अनन्त।" वही, पद ७४।
(ग) "सहज स्याम स्यामा दोउ कामी, उपजत सहज विकार।
सहज कुंभ रस पंजनि वरषत, सहज सेज सुख सार।" वही, उ०, पद ९।
"अंग अंग आलिंगन के रस रोमनि पुलक चुचात।" वही, उ०, पद २९।
"रतिरस सुभग सुखद जमुनातट।" वही, पद ३७।
"वरषत रस बिम्बाधर जलधर पीवत चातिक कुंजविहारी।" वही, पद ७६।
"रूप-गुन-ऊप कौ रस राधिका पायौ सुजस और त्रियन कौ छोई आग।
अति करुना करि पिय हित कारन कुच-घट भरि राख्यौ प्रेम हू कौ पाग।" वही, उ०, पद ७४।
"दरस परस रस भोजन करिकैं अधरामृत के लेत अचौना।" वही, उ०, पद ८३।
"दोउ रस-विवस जब होत सजनी प्रेमरस छवि छकि मदा।" वही, उ०, पद १।

६. "व्यास स्वामिनी सुखनदी, पिय-संगम सिन्धु-प्रवाह।" वही, उ०, पद ९।

ध्रुवदासजी

राधावल्लभ सम्प्रदाय के हमारे आलोच्य कवियों में ध्रुवदासजी ने ही सबसे अधिक एवं स्पष्ट सिद्धान्त-निरूपण किया है। इससे उनके काव्य का अधिकांश नीरस सिद्धान्त-निरूपक तो हो गया है पर इतना सुन्दर सिद्धान्त-विश्लेषण सम्प्रदाय के अन्य कवि में नहीं मिलता।

ध्रुवदासजी ने रस-निरूपण अपने ग्रंथों में अनेक बार अनेक रूपों में किया है। यह निरूपण उनकी साम्प्रदायिक दृष्टि के ही अनुरूप है, काव्यशास्त्र के अनुरूप नहीं। भले ही काव्य-रस के सम्बन्ध में उस विवेचन से कुछ असाक्षात् प्रकाश मिल सके। यहाँ उनकी कतिपय मान्यताएँ प्रस्तुत हैं।

मधुर रस—मधुर रस को ध्रुवदासजी ने स्थान-स्थान पर वृन्दावन-रस, महा-शृंगार रस, भजन-रस, नित्यविहार रस, प्रेम-रस, महाप्रेम-रस, निकुंजविहार-रस, महा-माधुरीरस आदि नामों से व्यवहृत किया है।[1]

इसकी प्रशंसा ध्रुवदासजी ने भाव-विभोर मन से की है। यह सुख की सीमा है,[2] निगम और ब्रह्म की परिधि से परे है,[3] महा गोप्य है,[4] बैकुण्ठ-सुख से भी सरस है,[5] इसके आगे नवधा भक्ति भी रसिक भक्तों को नहीं रुचती।[6] इसको पाने वाला पूज्यातिपूज्य हो जाता है।[7] इसकी साधना अत्यन्त ही कठिन है।[8] इसकी कठिनता का प्रधान कारण यही है कि इसमें भगवान् की काम-केलियों का गान रहता है, तब साधक के लिए साधना-पथ पर बढ़ना कठिन ही है। ध्रुवदासजी ने इसे काम-तुरंग पर चढ़ कर पावक में

---

१. (क) "वृन्दावनरस माधुरी गाई अधिक लड़ाइ।" भक्तनामावलिलीला, बयालीसलीला, पृ० ३०।
(ख) "कह्यौ महासिंगार रस सहित प्रेम मकरन्द।" वही, पृ० २८।
(ग) "रहे भीजि रस भजन में" वही, पृ० २८।
(घ) "कछु इक नित्यविहाररस हमहिं देहु समुझाइ।" वही, वृहद्वामनपुरानलीला, पृ० ४२।
(ङ) "जुगल प्रेम रस अवधि में पयौं प्रबोध मन जाइ।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० ३०।
(च) "और सब प्रेम-नेम या नित्य महाप्रेमरस के आगे साधन हैं।" सिद्धान्तविचारलीला बयालीसलीला, पृ० ५१।
(छ) "श्रीवृन्दावन निकुंजविहाररस मत्त विलास करत हैं।" वही, पृ० ४३।
(ज) "यह महामाधुरीरस जाके उर न आवै तासों संग न करिये।" वही, पृ० ५२।

२. "सुख-सीवां माधुर्य रस छिन छिन यहै विचार।" ख्यालहुलासलीला, वही, पृ० २४।

३. "निगम ब्रह्म परसत नहीं जो रस सबते दूरि।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २७।

४. "श्रीगोपालपद उर धरै, महा गोप्य रस सार।" वही, पृ० २८।

५. "जेहि आगे वैकुण्ठ को फीको लगत पयान।" वही, भजनाष्टकलीला, पृ० ६३।

६. "महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहिं उर मांहि।
नवधा हूं तिहि रुचै नहिं नेम सबै मिटि जाहिं।" भजनकुण्डलियालीला, वही, पृ० ६६।

७. "रस प्रति रस शृंगार कौ यह रस है शृंगार।
धन्य धन्य तेई जु नर जिनके यहै विचार।" भजनतृतीयशृंखलालीला-मनशृंखला, बयालीसलीला, पृ० ११०।

८. सब तें कठिन उपासना प्रेमपंथ स्सरीति।
राई सम जो चलै मन छूटि जाइ ध्रुव प्रीति।" वही, पृ० ११०।

चलना कहा है।[1]

मधुर रस अन्य सभी प्रकार के आनन्दों, सुखों और आस्वादों से विलक्षण है। भक्तिरस के पांच रूपों में से यह सर्वोत्तम है।[2] शान्त भक्तिरस से दास्य श्रेष्ठ है, दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और वात्सल्य से भी मधुर श्रेष्ठ है।[3] मधुर में प्रेम-लक्षणा भक्ति का चरम विकास होता है। इस मधुर रस में व्रज-देवियों के निर्मल प्रेम का सार घुला हुआ है। किन्तु राधावल्लभीय मधुर रस तो उन व्रजदेवियों के प्रेमरस से भी इसलिए उत्कृष्ट है कि इसमें राधा-कृष्ण की काम-केलिमयी निकुंज-माधुरी भरी है। अतः यह 'महाप्रेमरस' है, जबकि व्रजदेवियों का 'प्रेमरस' ही कहा जा सकता है।[4]

अन्य भक्तिरसों में भगवान् का महत्त्व ज्ञान अथवा धर्म की चेतना रहती है। ये चेतनाएँ अपने और आराध्य के बीच अभेद नहीं लाने देतीं। किन्तु मधुर रस में चरम अभिन्नता देने वाला प्रेम तत्त्व उच्छलित होता है। यों जिस प्रेम में महत्त्व-ज्ञान है उससे धर्म-चेतना वाली भक्ति उत्कृष्ट है, किन्तु उससे भी मधुर प्रेम वाली भाव-साधना उत्कृष्ट है। इसमें न माहात्म्य का, न धर्म का, किसी प्रकार का अन्तराय नहीं होता।[5]

आनन्द की तीन कोटियाँ हमारे सामने चर्चा का विषय बना करती हैं—एक वैषयिक आनन्द, दूसरा काव्यानन्द, तीसरा भक्ति का आनन्द। इन्हें हम विषय-रस, काव्य-रस और भक्ति-रस कह सकते हैं। यहाँ भक्तिरस को दो भागों में बाँट लीजिए—एक तो वह जिसमें माहात्म्य और धर्म की चेतना रहती है। इसमें मधुर को छोड़ अन्य सभी भक्ति रूप लिए जा सकते हैं। दूसरा मधुर रस जिसमें उक्त चेतना घुल जाती है। परम रसमय मधुर रस के लिए ये तीनों प्रकार के रस व्याघात, अन्तराय या आवरण रूप हैं।[6] निरावृत्त, विशुद्ध, रस-मात्र यदि कोई रस है तो वह मधुर रस का नित्यविहार रस।[7]

---

१. "चढ़िकै मैन तुरंग पै चलिबौ पावक मांहिं।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन सब कोउ निबहत नाहिं।" ख्यालहुलासलीला, बयालीस लीला, पृ० २६।

२. ३. "ज्ञान शान्तरस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखाभाव तिनतें अधिक जिनके प्रीति प्रकास।
अद्भुत बाल चरित्र को जो यशुदा सुख लेत।
तातें अधम किशोर रस ब्रजवनितनि के हेत।
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुँ हुलास।" भजनाष्टकलीला, बया०, पृ० ६३।

४. "...तिन सबनि पर अति गरिष्ट सर्वोपरि व्रजदेविन को प्रेम है, ब्रह्मादिक जिनकी पद-रज वांछित हैं। तिनके रस पर महारस अति दुर्लभ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीवृन्दावनचंद...तिन प्रेममई निकुंजमाधुरी विलास ललिता-विसाखा-आदि सखियन को प्रान अधार यहै है।" सिद्धान्तविचारलीला, बया०, पृ० ४५।

५. "एक भक्त ऐसे हैं...ते ऐश्वर्य महातम ज्ञान लिये है। एकनि के इष्ट धर्म है। ये उनते सरस कहिये।" वही, पृ० ४४।

६. ऐश्वर्यता, ज्ञान, महातम, विषय या रस-माधुरी को आवरन है।" वही, पृ० ४९।
"और सब रस या माधुर्य रस के आवरन हैं। अंतराय बताये हैं।" वही, पृ० ५६।

७. "जैसे रसमई फल बिनु गुठली, बिन बकला होइ।" वही, पृ० ४९।

रसयिता—इस मधुर रस के रसयिताओं को 'रसिक' कहा गया है। रसिक वह है जो रस का सार ग्रहण कर सके।[1] सखीभावापन्न भक्त ही इस रस के आस्वादन के अधिकारी हैं। काव्य-दृष्टि से हम इन्हें इस रस का आश्रय भी कह सकते हैं, सहृदय भी।

ये रसिक प्रेम-रंग में रंगे होते हैं।[2] रस में भीगे[3] इन भक्तों के मन की चंचलता समाप्त हो चुकी होती है।[4] अनन्यता और चरम आसक्ति के साथ संसारी काम-भोग से चरम विरक्ति इनका सामान्य स्वरूप होता है। मधुर रस के रसिक माहात्म्य, धर्म, ज्ञान, और विषय सभी आवरणों-अन्तराओं से शून्य होते हैं।

इनकी रति या चरम प्रेम ही मधुर रस के रूप में उच्छलित होता है। स्वार्थ का पूर्ण विगलन और तत्सुखसुखित्व की भावना से सम्पन्न इनका परम प्रेम सराहनीय है।

रसिकों में मधुरा रति का उदय अन्य रसिक भक्तों के संग, श्रीराधावल्लभ की कृपा और हितहरिवंश की कृपा से होता है।

अनुभूति—ध्रुवदासजी ने इन रसिक अधिकारियों की मधुर रस की अनुभूति की अनेक बार अनेक प्रकार से चर्चा की है।

शान्त रस की अनुभूति में वृत्तियों की प्रशान्तता होती है, शृंगारादि काव्यरसों की अनुभूति में वृत्तियों की निर्मल स्थिति का एक काल्पनिक भूमि पर आस्वादन होता है। किन्तु मधुर रस की अनुभूति में वृत्तियों का उभार भी होता है और प्रशान्तता भी होती है। एक ओर तो भौतिक स्वाद और सुख का इसमें पराभव होता है,[5] दूसरी ओर प्रेम का चरम आवेश और राधाकृष्ण की प्रेम-केलियों में निमग्नता होती है।[6] काव्यरसों के आस्वादन में दो बातों की चर्चा आया करती है—एक अन्य वेद्यों का अभाव दूसरे प्रस्तुत रस में निमग्नता। मधुर रस में ये बातें चरम कोटि पर ध्रुवदासजी ने निरूपित की हैं।[7]

ध्रुवदासजी ने इस रस की अनुभूति के फलस्वरूप रसिकों के अनेक अनुभावों का उल्लेख

---

१. "रसिक ताको कहिये जो रस को सार ग्रहण करे।" सिद्धान्तविचारलीला, बया०, पृ० ४५।

२. "प्रेम रंग सों रंगे जे नहिं आनत उर आन।
अदभुत जुगल विहार रस तेई करिहैं पान।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २६।

३. "रस भीज्यौ रस में फिरै रसनिधि जमुना तीर।
चिंतत रस में सने दोउ स्यामल-गौर शरीर।" भजनकुंडलियालीला, वही, पृ० ६४।

४. जब लगि मन चंचल भयौ फिरत विषय सुख मांहिं।
तब लगि दंपति चरन सौं होत प्रेम छिन नाहिं।" भजनसतलीला, वही, पृ० ७०।

५. छांडि स्वाद-सुख देह के और जगत की लाज।
मनहिं मारि तन हारि कै वृन्दावन में गाज।" वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० १६।

६. चिंतत फिरै आवेस बस सांवल गौर सरीर।
वृन्दावन तरु तरु तले ढरै नैन सुख नीर।" वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० २०।

७. "देखौ यह रस अति सरस बिसरावत सब नेम ही।" भजनकुंडलिया, वही, पृ० ६५।
"रहन देत नहिं और रस यहै प्रेम की टेक।
याकौ सहज सुभाव यह करै दोइ तें एक।" प्रीतिचौवनीलीला, वही, पृ० ५८।
"पलट परत ताकी दसा जो सनेह रंग रात।
और अंग मिटि कै सबै नैना ही ह्वै जात।" वही, पृ० ५८।

किया है। कण्ठ गद्गद होकर वाणी का मुख से न निकलना, प्रेमाश्रुओं का अविरल प्रवाह, शरीर का शिथिल हो जाना, पुलक-रोमांच आदि का अनेक प्रकार से उल्लेख है।[1] प्रेम की आंच लगते ही मन घी की तरह पिघल कर बह निकलता है। हृदय छक जाता है, शरीर रोमांचित हो उठता है, आंखें प्रेमाश्रुओं को भर-भरकर ढुलकाती हैं।[2] एक मस्ती, एक विस्मृति और एक अद्भुत निमग्नता इस रस की अनुभूति के सहज अनुभाव हैं।[3] इस रस की अनुभूति में चित्त का सहज द्रवीभाव होता है।[4]

मधुर के आस्वादन में चित्त-द्रुति, चरम विश्रान्ति और चमत्कारान्वित आनन्दानुभूति होती है।[5] इन अनुभूतियों की चर्चा ध्रुवदासजी ने अनेक प्रकार से की है। मधुर रस का रसन करने वाला मस्त, मतवाला, मद-छाका घूमता है। मधुर रस की अनुभूति एक विमल आनन्द-प्रवाह की अद्भुत धारा है जो गहरी निमग्नता लाती है।[6]

इस मधुर रस की अनुभूति की एक विचित्रता है। यह राधा-कृष्ण के काम-विलास-रस से भरा होता है। अतः यह मधुर प्रेम चित्रित तो किया जाता है राधा-कृष्ण के बीच, किन्तु इसकी अनुभूति रसिक भक्त को होती है। ध्रुवदासजी के शब्दों में 'खाइ और, त्रिपित होइ और' वाली बात है।[7]

आस्वाद्य रस—सहचरीभावापन्न रसिकों का आस्वाद्य राधाकृष्ण का केलि-विहारमय प्रेम है। केलि-विहार इसके उच्छलन नेम-रूप हैं। यह कामरूप होकर भी लौकिक काम नहीं है। यह महाप्रेमरस एक अजस्र-वाहिनी नित्य निर्मल धारा के रूप में रस-क्षेत्र वृन्दावन में प्रवाहित होता रहता है। राधावल्लभी रसिक भक्तों का यही परम काम्य है।

---

१ "ऐसी गति ह्वै है कबहुँ मुख निसरत नहिं बैन।
देखि देखि वृन्दापिवपिन भरि भरि ढारै नैन। वृन्दावनसतलीला, वही, पृ० २०।
"रूपछटा अद्भुत निरखि थकित भये मुखबैन।
प्रान तहां पहिलै गये रोवत छाड़े नैन।" प्रीतिचौवनीलीला, वही, पृ० ६०।

२. "प्रेम आंच के लगत ही ढरकि चलत तन मैन।
हियौ छकै तन छलकि ह्वै भरि भरि ढारै नैन।" ख्यालहुलासलीला, वही, पृ० २५।

३. "जिनके मन ध्रुव रचि रहै वृन्दावन सुख रंग।
तेहि सुख जानत सोई डोलत भये मतंग।" भजनसतलीला, वही, पृ० ७३।
"प्रेमरंग उर जगमगै जुगल नवल रसकेलि।" भक्तनामावलिलीला, वही, पृ० २७।

४. "चित्त रहै द्रविभूत नित अति कोमल रस प्रेम।
हिय में झलकत रहै यों जैसे चांदी हेम।" प्रतिचौवनीलीला, वही, पृ० ६१।

५. प्रीतचौवनीलीला, बयालीसलीला, पृ० ५८।

६. "नैननि पिय मूरति बसै तेहि रस रहै समाय।
ये लच्छन सुनि प्रेम के और न कछू सुहाय।
और न कछू सुहाय फिरै अपने मद माते।
कुटुम्ब देह सौं जाइ टूटि सबही विधि नाते।
जहं जहं पिय की बात सुनै खोजत तिन गैननि।
छिन छिन प्रति ध्रुव लेत प्रेम जल भरि भरि नैननि।" वही, पृ० ६१।

७. सिद्धान्तविचारलीला, वही, पृ० ५२।

तुलसीदास

तुलसी की दृष्टि में प्राकृतजन-सम्बन्धी काव्य सच्चा काव्य नहीं,[1] भक्तिरस से स्वतन्त्र कोई काव्यरस रस नहीं।

यों तुलसीदासजी ने भी रस शब्द का प्रयोग साहित्य में प्रचलित अनेक अर्थों में किया है। मधुरादि रसनेन्द्रिय के रस, विषय-रस, शृंगारादि काव्यशास्त्रीय रस, प्रेम-रस, केलि-क्रीडा रस, ध्यान रस, ब्रह्म रस, भक्ति रस, तात्पर्य यह कि उन्होंने विविध अर्थों में इस शब्द को अपने साहित्य में प्रयुक्त किया है। पर जिस रस को हम काव्य की आत्मा कहते हैं वह तुलसी की दृष्टि में केवल एक ही रस है, और वह है 'भक्तिरस'।

तब प्रश्न उठता है कि तुलसी की दृष्टि में काव्यरसों का क्या स्थान है? तुलसी ने अपने रामचरितमानस में 'मानस' को मान-सरोवर का रूपक देते हुए सीताराम के पुण्य चरित को सरोवर का जल कहा है और प्रेमा भक्ति को उस जल की शीतलता-मधुरता बताते हुए काव्यरसों के उस जल को जलचर कहा है।[2] इस रूपक के अनुसार काव्यरस काव्य के आत्म-तत्त्व नहीं, अपितु काव्य-सरोवर के जलचर मात्र हैं। रामचरित रूपी शीतल सलिल स्वयं उनका प्राणाधार है जिसमें ये जलचर क्रीडा करते हैं, मग्न रहते हैं, पलते हैं। ये हों तो उस सरोवर की शोभा बढ़ा सकते हैं, न हों तो इनके बिना भी तुलसी का भक्ति-काव्य अकाव्य नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार चाहे कविता अपने में भद्दी ही हो पर राम-नाम के कारण ही वह लोक-मंगल करने वाली होगी।[3] काव्य-रसिकों एवं काव्यशास्त्रियों का काव्यरसों के प्रति यह उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण नहीं होता।

भक्तिरस से स्वतन्त्र काव्यरस तुलसी की भाषा में विषयकथा-रस कहे जा सकते हैं। ऐसे रस काव्य-सरोवर के लिए घोंघे, मेंढक और सिबार के समान हैं। उनके मानस में भक्ति-विमुख इन विषयरस-रूपी 'संबुक भेक सिबारों' के लिए कोई स्थान नहीं है।[4]

तुलसी काव्यरसों के स्वरूप एवं उनकी मधुरता से अपरिचित नहीं हैं। वे उनके शास्त्रीय स्वरूप और काव्य में विधान की कला अच्छी प्रकार जानते हैं। किन्तु वे यह और भी अच्छी प्रकार जानते हैं कि महा मधुर भक्तिरस के आस्वादन कर लेने पर ये काव्य रस नितान्त फीके और अनरस लगते हैं।[5]

तुलसी का काव्य हृदय के प्रेमानन्द का उच्छलन है। उनकी कविता 'आह से निकला गान' नहीं है। अपने मानस-चक्षुओं से उन्होंने रामचरित-रूपी मानसरोवर के दर्शन किये हैं और उनका हृदय आनन्द की उमंग से भरकर बाहर उमड़ चला है। हृदय के प्रेमानन्द की

---

१. "कीन्हे प्राकृत जन गन गाना। सिर धुनि लागि गिरा पछिताना।" बालका० १०। ७

२. "रामसीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि-विलास मनोरम।" वही : ३६। ३ "मानस"
"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई।" वही : ३५। ४
"नव रस जप-तप जोग-विरागा। ते सब जलचर चारु तडागा।" वही : ३६।१०

३. "भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। रामकथा जगमंगल करनी।" वही : ९। १०

४. "संबुक भेक सेवारि समाना। इहां न होयँ विषय-रस नाना।" वही : ३७। ३

५. "जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नव रस षटरस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।" विनयपत्रिका, पद १६९।

उमड़कर बह निकलने वाली धारा ही उनकी कविता-गंगा है।[1] इसीलिए तुलसी के काव्य में 'कवित-विवेक'—वर्ण-सौन्दर्य, अर्थ-चारुत्व, अलंकार-कौशल, छंद-प्रबन्ध-विधान, अपार भाव-भेद, अपहार रस-भेद, गुण-माधुर्य आदि—सब-कुछ होते हुए भी कुछ नहीं हैं।[2] यह सब होकर भी शायद इसीलिए नहीं है कि वह एक रंग में रंगकर और एक रस में डूबकर नगण्य हो गये हैं, अपनी सत्ता खो बठे हैं। यह एक गुण, एक रस है 'रामरस'। तुलसी तो बस एक ही बात का दावा कर सकते हैं :

"भनिति मोर सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक।"[3]

और वह गुण है—

"एहि महं रघुपति नाम उदारा।"[4]

सामान्यतः काव्यशास्त्रियों ने काव्य की उत्पत्ति प्रतिभा, सरस्वती, व्युत्पत्ति और अभ्यास से मानी है। इनमें से प्रतिभा का ही स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। तुलसी भी यह स्वीकार करते हैं कि हृदय-सिन्धु में अवस्थित बुद्धि की शक्ति में शारदा-स्वाति कल्पना का सुन्दर जल बरसा देती है और काव्य-मुक्ताओं का जन्म हो जाता है।[5] पर यह शारदा तुलसी के लिए एक कठपुतली ही है, इसका सूत्रधार तो वह राम है जिसके इशारे पर यह राम-भक्त कवि के हृदय में नृत्य करने के लिए बाध्य है।[6] वस्तुतः भक्ति-गान करने वाले कवियों को स्मरण करते ही यह ब्रह्मा का भवन छोड़कर स्वयं दौड़ी चली आती है। कवि तो उस पथ श्रान्त शारदा को राम-चरित के शीतल सरोवर में स्नान कराकर विश्राम कराते हुए उपकृत करता है।[7] इस प्रकार के काव्य में भक्तिरस से स्वतन्त्र काव्यरसों का मूल्य ही क्या हो सकता है? तुलसी सच्चे काव्य को भक्ति से अलग करके देख ही नहीं सकते, काव्यरसों को भी भक्ति-रस से स्वतन्त्र स्वीकार करने का कोई अर्थ नहीं।

तुलसी के इस भक्तिरस रूप विशिष्ट काव्यरस का रसयिता कौन है? दोनों प्रकार

---

१. "अस मानस मानस-चख चाही। भइ कवि-बुद्धि विमल अवगाही।
भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता सरिता सी। राम विमल जस जल भरिता सी।" 'मानस', बा० का० : ३८। ११

२. "आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।" वही : ८। ९-११।

३. रामचरितमानस : बालकाण्ड : दोहा ९।

४. वही : बा० का० : ९।१।

५. "हृदयसिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जौ बरषइ बर बारि बिचारू। होंहि कवित मुकुता मनि चारू।" वही : १०। ८-९।

६. "सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।" वही : १०४। ३-४

७. "भगति-हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
रामचरितसर बिनु अन्हवाएं। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएं।"
कविकोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धनि लागि गिरा पछिताना।" वही, बा० का०, १०।३-६, ८।

के भावुकों के लिए तुलसी का द्वार खुला हुआ है—जो राम-सनेही हैं उनके लिए भी, जो केवल काव्य-रसिक हैं, उनके लिए भी। जो न काव्यरसिक हैं, न ही राम-सनेही हैं, ऐसे लोगों के लिए उनकी कविता मज़ाक-मखौल की चीज़ है, हास-रस है :

"कवित रसिक न राम-पद नेहू। तिन्ह कहं सुखद हासरस एहू।"[1]

वस्तुतः तो उनकी रामकथा का सच्चा माधुर्य भगवद्भक्तों को ही मिल सकता है :

"हरिहर पद रति, मति न कुतरकी।
तिन्ह कहं मधुर कथा रघुबर की।"[2]

यों तुलसी का काव्य स्वान्तःसुखाय है।[3] वह उनके अपने सन्देह-मोह-भ्रम निवारण के लिए है।[4] पर जिस काव्य का सच्चे रसिक आदर न कर सकें उसके लिए किया हुआ कवि का श्रम व्यर्थ है।[5] अतः तुलसी के इस रसमय काव्य का उद्देश्य सहज परान्तःसुख है।[6]

'भक्ति' रस का आस्वाद और तज्जन्य आह्लाद तुलसी की दृष्टि में अभिनवगुप्त के समान एक प्रतीत नहीं होते। शैवाद्वैती अभिनव ने आस्वाद्य रस एवं आस्वादन को एकाकार करके देखा था। अद्वैतवाद को साग्रह न मानने वाले आचार्यों ने आस्वाद्य-आस्वादन की इस अभिन्नता को स्वीकार नहीं किया। तुलसी भी आस्वाद और आह्लाद को, स्वाद और तोष को एक करके नहीं देखते, हाँ उन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करते हैं। राम के 'र' तथा 'म' अक्षरों के समान दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं, पर इसी एक नाम में घनिष्ठ सम्बद्ध दोनों अक्षरों के समान ही दोनों परस्पर घनिष्ठ सम्बद्ध हैं।[7] आस्वादन और आह्लाद ब्रह्म और जीव के समान सहज संघाती तो हो सकते हैं, किन्तु उनमें स्वरूपाभेद नहीं माना जा सकता।[8]

केशवदास

अपने आलोच्य काल के जिन कवियों का हम अध्ययन करने जा रहे हैं उनमें एक केशवदास का नाम ही ऐसा है जिन्होंने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। अतः रस-स्वरूप के विषय में हम उनकी आचार्य चेतना को साक्षात् रूप में पा सकते हैं। उनकी रस-विषयक मान्यताएं उनकी 'रसिकप्रिया' में निरूपित हुई हैं।

रसिकप्रिया में विवेचित रस स्वरूप जानने से पूर्व यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। इस रचना के शास्त्रीय एवं कवित्व दोनों ही पक्षों में केशव एक विशिष्ट दृष्टि अपनाकर

---

१. रामचरितमानस। बालकाण्ड। दो० ८।३।

२. वही : ८। ६।

३. "स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।"

४. "निज सन्देह मोह भय हरनी। करउं कथा भवसरिता तरनी।" मानस, बा०का०, ३०।४।

५. "जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।" वही : १३ : ८।

६. "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" वही : १३ : ९।

७. मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकवि-कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत नत छवि लहहीं।" वही : १० : १-३।

८. "ब्रह्म जीव सम सहज संघाती।" वही : १९ : ४।

चले हैं। यहाँ उन्होंने श्रृंगार की रसराजता प्रतिष्ठित करते हुए उसी के अनुरूप काव्य-सृष्टि की है। पर जो काव्यादर्श एवं काव्य-दृष्टि उन्होंने यहाँ अपनायी है उसका अनुसरण उन्होंने अपने प्रमुखतम ग्रन्थ रामचन्द्रिका में नहीं किया। रामचन्द्रिका रसराज श्रृंगार का काव्य नहीं है।

रसिकप्रिया की रस-दृष्टि की पृष्ठभूमि में संस्कृत का काव्य-शास्त्र, रूप-गोस्वामी—जीव-गोस्वामी का भक्ति-काव्यशास्त्र, और केशव के युग में फैला हुआ श्रृंगारी कृष्ण-काव्य हैं। उनके युग तक कृष्ण-भक्ति के श्रृंगारी 'रस-काव्य' की एक विशाल मात्रा निर्मित हो चुकी थी, अभी उसका निरूपक काव्य-शास्त्र हिन्दी में कोई नहीं था। केशव एक ऐसा रस-शास्त्र हिन्दी को देना चाहते थे जो एक ओर तो भरत-परम्परा की आधार-भूमि लिये हो, दूसरी ओर श्रृंगारी काव्य पर खरा उतर सके, तीसरी ओर मधुरोपासक भक्तों के भी गले उतर सके। केशव ने रसिक-प्रिया में उसकी रचना का उद्देश्य इस प्रकार निरूपित किया है :

"अति रति गति मति एक करि विविध विवके विलास।
रसिकन कौं रसिकप्रिया कीन्हीं केशव दास।"[1]

यहां 'रसिक' शब्द विशेषतः ध्यान देने योग्य है। एक ओर यह काव्य के सामान्य सहृदय का वाचक है, दूसरी ओर केवल श्रृंगारी प्रवृत्ति के रसीले रसिकों की ओर संकेत करता है, तीसरी ओर केशव के भक्तियुग में कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में मधुरोपासकों के लिए प्रचलित अर्थ की भी सूचना देता है। इस पिछले अर्थ में इस शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत में भी मिलता[2] है और कृष्ण-मधुरोपासना तो इसे पूर्णतः अपनाकर केशव के युग में चल ही रही थी।

केशव इन तीनों प्रकार के रसिकों को ध्यान में रखकर रसिक-प्रिया में रस-स्वरूप एवं उसके अंगों-उपांगों का विवेचन करना चाहते हैं। पर हुआ यह है कि उनका विवेचन श्रृंगार की रसराजता में ही परिसीमित हो गया है। केशव को वैसे अपने उद्देश्य में एक पर्याप्त दूरी तक सफलता भी मिली है, किन्तु उद्देश्य की त्रिमुखी प्रवृत्ति के कारण उसमें कुछ ऐसी उलझनें भी आ गयी हैं जो हिन्दी समालोचकों को परेशान किये रहती हैं। अस्तु।

यहाँ संक्षेप में हम यह दिखाना चाहेंगे कि केशव ने इस त्रिमुखी उद्देश्य को कैसे निबाहा है। रस का स्वरूप भी उनकी दृष्टि से इस निरूपण में साथ ही स्पष्ट हो लेगा। इस विषय में उनका यह निरूपण ध्यान देने योग्य है :

"प्रथम सिंगार सुहास्य रस करुना रुद्र सुवीर।
भय बीभत्स बखानियैं अद्भुत सांत सुधीर॥
नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केसवदास हरि नायक है श्रृंगार।
रति मति की अति चातुरी, रतिपति मंत्र विचार।
ताही सौं सब कहत हैं कवि कोबिद श्रृंगार॥"

---

१. रसिकप्रिया : प्र० १, १ २।

२. "पिबत भागवंत रसमालयं·····रसिका भुवि भावुका :"
श्रीमदभाग० :

यहाँ प्रथम दोहे में भरत-परम्परा के ९ रसों को स्वीकृति दी गयी है, दूसरे में उन सबमें नायकत्व श्रृंगार का दिखाया गया है। साथ ही इसी दोहे में श्रृंगार को हरि-रूप कहा गया है, और इसी हरि-रूप श्रृंगार को अगले दोहे में रति-काम-रूप प्रतिपादित किया गया है।

केशव का रसिकप्रिया में रस-निरूपण में श्रृंगार की रस-राजता इष्ट है। चौदहवें प्रभाव में विविध रसों के लक्षण उदाहरण दिये गये हैं। लक्षण एक ओर तो इस रूप में हैं कि वे भरत-परम्परा में प्रचलित स्वरूप के अनुरूप हैं, दूसरी ओर वे रसराज श्रृंगार के अंगभूत रस का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। जो श्रृंगार-विरोधी रस हैं उनकी अंगता बनाने के लिए उनके लक्षणों में एक ऐसी मोड़ भी स्वीकार की गयी है जो उस रस के स्वतन्त्र रूप से अधिक दूर न जा पड़े। यह तो रही नौ रसों के स्वरूप-निरूपण की बात। किन्तु इनके उदाहरणों को रसराज श्रृंगार के अंग-रूप में ही मानकर प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार रसिकप्रिया का प्रतिपाद्य है रसराज श्रृंगार और श्रृंगार की रसराजता।

दूसरी ओर केशव ने अपनी निरूपण-पद्धति से यह भी स्वीकार किया है कि श्रृंगार से स्वतन्त्र भी सभी अन्य काव्यरसों की सत्ता है। रसिकप्रिया के चौदहवें प्रभाव में समस्त रसों के लक्षण-उदाहरण क्रम में अन्त में शान्त का निरूपण है। यहाँ पहले तो एक उदाहरण ऐसे शान्त का दिया गया है जो श्रृंगार के अन्तर्भूत है। ऐसा सभी रसों के प्रसंग में किया गया है। इसके अनन्तर समस्त विवेचन के अन्त में एक उदाहरण ऐसे शान्त का दिया गया है जो श्रृंगार के अन्तर्भूत नहीं है, निर्वेदमूलक शान्त है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करके केशव ने उपलक्षण-पद्धति पर यह संकेत दिया है कि इसी प्रकार अन्य रस भी श्रृंगार से स्वतन्त्र भी हो सकते हैं। रसिक-प्रिया उनके निरूपण का उद्देश्य लेकर नहीं चली, अतः उनका निरूपण स्वतन्त्र रूप में नहीं किया गया। इस मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसिकप्रिया में केशव की निरूपित रस-दृष्टि उनकी पूर्णतः अभिमत नहीं है, एक विशेष दृष्टिकोण से ही उन्होंने इस ग्रन्थ में उसे स्वीकार किया हुआ है।[1]

तीसरा दृष्टिकोण है उन रस-नायक श्रीकृष्ण की उपासना को समेटना जिनमें समस्त रस समाये हुए हैं। रसिकप्रिया के प्रारम्भ में केशव ने कृष्ण के सर्वरस-स्पर्शी रूप का ही स्मरण किया है :

"श्रीवृषभानु-कुमारि-हेतु श्रृंगाररूप भय।
बास हासरस हरे, मातु-बंधन करुनामय।
केसी-प्रति अति रौद्र, बीर मारो वत्सासुर।
भय-दावानल पान, पियो बीभत्स बकी उर।
अति अद्भुत बंचि विरंचि-मति, सांत संततै सोच चित।
कहि केसव सेवहु रसिक जन नवरसमय व्रजराज नित।"[2]

नवरसमय व्रजराज के उपासक रसिक कौन हैं, यहाँ यह भी स्पष्ट है। इस छंद में कृष्ण की विविध लीलाओं का संकेत करते हुए उन्हें नवरस-मय रस-राज के रूप में स्वीकार किया गया है। रसिकप्रिया की काव्य-साधना इन्हीं 'सुजान स्याम' को अपने भाव-विवश करने की साधना है :

१. रसिकप्रिया, प्रभाव १, दो० १५, १६, १७।
२. रसिकप्रिया : १।२।

"तातैं रुचि सों सोचि पचि कीजै सरस कवित्त।
केसव स्याम सुजान को सुनत होइ बस चित्त।"[१]

यही दृष्टिकोण रसिक-प्रिया में स्थान-स्थान पर व्यक्त होता रहा है और निरूपण को पर्याप्त प्रभावित करता रहा है :

क—"जग-नायक की नायिका बरनी केसवदास।
तिनके दर्सन-रस कहौं सुनौ प्रच्छन्न प्रकास।"[२]

ख—"इहि विधि राधा-रमन के बरने मिलन विसेखि।"[३]

ग—"मरन सु केसवदास पै बरन्यौ जाइ न मित्त।
अजर अमर जस कहि कहौं कैसें प्रेत-चरित्र।"[४]

केशव ने अनेकत्र इस बात का उल्लेख किया है कि यह राधा—राधा-रमण के श्रृंगार का विवेचन है, लौकिक श्रृंगार का नहीं :

क—"प्रेम राधिका कृष्ण कौ है तातैं श्रृंगार।
ताके भाव-प्रभाव तैं उपजत हाव-विचार।"[५]

ख—"इहि विधि स्याम-सिंगार-रस बहु विधि बरनो लोइ।
चारि बरन चहुं आश्रमनि कहत सुनत सुख होइ।"[६]

इस प्रकार केशव ने रसिक-प्रिया में किये हुए रस-निरूपण द्वारा त्रिमुखी साधना की है। इस प्रकार की निरूपण-साधना में यदि कुछ उलझनें पड़ जायं तो आश्चर्य ही क्या है? काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों को केशव के विवेचन को धैर्य से परखने की आवश्यकता है।

इस प्रकार केशव श्रृंगार-निरूपण को कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना से मिला देना चाहते हैं, किन्तु उनका ढाँचा मधुरोपसना का नहीं है। सखियों के भेद-प्रभेद का वर्णन है, पर वे सखियाँ मधुरोपासना की सखियाँ नहीं हैं, श्रृंगारी रस-ग्रंथों की सखियाँ हैं। मधुरोपासना की नित्य-मिलन की भावना में विरह का स्थूल रूप में कोई स्थान नहीं है, विरह के सम्बन्ध में अलग-अलग सम्प्रदायों की विशिष्ट दृष्टि है। रसिकप्रिया में वे दृष्टियाँ एक भी नहीं हैं। या तो केशव इन साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों से परिचित नहीं थे, या फिर साम्प्रदायिकता से दूर रहकर समूचे श्रृंगारी कृष्ण-काव्य के लिए भरत-परम्परा पर आधारित एक रसशास्त्र देना चाहते थे।[७]

केशव ने रस की निष्पत्ति और अनुभूति-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपना निरूपण प्रस्तुत नहीं किया।

---

१. रसिकप्रिया : १।१४।
२. वही : ३।७४।
३. वही : ५।३८।
४. वही : ८।५४।
५. वही : ६।१५।
६. वही : १३।२१।
७. "बाढ़ै रति, मति अति परै, जानै सब रस-रीत।
स्वारथ परमारथ लहै रसिक-प्रिया की प्रीति।"
—रसिकप्रिया : : षोडश प्रभाव : छन्द १६।

केशव का यह रस-सम्बन्धी आदर्श रसिक-प्रिया के काव्य में उदाहरणों के रूप में ही सामने आया है। उनके शेष काव्य में इस आदर्श का निर्वाह नहीं है। न ही उन्होंने इस रसिक कृष्ण-भक्ति को आत्म-भक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी भक्ति-भावना जो भी है, वह राम में है, और उसके आदर्शों में उनकी आस्था है। अतः उपर्युक्त रस-विषयक केशवी आचार्य-चेतना केशव के लिए ही निरूपित है, व्यवहृत नहीं। उनके साहित्य को रसिक-प्रिया की सिद्धान्त-पद्धति पर आंका नहीं जा सकता। किन्तु केशव पर कथनी-करनी के अन्तर का आक्षेप भी नहीं लगाया जा सकता। स्वयं रसिक-प्रिया में ही नव-रस की स्वतन्त्र मान्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, इसका निराकरण नहीं किया।

समीक्षा

अब तक हमने रस का स्वरूप समझने के लिए चार दृष्टियों से प्रयास किया है—संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से, वैष्णव दर्शनों की दृष्टि से, गोस्वामी आचार्यों की भक्ति-काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, तथा स्वयं वैष्णव कवियों की दृष्टि से। इस अध्ययन से हम ऐसे कई मोटे परिणामों पर पहुँच गए हैं जिनका हमें हिन्दी वैष्णव काव्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन करते समय ध्यान रखना चाहिये।

ऐसे परिणामों में से एक तो यह है कि वैष्णव कवि अपनी काव्यमयी वाणी में जिस रस की परिकल्पना प्रस्तुत करता है वह उसकी दृष्टि से हमारा समझा-बूझा काव्यरस नहीं है, वह वही रस है जिसका स्वरूप-निरूपण वैष्णव दार्शनिक ने किया है। उसने श्रुति-प्रतिपाद्य रसरूप लीलामय ब्रह्म की रसमयी लीलाओं का गान करते हुए लीला-रस का पान किया है और उसी का पान वह अपने पाठक को कराना चाहता है।

इस दृष्टि से काव्यशास्त्रीय रस और वैष्णव-दर्शन प्रतिपादित रस में तात्त्विक अन्तर हो जाता है। लौकिक स्थूल आनन्द से दोनों का आनन्द सूक्ष्म, विलक्षण एवं अलौकिक है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से एक बद्ध जीव की प्राकृत अनुभूति है, दूसरा सिद्ध भक्त की अप्राकृत। काव्यरस का रसिक प्रकृति के त्रिगुणात्मक चित्त की भूमिका में उसी की वृत्तियों का एक परिमार्जित आनन्द अनुभव करता है, भले ही यह आनन्द उसके आत्म-तत्त्व का हो। वैष्णव आचार्यों का दावा है कि उनका रस्य रस-तत्त्व और उसका आस्वादन दोनों ही प्राकृत गुण-चित्त की परिधि से बाहर हैं। भगवद्विग्रह-रूप शुद्ध सत्त्व के चित्त की अनुभूति है। काव्यरस काव्यानुशीलन के अल्प अभ्यास से ही सुलभ है, किन्तु वैष्णव रस भाग्यवानों का प्राप्य एवं अत्यन्त दुर्लभ है। वह साधना का विषय है।

काव्यरस की व्याख्या में हमें दो प्रकार के व्याख्याकार मिलते हैं—एक जिनका दृष्टिकोण द्वैतवाद के अनुरूप है, दूसरे वे जिनकी दृष्टि अद्वैत-परक है। आज जिनका रस-सिद्धान्त प्रमाण-रूप में स्वीकृत है वे सब अद्वैत-परक लोग हैं, वह अद्वैत चाहे शैवाद्वैत हो चाहे शांकर अद्वैत। इस दृष्टिकोण की छाया में काव्यरस आस्वादन से भिन्न आस्वाद्य पदार्थ नहीं, सहृदय के आत्म-रूप का परिमार्जित चित्त की भूमिका में आस्वादन है। किन्तु वैष्णव दर्शनों में यह अद्वैती दृष्टि नहीं है। नाम से विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि में ये दर्शन अद्वैत शब्द का प्रयोग करते हैं, परम तत्त्व को एक, अखण्ड, व्यापक अद्वैत सत्ता के रूप में निरूपित करते हैं, फिर भी जीव और जगत् की सत्ताओं को प्रातिभासिक स्वीकार न करके द्वैत की ही प्रतिष्ठा करते हैं। फल यह हुआ कि उनका प्रतिपादित रसतत्त्व भोक्ता

जीव का आत्मानन्द नहीं है, आराध्य भगवान् का गुण, धर्म या स्वरूप है। इस प्रकार प्रमाता के लिए रस-तत्त्व रस्य या आस्वाद्य है। इसका एक सहज परिणाम यह हुआ है कि वैष्णव कवि अपने काव्य में आस्वाद्य लीलामय रसरूप राम और कृष्ण विभाव-पक्ष में रख सके हैं। अतः विभाव-रस और भक्तिरस के दो अलग-अलग रूप इस काव्य में उभर-कर आते हैं। राधा और कृष्ण की नित्य शृंगारमयी लीलाओं के चित्रण में उन्मुक्त शृंगार का चित्रण करके एक भक्त कवि अलौकिक एवं अप्राकृत शृंगाररस का विभाव-पक्ष खड़ा कर सकता है किन्तु उसकी भक्तिमयी रति उस शृंगार में एक सहचरी के अनुरूप ही तटस्थतया ही लीन हो सकती है। इस प्रकार वैष्णव रस में आस्वाद्य रस और आस्वादन रस के दो भेद अनेक स्थलों पर स्पष्ट हो गए हैं। इसकी व्याख्या काव्यरस और वैष्णव रस की दार्शनिक आधार-भूमि समझने पर ही जानी जा सकती है।

रस-परिकल्पना में तीन प्रमुख बातें आती हैं—कवि की रस-सर्जना, कवि द्वारा अपने परिकल्पित रस की अभिव्यक्ति तथा सहृदय सामाजिक द्वारा उसकी अनुभूति। वैष्णव काव्य में कवि-परिकल्पित रस के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि कवि ने अप्राकृत रस की परिकल्पना नहीं की। उसकी अनुभूति पर सच्चाई की कमी, कृत्रिम भावावेश और स्वानुभूति के अभाव के दोष भी नहीं लगाए जा सकते। सहजता, अकृत्रिमता और स्वानुभूति उसकी रस-परिकल्पना के स्वभाव रहे हैं। पर उसकी रस-परिकल्पना की अभिव्यक्ति ऐसी वाणी में हुई है जो केवल भक्ति-वाणी ही नहीं, पूरी सामर्थ्य के साथ काव्य-वाणी भी है। फल यह हुआ है कि उसमें एक ओर वैष्णव रस का परिपाक है, दूसरी ओर काव्य-रस का।

वैष्णव रस की उसी गहराई और अप्राकृत मात्रा तक अनुभूति जिस मात्रा तक वैष्णव दार्शनिकों ने निरूपित की है, काव्य-रसिक के लिए असंभव है। वैष्णव दर्शन प्रति-पादित एवं कवि का स्वानुभूत रस जो इस काव्य में निहित है, लम्बी साधना वाले भावुक भक्तों का ही आस्वाद्य है। काव्य-रसिक के सामने तो यह वैष्णव रस एक काव्यरस के रूप में ही आता है। अतः उसका आस्वाद्य भक्तिरस एक काव्यरस है, यह ध्यान रखने की बात है।

साहित्य का विद्यार्थी हिन्दी वैष्णव साहित्य को एक साहित्य एवं काव्य के रूप में ही देखता है और उसमें निहित रस की परीक्षा काव्यरस के रूप में ही करता है। यही मार्ग स्वाभाविक भी है और उपयुक्त भी। हम कवि-सर्जना की दृष्टि से रस-परिकल्पना की व्याख्या करते हुए तो यह स्पष्ट कर सकते हैं कि इस काव्य में कवि किस रस की सृष्टि करना चाहता है और उसमें वह कहां तक सफल-असफल है, किन्तु उसकी अभिव्यंजना की सफलता-असफलता और उसकी अनुभूति की व्याख्या एक काव्य-समीक्षक और काव्य-रसिक के नाते ही कर सकते हैं। एक साहित्यिक अध्येता के कार्य-क्षेत्र में इतना ही आता है और, इस कार्य के सम्पादन के लिए हमें लौटकर काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को ही मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। यह बात दूसरी है कि हम वैष्णव काव्य की रस-परिकल्पना की व्याख्या में वैष्णव दर्शन और वैष्णवी भक्ति के आधार सिद्धान्तों से भी कुछ सहायता लें।

काव्यानुभूति की कुछ समस्याएं—अभी हमने रस-परिकल्पना में तीन बातों का निर्देश किया है। उनमें अन्तिम है काव्य से मिलने वाली सहृदय सामाजिक की काव्यानुभूति। इसी काव्यानुभूति से सम्बद्ध कतिपय समस्याओं को स्पष्ट कर लेना यहां अप्रासंगिक न होगा।

उनके स्पष्टीकरण के बिना वैष्णव काव्य में रस परिकल्पना के अध्ययन में बाधा हो सकती है। इन समस्याओं को हम रस-निष्पत्ति की समस्याएं कह सकते हैं।

सामान्यतः रस-निष्पत्ति में सहृदय की काव्यानुभूति का स्वरूप इस प्रकार है: काव्यानुभूति के लिए संस्कृत काव्य-शास्त्र में विषय-पक्षीय और सहृदय-पक्षीय दोनों प्रकार की कुछ योग्यताएं अपेक्षित समझी गयी हैं। काव्य में जिस रस को कवि प्रस्तुत कर रहा है उसकी प्रातिभ स्वानुभूति उसमें होनी चाहिए। उस रस की अभिव्यक्ति में प्रभावोत्पादक लालित्य एवं औचित्य होना चाहिए। यह औचित्य भाव-विधान, पात्र-योजना, भाषा-संविधान आदि सभी क्षेत्रों में अपेक्षित है। कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति सहृदय-संवेद्य होनी चाहिए आदि बातें विषय-पक्षीय योग्यताएं हैं। सहृदय को काव्यानुशीलन का अभ्यासी, परिमार्जित रुचि-सम्पन्न, कल्पनाशील, वर्णनीय विषय एवं भाव में तन्मय होने की क्षमता से युक्त, तथा काव्य के प्रस्तुत रस एवं भाव के संस्कारों एवं वासना से युक्त होना चाहिए, आदि बातें विषयि-पक्षीय योग्यताएं हैं। ऐसे ही व्यक्ति को पारिभाषिक रूप में 'सहृदय' कहा गया है और उक्त विशेषताओं से सम्पन्न वाणी को 'काव्य'।

तो, काव्य के द्वारा सहृदय के मानसपटल पर कतिपय पात्रों-परिस्थितियों के गोचर बिम्ब प्रस्तुत किये जाते हैं। काव्य इन्हीं का वर्णन-चित्रण करता है। ये बिम्ब, यदि काव्य पठ्य काव्य है तो शाब्दी प्रतीति के माध्यम से आते हैं, अभिनेय है तो प्रत्यक्षानुभूति के रूप में। इस ज्ञानात्मक अनुभव में सहृदय का लौकिक अनुभव, संस्कार और अनुमान-क्षमता काम करते रहते हैं। इस प्रकार काव्य-सामग्री का सहृदय को मानस प्रत्यक्ष होता है।

इस सामग्री में आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव, आश्रयपात्र और यदा-कदा साक्षात् रूप में भावाभिव्यंजना करता हुआ कवि भी—सभी चीज़ें आ जाती हैं। इस सामग्री के सम्बन्ध में हमें यहां एक बात कहनी है। काव्य-निष्ठ वर्णित रूप में इस सामग्री का आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव, संचारी आदि के रूप में वर्गीकरण करना और अलग-अलग करके देखना तो ठीक है, किन्तु सहृदय की अनुभूति के लिए यह सब सामग्री विभाव सामग्री ही होती है। 'विभाव' का पारिभाषिक अर्थ है सहृदय के भावों को जगाने वाली वस्तु। इस अर्थ में सभी सामग्री सहृदय के लिए विभाव है। दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रसिद्ध उदाहरण में शकुन्तला ही सहृदय ही रति के उद्बोधन या विभावन के लिए विभाव नहीं है, दुष्यन्त, उसकी चेष्टाएं; कवि का समूचा वर्णन एक भावोपयोगिनी परिस्थिति के रूप में अंकित होकर 'विभाव' है।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि नाम तो काव्य-वर्णित स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए दिये जाते हैं, सहृदय के लिए यह सामग्री रसोद्बोधन का काम करती है। यदि भरत-कालीन नाम का प्रयोग करें तो इस समस्त विभाव-सामग्री को हम 'भाव-सामग्री' कह सकते हैं। भरत ने अनेकत्र इसी व्यापक अर्थ में 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु आज यह शब्द चित्तवृत्त्यात्मक भावों के लिए रूढ़-प्राय हो गया है, अतः इसके प्रयोग से भ्रान्ति हो सकती है।

इस मान्यता के दो सहज निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह कि हम काव्य-निष्ठ सीता-शकुन्तला के प्रति रति अनुभव नहीं करते, काव्य-निष्ठ सीता-शकुन्तला हमारी रति के भाव को उद्बुद्ध या विभावित करते हैं। दोनों बातों में अन्तर है: हम काव्य-शकुन्तला के प्रति रति अनुभव करते हैं—यह बात हमारे व्यष्टि-परक भाव के उदबोधन को सिद्ध

करती है। काव्य-शकुन्तला हमारी रति को विभावित करती है, इसका अर्थ है हमारे मन की सहज-साधारण रति का प्रादुर्भाव होता है। हम, इसी प्रकार का सहज-प्रादुर्भाव काव्य-पात्रों द्वारा अनुभव करते हैं। इस भाव-प्रादुर्भाव या विभावन में शकुन्तला और दुष्यन्त अपनी परिस्थिति के बीच चित्रित होकर समान रूप से योग-दान करते हैं। अतः विभावन-सामग्री एक भावानुकूल परिस्थिति है, समूची सामग्री में से अलग निकालकर रखा हुआ कोई कोरा व्यक्तित्व नहीं।

दूसरी बात यह कि सहृदय के लिए यह अनिवार्य नहीं रह जाता कि वह काव्य में वर्णित किसी एक पात्र के समान ही दूसरे पात्र के प्रति भावानुभूति करे। यह हो सकता है कि हमारा उद्बुद्ध भाव अनेक प्रसंगों में उसी भाव के मेल में हो जिसका अनुभव काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र कर रहा है। उदाहरण के तौर पर हम दुष्यन्त के भावों के समान ही भावों की अनुभूति कर सकते हैं। किन्तु सभी जगह यह अनिवार्य नहीं कि हम काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र से समानुभूत हों। कभी हम समानुभूत भी हो सकते हैं, कभी अन्य प्रकार की भावात्मक प्रतिक्रिया भी प्राप्त कर सकते हैं।

विभाव-सामग्री के फलस्वरूप हमारे मन में जो भावोद्बोधन होता है उसे हम सामाजिक-निष्ठ भावात्मक प्रतिक्रिया कहना चाहते हैं। हमारी अनुभूतियों एवं अनुभवों का स्वभाव ही यह है कि जैसी अच्छी-बुरी, कोमल-कठोर, सुन्दर-असुन्दर वस्तु हमारे ज्ञान-पटल पर आती है, हमारे चित्त-संस्कारों के अनुरूप हममें वैचारिक या भावात्मक प्रतिक्रिया निहित करती हुई जाती है। यह भावात्मक प्रतिक्रिया उस रूप की भी हो सकती है जिसको कि और भी हम-से अनेक व्यक्ति अनुभव करते हैं। कारण, हमारा चैत्तिक व्यक्तित्व अनेक समान तत्त्वों से संघटित हुआ है और उसके विकास-निर्माण में समान संस्कारों एवं समान प्रक्रियाओं का योग है। यदि हमारा चैत्तिक व्यक्तित्व कुछ असाधारण हुआ तो हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया अन्य अनुभव-कर्ताओं से भिन्न भी हो जाती है। काव्यानुभूति में, विशेषकर रस-काव्य में, एक विशेषता यह होती है कि कवि जन-सामान्य के स्तर और अनुभूति का ध्यान करते हुए चलता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में वह लोकहृदय होकर चलता है। अतः उसकी प्रस्तुत सामग्री की भावात्मक प्रतिक्रिया एक सहृदय में वैसी ही प्रायः होती है जैसी अन्य सहृदयों की भी हो सकती है। इसीलिए काव्यानुभूति को सकल-सहृदय-हृदय-संवाद-भाजक कहा जाता है।

सहृदय की यह भावात्मक प्रतिक्रिया काव्य-निष्ठ किसी भावाभिव्यंजना करने वाले पात्र के अनुरूप भी हो सकती है, प्रतिरूप-विरूप भी। जहाँ अनुरूप होती है, हम कह सकते हैं कि सामाजिक और आश्रय-पात्रों में तादात्म्य घटित हुआ है, अथवा सामाजिक ने आश्रय से समानुभूति प्राप्त की है। किन्तु जहाँ भावात्मक प्रतिक्रिया भिन्न-रूपा होती है वहाँ समानुभूति या तादात्म्य नहीं होता।

वस्तुतः सहृदय की काव्यानुभूति की व्याख्या के लिए सारी काव्य-सामग्री में से एक भावाभिव्यंजक आश्रय-पात्र को निकालकर उसके साथ सहृदय की भावात्मक-प्रतिक्रिया का मेल-बेमेल दिखाना ही बेकार है। आश्रय-पात्र सब जगह होता भी नहीं। हास्य की सामग्री का चित्रण होता है, अनेकत्र कोई आश्रय पात्र ही नहीं होता। भयंकर और जुगुप्सित अनेक चित्र होते हैं, कोई आश्रय-पात्र नहीं होता। प्रकृति की सुन्दर और भीषण अनेक झाँकियाँ आती हैं, कहीं कोई आश्रय-पात्र नहीं। तब, ऐसे प्रसंगों में सहृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया

का किससे तादात्म्य या समानुभूति कही जाय ? यहाँ कहा जा सकता है और कहा भी जाता है कि सहृदय कवि के साथ तदात्म होता है, उसी के साथ समानुभूति प्राप्त करता है। ऐसा समझना भी अनुचित है। यह हो सकता है कि हम अनेक स्थलों पर वैसा ही अनुभव करते हैं जैसा अपनी विषय-वस्तु के प्रति कवि अनुभव करता है, पर सर्वत्र हम कवि की वस्तु को उसी की आँख से देखने के लिए बाध्य नहीं होते। एक प्रगतिवादी कहलाने वाला कवि समाज की स्वीकृत किसी स्वस्थ परम्परा पर उपहास करते हुए व्यंग करता है। समूचा चित्रण उसकी भाव-व्यंजना के अनुरूप है। भाषा-योजना एवं कवित्व अक्षत है। उसकी अपनी अनुभूति में सच्चाई और स्वानुभूति है। व्यक्तिगत राग या कहिए द्वेष भी है। पर वह मान्यता स्वस्थ सामाजिक मन को प्रिय है। क्या ऐसी कवि-भावव्यंजना में सामाजिक कवि से तदात्म हो सकेगा ? तब तक नहीं हो सकता जब तक वह भी वर्गवादी सहृदय न बन जाय।

वैष्णव-काव्य के अनेक रूपों ने तो कवि के साथ तादात्म्य वाली बात को अस्वीकार्य सिद्ध कर दिया है। नमूने के तौर पर श्रीभट्टजी के युगलशतक से यह चित्र लिया जा सकता है :

"उठत भोर लालजू के संगते कंचुकि कसत राधिका प्यारी।
खिसि खिसि परत नीलपट सिरते शशिवदनी नव जोबन वारी॥
मन भांवती लाल गिरधरजू की रची विधाता सुहाथ संवारी।
जै श्रीभट्ट सुरत-रंग भीने लखे प्रिया-जुत कुंज-विहारी॥" पद ३८।

इस चित्र में राधा-कृष्ण युगल के संभोग श्रृंगार का व्यंजनात्मक चित्रण है। प्रातः-कालीन सुरतान्त छटा के वर्णन से संभोग की व्यंजना होने के कारण श्रृंगार का चित्रण काव्यात्मक है। पर इस श्रृंगार में कवि डूबकर भी उस अर्थ में नहीं डूबना चाहता है जिस अर्थ में सामान्यतः समझा जाता है। वह कान्ताभाव का भक्त है, उसकी निष्ठा का रूप साम्प्रदायिक है, वह सहचरी के रूप में ही इस युगल-छवि की दर्शनात्मक झांकी ले सकता है। इस चित्र से उसमें रति का उदय तो होगा किन्तु वह रति श्रृंगार-क्षेत्रीय दाम्पत्य-रति से सर्वथा भिन्न होगी। वह राधा-कृष्ण की दाम्पत्य-रति से तटस्थ, उनके प्रति सहचरी-रति होगी। कान्ताभाव की इस रूढ चेतना को लेकर चलने वाले कवि के साथ किसी ऐसे ही साम्प्रदायिक रसिक पाठक का ही तादात्म्य कहा जा सकता है, काव्य-रसिक सहृदय का तो नहीं। वह तो इस समूचे चित्र से भावात्मक प्रतिक्रिया प्राप्त करता है और वह होती है रति की, जिसका परिपाक साहित्यिक श्रृंगार कहलाता है। अतः यह सिद्धान्त भी अपने में कम लचर नहीं कि सहृदय कवि से तादात्म्य या समानुभूति प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करके चलने पर वैष्णव काव्य की रस-परिकल्पना में सामाजिक की काव्यानुभूति अविश्लेषित ही रह जाती है।

अतः यही सिद्धान्त हमें स्वीकार्य है कि काव्य-सामग्री समूचे रूप में, जिसमें आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव तथा यदि कवि भी साक्षात् उपस्थित है तो वह भी, सब सम्मिलित हैं। सामाजिक के मानस-पटल पर ज्ञानात्मक अनुभव प्रदान करती हुई अर्थात् गोचर बनती हुई भावात्मक प्रतिक्रिया प्रदान करती है। यह भावात्मक प्रतिक्रिया अनेक स्थलों में काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र से समानुभूत होती है, अनेक स्थलों में कवि से समानुभूत होती है, किन्तु

इसका सर्वत्र ही आश्रय-पात्र या कवि से तदात्म होना अनिवार्य नहीं। यह उनकी अनुभूति से विरूप-प्रतिरूप भी हो सकती है।

काव्य में प्रस्तुत यह विभाव-सामग्री सामाजिक के हृदय में साधारणीभूत भावों की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, अर्थात् सामाजिक के भाव निजत्व-परत्व के रूप में न होकर सामान्य भूमि के होते हैं। इस सामान्य भावोदय का कुछ श्रेय तो सहृदय की आस्वादन-क्षमता को होता है, बहुत-कुछ विभाव-सामग्री की साधारणीकृतरूपता को होता है। जैसी वस्तु हमारे सामने आती है हम तदनुरूप भावात्मक अनुभूति करते हैं। सुन्दर वस्तु के सामने आने पर सौन्दर्य-मग्नता और कुरूप के सामने आने पर जुगुप्सा की भावात्मक प्रतिक्रिया होना हमारे मन का सहज स्वभाव है। अतः साधारणीकृत विभाव-सामग्री के सामने आने के कारण हमारा भावोद्बोधन भी साधारण भूमि का होता है।

यह साधारणीकरण क्या है और इसका स्वरूप क्या है, इस पर भट्टनायक के समय से निरन्तर विचार-विवेचन होता चला आ रहा है और अब भी इसकी अनेक गुत्थियां अस्पष्ट हैं। पर इसकी महत्ता निर्विवाद है। इसके बिना काव्यानुभूति की समस्या का हल नहीं होता।

काव्य में वर्णित सामग्री कवि द्वारा देश-काल-व्यक्तित्व के परिपूर्ण बिम्बन के साथ सविशेष रूप में चित्रित की जाती है। यदि वह ऐसा न करे तो वैचारिक साहित्य के समान उसकी वाणी केवल विचारोद्बोधन कराकर ही रह जाय, भावोद्बोधन के लिए उपयोगी वस्तु-बिम्बन न करा सके। तब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह सविशेष सामग्री सामाजिक के भावोद्बोधन का कार्य कैसे करती है? काव्य की सीता-शकुन्तला, जो किसी एक काल की, एक देश-विशेष की तथा किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों की पात्रियां हैं, किन्हीं विशिष्ट राम-दुष्यन्त के हृदय में ही भावात्मक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कर सकती हैं; आज सामाजिक के मन में तो उनकी रत्यादि उद्बोधन के लिए उपयोगिता स्वीकार नहीं की जा सकती। इन बाधाओं को दूर करने के लिए ही भट्टनायक ने साधारणीकरण व्यापार को परिनिष्ठित रूप दिया था। कवि-भाषा और रंगमंचीय कौशल एवं सज्जा के प्रभाव से तथा सहृदय की सहृदयता के अनु-योग से कवि-वर्णित विभाव-सामग्री असाधारण-रूप में चित्रित होते हुए भी सामाजिक की प्रतीति के लिए साधारणीभूत हो जाती है। साधारणीकृत विभावादि का निरूपण करते हुए मम्मट ने कहा है कि ये सामाजिक की चेतना में अपने-पराये के निश्चित सम्बन्धों के स्वीकार-परिहार दोनों से अलग, साधारण्यात्मक चेतना से परिगृहीत होते हैं।[1] अभिनव ने इनके साधारणीकृत होने का एक मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक हल दिया है। सामाजिक के चित्त-फलक पर प्रस्तुत विभावादि-सामग्री के देश-काल-व्यक्तित्व विशिष्ट रूप में वर्णित होते हैं, दूसरी ओर सामाजिक का अवचेतन मन इस सामग्री की कविकल्पना-प्रसूतता तथा देश-काल-व्यक्तित्व-हीनता से परिचित होता है। वह जानता है कि यह सब-कुछ नहीं है। न वास्तविक राम हैं, न वास्तविक सीता, न वास्तव में उनका युग। इस प्रकार उसके सामने नटादि ही होते हैं। काव्य में नटादि का प्रतिनिधि कवि-शब्दों को लिया जा सकता है। तब सामाजिक के चेतना-फलक पर दो प्रकार के विशेष एक-दूसरे के विरोध में खड़े दिखायी देते हैं। एक ओर मूल

---

१. काव्यप्रकाश : उ० ४ : पृ० ९१-९२। "ममैवेते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवेते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इतिसम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमनध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः····· स्थायी·····रसः।"

पात्रों में निहित विशेष, दूसरी ओर नटादि में निहित विशेष, काव्य में कवि-शब्दों में निहित विशेष। ये दोनों प्रकार के विशेष आपस में एक-दूसरे से टकराकर समाप्त हो जाते हैं और विभावादि सामग्री सामाजिक के लिए साधारणीभूत रह जाती है :

"यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनाम् अन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।"[1]

तब साधारणीकरण का अर्थ हुआ विभावादि सामग्री का सामाजिक की चेतना में इस प्रकार लाया जाना कि वे उसमें भावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकें अर्थात् भावोद्बोधन कर सकें।

किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभावादि का इस रूप में लाया जाना साधारणीकरण माना है जिसमें वे सभी सामाजिकों के उसी भाव के विषय बन सकें जिसके कि काव्य में वर्णित आश्रय पात्र के बन रहे हैं। शुक्लजी की यह मान्यता आचार्य विश्वनाथ के प्रभाव से बनी है जिसमें विश्वनाथ ने विभाव के साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य की बात कही है।[2] शुक्लजी भी आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं।[3] किन्तु यह मान्यता अभिनवगुप्त द्वारा प्रमाणित नहीं होती। हम ऊपर लिख चुके हैं कि काव्यानुभूति में आश्रय से जहां-कहीं तादात्म्य मिल जाने पर भी सर्वत्र ऐसा नहीं होता। अतः इस मान्यता को एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः साधारणीकरण का अर्थ विभावादि-सामग्री का केवल इसी रूप में सामाजिक के सामने लाया जाना कहा जा सकता है कि वह सामाजिक में भावों को विभावित कर सके। इन विभावित होने वाले भावों के साथ यह क़ैद नहीं लगायी जा सकती कि वे काव्य में वर्णित आश्रय-पात्र के अनुरूप ही होने चाहिए।

विभावादि के साधारणीकरण के आश्रय-पात्र या कवि के साथ सामाजिक के भाव-तादात्म्य का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। हमने पीछे जो श्रीभट्ट का पद्य प्रस्तुत किया है उसमें सामाजिक का श्रीभट्ट से भाव-तादात्म्य नहीं है। सामाजिक उक्त चित्र में काव्य-संस्कारों के अनुरूप अमिश्रित शृंगार की ही अनुभूति करता है, किन्तु श्रीभट्टजी अपनी साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा के अनुरूप उक्त चित्र में सहचरी-रति का आस्वादन करते हैं। अतः कवि और सामाजिक के बीच वहाँ भाव-तादात्म्य तो नहीं है किन्तु उसमें साधारणीकरण भी नहीं है, ऐसा कहना अनुभूति के सिद्धान्त को ही झुठलाना है। राधा, कृष्ण, उनके अनुभाव, उनकी अनुभूतियां सभी कुछ साधारणीकृत होता है और सामाजिक के हृदय में भावोद्बोधन की पूरी-पूरी क्षमता रखता है। अतः कहा जा सकता है कि विभावादि का साधारणीकरण वहां भी होता है जहां हम कवि या आश्रय पात्र से तदात्म होते हैं, वहां भी हो सकता है जहां हम उसकी उपेक्षा कर काव्य-संस्कारों और अपने व्यक्तित्व के अनुरूप भिन्न प्रकार की अनुभूति कर रहे होते हैं। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि का काम सामाजिक को साधारणीभूत भावों की प्रतिक्रिया प्रदान करना है, आश्रय या कवि से तदात्म कराना नहीं।

ऊपर के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य में सर्वत्र अनिवार्यतः साधारणीकरण हो जाता है, भले ही हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया आश्रय के अनुरूप या विरूप हो।

---

१. अभि० भा०, भा० १, पृ० २७१।

२. सा० द०, परि० ३, का० ९—"प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।"

३. चिंतामणि, भा० १, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद।

इस प्रकार के साधारणीकरण की कोई सीमा नहीं होगी। किन्तु ऐसा समझना भी ठीक नहीं। साधारणीकरण के मूल में दो तत्त्वों को स्वीकार किया जा चुका है—लालित्य एवं औचित्य। ये तत्त्व भाषा, पात्र, परिस्थिति, भावाभिव्यक्ति सभी स्तरों पर अपेक्षित हैं। इनमें भी औचित्य तो साधारणीकरण का प्राणाधार तत्त्व है। उसकी कमी हो जाने पर विभावादि रसोपयोगी साधारणीकरण नहीं पा पाते। अर्थात् वे देश-काल-व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त होकर सामाजिक के सामने नहीं आ पाते। रसाभासी काव्यों में प्रायः यही होता है। तब सामाजिक प्रायः औचित्य-अनौचित्य के विचार को साथ लिये हुए पात्रों एवं परिस्थितियों के प्रति विविध वैचारिक एवं भावात्मक प्रतिक्रियाएं प्राप्त करता है। उदाहरण-स्वरूप एक अत्याचारी एवं क्रूर व्यक्ति के द्वारा किसी श्रमिक निर्धन को सताये जाने पर हम उस क्रूर के क्रोध में तो योग देते ही नहीं, साथ ही उस पीड़ित के प्रति करुणा से भर जाते हैं, उस अत्याचारी के प्रति घृणा और रोष संचित करते हैं—आदि, आदि। इस प्रकार औचित्य-रहित भावाभिव्यक्ति के स्थलों में साधारणीकरण अपूर्ण रह जाता है। किन्तु वहां भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता।

रसाभासी काव्यों में एक मात्रा तक साधारणीकरण होता है, इसका एक कारण है। रसाभासी काव्यों में अनौचित्य कवि द्वारा जाना-बूझा ही लाया जाता है। वह अनौचित्य इसलिए ही लाया जाता है कि सामाजिक-काव्य वर्णित पात्रों के व्यक्तित्व और प्रकृति के प्रति कवि की अभिप्रेत प्रतिक्रिया प्राप्त कर सके। उद्देश्य तो सदा कवि का यही होता है, किन्तु उसे अपने इस उद्देश्य में सर्वत्र सफलता ही मिलती हो, यह आवश्यक नहीं होता। मधुरोपासक वैष्णव कवियों ने शृंगार के चित्रण में जान-बूझकर लोक-मर्यादा एवं औचित्य को तिलांजलि दी है। ऐसा करके वे राधा-कृष्ण के प्रेम की सघनता और तीव्रता की अनुभूति कराना चाहते हैं। चैतन्य-सम्प्रदायी भक्तो ने इसी सघनता को अनुभव कराने के लिए परकीयात्व का आदर्श अपनाया है। इस प्रकार इन सम्प्रदायों का भक्त कवि भक्ति के उच्चतम आदर्श की अनुभूति सामाजिक को कराने के लिए औचित्य का परित्याग और अनौचित्य का स्वीकार करता है। किन्तु उसे सर्वांश में सफलता नहीं मिलती। उसके अनेक चित्रों में काव्य-संस्कारी एवं समाज-चेतना-सम्पन्न सामाजिक भक्ति की अनुभूति तो करता ही नहीं, अमिश्रित निर्मल शृंगार की अनुभूति भी नहीं कर पाता। उसे वैसी ही तटस्थ भावात्मक प्रतिक्रिया मिलती है जैसी उसे अन्यत्र प्रायः रसाभासी काव्यों में मिला करती है एक भक्त-साम्प्रदायिक उसकी इस अनुभूति को प्राकृत, लौकिक, अज्ञान एवं जड़ता आदि नाम दे सकता है, किन्तु काव्यानुभूति के नाते उसकी भावात्मक प्रतिक्रियाओं को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि इस प्रकार के औचित्य की कमी वाले काव्यों में भी विभाव-सामग्री का एक मात्रा तक साधारणीकरण होता है। पर इस साधारणीकरण में वैसी पूर्णता नहीं होती जैसी प्रकृत रस-काव्य के स्थलों में होती है।

इस साधारणीकृत विभाव-सामग्री द्वारा औचित्य की मात्रा एवं स्वरूप के अनुरूप सामाजिक हृदय में साधारणीभूत भावों का उदय होता है। ये भाव स्वरूपतः उसकी वासनारूप होते हैं। इस भावोदय में चित्त की सात्त्विकता होती है, प्रमाता का हृदय अन्य संवेद्यों से शून्य होता है। फल यह होता है कि उसकी अनुभूति में सघनता एवं चेतना में विश्रान्ति होती है। इस प्रकार मनोमय और आनन्दमय उभय कोशों के स्तर पर मिली-जुली काव्यानुभूति सहृदय के लिए आनन्दमय होती है।

इस आनन्दमयी काव्यानुभूति को ही रस कहा गया है। इसकी स्वरूपात्मक व्याख्या विभिन्न दर्शनों के सहारे संस्कृत काव्याशास्त्रियों ने की है जिसे हम प्रथम अध्याय में देख चुके हैं। उन सभी दर्शनों का उपयोग तो यत्र-तत्र हुआ है। पर सभी व्याख्याओं में इसी आनन्दमयी स्थिति की व्याख्या नहीं हुई है। ऐसा सफल प्रयास केवल शैव और वेदान्त का प्रयोग करने वाले आचार्यों द्वारा ही हुआ है।

अनात्मवादी दर्शनों की दृष्टि से यदि इस काव्यानन्द की व्याख्या की जाय तो यही कहा जायेगा कि यह मनोवृत्तियों की एकाग्रता के कारण अनुभूत कुछ सूक्ष्म वासनात्मक। आनन्द है। दुःखवादी बौद्धों की दृष्टि में यह आनन्द आनन्दाभास ही कहा जा सकता है। चित्र-तुरग जैसी भ्रान्तियों पर आधारित कल्पनामूलक आनन्द ही रस है, ऐसा कहा जा सकेगा।

आत्मवादी दर्शनों में न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से यह आनन्द मानसेन्द्रिय-ग्राह्य है। इन दर्शनों के अनुसार आत्मा का पूर्ण रूप आनन्द-स्वरूपात्मक नहीं, दुःखाभाव ही इनकी आनन्दावस्था है। संसारावस्था के समूचे सुख दुःखावृत हैं, अतः दुःख-रूप ही हैं। अतः काव्यानन्द भी शुद्ध सुख नहीं है। उसकी अनुभूति भी एक भ्रम है।

मीमांसक भी आत्मा को आनन्दरूप नहीं मानता। उसके अनुसार भी काव्य-रस विशुद्ध आनन्द नहीं कहा जा सकता। मीमांसा के अनुसार मोक्ष सुख यद्यपि भावात्मक है किन्तु काव्यरस को तात्त्विक आत्मरस की अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता, चित्तवृत्ति के धरातल का ही समन्वित-वृत्ति-मूलक आनन्द कहा जा सकता है।

सांख्य की दृष्टि से कहा जा सकता है कि काव्य-सामग्री साधारणीकृत होकर चित्तवृत्ति का अंग बनती है। दूसरी ओर से प्रमातृ-चित्त उसका ग्रहण करता है और उसकी पौरुषेय बोध के रूप में परिणति होती है। इस प्रक्रिया में चित्त में रजस्-तमस् दब जाते हैं और सत्त्व का प्रकाश बढ़ जाता है। सत्त्व का प्रकाश ही स्वरूपतः सुखात्मक है। अतः काव्यरस की अनुभूति प्राकृत चित्त की ही अनुभूति या परिणति है। तच्छायापत्ति से एकाकार हुई चेतना उसके आस्वादन का अभिमान करती हुई अपने को आनन्दमग्न अनुभव करती है।

इन दर्शनों में एक शैव दर्शन ही ऐसा है जो काव्यानन्द को भी मोक्षानन्द के समान आत्म-स्वरूप मानता है। संविद् की विश्रान्ति ही का आनन्द रस है, वह मोक्ष में भी व्यक्त होता है, काव्यानुभूति में भी, विषयानुभूति में भी। प्राकृत किन्तु परिमार्जित चित्त के धरातल पर उक्त विश्रान्त संविद् की अनुभूति होने के कारण शैव दर्शन की दृष्टि में काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है। यह आनन्द वेदान्तियों के समान उसकी दृष्टि में विवर्त-रूप नहीं है।

किन्तु वेदान्त की दृष्टि में यह आनन्द एक भ्रम है। फिर भी इस आध्यासिक अनुभूति में आत्म-तत्त्व का ही प्रकाशन होता है। अन्य आवरणों का यहाँ भंग हो जाता है, केवल एक रत्यादि-रूप सात्त्विक चित्त का निर्मल आवरण उस पर जाता है। अतः एक निर्मल आवरण से आवृत आत्मानन्द ही काव्यरस है।

किन्तु वैष्णव दर्शनों की दृष्टि में यह काव्यानन्द आत्मानन्द का प्रकाशन न होकर प्रकृत चित्त की एक सात्त्विक एवं परिमार्जित अनुभूति है। यह अनुभूति सूक्ष्मता और सघनता के कारण लौकिक विषय-सुखों से विलक्षण एवं तीव्र होने से अलौकिक भले ही कही जा सके, किन्तु इसे अप्राकृत तो नहीं कहा जा सकता। अतः उनकी दृष्टि में काव्य-रस भी तात्त्विक

दृष्टि से रसाभास है। सच्चा रस तो है श्रुति-प्रतिपाद्य लीलामय पुरुषोत्तम तत्त्व। वह आस्वाद्य रस है, और उसका भावुक एवं कृपाप्राप्त भक्त के अप्राकृत चित्त में हुआ रत्यात्मक प्रकाशन दोनों ही रस-रूप हैं। एक को हम विभाजन की दृष्टि से आस्वाद्य रस कह सकते हैं, दूसरे को आस्वादन रस। वस्तुतः हैं दोनों शक्तिमान् और शक्ति पक्षों के प्रकाशन ही। फिर भी आस्वाद्य एवं आस्वादन का अन्तर किया जा सकता है।

वैष्णव दर्शन यद्यपि आनन्द के ब्रह्म-तत्त्व से सम्बन्ध के विषय में विविध व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें हम सम्बद्ध अध्याय में देख चुके हैं। उन मतों की पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं। कोई उन्हें परमात्म-तत्त्व का गुण मानता है तो कोई स्वरूप-निरूपक धर्म आदि। कोई ज्ञान से पृथक् करके देखना चाहता है तो कोई ज्ञान और आनन्द को एकाकार देखता है। इन दृष्टि-भेदों से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मूल बात यह है कि जहाँ शैव और वेदान्ती इस आनन्द का मूल स्रोत प्रमाता की अपनी ही आत्मा में केन्द्रित करते हैं, वहाँ वैष्णव दर्शन जीव की अल्पता, परिच्छिन्नता एवं अनानन्दमयता की चेतना रखते हुए उस आनन्द के मूल स्रोत के लिए परम तत्त्व लीला-पुरुषोत्तम की ओर उन्मुख होते हैं। इस आत्म-परमात्म के अन्तर की चेतना ही उनमें उभय के बीच एक प्रेमात्मक सम्बन्ध स्थापित करा देती है। यही प्रेम परिणतावस्था में भक्तिरस है, स्वरूपतः आनन्दात्मक है। इस प्रेम-तत्त्व को प्राकृत रतिरूप कोई न समझ ले, इसलिए ये वैष्णव दर्शन उसका स्वरूपात्मक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से परमात्म-तत्त्व से ही जोड़ते हैं। साथ ही वे एक बात और करते हैं। आस्वाद्य पर-तत्त्व रस को वे साकार-सगुण लीलामय रूप में लाकर भावना का विषय बनाते हैं। यह साकारता-सगुणता उन्हीं लौकिक भावों के रूप में, लौकिक सम्बन्धों के रूप में व्यक्त होती है जो प्राकृत हैं, स्थूल हैं, संसारी हैं। अतः वैष्णव काव्य में परिकल्पित रस जानकार भगवत्कृपाप्राप्त भक्तों के लिए तो अप्राकृत विशुद्ध पूर्ण रसतत्त्व ही रहता है, किन्तु भक्ति के संस्कारों एवं साधना से शून्य हृदयों के लिए यह रस लौकिक एवं प्राकृत जैसा रह जाता है, अधिक से अधिक अलौकिक किन्तु प्राकृत काव्यरस बनता है।

इन तथ्यों के परिचय के अनन्तर अब हम हिन्दी वैष्णव साहित्य के अपने आलोच्य काल के कवियों की कृतियों में रस-परिकल्पना का अध्ययन कर सकते हैं।

५

कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

सोलहवीं-सत्रहवीं शतियों का कृष्णभक्ति-काव्य प्रमुखतया साम्प्रदायिक धाराओं में प्रवाहित हुआ है। अधिकांश कवि किसी न किसी सम्प्रदाय-विशेष की चेतना एवं प्रेरणा स्वीकार करते चले हैं। कुछ ही कवि ऐसे होंगे जिन्हें सम्प्रदाय-मुक्त कहा जा सके अथवा जिनकी भावना किसी एक ही सम्प्रदाय की सीमा में न बँधकर एकाधिक सम्प्रदायों से जुड़ती हो। कृष्णभक्ति-काव्य की रस-परिकल्पना का परिचय प्राप्त करते समय हमें यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा। जिस काव्य की साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि निश्चित है, उस पर समूचे रूप में ही विचार करना सरल होगा, हाँ जिन कवियों का कवि-व्यक्तित्व कवित्व-क्षमता के नाते अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है उनके काव्य पर विशेष ध्यान अपेक्षित होगा। जो असम्प्रदायी या अनिश्चित-सम्प्रदायी कवि हैं उनके ऊपर तो समूचे रूप में नहीं, व्यक्तिशः ही कुछ विचार किया जा सकता है।

मात्रा की दृष्टि से इस काल का कृष्ण-साहित्य इतना विशाल है कि समीक्षक यदि इस सबके विषय में कुछ कहना चाहता है तो उसे प्रमुख कवि, प्रमुख कृति और उसमें निहित प्रमुख चेतनाओं तक ही अपने को सीमित रखना पड़ेगा। प्रस्तुत एक ही अध्याय में इस समूचे साहित्य की रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिये हमें भी चुनाव के साथ चलना होगा।

काल की दृष्टि से सम्प्रदायों का क्रम इस रूप में है—निम्बार्क सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय। पर समूचे कृष्ण-काव्य में अष्टछापी कवियों की कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। अबतक यही साहित्य सबसे अधिक प्रकाश में आया है, सबसे अधिक अध्ययन का विषय बना है और इसी ने जनमानस में सबसे अधिक प्रवेश पाया है। वस्तुतः अष्टछापी काव्य में ही साम्प्रदायिक होकर भी सर्वाधिक असाम्प्रदायिकता है, अर्थात् अधिकतम-सहृदय हृदय-संवाद-भाजकता का गुण उसमें सबसे अधिक है। यों सम्प्रदायों का उदय किसी काल-क्रम से हुआ हो, जहाँ तक इस काल के हिन्दी कृष्ण-काव्य का प्रश्न है, वह सब लगभग समसामयिक रूप से अपनी-अपनी धाराओं और चेतनाओं का अनुगमन करते हुए, वृन्दावन और व्रजभूमि में कृष्णरस के रसिक भक्त कवियों द्वारा रचा गया है। हिन्दी कृष्णकाव्य का सुन्दरतम अंश इन्हीं शतियों में इसी सहज रूप में आविर्भूत हुआ है। इन सब वस्तु-स्थितियों का ध्यान रखते हुए प्रस्तुत अध्याय में हम विवेचन का निम्न क्रम निर्धारित करके चलना चाहते हैं—अष्टछापी कृष्णकाव्य, अष्टछापेतर कृष्णकाव्य, असम्प्रदायी एवं अनिश्चित-सम्प्रदायी कृष्णभक्त कवि। इसका वर्गीकरण इस रूप में किया जा सकता है :

(अ) साम्प्रदायिक कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

१. अष्टछापी कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना :

२. अष्टछापेतर कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना :

(क) निम्बार्क सम्प्रदायी काव्य

(ख) हरिदास-सम्प्रदायी काव्य

(ग) राधावल्लभ-सम्प्रदायी काव्य

(घ) चैतन्य-सम्प्रदायी काव्य

(आ) असम्प्रदायी एवं अनिश्चित-सम्प्रदायी कृष्ण-भक्त कवि

मीराँ

रसखान

इस वर्ग के यों छोटे-मोटे और अनेक कृष्ण-भक्त कवि हैं। उनमें से रस-कल्पना की दृष्टि से उत्कृष्ट एवं प्रतिनिधि ये दो नाम चुने जा सकते हैं।

इस क्रम के अनुसार ही हम पहले अष्टछापी कृष्णकाव्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, पीछे अन्य सम्प्रदायों एवं अन्त में मीरां और रसखान की रस-परिकल्पना का निरूपण रहेगा।

अष्टछापी कृष्णभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

'अष्टछाप' के अन्तर्गत आठ कवि आते हैं—सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी। इन सभी कृतियों का काव्य हमारे आलोच्य काल की परिधि में आता है।

अष्टछाप के सभी कवियों की रस-परिकल्पना वल्लभाचार्यजी एवं आचार्य विट्ठल के दृष्टिकोण से परिचालित है। वल्लभ ने अपने सभी ग्रंथों में 'रसो वै सः' श्रुति का प्रतिपाद्य रस-तत्त्व 'श्रीकृष्ण' ही को निरूपित किया था। इस रसमय तत्त्व को निर्गुण मानते हुए भी उन्होंने चरम रूप में सगुण एवं लीलामय ही प्रतिपादित किया था। उन्हीं लीलामय मधुराधिपति श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान अष्टछापी कवियों का ध्येय बना। श्रीकृष्ण, उनकी लीलाएँ, उन लीलाओं का गान—यह सभी कुछ तो रसमय है, इसमें भी उनकी शृंगारमयी मधुर लीलाएँ तो महारस हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का व्रज-विहारी रूप ही मुख्यतः प्रिय रहा, मथुरा और द्वारका के कर्मठ कृष्ण अधिक आकर्षण न रख सके। इसी कारण व्रजलीला के अनुरूप ही उनके बाल, कुमार, पौगण्ड और किशोर रूपों की नाना झांकियाँ इन अष्टछापी कवियों ने प्रस्तुत कीं। मथुरावासी कृष्ण ने किशोर-लीला की स्मृतियों को उभारने का ही काम किया। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार भगवान् कृष्ण व्रज में ग्यारह वर्ष बावन दिवस पर्यन्त रहे।[1] अष्टछाप का समूचा काव्य भगवान् के इसी काल का लीला-गान है।

वल्लभाचार्यजी ने सेवा और आराधना के लिए भगवान् के दो रूप प्रमुखतया चुने—बालरूप और किशोररूप। कुमार और पौगण्ड इन्हीं की माध्यमिक अवस्थाएं हैं।

---

१. श्री द्वारकादास परीख : "परमानन्दसागर : एक झांकी" : परमानन्दसागर : डा० गोवर्धननाथ शुक्ल सम्पादित : पृ० ४।

डा० दीनदयालुजी के अनुसार महाप्रभु वल्लभ ने पहले वात्सल्य भक्ति का ही प्रचार किया था, पीछे अपने उत्तर जीवन-काल में उन्होंने युगल-स्वरूप की उपासना भी स्वीकार की।[1] जो हो, इतना निश्चित है कि स्वयं वल्लभाचार्यजी के ग्रन्थों में ही बाल-रूप के अतिरिक्त किशोर युगल-रूप की भावना भी पूर्णतः पुष्ट रूप में उपलब्ध होती है।[2] महाप्रभु के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी विट्ठल और श्रीहरिरायजी में शृंगारमयी किशोर-लीला का प्राधान्य और बढ़ता गया। इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना मुख्यतः दो भावों की है—वात्सल्य और माधुर्य। इन दो के अतिरिक्त दो रस और हैं जिनकी भावना वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके अनुयायी कवियों के काव्य में मिलती है। ये रस हैं—दास्य और सख्य।

महाप्रभुजी ने भक्ति का स्वरूप इन शब्दों में निरूपित किया है :

"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥"[3]

तात्पर्य यह कि माहात्म्य ज्ञान-पूर्वक चरम-सीमा-प्राप्त सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है। भक्ति के इस सामान्य लक्षण में भगवान् के माहात्म्य की चेतना को एक सामान्य शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः यह माहात्म्य-चेतना भक्ति-मार्ग की एक अनिवार्य अनुभूति है। यदि देखा जाय तो लौकिक भावों को भगवदीय बनाने में इसी का सर्वाधिक योग है। किन्तु रसिक-सम्प्रदायियों ने मधुर-भावना को, जिसमें महत्त्व-चेतना का विलयन हो जाता है, उत्कृष्ट ठहराने के लिए इस चेतना को प्रेम के घनत्व में बाधक बताया है।[4]

श्रीहरिरायजी ने भी माहात्म्य-चेतना का प्रेम के घनत्व आने पर छूट जाना स्वीकृत किया है। "जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही तैं स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कूं छुड़ाय देयगो।"[5] अष्टछापी रस-परिकल्पना में माहात्म्य-चेतना अन्य भावों के साथ मिली हुई भी मिलती है, स्वतन्त्र भी मिलती है और बिना इस चेतना के भी अन्य रसों का परिपाक मिलता है। माधुर्य के घनत्व में प्रायः महत्त्व घुलता हुआ दिखायी पड़ता है।

अष्टछाप के आठों कवियों में रस-दृष्टि से तीन ही नाम उल्लेखनीय हैं—सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास। पर वस्तुतः सूर ही अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि हैं। उनका

---

१. डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : भा० २ : पृ० ५२७।

२. महाप्रभुजी के शब्दों में ही भगवान् कृष्ण का मधुर रूप इन शब्दों में स्पष्ट है :

—गोपिकाव्याप्तसर्वाङ्गः स्त्रीसंभाषविशारदः।
रासोत्सवमहासौख्यगोपीसंभोगसागरः॥ पुरुषोत्तमनामसंग्रह : दशम स्कन्ध : श्लोक १८५

—सुन्दरीहृदयानन्दो गोपीमन्त्राभिमंत्रितः। वही, श्लोक १६०।

—प्रत्यंगरभसावेशप्रमदाप्राणवल्लभः।
रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारसलम्पटः॥ श्रीकृष्णप्रेमामृतम् : श्लोक ३३।

—राधावरुन्धनरतः कदम्बवनमंदिरः। वही, श्लोक २४।

३. तत्त्वदीप-निबन्ध : श्लोक ४६।

४. "तथाप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात् तेषां विधिमार्गे प्रधानत्वमेव स्याद् इति शुद्धरागात्मिकायां नोपयोगः।"
—दुर्गमसंगमनी, श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ६०।

५. डा० दीनदयालु गुप्त द्वारा 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', पृ० ५३० पर अष्टछाप वार्ता, काकरौली पृ० १८ से उद्धृत श्रीहरिरायजी के वचन।

काम्य सम्प्रदाय-निष्ठा एवं कवि के निज व्यक्तित्व की समंजस उपलब्धि है। वैष्णव साहित्य में हुआ यह है कि साम्प्रदायिक चेतना ने कवि के आत्मव्यक्तित्व को अनावश्यक मात्रा में आच्छादित किया है। जिस मात्रा में साम्प्रदायिक चिन्तन-पक्ष का प्रभाव बढ़ा है उसी मात्रा में सहज कवित्व घटा है। पर सूर ने सम्प्रदाय की चेतना से अनुरंजन ही पाया है, आच्छादन नहीं। और यही कारण है कि उनकी रस-परिकल्पना जहां साम्प्रदायिक भक्तों के लिए संवेद्य है वहां सहृदय-मात्र के लिए भी उसमें भारी संवेद्यता है। इतना ही नहीं, उसका बहुत बड़ा अंश जन-साधारण के मानस में भी रस वर्षाता है।

अष्टछापी कृष्ण-काव्य स्वरूप से मुक्तक काव्य है किन्तु इसमें रस-परिकल्पना मुक्तक रूप में ही नहीं, प्रबन्ध रूप में भी मिलती है। इस साहित्य के अधिकांश का निर्माण कीर्तन एवं वर्षोत्सव के पदों के रूप में हुआ है, फिर भी नन्ददास की विभिन्न कृतियों में एवं स्वयं सूर-सागर में प्रकरण-रस एवं प्रबन्ध-रस की धारा प्रवाहित होती हुई परिलक्षित होती है।

स्कन्ध-क्रम में प्राप्त सूर-सागर अपने समूचे रूप में एक चरित-प्रबन्ध नहीं, भक्तिरस का एक भाव-प्रबन्ध है। उसमें चरितविकास पर दृष्टि नहीं, पर भाव-विकास का एक सुनियोजित क्रम अवश्य परिलक्षित होता है। सूर-सागर में मात्रा की दृष्टि से भगवान् की किशोर-लीला के ही पद सर्वाधिक हैं, वहीं जाकर सूर का हृदय खुला है। दशम-स्कन्ध में श्रीकृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीलाओं का परिगायन हुआ है। प्रारम्भ के विनय के पद और नौ स्कन्धों को दशम-स्कन्ध की भूमिका के रूप में ही समझना चाहिए। 'मधुर रस' ऊपर से लौकिक शृंगार ही प्रतीत होता है, अतः इस पथ के आचार्य उसे जन-सामान्य से गोप्य रखने की सलाह देते आए हैं। उसमें जो पतन का खतरा है उससे बचने का प्रमुख उपाय यही है कि इस पथ के पथिक का मन वासना-शून्य हो तथा लीलाधर्मी राधा-कृष्ण युगल की भगवदीयता और महत्त्व की चेतना बनी रहे। सूर ने कृष्णलीला-रस के आस्वादन के लिए नवम स्कन्ध तक यह पीठिका तैयार की है। भक्तिरस के इस विशिष्ट रूप के आस्वादन के हेतु किसी भी व्यक्ति में जो हृदय-निर्मलता, संसार-विमुखता, प्रभु-कृपा और संस्कार-शुद्धि अपेक्षित है, सूर-सागर के विनय के पदों में पढ़ते-पढ़ते स्वयं उपलब्ध होती है। इसके अनन्तर नौ स्कन्धों में जो भगवान् के विविध अवतारों की कथाओं का वर्णन है, वह भी यही बताने के लिए है कि अगले स्कन्ध में जिसकी मधुर लीलाओं का गान है वह और कोई नहीं, स्वयं नाना-अवतारधारी भगवान् ही हैं। इन नौ स्कन्धों में चित्रात्मकता कम, वर्णनात्मकता ही अधिक है, अतः रस-कल्पना जैसी चीज़ का अवसर यहां नहीं आ पाता। किन्तु इन कथा-वर्णनों में भगवान् के महत्त्व, पतित-पावनत्व, भक्त-संरक्षकत्व आदि धर्मों को अवश्य उभारा गया है। इनमें जब-कभी अद्भुत, वीर आदि रसों के प्रसंग आ जाते हैं, किन्तु उन रसों की परिपक्व एवं आस्वाद्य स्थिति नहीं बन पाती, पर इन सभी वर्णनों के मूल में एक भाव-धारा निश्चित रूप से परिव्याप्त रहती है, जिसमें आलम्बन के महत्त्व के प्रति रति की अनुभूति होती है। विनय के पदों में भगवान् के संरक्षकत्व एवं महत्त्व के प्रति जो दास्यानुभूति आत्म-व्यंजक शैली में प्रस्तुत की गयी है, वही इन नौ स्कन्धों में वस्तु-व्यंजक शैली में आयी है। इस प्रकार दास्य-भक्ति की पीठिका देकर वात्सल्य, सख्य और माधुर्य की परिकल्पना करते हुए सूर-सागर में सूर ने सब मिलाकर 'भक्ति-सागर' ही प्रस्तुत किया है। वस्तुतः सूर-सागर जहां-तहां से चुने हुए पदों के रूप में पढ़ने की चीज़ नहीं है, एक भावात्मक प्रबन्ध के रूप में भाव-विकास की पीठिका में ही अनुशीलनीय है। तभी सूर की रस-परिकल्पना अभीष्ट प्रेषणीयता पा सकती है। जहां-तहां

से पढ़ने वाला पाठक भक्ति-रस की प्रबन्ध धारा से प्रच्युत हो जाता है, उसके हाथ काव्य-रस ही रह जाता है। पर यह काव्य-रस भी इतना उत्कृष्ट है कि काव्य-सहृदय इसकी गहनता, मधुरता और हृदय-स्पर्शिता पर मुग्ध है।

वल्लभ की परिकल्पना के अनुरूप अष्टछापी काव्य में वात्सल्य और शृंगार दो रसों की साधना प्रारम्भ हुई, किन्तु कुछ तो विट्ठलाचार्यजी के झुकाव के कारण और कुछ अपने युग में प्रवृत्त कृष्ण-भक्ति की अन्य समानांतर धाराओं के प्रभाव से अष्टछापी कवि उत्तरोत्तर शृंगार के माधुर्य की ओर ही प्रवृत्त होते गये। वात्सल्य की जो मधुर परिकल्पना सूर और परमानन्ददास में मिलती है वह उत्तर-काल में अक्षुण्ण नहीं रही। यदि बाल-रूप की सेवा का साम्प्रदायिक विधान न चला आता, तो सम्भव था कि परवर्ती भक्त एक मात्र मधुर रस के गायक होते।

वल्लभ ने प्रेमा भक्ति में विरह का बड़ा भारी महत्त्व प्रतिपादित किया है। सामान्यतः वे संन्यास के हिमायती नहीं हैं, पर विरहानुभूति के लिए उन्होंने संन्यास और सर्व-त्याग का उपदेश दिया है।[1] विरहानुभूति के लिए उनकी ललक उनके इन शब्दों में देखी जा सकती है :

"यच्च दुःखं यशोदायाः नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्।"[2]

उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखकर श्रीहरिरायजी ने वल्लभशरणाष्टक में उन्हें मूर्तिमान् वियोगाग्नि के रूप में स्मरण किया है।

वल्लभ की इस विरह-भावना का सच्चा प्रतिनिधित्व सूर की रस-परिकल्पना में ही हुआ है, अन्य लोगों में नन्ददास को छोड़ लगभग सभी संयोग के गायक हुए। इसका प्रमुख कारण यही रहा कि आचार्य विट्ठल संयोग भावना के उपासक थे। उनके प्रभाव से अष्टछापी रस-परिकल्पना संयोगोन्मुखी होती गयी। हां, सिद्धान्त रूप में विरह का महत्त्व सम्प्रदाय में सदा स्वीकार किया जाता रहा है।

ऊपर उद्धृत निरोधलक्षण के श्लोक में वल्लभ ने वात्सल्य और शृंगार दोनों क्षेत्र के विरह की कामना की है, पर अष्टछापी काव्य में सूर और नन्ददास में भी जो विरह पाया जाता है वह शृंगारी विरह ही है अर्थात् गोपी-विरह की ही रसात्मक परिकल्पना प्रमुख रही है। सूर ने यशोदा के विरह की वेदनापूर्ण झलक चित्रित की है अवश्य, पर गोपियों के विरह-चित्रण की समता में मात्रा की दृष्टि से उसका स्थान अत्यन्त नगण्य-प्राय ही है।

कृष्णलीला का सहारा लेकर वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीन रसों की परिकल्पना अष्टछापी काव्य की प्रमुख भाव-साधना है। सूर के विनय में दास्य भक्ति का उच्छलन है। अन्य अवतारों के प्रसंगों में भगवान् के महत्त्व को विभाव रूप में खड़ा करते हुए या तो दास्यरति को ही उभारा गया है या फिर यों ही भगवद्विषयक रति का सामान्य रूप सामने किया गया है। कृष्णलीला के अन्तर्गत पूतनादि-हनन के रूप में जो अन्य भावों की झलक यत्र-तत्र दिखायी पड़ जाती है, वह बालकृष्ण की महत्ता और भगवदीयता को प्रस्तुत करती हुई विभिन्न रति-रूपों का अंग बन जाती है। इस प्रकार अन्य रस, यदि कहीं उनका कुछ

---

१. "विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशकः।" सर्वोत्तमस्तोत्र : विट्ठलाचार्य : श्लोक १८।
"विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते।" संन्यासनिर्णय : वल्लभाचार्य : श्लो० ७।

२. निरोधलक्षण : वल्लभाचार्य : श्लोक १।

परिपाक हो भी गया है तो, उपर्युक्त चार रति-रूपों में ही अंग-रूप से समाहित हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त अष्टछापी कवियों द्वारा कुछ पद शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टि से भी रचे गये हैं, जिनमें सम्प्रदाय-चेतना को पूर्णतया अपनाने वाला पाठक ही रसानुभूति कर सकता है, सामान्य पाठक के लिए वे पद कवि-गत विशिष्ट रति-रूपों का बोधात्मक अनुभव देकर रह जाते हैं। उदाहरण के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य के विषय में लिखे तथा आचार्य विट्ठल को कृष्ण से अभिन्न मानकर लिखे पद लिये जा सकते हैं। सम्प्रदाय की भावना के अनुसार गोवर्धन पर्वत को भी भगवान् का मूर्तिमान् विग्रह मानकर पद रचना हुई है, यमुनाजी की भी स्तुतियां विशेष धारणा और भावना प्रस्तुत करती हैं। इन सभी पदों में तत्तद्विषयक रति भाव के दर्शन होते हैं। इन्हें सम्प्रदाय की दृष्टि से तो रस-परिकल्पना के भीतर ही रखना उचित है, किन्तु काव्यानुभूति के सामान्य मानदण्डों के अनुरूप इन स्तुतियों को रस काव्य नहीं कहा जा सकता।

यहां तक हमने अष्टछाप काव्य में रस-परिकल्पना पर एक सामान्य दृष्टिपात किया है।

अष्टछापी कृष्णकाव्य में शान्तरस की परिकल्पना नहीं है। शान्तरस का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान-मूलक निर्वेद है। शायद ही कोई ऐसे पद हों जिनमें इस निर्वेद का स्वतन्त्र परिपाक हुआ हो। सूर के विनय के पदों में अवश्य अनेक पद ऐसे हैं जिनमें जगत् की निस्सारता, माया की प्रपंचात्मकता, मन के विषय-लौल्य एवं पश्चात्ताप के चित्र हैं। ये समस्त वृत्तियां तत्त्व-बोध और निर्वेदमूलक हैं। पर विशुद्ध रूप से ये शान्तरस का परिपाक नहीं कर पातीं, क्योंकि इनका पर्यवसान भगवद्विषयक रति में होता है। विनय के पदों में जो एक अव्याहत भाव-धारा प्रवाहित होती है, वह दास्यरति की ही है, उसमें भगवान् के महत्त्व और आत्म-दैन्य की गहरी अनुभूति अनुमिश्रित है। इस प्रकार जो भी तत्त्वबोध एवं निर्वेद इन पदो में दिखायी देता है, उसकी स्थिति धारा-वाहिनी रस-परिकल्पना में स्थायी भाव के रूप में नहीं, संचारी के रूप में ही आती है। फुटकल रूप से किन्हीं पदों में निर्वेद का परिपाक दिखायी देने पर भी वह भगवद्रति के अंग रूप में ही आता है।

इन पदों में से कुछ को गोस्वामी आचार्यों के निरूपण के अनुसार 'शान्तभक्तिरस' के अन्तर्गत अवश्य कहा जा सकता है। उन्होंने विषय-वासना की क्षयिष्णुता और जगत् की अनित्यता को शान्तभक्ति के उद्दीपन के रूप में अन्तर्भूत किया भी है।[1] फिर भी सूर के विनय के पदों में एक विशेषता है। स्थायी रूप से निरन्तर प्रवाहित होने वाली भाव-धारा में इस निर्वेद का स्थान इतना उभरा नहीं है जितना आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व एवं पतित-पावनत्व तथा अपने पतितत्व और दैन्य का। इस भावना की पृष्ठभूमि के साथ प्रवाहित रति दास्यरति के ही अन्तर्गत आती है, निर्वेद उसी का पोषक बनकर आता है, चाहे संचारी रूप में, चाहे अंग रूप में और चाहे उद्दीपन के रूप में। वस्तुतः साहित्यशास्त्रीय शान्तरस में विशुद्ध ज्ञान एवं प्रशान्त वृत्ति ही सब-कुछ है, भक्तिशास्त्रीय शान्तभक्ति रस में भी भगवद्रति के साथ इसी ज्ञान-मूलकता का उभार है। अष्टछापी काव्य में जो भी प्रशान्त-

---

१. "विषयादिक्षियष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता।
इत्यादयुद्दीपनाः साधारणास्त्वेषां किलाश्रितैः।"
—श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः, पश्चिम विभाग, लहरी १, श्लो० १७।

वृत्तिता और निर्वेदपरकता परिलक्षित होती है वह अन्ततोगत्वा भी और स्वरूपतः भी प्रीति पर्यवसायिनी है। सूर ने ही प्रमुखतया इस भाव की परिकल्पना प्रस्तुत की है, उसमें दास्यरति कीभावधारा का प्रौढ एवं अविच्छिन्न प्रवाह होने के कारण दास्यरस का ही परिपाक होता है।

अब तक हमने अष्टछापी काव्य में रस-परिकल्पना की सामान्य दिशाओं का उल्लेख किया है। अब हम इसकी विशिष्ट स्थितियों की ओर आ सकते हैं।

दास्यभक्तिरस

भगवान् के महत्त्व और अपने लघुत्व की चेतना के साथ होने वाली भगवद्विषयक रति दास्यभक्तिरस का स्थायी भाव है। अतः इसमें आलम्बन पक्ष में भगवान् के उन कर्मों एवं गुणों का चित्रण होना स्वाभाविक है जो उनकी महत्ता, शरण्यता एवं पाप-मोचकता आदि को सामने लाते हैं। आश्रय पक्ष में आत्म-लघुता, शरणागति, दैन्य-प्रकाशन, स्वदोष-दर्शन, सेवा-चाकरी की कामना, आत्म-पतितता की अनुभूति आदि आते हैं। भगवदीय महत्त्व और आत्म-लघुत्व के दोनों पक्ष जब उभरे रहते हैं तब दास्य-रति की अनुभूति भी बड़ी गहराई के साथ व्यक्त होती है, पर किसी एक पक्ष के चित्रण में भी दूसरा पक्ष आक्षेप से आता रहता है, अतः विभाव रूप भगवान् के महत्त्व की अनुभूति भी दास्यभक्ति के अन्तर्गत ही पड़ती है।

अष्टछाप में दास्यभक्तिरस सूर और परमानन्द में परिकल्पित हुआ है। सूर ने आत्म-पतितता और भगवत्पतितपावनता का सम्बन्ध सामने करते हुए दैन्य और स्वदोष-दर्शन के जो भाव-चित्र दिये हैं उनकी निर्मलता एवं रसमयता को हिन्दी साहित्य में तुलसी को छोड़ दूसरा कोई प्राप्त नहीं कर सका है।

यों अष्टछाप के सभी कवियों ने विनय के पद लिखे है किन्तु सभी की विनय में दास्यभक्ति नहीं है। उन विनय-पदों में आराध्य का रूप महत्ता-प्रधान नहीं उभारा गया, अपितु श्रृंगारी मधुर रूप को ही सामने रखा गया है।[1] सूर और परमानन्ददास की विनय में ही दास्यरस की परिकल्पना है। यों दास्य-भावना सहचरी भाव और खवासी भाव की रतियों में भी पायी जाती है, किन्तु वहां दास्यभाव मधुरा रति का अंग ही होता है, अतः वहां दास्यभक्ति नहीं मानी जा सकती।

सूर के विनय के पदों के अतिरिक्त नौ स्कन्धों की कथा में भी भक्ति का दास्य-परक रूप ही परिकल्पित हुआ है। वहां भी किसी न किसी रूप में भगवान् की शक्ति, संरक्षकता, महत्ता आदि के चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। अन्तर इतना ही है कि विनय के पदों में शैली आत्म-परक है, नौ स्कन्धों की कथा में विषय-परक। नन्ददास ने भाषा दशम स्कन्ध में भी यत्र-तत्र भगवान् के महत्त्व की कुछ कथाएं वर्णित की हैं। पर इन कथाओं में दास्यरति 'भाव' कोटि तक ही रह जाती है, रस-रूपता नहीं आ पाती। सूर के विनय के पदों में आलम्बन-पक्ष के महत्त्व एवं कर्म-गुणों के गोचर चित्रण की अपेक्षा आश्रय रूप भक्त हृदय की संचारीभूत

---

१. "सूर और परमानन्ददास को छोड़कर अन्य अष्टछाप कवियों में प्रार्थना के पद मौजूद हैं, परन्तु उनमें दासभाव की प्रार्थना नहीं है। किसी पद में कान्ताभाव की पाद-सेवा का भाव है तो किसी में कान्ताभाव से ही संयोगसुख पाने की कामना है।"

डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्ल० : भा० २ : पृ० ६०९।

अनुभूतियों का मार्मिक अभिव्यंजन हुआ है। यदि आलम्बन की महत्ता, पतितपावनता आदि की चर्चा है भी तो गुण-स्मरण के रूप में ही। इस गुण-स्मरणादि से समुद्दीप्त दास्यरति के अनुभाव-स्वरूप नाना भाव-लहरियों के चित्र सूर ने उतारे हैं, जिनमें उन्होंने एक भक्त का हृदय ही घोलकर रख दिया है।

सूर की दास्य-परिकल्पना में कभी-कभी दैन्य के स्थान पर एक ऐसे निधड़कपन की झलक मिलती है जो दास्य में नहीं सख्य में ही सम्भव है। इस प्रकार का उनका यह पद बहुत प्रसिद्ध है :

"आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं, कै हमहीं माधौ, अपने भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हें विरद बिन करिहौं।"[1]

इसमें प्रेम की निकटता से आया मुंहलगापन बोलता है। यह निधड़कता सख्य में अधिक पायी जाती है। किन्तु सूर के इस प्रकार के पदों में सख्य-भावना इसलिए नहीं कि भगवान् और भक्त के बीच पतितपावनत्व और पतितत्व का एक सान्तर सम्बन्ध ही यहां उभारा गया है। वस्तुतः इस कोटि की उक्तियां व्रक्रोक्ति और वाग्वैदग्ध्यमूलक हैं, पर आती दास्यरति के ही अन्तर्गत हैं।

दास्यरति में विवेक-निवदमय शम द्वारा परिपोष वाले भी अनेक पद सूर में मिलते हैं, जिनकी चर्चा कुछ हम पीछे कर चुके हैं।[2] इनमें भक्त-हृदय के पश्चात्ताप, आत्म-निरीक्षण और विराग का बड़ा ही स्वाभाविक अभिव्यंजन हुआ है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के पद लिये जा सकते हैं :

"थोरे जीवन भयौ तन भारौ।
कियौ न संत-समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ।
अति उनमत्त मोह-माया-बस नहिं कछु बात बिचारौ।"[2]
"अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।"[3]

इन पदों के सम्बन्ध मे हम कह चुके हैं कि यदि इन पर अलग-थलग रूप से विचार किया जाय तो इनमें से कुछ शान्तरति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, जिनमें तत्त्वज्ञानज निर्वेद रति का अंग होगा, और यदि इन्हें उस भाव-धारा में मिलाकर जांचा जाय जिसमें ये प्रस्तुत किये गये हैं तो दास्यरस की एक प्रवाहिनी रस-धारा की संचारी वृत्तियों के रूप में ये भावोच्छलन समझे जा सकते हैं। सूर की रस-कल्पना को धारा-प्रवाही रूप में अपनाने के कारण हम इन्हें दास्य-भक्ति के ही अन्तर्गत रखना उपयुक्त समझते हैं।

भगवान् के बाल-रूप के चित्रण में प्रमुखतः तथा अन्य रूपों के चित्रण में यत्र-तत्र कवि-निष्ठ दास्यरति का एक रूप हमें और मिलता है। इसका रूप ठीक से समझने के लिए हम यहां एक उदाहरण सामने रख रहे हैं :

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, विनय, पद १३४।
२. वही, पद १५२।
३. वही, पद १५३।

"गोपालराइ दधि मांगत अरु रोटी।
माखन सहित देइ मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी।
कत हौ आरि करत मेरे मोहन तुम आंगन में लोटी ?
जो चाहौ सो लेहु तुरतहीं, छांड़ौ यह मति खोटी।
करि मनुहार कलेऊ दीन्हौं, मुख चुपर्‌यौ अरु चोटी।
सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़्यौ, हाथ लकुटिया छोटी।"[1]

यहां भगवान् के बाल-स्वरूप का एक चित्र है। इसमें बाल-प्रकृति, और उसपर माता की प्रेमात्मिका प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक चित्रण है। बाल-कृष्ण के प्रति मातृ-वात्सल्य का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत करने के कारण यह पद वात्सल्यरस का एक सुन्दर उदाहरण है। किन्तु यहां कवि में बाल-कृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव नहीं है, यह भी स्पष्ट है। रोटी-माखन मिल जाने पर हाथ में लकुटिया लेकर खड़ा हो जाने वाला बालक सूर का तो 'ठाकुर' ही है। यह भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना है जो काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र यशोदा में नहीं है, कवि सूर में है।

यहां इस सम्बन्ध में इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि वल्लभ ने भक्ति के सामान्य रूप में भगवान् के महत्त्व-ज्ञान को एक आवश्यक तत्त्व के रूप में माना है। अष्टछापी कवियों में भगवान् के हर रूप के चित्रण में उनकी 'ठकुराई', 'प्रभुता' और 'स्वामिता' की जो माहात्म्य-चेतनामयी जागरूक अनुभूति दिखायी पड़ती है, वह उसी सिद्धान्त के अनुरूप है। वस्तुस्थिति भी यह है कि यदि इस माहात्म्य-चेतना को हटा दिया जाय तो यह काव्य भक्ति का काव्य रह भी जायगा, इसमें भी सन्देह है। उपर्युक्त पद में से प्रथम तथा अन्तिम पंक्ति और सूर की चेतना को हटा लेने पर शुद्ध वात्सल्य रस का सुन्दर उदाहरण रह जाता है, पर उसे वात्सल्य-भक्तिरस का उदाहरण कदापि नहीं कहा जा सकता। यहां दास्य-भक्ति के प्रसंग में हमने इसकी चर्चा केवल यह दिखाने के लिए ही चलायी है कि दास्य रति कहीं तो अन्य रतिरूपों को अपने में गुणीभूत करती हुई दिखायी पड़ती है, कहीं स्वयं अन्य भावों के प्रति स्वयं गौण होकर भी आती है। जहां प्राधान्येन परिकल्पित होकर आती है वहीं सच्ची दास्य-भक्तिरस की अनुभूति पाठक भी करता है।

परमानन्ददासजी ने मात्रा की दृष्टि से दास्यभक्ति के उतने पदों की रचना नहीं की जितनी सूर ने, फिर भी उनके पदों में वैसा ही अकृतक भावावेश, दैन्य, आत्मनिवेदन, महत्त्वानुभूति एवं शरणागत-भावना है जैसी सूर में।[2]

इस प्रकार अष्टछापी काव्य में दास्यरति की परिकल्पना को निम्न रूप में वर्गीकृत करके रखा जा सकता है :

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १५३।७८१।

२. परमानन्दसागर : डा० गोवर्धननाथ शुक्ल सं० : पद ३०-४।
"जा पर कमलाकंत ढरै।
लकरी घास कौ बेचन हारौ ता सिर छत्र धरै।" ८३१।
"तातैं तुम्हरो मोहि भरोसौ आवै।
दीनदयाल पतित पावन जस वेद उपनिषद गावै।" ८३२।

१. प्रधानीभूत दास्यरति

(क) आलम्बन के महत्त्व और आश्रय के दैन्य-आत्मप्रकाशन के उभय-पक्षीय चित्रण के साथ,

—केवल आश्रय-पक्ष के संचारी तथा अनुभाव रूप भावों के चित्रण के साथ,

—केवल आलम्बन पक्ष के कर्म एवं गुणों का वर्णन-कथन करते हुए विषय-प्रधान शैली में।

(ख) अन्य भावों से परिपुष्ट दास्यरति।

१. निर्वेद एवं तत्त्वज्ञान परिपुष्ट दास्यरति।

२. गुणीभूत दास्यरति

(क) बालरूप के प्रति महत्त्व-चेतना के रूप में दास्यरति।

(ख) शृंगारी किशोर रूप के प्रति सहचरीभाव, खवासीभाव आदि के रूप में दास्यरति।

अष्टछापी काव्य में दास्यरति के ये सभी रूप मिलते हैं। मधुर भावना में कहीं-कहीं सहचरीभाव की भी झलक है, जिसकी चर्चा हम यथा-स्थान करेंगे। इन सब प्रकारों में दास्यभक्तिरस की कोटि तक पहुंचने वाली दास्यरति का स्वरूप आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व और आश्रय-स्वरूप भक्त के दैन्य एवं आत्मप्रकाशन वाले स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। जहाँ केवल आश्रय-पक्ष के भाव-संचार की ही परिकल्पना है, वहाँ भी उच्च कोटि की रस-सृष्टि हुई है। किन्तु जहाँ केवल आलम्बन पक्ष का कथन हुआ है, वहाँ दास्यरति 'भाव-कोटि' तक ही पहुंच पायी है। अष्टछापी प्रेमी कवि भगवान् के शक्ति एवं महत्त्व-पूर्ण गुण-कर्मों के बिम्बग्राही चित्र नहीं दे सके, अतः न तो उनमें प्रसंगानुरूप वीरादि अपेक्षित रसों का पूर्ण परिपाक ही हो पाया है, और न ही महत्त्वानुभूतिमूलक दास्यरति की परिकल्पना रसरूप बन पायी है। एकाध स्थल ही इसके अपवाद भले हों।

निर्वेद-पुष्ट दास्यरति में गहरी रसान्विति है। उसमें वस्तुतः शान्त और भक्ति दोनों रसों का अद्भुत समन्वय है। सूर के अनेक विनय के पदों में इस उत्कृष्ट कोटि की रस-परिकल्पना के दर्शन होते हैं।

गुणीभूत दास्यरति के स्थल अपने प्रधान रतिरूपों के प्रति गौण हो जाते हैं। उनकी समीक्षा का अवसर हमें यथास्थान आगे मिलेगा।

इस काव्य की प्रेषणीयता के विषय में यह बात निर्विवाद है कि सहृदय-सामान्य और जन-सामान्य के लिये यह काव्य सर्वाधिक असाम्प्रदायिक एवं भक्तिरस की गहरी अनुभूति देने वाला है। यद्यपि प्रेमलक्षणा भक्ति और उसमें भी शृंगार-परक मधुरा भक्ति को अधिक महत्त्व देने वाले साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुसार महत्त्वानुभूति प्रेम के घनत्व में बाधक है, और इसी प्रेम-घनत्व को चरम मात्रा में लाने के लिये चैतन्यानुयायियों ने परकीया-प्रेम को आदर्श बनाया है, किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि भक्ति का दास्यमूलक ही एक ऐसा भेद है जिसमें भगवान् के प्रति महत्त्वानुभूति प्रकृत एवं अभीष्ट रूप में होती है। भगवान् में महत्ता और अपने में अवशता की अनुभूति मानव-मात्र के लिए सर्वाधिक स्वाभाविक अनुभूति है, जो यदि वह नास्तिक नहीं है तो उसकी सहजात दुर्बलताओं के स्वानुभव ने उसमें एक सहज अनुभूति के रूप में प्रतिष्ठित की है। इसी कारण दास्यमूलक

भगवत्प्रेम के काव्य की पहुँच जन-सामान्य के हृदय तक होती है, उसके रसानुभव के लिये पहले से भाव-साधना या बौद्धिक प्रेरणा अपेक्षित नहीं है। इस दृष्टि से समस्त कृष्ण-भक्ति काव्य में वल्लभ सम्प्रदायी काव्य का स्थान इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि एक तो उसके प्रवर्तक ने भक्ति में महत्त्व-चेतना को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है, दूसरे इस सम्प्रदाय के दो स्तम्भ कवियों परमानन्ददास और सूरदास में यह दास्यरति-मूलक रस-परिकल्पना भक्ति, कवित्व, अधिकतम-जनसंवेद्यत्व और लोक-मंगल सभी दृष्टियों से अत्यन्त उच्चकोटि की है। खेद है कि इस भाव-धारा का जैसा निमज्जनकारी प्रभाव सूर में और कुछ मात्रा तक परमानन्ददास में दिखायी पड़ा, वैसा अन्य अष्टछापी कवियों में उपलब्ध नही होता।

सख्य भक्तिरस

भगवान् और भक्त के बीच महत्त्व के आपेक्षिक क्रम से तीन भक्तिरसों का स्वरूप बँधता है—दास्य, सख्य, वात्सल्य। दास्य में भगवान् की महत्ता और भक्त की लघुता, सख्य में दोनों में समानता और वात्सल्य में भगवान् की पाल्यता-पोष्यता एवं भक्त की पालकता-पोषकता उभरकर आती है। इस प्रकार सख्यभक्ति की मूल चेतना हुई भगवान् के प्रति साम्यानुभूति-मूलक प्रेम।

जन-मानस के लिए भगवान् के प्रति सख्यानुभूति भी दास्यानुभूति के समान एक परिचित अनुभूति है, पर उतनी नहीं जितनी दास्यानुभूति। सांसारिक दुःख और अवशता के अनुभवों ने उसे भगवान् के महत्त्व और आत्म-लघुत्व के जितने गहरे अनुभव दिये हैं उतने गहरे सख्य के नहीं दिये। फिर भी उसमें भी वही चैतन्य की धारा प्रवाहित है जो उस परम शक्ति में है, अतः उसने उस परम शक्ति के साथ सख्य सम्बन्ध भी जोड़ा है, और उस शक्ति को स्नेह एवं सहारा देकर एक मित्र के समान पथ-प्रदर्शिका माना है। इस प्रकार सख्य-भाव भी, दास्य के समान तो नहीं, पर बहुत दूरी तक जन-मानस के लिए एक स्वाभाविक अनुभूति है।

इतना तो ठीक, पर इसके आगे भगवान् के साथ क्रीडा-खेल में सम्मिलित होना, कभी उससे डांट खाना, कभी उसे डांट बताना, कभी शिकायत तो कभी झगड़ा, ये सब बातें भावुकता और कल्पना के प्रसार हैं। जिस सखीभाव की रति में नारी-चेतना के साथ साम्य-भावना भी आ मिलती है, वह भाव-रूप तो और भी साम्प्रदायिक हो उठता है। रस का रूप जितना साम्प्रदायिक होता जायगा उतना ही उसके आस्वादनार्थ पाठक को तदनुरूप संस्कारों में ढलना अपेक्षित होता चला जायगा।[1]

सख्य की गहरी अनुभूति में महत्त्व-चेतना का विलय स्वाभाविक है। उसमें सखा के

---

१. "विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रमात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पंचभिदोदिता।" श्रीहरिभक्तिरसामृत०, पश्चिमवि०, ३ लहरी, श्लोक ५४-६।

प्रति जितना विस्रम्भ-विश्वास और स्नेहमय अभिन्नता का भाव होता है उतना महत्त्व-ज्ञान नहीं होता। जिस सख्य में आलम्बन के महत्त्व या आत्म-लघुत्व की चेतना भी घुली हुई हो उसे दास्यगन्ध सख्य समझना चाहिए। भक्ति में सामान्यतः यही दास्यगन्धि सख्य सामने आता है, इसीलिए जिन चित्रों में कृष्ण और उनके सखाओं का शुद्ध साम्यमूलक प्रेम उभर कर आया है, उनके प्रति स्वयं कवि में महत्त्व-चेतना परिलक्षित होती है। 'खेलत में को काकौ गुसैंया' की फटकार खाने वाले क्रीडारत कृष्ण सूर के 'प्रभु' और 'ठाकुर' ही हैं। पर यह तो रही कविनिष्ठ रति की बात, सूर ने महत्त्व-चेतना की यन्त्रणा से रहित शुद्ध साम्य-मूलक सख्य के भी अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

अष्टछापी कवियों में सूर और परमानन्ददास को छोड़ अन्य कवियों की रचनाओं में सख्य रस उभर कर नहीं आया है। गोचारण या छाक के प्रसंग के इक्के-दुक्के पद उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं, पर उनमें भी रस-पर्यवसायी सख्य के दर्शन नहीं होते। नन्ददास ने सख्य का सैद्धान्तिक महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भी सख्य-भक्ति के रसात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं किये। उनका इन प्रसंगों का चित्रण वर्णनात्मक है, अतः उसमें भाव-परिपाक नहीं हो पाता। उल्लेखयोग्य दो ही नाम रह जाते हैं—परमानन्ददास और सूरदास। मात्रा की दृष्टि से ही नहीं रसात्मकता की दृष्टि से और चित्रों की मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से भी सूर ही स्मरणीय हैं।

सूर जिस मात्रा तक महत्त्व-मुक्त साम्यमूलक सख्यरति के चित्र दे सके हैं उस मात्रा तक परमानन्ददास नहीं। जहां सूर के गोपसखाओं में जब-कभी कृष्ण के बहुत बड़े आश्चर्य-पूर्ण कामों को देखकर ही उनके प्रति महत्त्व-चेतना जाग्रत् होती है, वहां परमानन्द के गोप-सखा यह बात सहज भुला ही नहीं पाते कि उनके सखा ईश्वर हैं, अवतारी हैं, ब्रह्म हैं। वस्तुतः परमानन्ददास महत्त्व-चेतना की आत्मानुभूति को अपने काव्य-निष्ठ पात्रों से सख्य और वात्सल्य में भी अमिश्रित नहीं रख सके हैं। सूर के जागरूक कवि-व्यक्तित्व ने यह सफलता प्राप्त की है।

अष्टछापी काव्य में महत्त्व-विस्मृति के साथ साम्य-चेतना-मूलक सख्य भावना के दर्शन गोपियों में होते हैं। सूर की गोपियों में तो यह सख्य बहुत ही उभर कर आया है। किन्तु यह सख्य काम-मूलक माधुर्य भाव में घुल गया है, अतः उसे सख्य भक्तिरस के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, मधुर के भीतर ही रखना होगा। सामान्यतः सख्यभाव के चित्र हमें गोपों में, उद्धव में और द्वारका पहुँचे सुदामा के प्रसंग में मिलते हैं। पर उद्धव-निष्ठ सख्य का चित्रण इन कवियों ने प्रायः नहीं किया। वे भ्रमर-गीत के प्रसंग में गोपियों की कृष्ण-परक भावाभि-व्यक्ति के लिए एक प्रसंग भर रहे हैं। सुदामा चरित्र में भी सुदामा-निष्ठ सख्य की नहीं, कृष्णनिष्ठ सख्य-प्रेम की झलक मिलती है, पर समूचा चित्र सख्यभक्ति का नहीं, भगवान् की भक्त-वत्सलता, दीन-दयालुता एवं महत्ता का ही खड़ा किया गया है।[1] इस प्रकार सख्यरस के

---

१. कहि न सकति सकुचति इक बात।
जाके सखा स्याम सुन्दर से, श्रीपति सकल सुखनि के दात।
कहियत परम उदार कृपानिधि अंतरजामी त्रिभुवन तात।
सर्बस देत रीझि भक्तन कौं रुचि मानत तुलसी के पात।" सूरसागर: दशम स्कंध : ४८४।

प्रसंग व्रजलीला के अन्तर्गत गोपों के साथ खेल-क्रीडा, गोचारण, छाक, माखन-चोरी आदि के रूप में ही आते हैं। इन्हीं प्रसंगों में सख्यरति का रसात्मक परिपाक मिलता है।

वास्तविकता यह है कि सूर और परमानन्ददास ने भी सख्यभक्ति का प्रौढ़ रूप खड़ा नहीं किया। सख्यरस के जो भी प्रसंग आये हैं, बाल-लीला के अन्तर्गत आये हैं, कुछ प्रसंग अन्य चरित-वर्णनों के अन्तर्गत हैं। इन प्रसंगों में ही सख्य की झलक मिल जाती है। यही कारण है कि सख्य सम्बन्धी पदों की संख्या मात्रा में सबसे कम है।

सख्यरस की परिकल्पना का विचार दो दृष्टियों से किया जाना चाहिए—एक काव्य-दृष्टि से, दूसरे भक्ति-दृष्टि से। भक्ति की दृष्टि से सख्य-परिकल्पना वहीं कही जायगी जहां या तो कवि ने स्वगत सख्य-भक्ति को प्रकट किया है या जहां किसी काव्य-निष्ठ पात्र के द्वारा प्रकट कराया है। यदि भक्ति का यह रूप सामने नहीं आता, तो कृष्ण और सखाओं के बीच होने वाले सख्य का चित्र काव्य-दृष्टि से ही सख्यरस का कहा जा सकेगा, भक्ति की दृष्टि से नहीं। एक उदाहरण लेकर हम इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं :

"खेलत में को काकौ गुसैंयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां।
जाति-पांति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैंयां।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयां।
रुहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहं तहं सब ग्वैयां।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउं दियौ करि नंद दुहैया।"[1]

सूर का सख्यरस के लिए यह एक बड़ा प्रसिद्ध पद है। इसमें परिनिष्ठित रस-परिकल्पना पर विचार कीजिए। यहां कवि में सख्यात्मक रति नहीं है, वह इस चित्रण को भगवान् की बाल-लीला के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। यदि उसे इसमें कोई रसास्वादन है तो बाल-लीला के गान का रसास्वादन है। इसीलिए सखाओं के द्वारा फटकारे हुए कृष्ण सूर के 'प्रभु' ही हैं, सखा नहीं। अतः भक्ति की दृष्टि से यहां सख्य नहीं, किन्तु काव्य-दृष्टि से यहां सख्य-रस की ही सफल परिकल्पना है। यहां महत्त्व-विस्मृति के साथ सखाओं में सच्ची साम्य-भावना उभरी है, और यह सब पारस्परिक प्रेम के उभार हैं। काव्य-पाठक इसी सख्य-रस का यहां आस्वादन करता है। पर यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। इन चित्रों को इन भक्त कवियों ने अपनी भक्ति-भावना में डुबो कर ही प्रस्तुत किया है, अतः इनमें पाठक को भी जो रसानुभूति होती है उसका पार्यन्तिक परिपाक भक्ति-परक ही होता है। कृष्ण, उनके सखा, उनकी क्रीडा, उनके प्रेम, व्यंग-उपालंभ-आक्षेप से भरे वचन सब मिलकर उस रति का परिपुष्ट बिभाव पक्ष प्रस्तुत करते हैं जिसे भक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि वैष्णवी भक्ति के कुछ भी संस्कार पाठक में हैं तो इस रस के आस्वादन का अवकाश उसके लिए अवश्य खुलता है।

—ऐसैं और कौन पहिचानै।
सुनि सुन्दरि वा दीनबंधु बिन कौन मित्रई मानै। वही, पद ४८५९।
—दीन द्विज द्वारैं आइ भयौ ठाढ़ौ।
दीनदयाल देवकीनन्दन वेद पुकारत चार्यौ।
सूर सुदामा कौं जु भेंटि हरि दारिद दुःख निवार्यौ। वही, पद ४८६३।

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वा० पद ८६३।

सूर के सख्य-सम्बन्धी पदों में काव्य-दृष्टि से सख्यरस का परिपाक बड़ी ही मनोवैज्ञानिक भूमि पर हुआ है। सूर बाल-मनोविज्ञान के चित्रण में बेजोड़ हैं। यमुना-तट पर खेलते-खेलते कृष्ण ने गेंद यमुना में फेंक दी। फेंकी तो जान-बूझकर थी, क्योंकि उन्हें कालीदह के कमल लाकर कंस की मांग पूरी करनी थी। पर गेंद फेंकी खेल-खेल में ही गयी थी। बस फिर क्या था, श्रीदामा ने दौड़कर कृष्ण की फेंट पकड़ ली और गेंद का तकाज़ा शुरू हो गया। वह भांप गया कि कृष्ण ने गेंद फेंकने की बदमाशी जान-बूझकर की है, इसलिए वह आज उनसे अपनी गेंद वसूल करके ही छोड़ेगा :

"स्याम सखा कौं गेंद चलाई।
श्रीदामा मुरि अंग बचायौ, गेंद परी कालीदह जाई।
धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मंगाई।
और सखा जनि जानौ मोकौं, मोसौं तुम जनि करौ ढिठाई।
जानि-बूझि तुम गेंद गिराई, अब दीन्हें ही बनै कन्हाई।
सूर सखा सब हंसत परसपर, भली करी हरि गेंद गंवाई ॥[1]

परमानन्ददासजी ने सख्य के प्रसंग में पतंग उड़ाने, चौगान खेलने जैसे कतिपय नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की है। हम यह कह ही चुके हैं कि उनके चित्रों में महत्त्व-भावना सूर की अपेक्षा प्रायः अधिक उभरी रहती है।[2]

सब मिला कर अष्टछापी काव्य में सख्यरस की परिकल्पना मात्रा में कम, स्वरूप में मनोवैज्ञानिक, चित्रण में अन्य प्रसंगों में अन्तर्भूत, काव्य-दृष्टि से बहुत ही स्वाभाविक एवं रसान्वयी और भक्तिरस के सामान्य रूप से आप्लावित है। सामान्यतः उसमें सख्यभक्ति का परिपाक नहीं है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एवं सम्प्रदाय-धारणा को ही अपना कर उसमें सख्यभक्ति की अनुभूति हो सकती है। भगवान् के सख्य-प्रेम-मय रूप के प्रति भक्ति-भावना जगाने के कारण ही ये चित्र सख्य-भक्ति रस के हैं। और इस दृष्टि से सख्य एवं मैत्री के समूचे चित्र विभाव-पक्षीय ही समझने चाहिए।

---

१. सूरसागर : पूर्वार्द्ध : दशम स्कन्ध : पद ११५३।

२. परमानन्दसागर :
"चले बन गोचारन सब गोप।
प्रात समै सर कमल खण्ड तें मानों मधुपन ओप।
स्याम पीतपट राम नीलपट जनु काछे सिसु पुंज।
महुवर बेनु बखान बांसुरी जनु साजे अलिगुंज।
तिन में नन्दनन्दन की सोभा ज्यों उडुगन महं चंद।
परमानन्द जसोदागृह प्रकटे आनन्दकन्द।" पद २९९।
"गुड़ी उड़ावन लागे बाल।
सुन्दर पतंग बांधि मनमोहन नाचत है मोरन के ताल।" पद ९४।
"गोपाल माई खेलत है चौगान।
ब्रज कुमार बालक संग लीने वृन्दावन मैदान।
चंचल बाजि नचावत आवत होड़ लगावत यान।" पद ९५।

वात्सल्य भक्तिरस

भगवान् की बाल-लीला से सम्बन्धित कुछ न कुछ पद सभी अष्टछापी कवियों ने रचे हैं। वल्लभाचार्यजी के आराध्य 'यशोदोत्संगलालित' श्रीकृष्ण थे, अतः कीर्तन-सेवा के गायक अष्टछापी कवियों ने भगवान् की बालछवि के भी चित्र उतारे। फिर भी सूर और परमानन्ददास का बाल-लीला-वर्णन ही वात्सल्य रस की परिकल्पना प्रस्तुत करता है।

सूर और अन्य कवियों के वात्सल्य-चित्रण में पड़ने वाले अन्तर का एक प्रमुख कारण यह भी है कि अन्य कवियों ने बाल-चरित के पद साम्प्रदायिक पर्वों, वर्षोत्सवों और कीर्तन-सेवा के लिये ही रचे, जबकि सूर के पद भाव-धारा एवं बाल-चरित का एक मनोवैज्ञानिक विकासक्रम प्रस्तुत करते हैं, और उनके सम्बन्ध में यही विश्वास होता है कि इनका उपयोग भले ही वर्षोत्सवों आदि पर गायन के लिये होता रहा हो, किन्तु इनकी रचना करते समय कवि की भाव-चेतना का प्रवाह प्रबन्धात्मक था। अतः सूर के पद मात्र नैमित्तिक न होने के कारण अधिक मनोवैज्ञानिक एवं रसान्वयी हैं।

वात्सल्य भक्ति का मूल भाव है भगवान् के शिशु रूप के प्रति पितृ-रति। इसमें आलम्बन-स्वरूप भगवान् के महत्त्व की चेतना का सर्वथा तिरोधान ही अपेक्षित नहीं है, अपितु अपने में उनके रक्षक, पालक, पोषक होने का अभिमान भी अपेक्षित है। इस भाव की चेतना में भगवान् एक असहाय पाल्य-पोष्य असमर्थ शिशु के रूप में ही लगते हैं। अतः यह भाव-साधना अपने इसी रूप में जन-मानस के लिये अत्यन्त अपरिचित भावना है। ऐसा कौन होगा जो यदि उसके संस्कारों को विशेष रूप से निर्मित नहीं किया गया तो भगवान् को असमर्थ शिशु के रूप में समझेगा और स्वयं को उसका पालक-पोषक। इसी कारण इस भक्ति-रूप की अधिकारिता प्रत्येक के लिये खुली नहीं है। इस भाव के आश्रय नन्द, यशोदा, वसुदेव, देवकी तथा कतिपय वृद्ध गोप-गोपियाँ ही हैं। इनमें भी वात्सल्य रति का अथाह आगार यशोदा का ही हृदय है।

यद्यपि वात्सल्य रति के परिपाक के लिये भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत कुछ मात्रा तक वह एक व्याघात ही है, फिर भी अष्टछापी कवि इस चेतना को बचा नहीं सके हैं। उनकी रस-परिकल्पना में यह भी महत्त्व-चेतना व्यक्त हो ही उठी है। महाप्रभु वल्लभ ने सिद्धान्ततः भक्ति का सामान्य रूप महत्त्व-ज्ञान-पूर्वक ही निर्धारित किया था, इसलिये ही नहीं, अपितु हम यही स्वाभाविक समझते हैं कि यदि किसी भावाभिव्यक्ति की जन-सामान्यगत अनुभूति को भक्ति-परक होना है तो उसमें भगवान् के महत्त्व की चेतना अवश्य बनी रहनी चाहिये। इस चेतना से छूटते ही वह काव्य लौकिक हो जायगा। अष्टछापी कवियों ने भी इसी आवश्यकता का अनुभव करते हुए वात्सल्यभक्ति की परिकल्पना में आलम्बन के प्रति महत्त्व-चेतना को बनाये रखा है। इस विषय में सूर की स्थिति कुछ विशिष्ट है जिसकी चर्चा हम अभी करेंगे।

वात्सल्य-सम्बन्धी पदों में रति के आश्रय दो प्रकार के लोग मिलते हैं—कहीं तो नन्द-यशोदा आदि केवल काव्य-निष्ठ पात्र ही होते हैं, कहीं इनके अतिरिक्त स्वयं कवि भी भगवान् के बाल-रूप के प्रति अपनी भावाभिव्यक्ति करता हुआ सामने आ जाता है। कवि-निष्ठ रति में महत्त्व-चेतना का होना स्वाभाविक एवं आवश्यक है, किन्तु वात्सल्य के आश्रय यशोदादि में महत्त्वानुभूति व्याघात होगी। इस दृष्टि से सूर की रस-परिकल्पना सराहनीय

है। उनकी यशोदा बालकृष्ण की मोहक लीलाओं पर मुग्ध होकर शुद्ध वात्सल्य की अनुभूति करती हैं, और कृष्ण के महत्त्व को भूली रहती हैं। पर परमानन्ददास आदि स्वगत महत्त्व-चेतना को अपने तक ही सीमित नहीं रख सके और उनकी यशोदा भी बालकृष्ण के अलौकिकत्व और अवतारत्व की चेतना करती चलती हैं। इससे वात्सल्य की भक्तिरूपता में ही कुछ सहायता भले मिले, पर वह रूप काव्योचित कम रह गया है।

पूतना-केशी आदि अनेक राक्षस-राक्षसियों के विनाश, काली-दमन, गोवर्धन-धारण आदि के सभी चरित भगवान् के बाल-काल से ही सम्बन्धित हैं, और ब्रज-लीला से ही सम्बन्धित हैं। अतः बाल-लीला के गान में पग-पग पर ऐसे अवसर आते रहे हैं कि बाल-कृष्ण का अलौकिक एवं अतिमानवीय रूप सामने आता रहे। सूर भी इस अति मानवीय रूप को सामने लाते रहे हैं। किन्तु इन अतिमानवीय कार्यों को करके भी जब कृष्णयशोदा के सामने आते हैं तो वे उनकी भोली-भाली सूरत को देखकर वात्सल्य में डूब जाती हैं, कृष्ण कभी रो उठते हैं, कभी रोटी-माखन माँग उठते हैं, कभी कोई और बाल-सुलभ चेष्टा कर उठते हैं। और जो यशोदा एक बार को शिशु कृष्ण के अद्भुत कर्मों पर स्तब्ध और चकित हो उठी थीं, अपने 'बाल-कृष्ण' के लिए केवल माता ही रह जाती हैं। सूर ने इस भुलावे को एक लीला के रूप में ही चित्रित किया है;[1] फल यह हुआ है कि एक ओर काव्य-निष्ठ वात्सल्य की रसात्मक परिकल्पना अव्याहत रही है, दूसरी ओर इस रस की भक्तिपरकता भी अक्षुण्ण रही है।

सूर ने तो नहीं, पर नन्ददास ने इस महत्त्व-विस्मृति की सैद्धान्तिक व्याख्या प्रस्तुत की है :

"अवर निरोध भेद सुनि मित्र। बरनत जा कहुं परम विचित्र॥
जदपि कोटि ब्रह्माण्ड के कर्ता। अरु तिनके भर्ता-संहर्ता॥
परम सनेह भक्ति होइ जाके। ईश्वरता सो फुरै न ताके॥
ज्यों जसुमति मुख में जग पेख्यौ। सुत ईश्वर करि नाहिन लेख्यौ॥"[2]

कई प्रकार के निरोधों में से एक प्रकार को समझाते हुए नन्ददास कहते हैं कि जब भक्ति में स्नेह अपनी चरम कोटि को पहुँच जाता है तब ईश्वरत्व की चेतना भक्त के मन में स्फुरित नहीं होती। इस बात का उदाहरण यशोदा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि उन्होंने कृष्ण के मुख फाड़ने पर उसमें समस्त विश्व के दर्शन किये थे किन्तु

---

१. सूरसागर : पूर्वार्द्ध : दशम स्कन्ध।
"अघा मारि आए नन्दलाल।
सूर स्याम जननी मन मोहत बार-बार कछु मांगत खान।" पद १०५३।
"ब्रज-देवता कोउ है री माई। जहां तहां सो होत सहाई।" पद १००९।
"बारंबार बिचारति जसुमति यह लीला अवतारी।
सूरदास स्वामी की महिमा कापै जाति बिचारी।" पद १००६।
"भुजनि बहुत बल होइ कन्हैया।
बार-बार भुज देखि तनक से कहति जसोदा मैया।
सूर स्याम यह कहि परबोध्यो चकित देखि महतारी।" पद १५८३।

२. नन्ददास ग्रंथावलि : पृ० २१७।

फिर भी वे कृष्ण को ईश्वर समझ ही नहीं सकीं, पुत्र-रूप में ही ग्रहण करती रहीं।

यह नन्ददास द्वारा दी हुई सैद्धान्तिक स्थिति है। किन्तु इसका पालन वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं। उनकी यशोदा में भी कृष्ण के ईश्वरत्व की चेतना स्पष्ट हो उठी है :

"बहुर्यौ हरें-हरें पहिचान्यौ। अपनौ सुत परमेसुर जान्यौ।"[1]

यद्यपि नन्ददास की यशोदा कृष्ण के परमेश्वरत्व को पहचान गयीं, पर दूसरे ही क्षण उन पर माया फिर गयी और वे असलियत भूल गयीं :

"बहुरि सनेहमई रसमई। माया जननि ऊपर फिर गई॥
डरे जु जननि डाँट तैं साँट निरखि पुनि हाथ।
मुख में विश्व दिखाइकै बचे नाथ इहि साथ।"[2]

नन्ददास के इस चित्र में माया, अलौकिकता आदि का हाथ अधिक है, जो भक्ति के साम्प्रदायिक पक्ष को तो उभारता है पर वैसी स्वाभाविक एवं काव्योचित रस-परिकल्पना प्रस्तुत नहीं होती जैसी सूर के चित्रों में होती है।

कभी कभी परमानन्ददासजी भी सूर के समान ही इस महत्त्व-विस्मृति का श्रेय स्वाभाविक शिशुत्व को देते हैं :

"कोटि ब्रह्मण्ड खण्ड की महिमा सिसुता मांहि दुरावत।
परमानन्द स्वामी मन मोहन जसुमति प्रीति बढ़ावत।"[3]

पर प्रायः होता यह है कि उनकी यशोदा कृष्ण के अलौकिक रूप का परिचय पा ही लेती हैं :

"जद्यपि परम ब्रह्म अविनासी महतारी उर मानैं।
परमानन्द प्रीति ऐसी पुनि सुक मुनि व्यास बखानैं।"[4]
"तू मेरौ ठाकुर, तू मेरौ बालक तोहि बिस्वंभर राखैं।
परमानन्द स्वामी चित चोर्‌यौ चिरजीवौ यौं भाखैं।"[5]

परमानन्ददास के इन चित्रों में महत्त्व-चेतना अपने तक ही सीमित नहीं है, यशोदा में भी उभर उठी है। इन उभारों का एक ही कारण समझा जा सकता है। ये कवि भक्ति की साम्प्रदायिक निष्ठा से अपने प्रकृत कवि-व्यक्तित्व को तटस्थ न रख सके अतः ये अपने काव्यगत पात्रों को अपने निजी भावों की छाया से भी तटस्थ नहीं रख सके। इस दृष्टि से सूर की रस-परिकल्पना ही सराहनीय है।

सूर की रस-परिकल्पना में एक और विशेषता है। वे वात्सल्य के परिपाक के अनुरूप आलम्बन और आश्रय दोनों पक्षों के बिम्ब-चित्र एवं भाव-चित्र बड़ी दूर तक अपना व्यक्तित्व बीच में विना लाये उतारते चले जाते हैं, जबकि परमानन्दादि के पदों का पर्यवसान स्वनिष्ठ रति के अनुरंजन में होता है। इस प्रकार परमानन्ददास की वात्सल्य-परिकल्पना

---

१. नंददास ग्रन्थावली, पृ० २४८।
२. वही, पृ० २४८।
३. परमा० : पद ८५।
४. वही, पद ८३।
५. वही, पद २१।

में स्वतन्त्र वात्सल्यरस की अनुभूति की सम्भावना अधिक नहीं बनती, वात्सल्य-भक्तिरस की ही बनती है। वह वात्सल्य भक्ति भी इसी रूप में समझनी चाहिए कि उनमें भगवान् के बालरूप के प्रति महत्त्वमयी रति है एवं उनकी बाल-लीला का गान भक्त-हृदय को रसमय है। पर सूर के काव्य में भक्ति-दृष्टि से ही नहीं, काव्य-दृष्टि से भी वात्सल्य की गहरी अनुभूति का अवकाश खुला हुआ है। इसीलिए सूर की वात्सल्य-परिकल्पना में विश्वानुभूति की क्षमता है।

सूर ने आलम्बन पक्ष में कृष्ण के सौन्दर्य, चेष्टाओं और बाल-सुलभ भावों—सभी के बिम्बग्राही चित्र दिये हैं। दूसरी ओर आश्रयपक्ष में मातृ-हृदय की नाना भाव-लहरियों को अंकित किया है। सूर की वात्सल्य-परिकल्पना मातृ-हृदय की आशा-आकांक्षाओं, भावना-कामनाओं का अक्षय भाण्डार है। कृष्ण की अवस्था के विकास के साथ इन भाव-लहरियों के रूप बदलते चले गये हैं, किन्तु उनकी स्थायी भाव धारा वही अपने अक्षुण्ण रूप में रहती है।

अन्य कवियों ने तो प्रायः नहीं, पर सूर ने वात्सल्य-रति के वियोग पक्ष के भी कतिपय चित्र प्रस्तुत किये हैं। ये चित्र अपने में इतने मार्मिक हैं कि पाठक के हृदय में पूर्ण विगलनात्मक प्रभाव छोड़ते हैं। यों कृष्ण के व्रजवास के समय भी यशोदा में वियोग-भावना के कई प्रसंग आ गये। तृणावर्त बालकृष्ण को अन्धड़ में उड़ा ले गया, यशोदा शोकाकुल हो चारों ओर उन्हें व्याकुल ढूंढ़ने लगी। कृष्ण कालीदह में कूद पड़े, और देर तक बाहर न आये। नन्द और यशोदा का हृदय फटने लगा। किन्तु इन प्रसंगों में विरह यशोदा में करुण अवस्था लाकर भी पाठक के लिए उतना करुण नहीं हो पाता जितना कृष्ण के मथुरा जाकर व्रज न लौटने पर होता है। इस विरह के यशोदा के अधिक चित्र सूर ने भी नहीं दिये, पर जो भी दिये हैं, मर्म-स्पर्शी हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम के लिए विरह का सैद्धान्तिक महत्त्व है। नन्ददास ने भी सिद्धान्ततः यशोदा में वात्सल्य-मूलक विरह की चर्चा की है। पर इसकी झलक सूर में ही मिलती है।

अनेक पदों में बिना किसी काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र को सामने लाये बालकृष्ण की नाना लीलाओं का चित्रण हुआ है। ये सब पद बाल-लीला के हैं और वस्तुतः इन पदों में इन भक्त कवियों की दृष्टि से इस बालचरित का ही लीला-रस है, जिस पर वल्लभ-सम्प्रदायी प्रत्येक भावुक भक्त निछावर है।

फिर भी समूचा बाललीला-वर्णन वात्सल्य-परिकल्पना से अनुप्राणित नहीं है। बाल-आलम्बन के प्रति सखाओं में सख्य-रति की झलक मिलेगी, तो अनेक गोपियों में कान्ता-रति की। अनेक चित्रों में कवि-निष्ठ महत्त्व-चेतनानुप्राणित रति-रूप के दर्शन होंगे। इस प्रकार अन्य रति-रूपों से अनाच्छादित बाल-वर्णन ही वात्सल्य-रस की परिकल्पना के अन्तर्गत आता है। परमानन्ददास के अनन्तर परवर्ती कवियों में जो बाल-लीला के चित्र हैं उनमें प्रायः हुआ यही है कि वे वात्सल्यरति के नहीं, गोपियों की कान्ता-रति के ही आलम्बन हैं।

सूर और परमानन्ददास में वात्सल्य और श्रृंगार दोनों भक्तिरसों की परिकल्पना पूर्ण विस्तार के साथ है। सूर में तो वात्सल्य मात्रा की दृष्टि से अपने में एक पूर्ण साहित्य है। पर अन्य कवि अपने को मधुर भावना तक ही परिसीमित करते गये हैं। यह सम्प्रदाय में श्रृंगार के बढ़ते हुए प्रभाव की द्योतक प्रवृत्ति है।

मधुर भक्तिरस

मात्रा की दृष्टि से अष्टछापी काव्य में मधुर-रस की ही प्रधानता है। स्वयं सूर में भी इस दृष्टि से मधुर ही प्रधान है। सूर और परमानन्ददास में तो एक अच्छी मात्रा तक वात्सल्य-परिकल्पना भी रही, पर परवर्ती अष्टछापी तो लगभग एकान्त रूप से मधुरोपासक हो गये।

सब मिला कर मधुर भावना में अष्टछापी लोग संयोग-भावना के रसिक रहे। केवल सूर ऐसे हैं जिनमें संयोग से विरह बढ़कर है। आचार्य वल्लभ ने प्रेम-लक्षणा भक्ति में विरह को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। उन्हें मूर्तिमान् विरह कहा गया है।[1] वल्लभ की यह मान्यता सम्प्रदाय के सभी कवियों में सिद्धान्ततः मान्य रही, किन्तु यदि अकृत्रिम भावावेश को कवि की रस-परिकल्पना की कसौटी पर रखकर देखा जाय तो कहना पड़ता है कि वल्लभ की विरह-चेतना की आत्मा सूर में ही आकर उतरी है। शेष सब संयोग के उपासक हैं; कहना चाहिए, वल्लभ की अपेक्षा विट्ठल के अधिक समीप हैं।

मधुरोपासना के सूत्र बहुत पुराने हैं, और उसे शास्त्रीय समर्थन भी पर्याप्त मात्रा में बहुत दिनों से मिल चुका है। बड़े-बड़े निर्मलात्मा सन्तों एवं भक्तों ने इस भाव-साधना का रसास्वादन किया है। पर इसकी सर्वजनोपयोगिता पर स्वयं इस पथ के पथिकों को भी संदेह बना रहा है। इसके मूल भाव का वही स्वरूप है जो लौकिक शृंगार का होता है। काममूलक रति को ही आलम्बन बदलकर इस भाव-साधना में भगवदीय बनाया जाता है। अतः मधुरा भक्ति का मार्ग सरसतम होते हुए भी संसार-प्रवाह में बहने वाले जन-सामान्य के लिए खतरे से खाली नहीं रह जाता।

अष्टछापी काव्य की रचना होने के समय तक भारत की भक्ति के क्षेत्र में, विशेषकर कृष्ण-भक्ति में, मधुर भावना के लिए गहरा क्षेत्र बन चुका था। निम्बार्कीय, राधावल्लभीय, हरिदासी और चैतन्य-सम्प्रदायी भक्त वृन्दावन में मधुर-साधना का एक प्रवाही वातावरण बना चुके थे। मधुर-भावना अष्टछापी काव्य-रचना के समय भक्ति का एक युग-धर्म बन चुकी थी। अतः अष्टछापी कवियों द्वारा भी इस मार्ग की सरसता का आस्वादन करना कोई आश्चर्य की बात न थी। अष्टछापी कवि अपने वातावरण में फैले मधुर-परिकल्पना के अन्य सम्प्रदायों के रूपों से प्रभावित हुए हैं, यह स्वाभाविक ही था; फिर भी उनकी परिकल्पना अपना विशेष रूप बनाये रही है। युगलोपासना, निकुंज-लीला, नित्य-विहार, सहचरी-भाव आदि की चेतना सूर से लेकर अन्य सभी अष्टछापियों में मिल जाती है, किन्तु सूर और परमानन्द में वह अधिक प्रबल नहीं है। परमानन्ददास में भी सूर से अधिक है। सूर, परमानन्द और नन्ददास को छोड़ अन्य अष्टछापी तो इन धारणाओं से बहुत दूर तक प्रभावित हुए हैं। इसीलिए वे व्रज-लीला से वृन्दावन-लीला और निकुंज-लीला की ओर बढ़ते हुए संयोग-सुख की ओर किनारा करते गये हैं।

अष्टछापी मधुर-परिकल्पना में कान्ता-रति की आश्रय केवल राधा नहीं, गोपियां हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक निष्ठा के अनुसार सभी कवियों ने राधा को स्वामिनी के रूप में कुछ महत्त्व दिया है किन्तु प्रेम-मार्ग में गोपियों को केवल सेविका-परिचारिका आदि के रूप में अलग खड़ी रहने वाली चित्रित नहीं किया। सूर की गोपियों में यह अन्तर करना असम्भव

---

१. श्रीकृष्णवदनानन्दो वियोगानलमूर्तिमान्। वल्लभशरणाष्टक : श्रीहरिरायजी : पृ०९, श्लोक ४।

है कि किस गोपी से कृष्ण का दाम्पत्य सम्बन्ध है, किससे नहीं, कौन उनके विरह में अधिक दुःखी है, कौन कम। सूर ने सुरत के खुले चित्र कम दिये हैं, और उनमें प्रायः राधा का ही नाम लिया है। पर रास के प्रसंगों में, अन्य अवसरों पर या विरहकालिक संयोग-स्मृतियों में यह व्यंजना भरी पड़ी है कि कृष्ण का सभी गोपियों से काममूलक दाम्पत्य सम्बन्ध था।[1] वस्तुतः अष्टछापी मधुर-परिकल्पना में गोपियां कृष्ण की प्रियतमाएं और प्रेयसियां अधिक हैं, युगल या राधा की सेविका-परिचारिका या सहचरियां कम। सूर के रास-प्रसंग में राधा की प्रमुखता और गोपियों का राधा की सखियों वाला रूप कुछ सामने आता है, किन्तु उस रास में सम्मिलित गोपी-मात्र ने श्रीकृष्ण के साथ काम-मूलक मानस तृप्ति उपलब्ध की थी। इस प्रकार अष्टछापी मधुर-परिकल्पना की पहली विशेषता यह है कि इसकी कान्तारति पतिभाव की है और वह राधा तक ही परिसीमित नहीं, गोपी-सामान्य तक फैली हुई है। इस व्यापक दाम्पत्य से भिन्न जो सहचरी-खवासी आदि रूपों की रति के दर्शन यत्र-तत्र मिलते हैं उन्हें अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव समझना चाहिए।

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वकीया हैं, अतः सिद्धान्ततः गोपी-भाव स्वकीया-निष्ठ है। अष्टछापी कवियों ने भी इस मान्यता को सिद्धान्ततः सुरक्षित रखा है और रास के प्रसंग में या किसी और रूप में राधा-कृष्ण का परिणय दिखाया है। पर मधुर-परिकल्पना में अष्टछापी चैतन्य-सम्प्रदाय की इस मान्यता से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं कि प्रेम का चरम घनत्व परकीया-भाव में ही आता है। उनकी गोपियों में कुमारिकाएं भी हैं, और पति-सुत-स्नेह से मुंह मोड़कर नदी की भांति रस-सागर कृष्ण की ओर उमड़ती चली आने वाली गोपियाँ भी हैं।[2] पर अष्टछापी परकीया-भाव चैतन्यीय परकीया-भाव न होकर भागवतीय परकीया-भाव है। भागवत की गोपिकाएं ही सीधी अष्टछाप में अवतरित हुई हैं।

अष्टछापी कान्तारति सख्यानुरंजित है, दास्यानुरंजित नहीं। यों दास्यानुरंजन की झलक सभी कवियों में मिलती है, पर परवर्तियों में इसका प्रभाव बढ़ता गया है। सूर से परमानन्द में अधिक स्पष्ट है।[3] फिर भी सब मिलाकर अष्टछापी मधुर-परिकल्पना में

---

१. "काम आतुर भजीं गोपी, हरि मिले तिहिं भाइ।" सूरसागर : पू० : पद १६५४ : स्कं० १०।
"रस-बस स्याम कीन्ही ग्वारि।
काम आतुर भजीं बाला सबनि पुरई आस।" वही, पद १६८०।

२. "मुरली धुनि करी बलबीर।
गईं सोरह सहस हरि पै छांड़ि सुत-पति-नेह।" वही, पद १६२५।

३. "दूलह देखौं जाइ। उतरे संकेत बटहिं किहिं मिल लखि पाउं।
फूल गूंथि माला लै मालिनी ह्वै जाउं।
नन्दनन्दन प्यारे कौं बीरा करि लेउं।
चोलिनि ह्वै जाउं निरखि नैननि सुख देउं।
वृंदावनचंद कौं मैं भूषन गढ़ि लेउं।
ह्वै सुनारि जाउं निरखि नैननि सुख देउं।" सूरसागर : पू० : स्कं० १० : पद १६९३।
"पौढ़े रंगमहल गोविन्द।
मलय चंदन अंग लेपन परस्पर आनंद।
कुसुम बीजन ब्यार ढोरै सजनी परमाकन्द।" परमानंदसागर : पद २४७।

सख्य का अनुरंजन ही प्रधान है। यह सख्य राधा की अपेक्षा गोपियों में सीधे कृष्ण के प्रति है।[1] सूर और परमानन्ददास में यह रूप अधिक स्पष्ट है। इसमें दास्य की झिझक या शील का आतंक नहीं, प्रेम का खुलापन है।

अष्टछापी मधुर-परिकल्पना में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का काव्य मिलता है, पर सूर को छोड़ अन्य कवियों में संयोग पक्ष मुखर है, हम पीछे यह कह चुके हैं। यहां हम इन दोनों पक्षों की परिकल्पना के सम्बन्ध में कतिपय उल्लेखनीय विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

अष्टछापी संयोग-परिकल्पना में प्रसंग-कल्पना अन्य सम्प्रदायों के कवियों से बहुत बढ़ी-चढ़ी है। केवल निकुंज-रस तक ही परिसीमित न रहने के कारण अष्टछापी काव्य का क्षेत्र अन्य कृष्ण-काव्य से विस्तृत रहा है और माधुर्य के क्षेत्र में भी उसमें नवीन प्रसंगों एवं रूपों को परिकल्पित करने की पूरी-पूरी गुंजाइश कवियों को मिली है। संयोग-कालीन अवस्थाओं, भावनाओं एवं चेष्टाओं का यहां भण्डार भरा पड़ा है। फिर भी, एक सीमित मात्रा को छोड़कर सुरत और संभोग का उन्मुक्त चित्रण नहीं हुआ। परवर्ती कवियों में निकुंज-विलास के चित्र कुछ बढ़ गये हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के प्रेम-विकास में दो तत्त्वों का प्रमुख हाथ माना है—रूप-सौन्दर्य एवं साहचर्य। रूप-सौन्दर्य की मधुर प्रभवन-शीलता का चित्रण सभी अष्टछापियों ने किया है। साहचर्य के सम्बन्ध में स्वयं सूर की गोपियों ने उद्धव से कहा है—'लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे करि कै छूटै'। किन्तु इस साहचर्य-तत्त्व का पल्लवन सूर को छोड़ अन्य अष्टछापियों में अधिक नहीं मिलता। इनका प्रमुख कारण यही कहा जा सकता है कि अन्य कवियों ने पद-रचना चुने हुए अवसरों को ध्यान में रखकर की है, भाव-विकास या चरित-विकास पर उनका ध्यान न था। सूर के काव्य में हमें भाव-धारा की दूर-गामिनी विकसमानता भी मिलती है।

पर ध्यान से देखने पर सूर ने भी गोपियों के प्रेम-तत्त्व को विकसमान नहीं दिखाया। सूर के गोपी-प्रेम में कवित्व और भक्ति-मार्ग दोनों का ही समन्वय है। कवित्व की पूर्ति के लिए कृष्ण और गोपियों के बीच सह-क्रीड़ा और साहचर्य द्वारा प्रेम का विकास और परिपोष सूर ने दिखाया है। पर इससे भी अधिक उन्होंने साहचर्य के स्थान पर रहस्य और अतिमानवीयता को स्थान दिया है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान देने की हैं :

१. सूर ने शिशु कृष्ण के प्रति ही गोपियों में काम रति का उन्मेष चित्रित किया है। कृष्ण दो-तीन वर्ष के ही होंगे, उनकी रूप-ठगौरी गोपियों पर पड़ने लग जाती है। लोक-

---

१. "यह जानति तुम नन्दकुमार-सुत।
धेनु दुहत तुमकौं हम देखति जबहिं जाति खरकहिं उत।
चोरी करत यहौ पुनि जानति घर-घर ढूंढ़त भांड़े।
मारग रोकि भये अब दानी, वे ढंग कबतैं छांड़े।
और सुनौ जसुमति जब बांधे तब हम कियौ सहाइ।
सूरदास-प्रभु यह जानति हम तुम ब्रज रहत कन्हाइ।" सूरसा० : पू० : स्कं० १० : पद २१३७।
"का पर ढोटा नयन चलावत, को है तिहारे बबा की चेरी।
गोरस बेचन जात मधुपुरी आय अचानक बन में घेरी।" परमा० : पद १७६।

लाज, कुल-मर्यादा छोड़ने की नौबत आ जाती है।[1] गोपियां शिशु कृष्ण को उठाकर उरोजों से लगाकर प्रेम-पुलकित होने लगती हैं। यों औरों के देखने में यह बात स्वाभाविक जैसी है। सुन्दर बालक को देख हर कोई उठाकर छाती से लगा सकता है। पर गोपियों में वैसी सामान्य बात नहीं, उनकी कामासक्ति जाग उठी है, जिसे सर ने धीरे-धीरे प्रकट किया है।[2]

बाल-कृष्ण के प्रति कामासक्ति वाली एक गोपी का चित्र देखिए—

"देखी ग्वालजमुना जात।
आपु ता घर गए पूछत कौन है कति बात।
दह्यौ माखन खात सब मिलि दूध दीन्हौं डारि।
बच्छ लैं सब छोरि दीन्हे गए बन समुहाइ।
छिरकि लरिकनि मही सौं भरि ग्वाल दिए चलाइ।
देखि आवत सखी घर कौं, सखिनि कह्यौ जु दौरि।
आनि देखे स्याम घर में, भई ठाढ़ी पौरि॥
प्रेम अन्तर, रिस भरे मुख, जुवति बूझति बात।
चितै मुख-तन सुधि बिसारी, कियौ उर नख घात।
अतिहि रसबस भई ग्वालिनि गेह देह बिसारि।
सूर प्रभु भुज गहे ल्याई महरि पै अनुसारि।"[3]

चार-पांच वर्ष के बालक कृष्ण के प्रति इस कामासक्ति की, जिसमें गोपी उरोज-स्पर्श ही नहीं कराती स्वयं अपने उरोजों पर नख-क्षत भी कर लेती है और उन्हें जाकर यशोदा को दिखाती है, व्याख्या आप चाहें तो फ्राइड के सहारे कर सकते हैं। यशोदा ने भी कुछ यही अर्थ निकाला—ग्वालिनि, तू जोवन-मद में इतरा रही है, यह सब तेरे अपने यौवन-भार का बखेड़ा है।[4] देखा जाय तो यह भी होता है। इसे हम अस्वाभाविक नहीं कह सकते। काम-रति का उच्छलन युवक और युवतियों में कभी-कभी बाल-संसर्ग में व्याज से प्रकट होता है, किन्तु वहां उस काम-रति का आलम्बन स्वयं वह बालक नहीं होता। गोपियों के कामोच्छलन में तो आलम्बन स्वयं पांच वर्ष का बालक है।

इतना ही नहीं, बालकृष्ण में भी इन कामभावोपासिका गोपियों के प्रति तद्रूपा रति का चित्रण सूर ने किया है। निम्न दो पदों में उभयपक्षीय कामरति का यह चित्र दर्शनीय है। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि गोपी युवती है, कृष्ण केवल पांच वर्ष के :

---

१. सूरसागर : दशम स्कन्ध : पू० : पद ७५३, ७५४।

२. "माखन खात अचानक पावैं, भुज हरि उरहि छुवावैं।" वही, पद ८८९।
"कोउ कहति, मैं देखि पाऊं, भरि धरौं अंकवारि।
सूर प्रभु के मिलन कारन करतिं बुद्धि विचार।
जोरि कर विधि कौं मनावति पुरुष नन्दकुमार।" वही, पद ८९१।
"मुख चूमहिं लै-लै उर लाए। जुवतिनि कीन्ह आपु मन-भाए।" वही, पद १००९।

३. सूरसागर : दशम स्कन्ध : पू० : पद ९०७।

४. वही, पद ९१२।

"देखी हरि मथति ग्वाल दधि ठाढ़ी।
जोवन मदमाती इतराती, बेनि ढुरति कटि लौं छवि बाढ़ी।
दिन थोरी, भोरी, अति गोरी, देखत स्याम भए अति चाढ़ी।
करषति है दुढ़ करनि मथानी, सोभारासि भुजा सुभ काढ़ी।
इत-उत अंग मुरत झकझोरत, अंगिया बनी कुचनि सौं माढ़ी।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए मनहुँ काम सांचे सौं काढ़ी।"[1]

"गए स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर।
देखी जाइ मथति दधि ठाढ़ी, आपु लगे खेलन द्वारे पर।
फिरि चितई, हरि दृष्टि गए परि, बोलि लए हरुएं सूनैं घर।
लिए लगाइ कठिन कुच कैं बिच, गाढ़ैं चांपि रही अपनैं कर।
उमंगि अंग अंगिया उर दरकी, सुधि बिसरी तन की तिहिं औसर।
तब भए स्याम बरस द्वादस के रिझै लई जुवती वा छवि पर।
मन हरि लियौ तनक से ह्वै गए, देखि रही सिसुरूप मनोहर।
माखन लै मुख धरति स्याम कैं सूरज प्रभु रति-पति नागर-बर।"[2]

यहां ये बातें उल्लेखनीय हैं :

१. पांच वर्ष के बाल-कृष्ण के प्रति युवती गोपी की कामासक्ति।

२. पांच वर्ष के बाल-कृष्ण में गोपी के प्रति कामासक्ति।

३. बाल-कृष्ण का गोपी-मिलन काल में किशोर हो जाना, और पुनः बालक हो जाना।

ये तत्त्व आलम्बन की अतिमानवीयता और अलौकिकता का निर्माण करते हैं, साथ ही गोपी-निष्ठ कान्ता रति को साहचर्य द्वारा क्रमशः विकसित नहीं रहने देते। सूर ने अपने संयोग में इन तत्त्वों को सर्वत्र उभारा है, जिससे उनके संयोग शृंगार में एक रहस्यमय वातावरण बना रहा है। यह रहस्य और यह अतिमानवीयता ही वे तत्त्व हैं जो सूर के संयोग को लौकिक होने से बचाते हैं। लौकिक शृंगार और अलौकिक मधुर रस में सबसे बड़ा अन्तर आलम्बन की अलौकिकता एवं रति-तत्त्व की रहस्यपूर्णता ही है। सूर ने इसकी पूरी-पूरी रक्षा की है।

२. सूर ने कृष्ण के अवस्था-परिवर्तन एवं रूप-परिवर्तन का संयोग के बीच उल्लेख किया है। ऊपर के चित्र में हम देख ही चुके हैं। गोपियों ने यह बात यशोदा से बार बार कही है कि यह तुम्हारा कृष्ण हमारे साथ एकान्त में कुछ और होता है, तुम्हारे सामने आकर भोला शिशु हो जाता है :

'का मैं कहौं, कहत सकुचति हौं, कहा दिखाऊं गात।
हैं गुन बड़े सूर के प्रभु के, ह्यां लरिका ह्वै जात।"[3]

एक बार तो एक गोपी शिकायत के लिए कृष्ण को पकड़कर ही साथ ले गयी, क्योंकि यशोदा कभी विश्वास ही नहीं करती थीं। पर जैसे ही उन्हें सामने करके शिकायत करने लगी तो देखती है कि उसके हाथ में तो कोई और है, कृष्ण तो यशोदा के घर-भीतर

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पू०, पद ९१८।

२. वही, पद ९१९।

३. वही, पद ९०८।

खेल रहे हैं।[1] इसी तरह की घटना दूसरी गोपी के साथ दूसरे दिन हुई। वह जिसे कृष्ण के रूप में पकड़ कर ले गयी थी वह तो वहां किसी की लड़की निकली।[2] सूर ने आलम्बन के अतिमानवीयत्व को स्थापित करने के लिए इन मार्गों को अपनाया है।

३. सूर ने राधा के साथ कृष्ण की प्रथम 'औचक' भेंट के दूसरे ही दिन दोनों के सुरत-संभोग के चित्र दिये हैं। उस समय राधा सात वर्ष की और कृष्ण आठ वर्ष के थे। संयोग-काल में उनका रति-नागर और रति-नागरी रूप प्रकट हुआ था। दोनों में जो प्रीति उदित हुई थी, वह 'पहली' प्रीति थी, 'गुप्त प्रीति' थी।[3] सूर के इन चित्रों में न साहचर्य का योग है, न प्रेम के क्रमिक विकास का। यह संयोग रहस्य और अतिमानवीयता के तत्त्वों से अनुप्राणित एक लीला है, अलौकिक शृंगार है, इसी कारण यह शृंगार नहीं, मधुर रस है।

अन्य अष्टछापी कवियों ने जो संयोग-चित्रण किया है, और उन्होंने प्रमुखतया संयोग-चित्रण ही किया है, उसमें सूर के समान अतिमानवीयता एवं रहस्य की व्यंजना नहीं है। वे कृष्ण के अवतारत्व की अभिधा में चर्चा करते हैं, व्यंजना द्वारा सूर के समान अतिमानवीय वातावरण का जाल संयोग-चित्रों के आसपास प्रायः नहीं बुन पाते। फल यह होता है कि उनके शृंगार-चित्रों में उन पाठकों के लिए अधिक सतर्कता की आवश्यकता है जिन्होंने अपने संस्कारों को अपेक्षित रूप में ढाल नहीं लिया।

सूर के इन शृंगारी चित्रों में भी, यदि वे अलग से निकालकर पढ़े जायं तो, वही खतरा है। जिस अलौकिक एवं रहस्यपूर्ण अतिमानवीय वातावरण की सृष्टि करके सूर ने कृष्ण शृंगार को भक्तिमार्गीय बनाये रखा है, वह सूर की प्रबन्धमयी भावधारा में ही रखकर आस्वादन करने योग्य है। हम निवेदन कर चुके हैं कि सूर का काव्य उनकी अभीष्ट अनुभूति

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पू०, पद ९३२।

२. वही, पद ९३३ "देखन चली जसोदा सुत कों ह्वै गए सुता पराई।

३. "खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल भाल दिए रोरी।" पद १२९०।
"प्रथम सनेह दुहुन मन जा यौं।
नैंन नैन कीन्हीं सब बातैं, गुह्य प्रीति प्रगटाय्यौ।" पद १२९२।
"सैननि नागरी समुझाइ।
गुप्त प्रीति न प्रगट कीन्हीं, हृदय दुहुनि छिपाइ।" वही, पद १२९४।
"भई बरस सात की।" पद १३१७।
"आठ बरस के कुंवर कन्हाई।" पद १३७१।
"उतारत है कंठनि तैं हार।
हरि हिय मिलत होत है अंतर, यह मन कियौ विचार।
भुजा वाम पर कर-छवि लागति, उपमा अंत न पार।
मनहुं कमलदल नालमध्य तैं उयौ अद्भुत आकार।
चुंबत अंग परसपर जनु जुग चंद करत हितचार।
दसननि बसन चांपि सुचतुर अति करत रंग विस्तार।
गुनसागर रससागर मिलि कैं मानत सुखव्यवहार।
सूर स्याम स्यामा नव रस रमि रीझें नन्दकुमार।" पद १३०५।

की सफल प्रेषणीयता के लिए समूचे रूप में ही पढ़ने की वस्तु है।

निम्बार्क, राधावल्लभ और हरिदास सम्प्रदायों की भाव-पद्धति का अवलम्बन करते हुए सभी अष्टछापी कवियों ने युगलरस या निकुंजरस का गान भी किया है। इन पदों का सम्बन्ध संयोग श्रृंगार से ही है। नित्य विहार की भावना में वियोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः इनकी धारणा के अनुसार एक संयोग-सुख ही गेय होता है। भक्त में स्वयं प्रेयसीभाव न होकर राधा या युगल के प्रति सखीभाव, सहचरीभाव या खवासीभाव होता है और इन सखी-सहचरियों के युगल के संयोग-संभोग के दर्शन का सुख उपलब्ध होता है। इस प्रकार निकुंजरस में श्रृंगार का वह उन्मुक्त रूप सामने आ जाता है जो सामान्य काव्य-दृष्टि से आंकने पर रसाभास तक की कोटि में रखा जा सके। जो भी हो, सभी अष्टछापियों ने इस निकुंजलीला और सहचरीभाव के चित्र दिये हैं, और ये चित्र परवर्ती काल में क्रमशः बढ़ते गये हैं।[1] अष्टछाप के लिए हम इसे भक्ति के युगधर्म का प्रभाव कह सकते हैं।

---

१. क—"खैंचि भुज-बंध बल बिहंसि भीतर चली सुनि अधर दुहूंनि के नैकु डोलैं।
झूमत झुमत सेज निकट नवतन चढ़े, मन मनहिं मुसुकाइ कोउ न बोलैं।
सूर सकल सहचरि देखि तजी विकलता, परम फल प्रानपति सुरति आयौ।
आपु आदर कियौ, सुमुखि बहु सुख दियौ, एक तैं एक अति मोद पायौ।" सूर० १८०८
"नवल नागरि नवल नागर किसोर मिलि कुंज कोमल कमल दलनि सज्या रची।
प्रान-मन-रसिक ललितादि लोचन-चषक पिवति मकरंद सुखरासि अंतर सची।" १८०९

ख—पौढ़े रंगमहल गोविन्द।
राधिका संग सरद रजनी उदित पूर्यौ चंद।
विविध चित्र-विचित्र चित्रित कोटि कोटिक बंद।
निरखि निरखि विलास बिलसत दंपती सुख-कंद।
मलय चंदन अंग लेपन परस्पर आनंद।
कुसुम बीजन व्यार ढोरै सजनी परमानंद।" परमानंदसागर : पद २४७।

ग—"केलि करि प्यारी-पिय पौढ़े चारु चांदनी में नेह सौं लिपट गए जोवन के जोस में।
अंगिया दरक गई मानो प्रात देखिबे कौं चोंच काढ़ि चक्रवाक कामतर रोस कौं।
आरस सौं मोर बांह दोऊ कुच गहे पिय रति के खिलौना माने ढांपि दिये ओस में।
रूप के सरोवर में नंददास देखे आली चकई के छौना बंधे कंचन के कोस में।" नंददास-ग्रन्थावली : पदावली, पद ७०

घ—"राधा के संग पौढ़े कुंज-सदन में सहचरी सबै मिलि द्वारै ठाढ़ी।
नंदनंदन कुंवर वृषभानतनया सों करत केलि में जु रुचि बाढ़ी।" कुंभनदास : ३०१।

ङ—झूलत सुरंग हिंडोरे मुकुट धरि बैठे हैं नंदलाल।
लाल काछिनी कटि पर बांधे उर शोभित बनमाल।
वामभाग वृषभानु नंदिनी चंचल नैन विशाल।
कृष्णदास दंपति छवि निरखत अंखियां भईं निहाल।" अष्टछाप० : डा० दीनदयालु गुप्त : भा० २ पृ० ६४६ फुटनोट से।

च—प्रातसमै नव कुंजद्वार ह्वै ललिता ललित बजायौ बीना।
पौढ़े सुने स्याम-स्यामा दोउ दंपति छवि अति प्रवीन प्रवीना।" चतुर्भुजदास, ३३२

सूर और अन्य अष्टछापी कवियों के इन उन्मुक्त शृंगारी चित्रों में एक अन्तर है। सूर भाव-धारा का विकास करते हुए, अतिमानवीयता एवं रहस्य का वातावरण संजोते हुए, धीरे-धीरे चढ़कर उन्मुक्त संयोग के बिन्दु तक पहुँचते हैं, जबकि अन्य अष्टछापी भावधारा की प्रबन्धात्मकता का लक्ष्य न रखने के कारण सीधे-सीधे उन निकुंजलीलादि के प्रसंगों को चुनकर मधुर लीला के चित्र देते हैं; फल यह होता है कि सूर के संयोग-शृंगार में श्लील-सीमाओं का भंग उतना खटकने वाला नहीं रह जाता जितना अन्य कवियों में। जिन भक्त भावुकों ने इस पथ के रहस्य को साम्प्रदायिक निष्ठा के बल समझ लिया है उन्हें तो निर्मल एवं गाढ रस की अनुभूति होती ही है।

अन्य कई कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों के समान वल्लभ सम्प्रदाय में भी ब्रज को भगवान् कृष्ण का नित्य लीलाधाम माना गया है जिसमें गोपियों के साथ उनकी नित्य लीला, नित्य गोचारण, नित्य माखनचोरी, नित्य रास चलता रहता है। इस मान्यता के अनुसार गोपियों के साथ कृष्ण का ब्रज में नित्य संयोग कहा गया है। भगवान् की लीलाएं इस दृष्टि से प्रकट और अप्रकट दो प्रकार की मानी गयी हैं। प्रकट लीला के नाते ही भगवान् का मथुरा-द्वारका आदि का गमन होता है। सामान्य लोग इसे ही देखते-समझते हैं, अतः यह प्रकट लीला है। किन्तु अप्रकट रूप से भगवान् का ब्रज में नित्य संयोग उपलब्ध है। सूर की गोपियों ने मथुरा से आये उद्धव को ब्रज में क्रीड़ा करते श्याम की मधुर झांकी दिखा दी थी, जिसकी चर्चा उद्धव ने मथुरा लौटकर श्रीकृष्ण से बड़े आश्चर्य-भरे स्वर में की थी। अष्ट-छापी काव्य में इस नित्य संयोग की परिकल्पना भी मिलती है, और इस धारणा की पृष्ठभूमि में अष्टछापी कवियों ने प्रकट लीला के भीतर भी जो शृंगारी चित्र उतारे हैं वे इस शृंगार की अलौकिकता की ही प्रतिष्ठा करते हैं।[1]

छ—"बैठे दोउ कुंज मंडप पिय प्यारी।
दूल्है हो नवल लाल गिरिधारी दुलही संग श्रीवृषभानदुलारी।
लाल पाग लालन सिर सोहत नवल सेहरो छवि लागत भारी।
गोविन्द प्रभु पिय इह सुख देखत अपनो तन मन वारी।" गोविन्दस्वामी : पद ४०१।

ज—"नंदनंदन-संग राधिका खेली।
कुंज के सदन अति चतुर वर नागरी चतुर नागर मिले करत केली।
नील पट तन लसै पीत कंचुकी कसै सकल अंग भूषननि रूप रेली।
परम आनंद सों लाल गिरिधरन के हृदय सों लागि भुज कंठ मेली।
छीतस्वामी नवल वृषभानु-नंदिनी करति सुखरास पिय-संग नवेली।
सहचरी मुदित मन जाल-रंध्रनि निरखि मानि अपनो भाग कहि सहेली।" छीतस्वामी, पद १५३।

१. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध,
"सुमिरि तुम्हारी प्रगट लीला कर्म उठतीं गाइ।" पद ४७६२।
"जुग जुग ब्रज अवतार लेत प्रभु अखिल लोक ब्रह्मांड के नाथ।
येई गोपी येई ग्वाल यहै सुख यह लीला कहुं तजत न साथ।
येई कान्हा यहै वृन्दावन यहै, जमुना येई कुंज-विहार।" पद १११५।
"ऊधौ ज्यौं करि कृपा पांउँ धारत हौ, त्यौं तुम्हैं जवाऊं।
मौन गहे तुम बैठि रहौ हौं मुरली सब्द सुनाऊं।

विरह—वल्लभ सम्प्रदाय और अष्टछाप की दृष्टि में विरह का जो महत्त्व है हम उसकी चर्चा पीछे कर चुके हैं। वस्तुतः अष्टछापी काव्य में विरह एक काव्यानुभूति नहीं, एक भाव-साधना है। अष्टछाप में विरह के प्रसंग में सूर, परमानन्ददास, नन्ददास और कुम्भनदास चार नाम लिये जा सकते हैं। इनमें प्रतिनिधि और विरह सम्राट् सूर ही हैं। स्वयं सूर, परमानन्द, नन्ददास आदि ने विरह का महत्त्व स्वीकार किया है।

काव्यशास्त्र में विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद बताये गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनमें भगवद्विरह में करुण की सम्भावना नहीं होती। रूपगोस्वामी ने मधुर-विप्रलम्भ के ये चार भेद माने हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास। प्रेमवैचित्य संयोगावस्था में होने वाले प्रेम की वह घनीभूत अवस्था है जिसमें प्रेयसी प्रिय के रूप-सौन्दर्य में इतनी डूब जाती है कि उसे प्रिय पृथक् दिखाई ही नहीं पड़ता और वह उसका अभाव अनुभव कर व्याकुल हो उठती है। नन्ददास ने विरहमंजरी में इसी प्रेमवैचिती को 'साक्षात्' विरह नाम दिया है। पर नन्ददास का यह भेदीकरण भिन्न प्रकार से है। उन्होंने विरह के प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर ये चार भेद किये हैं। अष्टछापी काव्य में इन सभी विरह-रूपों की परिकल्पना मिलती है।

सूर और परमानन्ददास के काव्य में पूर्वराग के नाना भावमय चित्र भरे पड़े हैं। सूर

अबहि सिधारे बन गोचारन हौं बैठी जस गाऊं।
निसि आगम श्रीदामा के संग नाचत प्रभुहिं दिखाऊं।
को जानै द्विविधा-संकोच-बस तुम डर निकट न आवैं।
तब यह दुन्द बढ़ै अति दारुन सखियन प्रान छुड़ावै।
छिन न रहैं नंदलाल यहां बिनु जो कोउ कोटि सिखावै।
सूरदास ज्यौं मन तैं मनसा अनत कहूँ नहिं धावै।" पद ४६६१।
"मैं ब्रजवासिन की बलिहारी।
जिनके संग सदा क्रीडत हैं श्रीगोबरधनधारी।
किनहूँ कैं घर माखन चोरत, किनहूं कैं संग दानी।
किनहूं कैं संग धेनु चरावत, हरि की अकथ कहानी।" पद ४६७१।
"ब्रज में एक अचंभो देख्यौ।
मोर मुकुट पीताम्बर धारे तुम गाइन संग पेख्यौ।
गोपबाल संग धावत तुम्हारे तुम घर घर प्रति जात।
दूध दही अरु मही लै ढोंरत चोरी माखन खात।
गोपी सब मिलि पकरति तुमकौ तुम छुड़ाइ कर भागत।
सूर स्याम नित प्रति यह लीला देखि देखि मन लागत।" पद ४७७१।
"हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः।
वर्णिता विरहावस्था गोष्ठवामभ्रुवामसौ॥
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः।
हरिणा च व्रजदेवीनां विरहोऽस्ति न कर्हिचित्।" उज्ज्वलनीलमणिः पृ० ५६०-२
"अत्र विशेषप्रकटशब्दयोरुपादानादवृ दारण्ये विहरतेत्यत्राप्रकटलीलाविशेषतया विहरतेति गमितम्।"
लोचनरोचिनी, जीवगोस्वामी, वही : पृ० ५६०-१।

के पूर्वराग के चित्रों में विरह और मिलन की अद्भुत मिठास है। मान को सूर की अपेक्षा परमानन्ददास ने अधिक महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि में मान से नारी का स्नेह खिल उठता है।[1] "जुवतिन कौ यह सुभाव मान करतहि सोभा।" खण्डिताओं के चित्र भी मान के एक भेद ईर्ष्यामान के अन्तर्गत आते हैं। जिन कवियों ने सामान्यतः विरह के गीत नहीं गाये हैं उन्होंने भी खण्डिताओं के चित्र दिये हैं। संयोग परिकल्पना के रसिक गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी आदि में भी खण्डिताओं के विविध चित्र मिलते हैं।

प्रवास विरह का जो चित्रण सूर ने प्रस्तुत किया है, विश्व के विरह साहित्य में बेजोड़ नमूना है। सूर का विरह वस्तुतः पुटपाक-प्रतीकाश है जिसमें प्रेम के काँचे घट पककर 'रस' के अनूठे भाजन बन जाते हैं। सूर ने वनान्तर और देशान्तर दोनों प्रकार के विरह की कल्पना प्रस्तुत की है। आचार्य शुक्ल ने उनके वनान्तर विरह को, जिसमें कृष्ण के किसी वन-कुंज की ओट में चले जाने पर ही गोपियां व्याकुल हो उठती हैं, अस्वाभाविक कहकर आलोचना की है। शुक्लजी की आलोचना गोपी-प्रेम को लौकिक भाव-भूमि में रखकर परखते हुए की गयी है, जिसमें परिस्थिति के औचित्य का प्रश्न उठा है। उन्होंने भक्ति-क्षेत्रीय प्रेम के विरह की साधनात्मकता की ओर दृष्टि नहीं रखी है जिसमें वनान्तर ही नहीं, प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह भी आदर्श विरह के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्रत्यक्ष और पलकान्तर विरह वस्तुतः संयोग-कालीन प्रेम की घनीभूत अवस्था के सूचक हैं। सूर ने पलकान्तर विरह की मधुर परिकल्पना प्रस्तुत की है। एक पद उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है :

"द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखैं कल परत नहीं छिनु एते पर कीन्हीं यह टेऊ।
बार बार छवि देख्यौई चाहत, साथी निमिष मिले हैं येऊ।
ते तौ ओट करत छिनु ही छिनु देखत ही भरि आवत द्वेऊ।
कैसैं मैं उनकौं पहिचानौं नैन बिना लखियै क्यों भेऊ।
कहा भई जौ मिली स्याम सौं, तू जानै, जानै सब कोऊ।
सूर स्याम कौ नाम स्रवन सुनि दरसन नीकैं देत न वेऊ।"[2]

संयोग-कालीन प्रत्यक्षात्मक विरह की सूर ने विदग्धतापूर्ण परिकल्पना की है जिसमें यह कह सकना कठिन है कि यह संयोग है या विरह :

"स्याम सौं काहे की पहिचानि।
निमिष-निमिष यह रूप न, वह छवि, रति कीजै जिय जानि।
इकटक रहति निरंतर निसिदिन मन-बुधि सौं चित सानि।
एकौ पल सोभा की सींवां सकति न उर महं आनि।
समुझि न परै प्रगट ही निरखत आनंद की निधि खानि।
सखि यह विरह संजोग कि समरस, सुख दुख लाभ कि हानि।
मिटति न घृत तैं होम अगिनि रुचि सूर सु लोचन-बानि।
इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि।"[3]

---

१. परमानन्ददसागर : पद २३४।
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, पद २४६८।
३. वही, पद २४७०।

नन्ददास ने यद्यपि स्वयं इन विरह-भेदों का सैद्धान्तिक विवेचन किया है किन्तु इनकी काव्यात्मक परिकल्पना वे सूर के समान मर्म-स्पर्शी नहीं दे सके। नन्ददास के विरह में सैद्धान्तिक बुद्धिवाद का स्वर सदा ऊंचा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका विरह सूर की टक्कर का नहीं रह जाता। सूर की विरह मार्मिकता को यदि अष्टछाप में कोई कुछ स्पर्श करता है तो परमानन्ददास। पर परमानन्ददास और नन्ददास दोनों ही प्रकृत्या संयोग के कवि हैं, इसीलिए इनका विरह काव्य-मात्रा की दृष्टि से भी सूर की तुलना में बहुत छोटा है।

जहां तक अष्टछापी काव्य के मधुर रस की सहृदय-परक प्रेषणीयता का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि वह रस अत्यन्त मधुर एवं आत्म-निमज्जनकारी है। जो साम्प्रदायिक निष्ठा के अनुरूप संस्कार एवं साधनाप्राप्त भावुक भक्त हैं उनके लिए तो यह रस चरम निर्मल, आत्मोन्नायक एवं ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। किन्तु जो लोग साम्प्रदायिक निष्ठा न रखकर काव्योचित सहृदयता रखते हैं उनके लिए भी यह अत्यन्त मधुर है। अष्टछापी विप्रलम्भ की परिकल्पना प्रेम के घनत्व और आत्मविगलन का मधुर उपाय है। संयोग के एक अल्प अंश को छोड़कर रसानुभूति की दृष्टि से अष्टछापी मधुर रस हृदय की सात्त्विक एवं एकतान अवस्थाओं की अनुभूति समर्पित करता है। हाँ, साहित्यिक दृष्टि से खुले श्रृंगार के चित्र अवश्य सामान्य पाठक को रसत्व की सात्त्विक भूमि से नीचे ला सकते हैं।

अष्टछापी माधुर्य परिकल्पना एक मात्रा तक साम्प्रदायिक संस्पर्श लिए है। किन्तु समकालीन कृष्णभक्ति काव्य में अष्टछापी मधुर काव्य सर्वाधिक कम साम्प्रदायिक है। सूर के काव्य में काव्यानुभूति का प्रकृत अवकाश उन्मुक्त है, सम्प्रदाय-निष्ठा का उसमें अनुचित व्याघात नहीं है। जिन कवियों में साम्प्रदायिक तत्व अधिक उभरकर आ जाते हैं वहां उन रचयिताओं की दृष्टि से रसमय रूप में रचा हुआ काव्य भी काव्य-पाठक के लिए एक भाव-काव्य ही रह जाता है।

निम्बार्क सम्प्रदायी काव्य में रस परिकल्पना

काल-दृष्टि से निम्बार्क-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय है, ऐसा सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास है। साहित्यिक विद्वान् भी ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तरी भारत में प्रचलित कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में इसकी प्राचीनता स्वीकार करते हैं।

हमारे आलोच्यकाल की परिधि तक इस सम्प्रदाय के पाँच उल्लेखनीय कवि आते हैं—श्रीभट्टजी, हरिव्यासदेवजी, रूपरसिकदेवजी, परशुरामाचार्यजी एवं तत्त्ववेत्ताचार्यजी। साम्प्रदायिक विद्वान् इन भक्त कवियों का उद्भव चौदहवीं शती से मानते हैं, किन्तु साहित्य के विद्यार्थी इन्हें सोलहवीं और सत्रहवीं शतियों में ही स्वीकार करते हैं। इतना निस्सन्देह है कि सम्प्रदाय के प्रथम हिन्दी कवि श्रीभट्टजी ब्रजभाषा के प्राथमिक कृष्णभक्त कवियों में से हैं।

इन कवियों का उपलब्ध हिन्दी साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है, पूरा प्रकाशित भी नहीं है, जो प्रकाशित है उसका भी एक बड़ा अंश सिद्धान्त-प्रतिपादक है। ये भक्त-कवि स्वयं सम्प्रदाय की गद्दियों के आचार्य भी थे। अतः इन्हें कुछ सिद्धान्त-निरूपण भी करना होता था। परशुरामदेवजी का 'परशुरामसागर' एक वृहत् रचना है। पर उसमें रस-परिकल्पना कम, वस्तु-व्यंजना एवं तथ्य-निरूपण अधिक है। उसके विषय हैं ज्ञान, वैराग्य,

गुरु-महत्त्व, उपदेश एवं भगवत्प्रेम-महत्त्व। उसकी कुछ वाणियाँ शान्तरस के अन्तर्गत और कुछ सामान्य भक्ति-भाव के अन्तर्गत आती हैं। तत्त्ववेत्ताचार्यजी की वाणियों में भी तत्त्वनिरूपण ही अधिक है। इन वाणियों का सम्प्रदाय में बड़ा सम्मान है, किन्तु वह सम्मान रस-परिकल्पना की दृष्टि से न होकर सिद्धान्त-प्रकाशन की दृष्टि से है। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल में तीन ही भक्त-कवियों की वाणियां ऐसी रह जाती हैं जो सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना समझने के लिए विशेषतः अध्येय हैं। ये कवि हैं श्रीभट्टजी, श्रीहरिव्यासदेवजी, श्रीरूपरसिकदेवजी। इनकी वाणियों में भाव, भाषा और संगीत का अनूठा समावेश है। अपनी रसात्मकता के बल पर ये कवि अन्य सम्प्रदायों के उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

सम्प्रदाय की रस-दृष्टि

पीछे 'भक्तिदर्शन और रस' अध्याय में हमने निम्बार्क-दर्शन की मान्यताओं के अनुसार 'रस-तत्त्व' का निरूपण प्रस्तुत किया था। यहाँ सम्प्रदाय की व्यावहारिक भाव-साधना के अनुरूप रस का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पांचों को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हुए भी सम्प्रदाय एक रसिक सम्प्रदाय ही है। मधुर के सम्बन्ध में सम्प्रदाय की अपनी विशिष्ट दृष्टि है। श्रीकृष्ण, राधा, राधा-कृष्ण युगल, उनका विलास-नित्यविहार, धाम-तत्त्व और भक्ति-तत्त्व सभी को रस-रूप स्वीकार किया गया है।

लीलामय श्रीकृष्ण रस-रूप हैं,[1] उनकी लीला भी रस ही हैं। उनकी आह्लादिनी शक्ति राधा भी रस ही हैं। तत्त्वतः राधा और कृष्ण एक ही रसमय तत्त्व हैं।[2] रसाब्धि कृष्ण ही लीला के लिए दो रूपों में व्यक्त हुआ है।[3] इसीलिए लीलामय पुरुषोत्तम रसरूप श्रीकृष्ण सम्प्रदाय की दृष्टि में युगल-रूप है। यह युगल स्वरूपतः एक और अभिन्न है। इसका दाम्पत्य नित्य एवं विलास-क्रीड़ा भी नित्य ही है, इसीलिए इस क्रीड़ा को नित्यविहार कहा जाता है।

युगल में परस्पर आलम्बनआश्रय भाव है। राधा सम्प्रदाय की दृष्टि में स्वकीया हैं। वे कृष्ण की आलम्बन हैं, कृष्ण उनके। इस दृष्टि से किसी को महत्त्व न देकर सम्प्रदाय समभाव से दोनों के सौन्दर्य-गीत गाता है। दोनों एक-दूसरे लिए के आस्वाद्य हैं, दोनों एक-दूसरे के रसिक हैं। दोनों के लिए एक-दूसरे के लिए सम्पर्क-विलास से होने वाला सुख एक-दूसरे के लिए 'रस' है। सहचरियों तथा सहचरीभावापन्न भक्तों के लिए यह युगल, उनकी क्रीड़ा, उनका विलास-विहार, और वे लीला-धाम जहाँ यह लीला-विहार चलता है,

---

१. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।" वेदान्तकामधेनु, श्लो० ११

२. एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधा। आह्लादिनी, संधिनी, ज्ञानेच्छाक्रियाद्या बहुविधाः।
तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमांगभूता राधा, कृष्णेनाराध्यत इति राधा, कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गान्धर्वेति व्यपदिश्यते।" राधिकोपनिषत्, युग्मत० स०, पृ० १७।

३. येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्द्वेहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत। गयु० त० से०, पृ० १७।

सभी कुछ रस है।[1] यही रस निम्बार्की हिन्दी काव्य का विषय बना है।

रसेश्वर कृष्ण के लीला धाम भी रसरूप ही हैं जिन्हें नित्य, अप्राकृत एवं विशुद्ध-सत्त्वमय तथा भगवन्मय माना जाता है। निम्बार्क-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य में व्रजरस, वृन्दावनरस और निकुंजरस का गान हुआ है। व्रजरस में भगवान् की बाल-लीला, गोचारण, किशोर-लीला, माखन-चोरी, दान आदि के प्रसंग भी आ सकते हैं, किन्तु वृन्दावनरस और निकुंजरस राधाकृष्ण की शृंगारमयी लीलाओं तक ही सीमित हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में युगल-भावना पर उत्तरोत्तर बल बढ़ता चला गया है। सम्प्रदाय के प्रारम्भिक आचार्यों एवं कवियों में व्रजरस और वृन्दावनरस का गान मुखर रहा है किन्तु आगे चलकर निकुंजरस ही एक गेय बनता चला गया है। विद्वानों का विश्वास है कि सम्प्रदाय में प्रारम्भ में केवल युगल-भावना ही एकमात्र आधार न थी। राधा, नित्य-विहार, निकुंजरस आदि का महत्त्व एवं चर्चा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है।[2] फिर भी इस मधुर-भावना के संकेत सखीभाव की भूमि में ही स्वयं भगवान् निम्बार्क की दशश्लोकी में मिलते हैं। उन्होंने जहाँ लीलामय कृष्ण का स्मरण किया है वहीं साथ ही वामांग में विराजित सखी-सहस्र-परिसेवित वृषभानुजा का।[3]

इस प्रकार सम्प्रदाय की धारणा के अनुसार कृष्ण राधा के आस्वाद्य रस हैं, राधा कृष्ण की आस्वाद्य रस। युगल एवं उनका नित्यविहार सहचरियों एवं सहचरीभावापन्न भक्तों का आस्वाद्य रस है। सहचरियों के लिए युगलरस, नित्यविहार और धामरस आस्वाद्य, विषयभूत एवं विभावरूप रस हैं, उनका आस्वादनात्मक रस एतद्विषयक आत्मभाव का परिपाक है, वही भक्तिरस है। निम्बार्की मधुर-परिकल्पना को समझने के लिए आस्वाद्य एवं आस्वाद्य रूप रसों का वर्गीकरण करके चलना आवश्यक है।

इस सम्प्रदाय की मूल भाव-चेतना यह है कि राधा-कृष्ण युगल निकुंजों में विविध कामकेलियाँ एवं विहार करते हैं, सखियां उस विहार-विलास को देखकर दर्शन-सुख प्राप्त करती हैं। सखी भावापन्न भक्त भी उन सखियों से तदात्म होकर दर्शन-सुख प्राप्त करता है। उसके लिए यही रस है। सखियाँ या सखीभावापन्न भक्त युगल में से किसी के साथ भाव-तादात्म्य स्थापित नहीं करते। सेवा, सख्य या दर्शन की कामना से युक्त वे आत्म-भाव में डूबे रहते हैं। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने वर्ण्य भाव से अलग सहचरियों के इस निजभावास्वादन का स्पष्ट उल्लेख किया है :

"नैनन कौ लाहौ लीजिए।
गोरी स्याम सलौनी जोरी सरस माधुरी पीजिये।

---

१. स्वस्थत्वेन रसोद्रेके भोग्यत्वमधिकं भवेत्। परनिष्ठरसोद्रेके भोवतृत्वमधिकं भवेत्।
कदाचिद्भोग्यभावस्य भोवतृभावस्य चैव हि। कमनीयत्वमधिकं रसस्यैव स्वभावतः।
रसिकत्वाय राधायाः श्रीकृष्णो रसविग्रहः। उभयोः रसरूपत्वं तदीयजनताकृते।" वही, पृ० २५४।

२. राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धान्त और साहित्य, डा० स्नातकः पृ० २०८।

३. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिवारितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।" वेदान्तदशश्लोकीः श्लोक ४, ५।

छिन-छिन प्रति प्रमुदित चित चावहिं **निजभावहि में भीजिए।**
श्रीहरिप्रिया निरखि तन मन धन लै न्यौछावर कीजिये।"[1]
"निज-निज भावन सौं निरखौ री, कैसी विराजत सुन्दर जोरी।"[2]

इस दृष्टि से सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना में रसिक का स्थायी भाव और काव्य में वर्ण्य रस अलग हो जाते हैं। भक्त सख्य या दास्य से अनुमिश्रित सहचरी रति का आस्वादन करता है जिसमें उसे नित्यविहार के दर्शन का सुख होता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का सखीभाव एक कान्तारति है। यह भाव मुख्यतः राधा की अष्ट सखियों में पाया जाता है। ये सखियाँ आह्लादिनी राधा की अंशभूता शक्तियां ही हैं। पर कृष्ण के साथ साक्षात् संभोग का अधिकार राधा का ही है, इन सखियों का नहीं। पर ये राधा की कृपा से युगल के नित्यविहार में सम्मिलित होती हैं, और सेवा-परिचर्या तथा विहार-दर्शन का सुख प्राप्त करती हैं।[3] इन अंगरूपा शक्तियों के सामने राधा-कृष्ण को अपने विलास-विहार में किसी प्रकार के संकोच या लज्जा का प्रश्न नहीं उठता, न ही राधा को इनके प्रति सपत्नीभाव या ईर्ष्या होती है। विशुद्ध प्रेयसीभाव केवल राधा में ही होता है: सखियां भी भगवान् के प्रति दाम्पत्य भाव की आकांक्षिणी नहीं होतीं। वल्लभ सम्प्रदाय की गोपियां भगवान् के प्रति दाम्पत्य भाव की आकांक्षिणी पायी जाती हैं, यह हम देख चुके हैं।[4]

यद्यपि इन सखियों में सेवासुख और दर्शनसुख की ही फलात्मक उपलब्धि स्वीकार की गई है, किन्तु इनकी काम-वृत्ति का भी साथ ही परितर्पण होता है। मधुर भाव में प्रेम का स्वरूप कामवृत्ति-मूलक ही है, इस मार्ग में कामवृत्ति का दमन या निरोध न कर उन्नयन एवं दिशा-परिवर्तन किया जाता है। यदि कामवृत्ति का परितोषण न होता तो सखियों को भगवान् के इसी शृंगारी रूप को आराध्य बनाने की आवश्यकता भी न रहती। श्री भट्टजी तथा हरिव्यास देवजी ने इनमें काम-अंश की बात स्वीकार की है।[5] राधा-कृष्ण के निकुंज-विहार का साक्षात् दर्शन करते हुए भी सखियों में किसी भी प्रकार की कामवृत्ति का उदय न मानना और तटस्थतया दास्य या सख्य की अनुभूति और मात्र दर्शन-सुख स्वीकार करना एक दूरी तक अमनोवैज्ञानिक भी होता। अतः यह स्वीकार करना ही संगत है कि इन सखियों को दर्शनसुख में कामवृत्ति का परितोषण भी प्राप्त होता है। किन्तु यह काम-तर्पण संभोगेच्छा-तर्पण के रूप में नहीं होता, वृत्ति के एक सामान्य परितोषण के रूप में ही होता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से कहा गया है कि ये सखियां राधा की अंशरूपा हैं। जिन क्षणों में उस अंशी राधा की कामवृत्ति का परितर्पण होता है, उन्हीं क्षणों में उसकी अंशभूता शक्तियों

---

१. महावाणी, सेवासुख, ४२।
२. वही, उत्साहसुख, १७२।
३. "श्रीभट भट कटाक्ष करन सों युगल-स्वरूप-सुधारस सेवैं।" यु० श०, पद १७।
"और काहू कौ जहां नहि प्रवेशा। विना श्रीहरिप्रिया लहै न लेशा।" महावाणी, पद ३।
४. व्रीडहिं तजि क्रीडहिं मन मानत नहिं जानत कित रजनी भोर।" वही: पृ० १७३, पद ३।
५. "श्रीभट देखि देखि दोयन तन सफल करत हौं मैंन।" यु० श०, पद ४७।
"सखी सहेली सहचरि सुन्दरि मंजरि महल टहल टग लागि।
केउ आवति केउ जाति जतन जगि अतन अंगसंगिनि अनुरागि।" महा०, पृ० १७३।

का भी कामवृत्ति-परितोषण हो जाता है। अंश-परितोषण के लिए अंशी-परितोषण से अलग कोई चीज़ अपेक्षित नहीं है।[1] एक बात और ध्यान रखने की है। स्वयं राधा में भी, कृष्ण के साथ पूरी-पूरी विलास-कामना रहते हुए भी, जो कामवृत्ति स्वीकार की गयी है उसका उद्देश्य स्वसुखित्व नहीं, तत्सुखित्व ही होता है। अतः सखियों की कामवृत्ति का जो भी असाक्षात् परितोषण होता है, वह भी तत्सुखसुखित्व के रूप में ही स्वतः स्वाभाविक होता है।

वास्तविकता यह है कि इस मान्यता के लिए भागवत के रास-प्रसंग ने प्रेरणा दी है। रास में राधा ही नहीं, गोपी-मात्र को कृष्ण की प्रेयसी के रूप में रखते हुए कामसुख की उपलब्धि दिखायी गयी है। निम्बार्की कवियों ने भी जहां रास या कुंजों में होली का चित्रण किया है, सखियों का कृष्ण-प्रेयसीत्व उभर आया है। अतः उन स्थलों में सखियों में सेवासुख, दर्शनसुख के अतिरिक्त कामसुख की उपलब्धि भी स्वीकार करनी पड़ती है, फिर चाहे उसे कितना ही असाक्षात् एवं तटस्थ क्यों न दिखाया जाए।[2]

इस सखीभाव की रति में मुख्यतः दो भावों का अनुमिश्रण पाया जाता है—कहीं दास्य का तो कहीं सख्य का। दास्यानुमिश्रित सखीभाव में सेवा-परिचर्या की भावना प्रधान रहती है तथा आत्म-लघुत्व का भाव सन्निहित रहता है, सख्यानुमिश्रित कान्तारति में परिचारिकात्व की अपेक्षा साम्यमूलक सख्य अधिक उभरा रहता है।

सखीभाव को इस सम्प्रदाय के कवियों ने प्रायः दो शैलियों में प्रस्तुत किया है—कहीं तो विषयात्मक शैली में अष्ट सखियों या सहचरियों में युगल-विषयक सखीभाव का चित्रण करके, कहीं आत्म-प्रधान शैली में स्वयं को ही सखी-सहचरी के रूप में प्रस्तुत करते हुए। जहां कवि भाव-सुमन लेकर स्वयं उपस्थित नहीं हुआ वहां उसकी प्रतिनिधि वे सखी-सहचरियां समझनी चाहिए जिनकी भावाभिव्यक्ति कवि ने प्रस्तुत की है।

कृष्ण-सौंदर्य, राधा-सौन्दर्य, युगल-छवि, युगल-विलास एवं नित्य-विहार के अनेक

---

१. "बोलैं बोल अबोल अबोलैं डोलैं संग लागि सब तीय।
मन अनुसारिनि आज्ञाकारिनि बिबि तन के तन में मन दीय।" महा० पृ० १७४।
"तत्तादात्म्यादेव तासां प्रेयसीत्वं भवेत्सदा।" यु० त० स०, एकादश मयूख, का० ४७।

२. श्रीयुग्मस्य रसत्वं तु सखीभिरनुभूयते। रसिकत्वं चापि ताभिः सर्वदैवानुभूयते।" ३
"श्रीतादात्म्यात्सखीनां तु रसत्वमपि संमतम्। अ यथा रसिकत्वं तु प्रकटं सर्वथैव हि। ४
"तस्मादवस्थाभेदेन द्विविधत्वं हि बुध्यताम्। साक्षा मन्मथरूपेण यथा कृष्णोनुभूयते।
तदा सखीजनानां तु प्रेयसी भावमुख्यता। यदातु रसरूपेण युग्मरूपं विभाव्यते।
तदा सखीजनानां तु सखीभावप्रधानता।" २३-५।
'प्रेयसीत्वेपि तासां वै सापत्न्यं नहि विद्यते। एकात्मत्वाच्च सर्वासामात्मा परातासां रमा।
परमाह्लादिनी राधा कृष्णार्धांगरूपिणी। तत्तादात्म्यादेव तासां प्रेयसीत्वं भवेत्सदा।
यथा विद्युत्प्रकाशादावंशांशित्वव्यवस्थया। धर्माणां समता दृष्टा तया तत्रापि बुध्यताम्।
अतएव हि कान्तानामनन्तत्वेपि तत्र वै। एककान्तारसो ज्ञेयो रसतत्त्वविवेचकैः। ४६ ९
स्वाधीनभर्तृकात्वं च श्रीदेव्यां नैव भज्यते। वैषन्यं निर्घृणत्वं च श्री देव्या नैवसंस्पृशेत्
संभूय रसभोक्तृत्वं सखीत्वं युग्मसेविता। असापत्न्यं च सर्वत्र विशुद्धप्रेमसंततिः। ५४
अतएव हि तत्रैव रासलीलाऽनुभूयते ५५।
—युग्मतत्त्वसमीक्षा, एकादश मयूख।

चित्र इस रूप में भी प्रस्तुत किये गये हैं कि उनमें सखीभाव का आरोपण नहीं भी है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की जागरूक चेतना रखकर इन चित्रों की रस-कल्पना का आस्वादन करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। साम्प्रदायिक भक्त इन चित्रों को सहचरीभावापन्न होकर ही ग्रहण करता है, किन्तु इस सखीभाव की चेतना को थोड़ा ओझल करके चलने वाले पाठक के लिए यह आवश्यक नहीं रह जाता कि वह राधा-माधव की भाव-व्यंजना का शृङ्गार-परक आस्वादन न करे। जिन स्थलों में युगल-विलास के शृंगारी चित्र सहचरीरति के विभावरूप में कवि द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें असाम्प्रदायिक पाठक की चेतना शृङ्गार रस की अनुभूति करती तो है किन्तु वह शृंगारानुभूति अव्याहृत नहीं होती, सहचरीरति के परिवेश में एक मात्रा तक कवि के दृष्टिकोण से प्रभावित भी होती है। सहचरीभाव एक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है, इसी कारण काव्य में उसके स्पष्ट और अस्पष्ट रहने के कारण असाम्प्रदायिक पाठक की अनुभूति का स्वरूप भी कुछ भिन्न होता है।

धामरस के अन्तर्गत ब्रजरस, वृन्दावनरस एवं निकुंजरस आते हैं। वस्तुतः ये कोई पृथक् रसरूप नहीं हैं। ब्रजरस में भगवान् के ब्रजवास से सम्बन्धित बाल और किशोर सभी लीलाएं आ जाती हैं, वृन्दावनरस एवं निकुंजरस युगल के विलास-विहार तक ही सीमित है। निकुंजरस में केवल केलि-वर्णन ही आता है। पर निम्बार्की कवियों ने कुंजों को थोड़े-से वृक्षों और लताओं का छोटा-मोटा झुंड मात्र कल्पित नहीं किया, उनमें होली, हिंडोले आदि के चित्र भी दिये हैं। अतः इन निकुंजों को वृन्दावन में उपलब्ध 'निधिवन' आदि कुंजों के अनुरूप उपवनों के रूप में समझना चाहिए।

निम्बार्की भक्तों ने लीलाधाम वृन्दावन और ब्रज के विषय में भी अपनी रति भावना व्यंजित की है। यह रति स्वतंत्र और गौण रूपों में व्यंजित की गयी है।[1] वृन्दावन नित्य एवं भगवद्विग्रहरूप है, ऐसा मानकर स्वतन्त्रतया व्यक्त रति के भी चित्र हैं, और वृन्दावन के प्रति इसलिए प्रेम प्रकट किया गया है कि यहां के वास से युगल की कृपा एवं युगलरस के आस्वादन का सौभाग्य मिलता है। ऐसी स्थिति में धामरस का अर्थ होता है कविगत धामविषयक रति का परिपाक।

शान्त भक्तिरस

सिद्धान्ततः भक्तिरस के पांचों रूपों को स्वीकार करते हुए भी सम्प्रदाय में मधुर की परिकल्पना ही प्रधान रही। केवल परशुरामदेवजी के काव्य में शान्त और शान्तभक्ति

---

१. "जय जय श्रीवृन्दावन धाम, चिदानंदघन पूरन काम।
वहति विमल कल-केलि-रूपिनी श्रीजमना कमना चहुं कोद।
अति रसरंग तरंग उमंगनि अंग-अंगनि प्रति बढ़वति मोद।
दिव्य कनकमय अवनि अखंडित मृदु मनिमंडित मयी मनोज।
विविध भांति तरु वेलिन झेली रतिरेली अलबेली ओज।" महावाणी, पृ० ७३।
"जय जय वृन्दावन आनंदमूल।
नाम लेत पावत जु प्रणयरति युगल किशोर देत निज कूल।
शरण आये पाये राधा धव, मिटी अनेक जन्म की भूल।
ऐसेहिं जानि वृन्दावन श्रीभट रज पर वारौं कोटि मखतूल।" युगलशतक, पद ३।

की परिकल्पना मिलती है। उनकी वाणियों में विवेक एवं तत्त्वज्ञानज निर्वेद के स्वतन्त्र तथा भगवद्रति-परक दोनों प्रकार के भाव-चित्र मिलते हैं। कभी-कभी विवेक-निर्वेद दास्यरति-परक भी परिकल्पित हुआ है। परशुराम के काव्य का एक बड़ा अंश वस्तु-व्यंजक है, किन्तु उनके काव्य में शान्त भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित है जिसका प्रभाव निश्चित रूप से शुभ है।

"अघ-तिमिर दुरत हरि-नाम तैं।
ज्यों रजनी चलिबे को चंचल थिर न रहत रवि-धाम तैं।
सुमिरन सार प्रगट जस जाकौ भव-तारन गुन-ग्राम तैं।
जीवन-मरन विघन टारन कोई और नहीं बड़ स्याम तैं।"[1]

"हरि विन धृग जीवन व्यौहारा।
जो लगत न मन गोपाल भजन सौं तजत न विषय विकारा।
कलि को रस विलसत सुख करि-को, परि गये कठिन ठिकारा।"[2]

परशुराम को छोड़ सामान्यतः इस सम्प्रदाय के रसिक भक्तों की प्रवृत्ति मधुर की ओर रही, शान्त की ओर नहीं।

दास्य भक्तिरस

दास्यभाव की परिकल्पना के दो रूप निम्बार्की काव्य में मिलते हैं—एक भगवान् के महत्त्व एवं अपने लघुत्व की चेतना वाला स्वतन्त्र दास्य, दूसरा युगल की सेवा-परिचर्या की भावना वाला सहचरी भाव का अंगभूत दास्य। प्रथम प्रकार के दास्य में कान्ताभाव अपेक्षित नहीं है, दूसरे प्रकार के दास्य में कान्तात्व की चेतना अनिवार्यतः अपेक्षित है। दूसरे प्रकार के अंगभूत दास्य की चर्चा तो मधुर रस के अन्तर्गत ही होगी, यहां स्वतन्त्र दास्य की ही चर्चा करनी है। हम यह दिखा चुके हैं कि यह दास्यभाव जन-सामान्य के लिए अत्यन्त स्वाभाविक एवं असाम्प्रदायिक होता है।

दास्यभक्ति की परिकल्पना हमें दो कवियों में मिलती है—श्रीभट्ट और परशुरामदेव में। मात्रा की दृष्टि से श्रीभट्ट के दो-तीन पद ही इस भाव के अन्तर्गत आते हैं, अतः परशुरामदेवजी का नाम ही दास्य-परिकल्पना की दृष्टि से भी उल्लेखनीय रहता है।

'युगल-शतक' के इन दो पदों में दास्य-भावना के दर्शन होते हैं:

"मदनगोपाल शरण **तेरी आयो**।
चरणकमल की सेवा दीजै **चेरो करि राखो** घर जायो।
धनि धनि मात-पिता सुत बंधु धनि जननी जिन गोद खिलायो।
धनि धनि चरण चलत तीरथ को धनि गुरू जिन हरिनाम सुनायो।
जे नर विमुख भये गोविन्द सों जन्म अनेक महा दुख पायो।
श्रीभट के प्रभु दियो अभय पद जम डरप्यो **जब दास कहायो**॥"[3]

---

१. श्रीनिम्बार्कमाधुरी : परशुरामसागर से उद्धृत पद : पृ० ८४।

२. वही, पृ० ८७।

३. श्रीयुगलशतक : पद १।

"युगल किशोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं जनम जनम घरजाये चाकर।
चूक परे परिहरहिं न कबहूँ सबही भांति दया के आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रणतनि-पोषण परम सुधाकर॥"[1]

श्रीभट्ट के इन पदों में से पहले में आलम्बन अकेले मदनगोपाल हैं, दूसरे में युगल किशोर। पर इनमें भाव के आश्रय को स्त्रीलिंग में नहीं, पुल्लिग में ही प्रस्तुत किया गया है। 'शरण तेरी आयो', 'चेरो करि राखो', 'हम जिनके हैं चाकर' आदि रूप पुरुष-भाव के ही सूचक हैं। अत: यहां की दास्यरति कान्तारति के परिवेश से मुक्त है। 'श्रीकृष्णशरणापत्ति-स्तोत्र' में श्रीभट्टजी ने श्रीकृष्ण के शक्ति-सम्पन्न, दयालु एवं संरक्षक रूपों का स्मरण किया है।[2]

भावावेश, आत्मनिवेदन, दैन्य आदि की दृष्टि से परशुराम के दास्य में ही रसान्विति के दर्शन होते हैं। उनके अनेक पदों में हृदय-निवेदन एवं प्रणयानुभूति सूर की टक्कर की मिलती है :

"हरि मेरी जारति क्यों न हरौ।
मैं अनाथ प्रभु अन्तर्यामी सुनि किन कृपा करौ।
खोट-कमाई गांठ में बांध्यो दाना डारि खरो।
लेउ सुधारि सकल पति सति करि खोजों कहां परौ।
मैं मतिहीन भाव-सेवा बिन पर घर घालि घरौ।
परशुराम प्रभु भगतबछलता यह जिनि विरद टरौ।"[3]

"मेरी तुमही कौं सब लाज बड़ाई।
ज्यौं जानौ त्यौंही त्यौं राखौ अपने करि आपन हरिराई।
दीनदयाल कृपाल कृपानिधि हरि दुखहरन सकल-सुखदाई।
लै निबहन की परसुराम प्रभु तुम बिन कोउ सूझै न सहाई।"[4]

रूपरसिकदेवजी के पदों में भी कहीं-कहीं इस भाव की झलक मिलती है :

"हो प्रभु, क्षमा करौ मम खोट।
मैं नहिं जान्यो त्रिभुवननायक, घोष तिहारे ओट।
रूपरसिक प्रभु मया करी महा परम दया के कोट।"[5]

सख्य भक्तिरस

निम्बार्की काव्य में सख्यरस की परिकल्पना उपलब्ध नहीं होती। मधुर रस के अंग-रूप में सखियों में साम्य-मूलक चेतना के साथ सख्य-भावना के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु इस प्रकार की सख्य-भावना सख्य-भक्ति का स्वरूप खड़ा नहीं करती।

---

१. श्रीयुगलशतक, पद ७।
२. वही, पृ० ४६-८, श्लो० १६-२०।
३. श्रीनिम्बार्कमाधुरी : पृ० ८६।
४. वही, पृ० ८६ : परशुरामसागर से उद्धृत।
५. वही, पृ० ११३, पद ५०।

सख्यरस का अवकाश व्रजलीला के अन्तर्गत गोप-बालकों के साथ क्रीडा, गोचारण, छाक आदि के प्रसंगों में कृष्णभक्त कवियों ने निकाला है। श्रीभट्टजी ने यद्यपि वृन्दावनरस तक ही परिसीमित न रहकर व्रजरस का गान किया है। उसमें भगवान् के गोचारी रूप की झलक प्रस्तुत की है। किन्तु उन चित्रों में दर्शक कान्ताभाववाली गोपियां ही हैं जो कृष्ण की रूपमाधुरी की सुधा का पान करती हैं। उन चित्रों में गोपों का नाम भले हो, सख्य-रति नहीं। एक पद उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है :

"संध्या गोरज उड़नि में छवि पावत गोपाल।
श्रीभट्ट मानो व्याहि कैं घर आये नन्दलाल ॥
गोपाल लाल दूलह, ग्वाल बराती।
गौवन आगे सखिन जूथ में राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुंदुभि दूध दोहन की बाजी राजी सब गोप सजाती।
आरति पलक नेह जल मोती श्रीभट रूप पिवाती।"[1]

वात्सल्य भक्तिरस

निम्बार्की काव्य में वात्सल्य के चित्र भी सामान्यतः नहीं हैं। श्रीभट्ट ने कृष्ण और राधा के जन्म पर बधाई का एक-एक पद दिया है, एक पद पवित्रा का भी है।[2] इसी प्रकार उत्सव-प्रसंग में पद-रचना करने के कारण रूपरसिकदेवजी ने पवित्रा का पद लिखा है।[3] किन्तु इन पदों में वात्सल्य का भाव नहीं है। यशोदा के हृदय की हलकी झलक के कहीं दर्शन मिलें भी, तो भी इनमें वात्सल्य की, न साहित्यिक दृष्टि से और न भक्ति की दृष्टि से ही, रसात्मक स्थिति नहीं पायी जाती।

मधुर रस

निम्बार्क-सम्प्रदायी कृष्ण-काव्य वस्तुतः मधुर-साधना है। इसकी छाया में इस सम्प्रदाय के कवियों ने उन्मुक्त प्रेम और विलास के आनन्दमय चित्र प्रस्तुत किये हैं। निम्बार्की मधुर-परिकल्पना में इसके स्थायीभाव कान्तारति के विविध चित्र मिलते हैं जिनमें सहचरी भाव सबसे प्रधान है। हम यहां कतिपय विशिष्ट रूपों को लेकर उनका वर्गीकरण करने का प्रयास करेंगे।

१. **सामान्य कान्तारति**—परशुरामदेवजी के अनेक पदों में कान्तारति के एक सामान्य रूप की झांकी मिलती है जिसमें प्रायः सखी-सहचरी भाव का आरोप नहीं है, सुरत-केलि की चर्चा नहीं है, केवल कान्तामूलक प्रेम का विशुद्ध अभिव्यंजना है। इसे सम्प्रदाय की दृष्टि से राधा-भाव भी नहीं कह सकते क्योंकि सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार राधा का श्रीकृष्ण से नित्य-मिलन नित्य-संयोग रहता है, अतः विरह का प्रश्न ही नहीं उठता। जो विरह है, उसकी हम आगे चर्चा करेंगे। परशुरामदेवजी के इन चित्रों में कान्तारति के संयोग और वियोग दोनों के भाव चित्र हैं। संयोग और वियोग दोनों मानसिक हैं अतः संयोग में भी स्थूलता नहीं है।

---

१. युगलशतक, पद २०।
२. वही, पद ९६, ९५, ९४।
३. श्रीनिम्बार्कमाधुरी : श्रीबृहदोत्सवमणिमाल से उद्धृत : पद ४४ : पृ० ११०।

परशुरामदेवजी पर कबीर का गहरा प्रभाव है। यदि यह ध्यान छोड़ दिया जाय कि ये पद एक सगुण सम्प्रदाय के आचार्य भक्त कवि द्वारा लिखे गये हैं, तो इन पदों की भाव-कल्पना कबीर के कान्ताभाव के समकक्ष जा बैठती है। संयोग और वियोग दोनों के निम्न उदाहरण देखे जा सकते हैं :

संयोग—"सुनि प्रीतम तुमसे कहूँ तैं मौह्यौ मन मेरी हो मोहन।
हम निरखत चंद चकोर ज्यों मुख मंगल तेरो हो मोहन।
ज्यौं चातक चित रितु बसै यौं हम उर धरि सुमिरत हो मोहन।
नादलीन मृग ज्यों आपनपौ सौंपि दयौ सबही हो मोहन।
मन सुखसिंधु सों मिलि रहै रस-अमृत पावै हो मोहन।
तहां प्रेम पलटि जानै नहीं, तहां 'परसा' जन जीवै हो मोहन।"[1]
"सखी, हरि परम मंगल गाय।
आज तेरे भवन आये **अकल अविगति राय**।"[2]

इस पद में हरि के अकल अविगति रूप की चर्चा निर्गुणियों के समान है। निम्न पद में मिलन के उल्लास का चित्र है :

"लोचन लोचत हैं ल्यौ लाए।
हरि-दर्शन कारन अति आतुर उलटि न फिरत फिराए।
पल-भरि पलक न पलटत चितवन समझत नहिं समझाए।
उझि-उझि चलत जुगल जग परिहरि सन्मुख सुख पाए।
उमगि मिलन कारन निसि-वासर रहत सजल जल-छाए।
परसुराम' निर्भय रुचि मानत पीव के प्रेम समाए।"[3]

वियोग—"जो तुम अंतरजामी जान।
तो क्यों न विचारहु करुनासागर लाग सब्द सुबान।
जल तजि मीन बसै क्यों बाहर मिटत विरह की आन।
जीवै नहीं नीर बिन पल भरि तलफि तजै तन-प्रान।
पतिवरता पति तजै न कबहूं, ज्यों गिरि-नीर निवान।
परसराम प्रभु चरन सरन तजि भजै सु तन पाखान।"[4]

२. **सामान्य गोपीभाव**—श्रीभट्टजी ने व्रज-लीला के प्रसंग में कुछ पद[5] ऐसे भी लिखे हैं जिनमें युगल-भावना या सहचरीभाव का संस्पर्श नहीं है, अपितु व्रज लीला के अनुरूप अष्टछापी कवियों का-सा गोपी भाव मिलता है। इस भाव में वनान्तर विरह की भी झलक है। यशोदा से छाक मांगकर वन में कृष्ण को पहुँचाने के लिए तैयार इस वनान्तर विरहिणी का चित्र देखिए :

"कैसैं हरि देखें विना राखोंरी तन मोर।
गोचारन गोपाल गये लै मेरौ चित चोर।

१, २, ३. श्रीनिम्बार्कमाधुरी, परशुरामसागर से उद्धृत, पद क्रमशः २७, ३१, २५।
४. श्रीनिम्बार्कमाधुरी : पृ० ९२ : परशुरामसागर से उद्धृत।
५. यु० श०, पद १२-१३।

कहि यशुमति सौं छाक दै कब कौ भयौ भोर।
जै श्रीभट हरि देखन चलीं जासौं लागी डोर।"[१]

३. **सखीभाव**—कान्ताभाव का यह रूप सम्प्रदाय की अपनी चेतना है। हम दिखा चुके हैं कि इसके अन्तर्गत युगल और उनके नित्य विहार के प्रति निज भाव का लगाव होता है। इसके भी कई रूप मिलते हैं :

(क) **प्रेयसीभाव-मिश्रित**—सामान्यतः सखियां श्रीकृष्ण की प्रेयसियाँ नहीं, न ही उनमें भगवान् के साथ विलास-विहार की कामना दिखायी जाती है। किन्तु रास प्रसंगों, होली एवं दान जैसे अवसरों पर राधा के साथ ही उन पर भी राधा की अभिन्न या सखियों के रूप में कृष्ण की रस लम्पट दृष्टि पड़ती है। कृष्ण मधुप के लिए समस्त व्रज सुन्दरियों के उरोज सरोज वृन्द के समान रसास्वादन के लिए चित्रित हैं :

"राजहीं समाज आज मधुप ज्यौं मुकुन्द चंद।
उद्यत उरोज ब्रज सुन्दरी सरोज वृन्द ॥
जटित फटिक मणि धरासर विविध विद्रुम वीचिकावर
वलित राग वल्लवी कुच चक्रवाक विहंग द्वन्द।
गोपी मंडल कमल माल, धमिल खुलित ते सिवाल, नाल जानु,
तन सुपान स्वेद बिन्द।
नवल बालुका अनूप, लावण्य गुनगन सरूप, दलविकाश विमदतास,
शुद्ध प्रेमता सुगन्ध।
गम्भीर धीर गान-गुंज, भ्रमर निर्त करत मंजु, तान मान देत
लेत सरस सुख-सुधा सुछन्द।"[२]

इस 'शुद्ध प्रेमता' में सखियों को भी जो कामात्मिका तृप्ति होती है, उसे श्रीभट्ट और हरिव्यासजी में हम पीछे दिखा चुके हैं।

(ख) **दास्यानुमिश्रित**—प्रेयसीभाव-मिश्रित सखीभाव की झलक जहां कहीं ही दिखायी पड़ती है, सम्प्रदाय की दृष्टि के अनुकूल जिस सखीभाव का चित्रण प्रायः हुआ है वह लीला-विहारी युगल विषयक आत्मभाव है। इसमें कभी तो सेवा-परिचर्या की भावना पायी जाती है, कभी साम्यमूलक सख्य की।

दास्यानुमिश्रित सहचरीभाव के बड़े ही मधुर चित्र इस सम्प्रदाय के काव्य में उतारे गये हैं। श्रीभट्ट की सहचरियां कहीं शय्या सजाते, कहीं भोजन कराते, कहीं झारी लेकर आचमन कराते, कहीं बीरी खिलाते दिखायी पड़ती हैं। उनकी तो कामना यही है :

"श्यामा श्याम भावती जोरी अपने हाथ जिमाऊं।
घृतपक व्यंजन मोदक मेवा रुचि सों भोग लगाऊं।
सखिन सहित जैवैं पिय प्यारी हरषि हरषि गुन गाऊं।
श्रीभट देत पान की बीरी, युगल चरन चित लाऊं।"[३]

(ग) **सख्यानुमिश्रित**—अनेक चित्रों में सखियों में मुंहलगापन, दौत्य एवं साम्य की

---

१. युगलशतक, पद १३।
२. वही, पद ९७।
३. वही, पद १४।

झलक मिलेगी। ऐसे चित्र सख्यानुमिश्रित कान्ताभाव के हैं। पर प्रेयसीत्व इनमें भी नहीं है। श्रीभट्ट के इन चित्रों में इसी प्रकार का कान्ताभाव है :

"जड़ जुवती ज्यों जिन करैं, होहु बड़ैती बाल।
हठ तजि, सजि, पहिराउंगी फूलन की उर माल।"[1]
"तेरी अरु इनकी जू ए एक मती सब बात।
हूँ न पत्याऊं बहुरि हठ अब पाई हरि घात॥"[2]

हरिव्यासदेवजी ने भी सहचरी-सखी भाव के नानाविध चित्र उतारे हैं। सख्य के उभार वाला यह चित्र प्रस्तुत है :

"या मतवारे मीत सौं मिलि चांचरि खेलौ री।
कोउ रहै न अकेलि अकेली, हेली, सुनौ सब हेलौ री।
होय निशंक सुटक करौ जिनि मान अकेलौ री।
बहु दिनन की मनकी रली भलीभांति सकेलौ री।"[3]

वस्तुतः सहचरीभाव के नाना भाव-चित्र निम्बार्की काव्य में उतारे गये हैं। इन कवियों की यही तो भाव-साधना रही है, इसी में डूब कर उन्होंने अपने भावुक हृदय का सरस उत्स उन्मुक्त कर दिया है। श्रीभट्टजी, हरिव्यासजी और रूपरसिकदेवजी तीनों ही ने इस भाव की मधुरता का विस्तृत अंकन किया है।

अब तक हमने इस सम्प्रदाय के काव्य में निरूपित मधुर रस के स्थायी भाव की विविध कल्पना का परिचय प्राप्त किया है। इसके विभाव रूप में जिस युगल रस के चित्र उतारे गये हैं, अब उसकी ओर आना है।

युगल रस

हम पीछे कह चुके हैं कि युगल रस के चित्र सहचरी-सखी भाव के विभाव रूप में भी प्रस्तुत किये गये हैं, तथा इस भाव को बिना सामने लाये भी। एक साम्प्रदायिक संस्कारसम्पन्न भावुक के लिए इन स्थितियों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता, पर काव्यानुशीलक सामान्य सहृदय की दृष्टि में इन निरपेक्ष चित्रों की रस-प्रेषणीयता भिन्न होती है।

राधा और कृष्ण के सौन्दर्य, हास-विलास, क्रीडा एवं सुरत-संभोग के चित्रों से श्रीभट्ट हरिव्यासदेव रूपरसिक की वाणियाँ भरी पड़ी हैं। परशुरामदेव और तत्त्ववेत्ताचार्य में इसकी झलक अधिक नहीं। श्रीभट्ट ने निकुंज-लीला और वृन्दावन-लीला से बढ़कर ब्रजलीला का भी गान किया है। अतः गोरस, गोचारण, वन-विहार आदि के प्रसंगों में भी कृष्ण-लीला की मधुर झाँकी प्रस्तुत की है। पर इन प्रसंगों में भी उन्होंने अकेले कृष्ण नहीं, राधा-कृष्ण युगल के मधुर सौन्दर्य का दर्शन किया है।[4] श्रीभट्टजी के अनन्तर प्रायः वृन्दावन एवं निकुंज लीला ही प्रमुख होती गयी है। श्रीहरिव्यासदेवजी का प्रमुख क्षेत्र यही है।

---

१. युगलशतक, पद ३१।
२. वही, पद ३५।
३. महावाणी, पृ० ६१।
४. युगलशतक, पद २०, १९।

राधा और कृष्ण का सिद्धान्ततः नित्य मिलन माना गया है।[1] अतः उनके शृंगार-वर्णन में वियोग का अवसर नहीं आता। फिर भी मान के लिए अवसर निकाला गया है। श्रीकृष्ण के शरीर में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर राधा ने समझा कि कोई अन्य इनके साथ है।[2] बस राधा को मान हो गया। मान को श्रीभट्ट ने प्रेम में रस-वर्धन कहा है।[3] सखी ने यह भ्रम दूर करा दिया और राधा का मान छूट भी आसानी से गया। नित्य मिलन की धारणा के अनुसार नित्य विलास और नित्य ही उत्सव है, तब किन्हीं उत्सवों, पर्वों आदि के रूप में नैमित्तिक उल्लासों का अवसर ही नहीं आता। फिर भी विषय-क्षेत्र को कुछ व्यापकता देने के लिए तथा सरसता की वृद्धि के लिए श्रीहरिव्यासदेवजी ने तथा रूपरसिकदेवजी ने वर्षोत्सवादि नैमित्तिक उल्लासों का गान किया है।

अपने सीमित क्षेत्र में नूतन प्रसंगों एवं मौलिक चित्रों की काव्य-चमत्कारपूर्ण उद्भावना में श्रीभट्ट बड़े कुशल हैं। राधा और कृष्ण एक-दूसरे में प्रतिबिम्ब-सहित प्रतिबिम्बित हो उठते हैं, जैसे दर्पण में नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़कर फिर वह प्रतिबिम्बसहित दर्पण नेत्रों में प्रतिबिम्बित हो उठता है :

"प्यारी तन श्याम श्यामा तन प्यारौ।
प्रतिबिम्बित तन अरसि परसि दोउ, एक पलक दिखियत नाहिं न्यारौ।
ज्यौं दर्पन में नैंन, नैन में नैंन सहित दर्पन दिखवारौ।
श्रीभट जो टिकि अति छवि ऊपर तन-मन-धन न्यौछावरि डारौ।[4]

वर्षा का यह चित्र कितना मधुर है :

"ठाड़े दोउ एकहि खुहिया मांहीं।
वंशीवटतट जमुना जल में निरखत चंचल झाहीं।
कारी कमरिया अन्तर दम्पति श्यामा श्याम लपटाहीं।
श्रीभट कृष्णकूट में कंचन जल वरषत झलकाहीं।"[5]

कहते हैं कि श्रीभटजी को अपनी निम्न कामना के अनुसार अपने आराध्य के साक्षात् दर्शन हुए थे।

"भीजत कब देखौं इन नैंना।
श्यामाजू की सुरंग चूनरी, मोहन कौ उपरैना।
जुगल किशोर कुंज तर ठाड़े यतन कियौ कछु मैं ना।
उमड़ी घटा चहूँ दिशि श्रीभट जुरि आई जल सैना।"[6]

---

१. युगलशतक, पद ५ : "मत्त प्रणयवश, सदा एक रस, विविध निकुंज निवासी।"

२. वही, पद २६।

३. वही, पद २५ : "रसवर्धन यह मान कुंवरि को।
मधुर वस्तु जो खात निरन्तर होत महा सुखदानि कुंवरि को।
बिच बिच कटुकादिक जै श्रीभट अति रुचि दायक भानुकुंवरि को।

४. वही, पद ६०।

५. वही, पद ९०।

६. वही, पद ८८।

इन कवियों ने संकोच के व्यवधान से मुक्त राधा-कृष्ण के निकुंज-विहार के चित्र प्रस्तुत किए हैं :

"सघन घन कुंज विहरैं दोऊ।
परम प्रवीन रसल न मृदु भुज भरे गरे लगि वितन तन विहरैं दोऊ।
एक पट ओढ़ि पौढ़े प्रमुदि प्रानधन महा जगमग मगन मन।
श्रीहरिप्रिया हरषि हिये सेज सुख वरषहीं सनमुख रुख लिए।"[1]

नित्य-विहार कुंजों में ही नहीं, कभी-कभी सखी के आँगन में भी चलता है :

"मेरेइ आंगन सेज पै अरसि-परसि सुकुंवार।
करत सहज सुख सें सनें श्यामा श्याम विहार।"[2]

युगल-किशोर के इस उद्दाम विहार की झांकी पाना और दर्शन-सुख से चरम तृप्ति पाना ही निम्बार्की भक्तकवि की मनःकामना है। इस झांकी और कामना से यह काव्य भरा पड़ा है। सखी-सहचरियों को यह झांकी अनावृत-अनाच्छन्न भी मिलती है, और लता-कुंज के बाहर से कुंज-छिद्रों में से भी :

"नव निकुंज में पुंज सखिन के तिन में श्यामा श्याम विराजै।
शीतल मंद सुगन्ध त्रिविध मारुत सेवत ऋतु राजै।
उझकति जित-तित लता-सुषिर सखि हिये हुलासी साजै।
अन्तर रह्यौ न दंपति श्रीभट, देखि भये सब काजै।"[3]
"भये मनोरथ मेरे मन के सजि दंपति पौढ़े इक ठौरी।
नैन ओट ह्वै श्रीभट देखत क्रीडा करत किशोर-किशोरी।"[4]

हरिव्यासजी में तो इस सुख-दर्शन की इतनी लालसा है कि वे इस मधुरता का पलकान्तर विरह भी सह सकने में असमर्थ हैं :

"मेरे सरवस धन स्वामिनी मोहिं और न कछू सुहावै री।
पलकान्तर अवलोके बिन मोहि कल्पान्तर हि बिहावै री।
एकटक यहि चित्त चढ़ी रहै बिन देखे अकुलावै री।
श्रीहरिप्रिया प्रानधन-जीवन जोइ जु मोहिं जिवावै री।"[5]

इस प्रकार निम्बार्की मधुर-कल्पना का सब-कुछ अद्भुत एवं साधना की उच्च भूमिका की अपेक्षा रखता है। सम्प्रदाय की निष्ठा के अनुरूप इस उद्दाम काम-श्रृंगार में डूबकर भी उसका स्वनिष्ठ आस्वादन न कर केवल दास्यानुप्राणित या सख्यानुप्राणित भावना को आगे कर कान्ताभाव की चेतना के साथ मात्र दर्शन-सुख में ही चरम आनन्द अनुभव करना और उस सुख पर ब्रह्म-सुख से भी मुंह मोड़ लेना, यही इस सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना का रहस्य है। इस रहस्य को आत्मसात् न कर सकने वाले व्यक्ति के लिए यह काव्य श्रृंगार की अनुभूति ही देगा, मर्यादावादी औचित्य-दृष्टि-सापेक्ष सहृदय

---

१. महावाणी : श्रीहरिव्यासदेवजी : पृ० १२६।
२. युगलशतक : पद ३७।
३. वही, पद ७४।
४. वही, पद ५१।
५. महावाणी : पृ० १५६।

पाठक के लिए तो इसमें पदे-पदे रसाभास की स्थितियां आ जाएँगी। जिन स्थलों पर सहचरीभाव को सामने रखा गया है और युगल-रस को उसका विभाव बनाया गया है, उनमें भी उस सहचरी-रति के साथ तादात्म्य स्थापित न कर सकने के कारण उसे शृंगार की ही अनुभूति होगी, केवल उस रति की भाव-स्तरीय बाधा से थोड़ी तटस्थता अवश्य अनुभव होगी। पर, उन चित्रों का शृंगार इतना सबल, प्रवाही और उद्दाम है कि वह सहचरी रति एक कोने में पड़ जाएगी और वह शृंगार के लौकिक उभार से बिना प्रभावित हुए न बचेगा। वह लोक मर्यादा और नैतिकता की उपेक्षा करता है। निम्बार्की भाव-साधना जन-सामान्य की इस नैतिकता का लक्ष्य लेकर नहीं चलती। वह उच्च कोटि के आत्मत्यागी रसिक साधकों की भाव-साधना है।

श्रीहरिदास-सम्प्रदायी काव्य में रस-परिकल्पना

हमारे काल की अवधि में हरिदास-सम्प्रदाय के प्रमुख भक्त-कवि आते हैं—श्रीहरिदास-जी, श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, श्रीविहारिनदासजी, श्रीनागरीदासजी, तथा श्रीसरसदेवजी। इनका साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है।

सम्प्रदाय की रस-दृष्टि निम्बार्क-सम्प्रदाय की रस-दृष्टि के ही अनुरूप है। राधा का स्वकीयात्व, राधाकृष्ण का स्वरूपतः एकत्व; लीलार्थ द्विविध-रूपत्व; नित्य-मिलन; धाम-दृष्टि; सहचरीभाव; तथा मधुरोपासना आदि के सम्बन्ध में मूलतः वही दृष्टि है जो निम्बार्क सम्प्रदाय की है।[1] अन्तर है तो केवल इतना कि स्वामी हरिदासजी ने अपनी भाव-साधना कुंज-विहारी राधा-श्याम के नित्यविहार में ही केन्द्रित की है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का कुंज-विहारी रूप स्वीकार किए जाते हुए भी उनके ब्रज-विहारी रूप के भी गान हुए हैं, किन्तु हरिदास-सम्प्रदाय ने अपना भाव-क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से परिमित कर निकुंज-भावना में ही प्रेम का घनत्व प्राप्त किया है। इस प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय की मधुरपरिकल्पना निरवधि नित्यविहारमयी निकुंजलीला में प्रतिष्ठित है।

सम्प्रदाय की रसदृष्टि में धीरे-धीरे वे रेखाएँ उभरी हैं जिनके आधार पर अन्य मधुरोपासकों एवं निम्बार्कसम्प्रदायियों की मधुर-भावना से इसकी मधुर-भावना को कुछ अलग किया जा सके। किसी सम्प्रदाय की पृथक् प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके अनुयायियों द्वारा यह होना स्वाभाविक ही है। हरिदास-सम्प्रदायी मधुर-परिकल्पना की उन रेखाओं को हम समझ लें तो अच्छा है।

सम्प्रदाय के भक्त 'अनन्य रसिक' कहलाते हैं। यों सभी मधुरोपासक 'रसिक' कहे जाते हैं किन्तु सखीसम्प्रदायी हरिदासी भक्तों के लिए यह शब्द विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होता है। श्रीभगवतरसिकजी ने सम्प्रदाय की छाप 'रसिक' ही बतायी है—"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप"। हमारे आचार्य ललितासखीरूप श्रीहरिदासजी हैं और हमारी छाप है 'रसिक'। इन रसिकों की अनन्यता इस बात में है कि इनका उपास्य रूप केवल

---

१. आज सम्प्रदाय में दो वर्ग हैं—एक विरक्त सन्तों का, दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का। विरक्त लोग सम्प्रदाय को निम्बार्कमतानुयायी मानते हैं, गृहस्थ गोस्वामी विष्णु-सम्प्रदायानुयायी। अठारहवीं शती के श्रीकिशोरदास तक निश्चित रूप से सम्प्रदाय का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय से ही जोड़ा जाता रहा है।" दे० स्वा० हरिदासजी, प्रभुदयाल मीतल, भू०, पृ० ५१।

कुंज-विहारी राधाकृष्ण युगल है, व्रजविहारी या अन्य रूप नहीं। इस अनन्यता की चर्चा इस साहित्य में पग-पग मिलती है।[1]

इस अनन्य-निष्ठा ने कुंज-विहारी राधा-कृष्ण को व्रज-कृष्ण से अन्य ही बना दिया है। सामान्यतः कृष्ण-लीलाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जाती हैं—व्रज-लीला, मथुरा-लीला एवं द्वारका-लीला। व्रजलीलाकारी कृष्ण यशोदा के बालकृष्ण, गोपों के सखा गोचारी एवं गोपियों के माखन-चोर, रास-रचयिता, कभी-कभी निकुंजों में राधारस-लंपट और मथुरा-गमन द्वारा परम विरह प्रदायक हैं। वृन्दावन के कृष्ण का स्वरूप गोपी-परिवेष्टित राधा-केलि-रत सामने आता है। किन्तु हरिदासी अनन्य रसिकों की दृष्टि में निकुंज-विहारी राधाकृष्ण ही परात्पर रस-तत्त्व हैं। वे ही अंशी हैं, राधाकृष्ण के अन्य रूप यहाँ तक कि व्रज-रूप भी उसी प्रकार अंशरूप हैं जिस प्रकार अन्य अवतार एवं निर्गुणरूप ब्रह्म।[2] निकुंज-विहारी युगल की काम-प्रेम-मयी नित्यरस-लीलाओं का दर्शन-आस्वादन तो व्रज-कृष्ण को भी उपलब्ध नहीं है। सरसदासजी के शब्दों में कुंजविहारी का नित्यविहार रस, जिसका प्रगटन श्रीहरिदासजी ने किया है, रामादि-अवतारधारी रूपों को ही नहीं, व्रजराज कृष्ण को भी दुर्लभ हैं :

"कर्मरु धर्म, ज्ञान-विज्ञान, भक्ति न आन हृदय में आनौं।
वेद रमापति रामहिं आदि दै श्रीव्रजराजहिं कोउ बखानौं।
अति दुर्लभ नित्यविहार, हमारे श्रीहरिदासजू प्रगट बखानौ।
सरस सुसार विहार विहारिनिदास विना है विहार ना जानौं।"[3]

इसीलिए इस नित्यरस के लिए उमा, रमा, शची, सरस्वती देवियां ही नहीं, स्वयं व्रज-युवतियां भी ललचाती रहती हैं, उन्हें भी यह उपलब्ध नहीं है।[4] यदि है तो कुंज-विहारी की ही कृपापात्र ललितादि अष्ट सखियों को या इन सखियों के कृपापात्र सखी-भावापन्न अनन्य रसिकों को।

'रससार' के रचयिता स्वामी रसिकदेवजी ने तो कुंज से परे 'निभृत कुंज' की परिकल्पना की है। इनकी केलियां भी 'केलि' और 'महाकेलि' के रूप में अलग-अलग हैं। कुंज-केलि तक ही अष्ट सखियों का प्रवेश सम्भव है। निभृत-कुंज की महाकेलि में तो किसी का गम नहीं, अतः उसके विषय में कौन क्या कह सकता है। रसिकदेवजी के अनुसार तो 'कुंजों' में ही भीड़भाड़ का प्रवेश नहीं, पक्षियों का, मधुपों का वहां नाम नहीं। 'निभृत कुंज' में नित्य समस्त ऋतुएँ अलग-अलग चौक-खंडों में विकसित रहती हैं जहाँ प्रेमरस में मग्न राधाकृष्ण विलासक्रीडा करते हैं। यह क्रीडा काम-क्रीडा नहीं, पवित्र प्रेम-विलास है।

---

१. "श्रीहरिदास अनन्यनि कौ धनु।"
—सिद्धान्त के पद : पृ० १५ 'सिद्धान्तरत्नाकर'।

२. सिद्धान्तरत्नाकर, भूमिका—श्रीगोविन्द शर्मा, पृ० ३३।

३. निम्बार्कमाधुरी, श्रीसरसदेवजी, पृ० २८२, पद ४।

४. सि० र०, भू०, वही, पृ० ३३, "उमा रमा कौं सची सुरसुती व्रजजुवती ललचाहिं।" स्वा० विहारिनदेवजी।

इस लीलारस को भक्तों के लिए ही उन्होंने स्वीकार किया है।[1]

रसिकदेवजी की यह कुंज-कल्पना इसी बंधे रूप में कवियों में नहीं मिलती। स्वामी हरिदासजी, अन्य कवि तथा स्वयं रसिकदेवजी ने कुंजों में पक्षियों और मधुपों के कलरव एवं गुंजन का वर्णन किया है।[2]

कुंज-विहारी राधा-कृष्ण को कुंज के भीतर ही रखकर देखा गया हो ऐसी बात नहीं है। सिद्धान्ततः तो यही प्रतिपादित किया गया है कि कुंज-विहारी कभी कुंजों से बाहर जाते ही नहीं।[3] पर कवियों ने कुंजों से बाहर दान, यमुना में जल-विहार जैसी बातों का भी चित्रण किया है।[4] रास, होली, हिंडोला आदि भी हैं जो कुंजों के भीतर भी हो सकते हैं बाहर भी। पर प्रमुख चेतना यही रही है कि कुंज-लीलाओं का ही रसास्वादन किया जाय।

यों सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण के प्रति समान महत्त्व की भावना है जैसी कि निम्बार्क सम्प्रदाय में है, फिर भी राधा का महत्त्व उभरता दिखायी पड़ता है। श्रीभगवत-रसिकजी ने सम्प्रदाय की जो रूप-रेखा बतायी है, उपासना उसमें नित्य किशोर की बतायी है और इष्ट राधा को :

"आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना, जुगल मंत्र कौ जाप॥
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्रीवृन्दावन धाम, **इष्ट स्यामा महारानी**॥
प्रेम-देवता मिले विना सिध होय न कारज।
"भगवत" सब सुखदानि प्रकट भए रसिकाचारज॥"[5]

स्वयं श्रीहरिदासजी के अनेक पदों में कृष्ण राधा की आराधना और प्रसादन का उपाय करते दिखाये गये हैं।[6]

---

१. सिद्धान्तरत्नाकर, रससार, पृ० ११-२।
"कुंजकेलि सहज ये करैं। महाकेलि न्यारी विस्तरैं।
भीरभार तहाँ जात न कोई। मुहाचुही जिय ज्यावत दोई।
जहाँ पंछी कौ नहीं प्रवेश। मधुकरधुनि कौ तहाँ न लेस।
निभृतकुंज की सुनौ अब कथा। तहाँ सोभा की नाहीं तथा। इत्यादि।

२. "गहवर बन भीतर जहाँ बोलें कोइल री।" केलिमाल, पद ४६।
"अचरज नाना मधुप के, इशान गंध को सरसै।" श्रीरसिकदेव, निम्बार्क माधुरी, पृ० ३२४।

३. "विहरत जमुना-जल सुखदाई।" सरसदासजी। नि० मा०, पृ० २८९।
"विहरत जमुना-जल जुगराज" "विहरत विपिन भरत रंग ढरकी" नागरीदास, वही, पृ० २७८।

४. "नव-नव लाड़ लड़ाइ लाड़िली, नहिं-नहिं यह ब्रज-जांवरो।" केलिमाल, पद ४४। दान : वही, पद ६२।

५. स्वामी हरिदासजी : प्रभुदयाल मीतल : भूमिका : पृ० ५४।

६. "राधे, दुलारी, मान तजि।
प्रान पायौ जात मेरौ है री, सजि॥

केलिमाल के अड़सठवें पद में तो कुंज-विहारी कृष्ण को स्पष्टतः राधा का अंश-रूप कह दिया है :

"तोकौं प्रिय बोलत है री, लाल ठाड़े कदंब तर।
अबकैं ऐसौ ज्यौ कियें कहा होत है री, मारि रही कुसुम-सर।
कुंजविहारी अपनौ अंस, तासों क्यों कीजियै छदम वर।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा ढूंढत वन में, पाई करि करि विषम डर।

राधा और कृष्ण के जिस प्रेम का चित्रण इस सम्प्रदाय के कवियों ने किया है वह नित्य एवं एकरस है, फिर भी उसमें नित्य नवीनता है।[1] नित्य काम-केलियां, नित्य सोल्लास विलास। ऐसे नित्य विहार में वियोग की सम्भावना ही नहीं उठती। फिर भी प्रेम की प्रौढि और रसत्व की घनता के लिए वियोग की परिकल्पना की गई है। यह विरह दो रूपों में है—एक तो मान के रूप में, दूसरे संयोग-दशा में भी गहरी अतृप्ति के रूप में। कभी-कभी तो "यदि लाड़िलीजी के नेत्र अंचल-पट की ओट भी हो जाते हैं तो लाल उसी को महाविरह समझते हैं और व्याकुल हो उठते हैं।"[2]

मानिनी राधा के अनेक चित्र हैं। सखियों के मनावे, कृष्ण द्वारा प्रसादन के भी अनेक पद हैं। इन पदों में कृष्ण का राधा के समक्ष कभी-कभी दैन्य एवं विरह-कातरता झलक उठती हैं।

"उत हठ करति बहुत नव नागरि, तैसीए नई ठकुराई है।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कर जोरे मौन ह्वै,
दूबरे की रांधी खीर कहौ कौन खाई है।"[3]

राधा में यह मान भ्रान्ति-जन्य होता है, कृष्ण का किसी अन्य नायिका से प्रेम-विलास का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः खण्डिता जैसी स्थिति नहीं आती। सखियों के समझाने और कृष्ण द्वारा अनुनय करने से यह भ्रान्ति-जन्य मान दूर हो जाता है।[4]

अपनों हाथ मेरे माथैं धरि, अभैदान दै अजि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कहत री प्यारी,
यों बलि रंग रुचि सौं लजि।" केलिमाल, पद २२।

"सुघर भए हो बिहारी याही छाँह तें।
जे-जे गटी सुघर जानपनें की, ते-ते याही बाँह तैं।" वही, पद २४।

१. "प्यारीजू, जब-जब देखौं तेरौ मुख, तब-तब नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ भ्रम होत, मैं कबहूं देखौ न री, दुति कौं दुति लेखनी न कागत।" केलि०, पद ३४।
"नवल प्रेम कौ नेम नवल नित नवल सहज आनन्द।
नवल प्रीति रसरीति नवल दोउ दिन दूलह मकरंद॥" नि० मा०, पृ० २६९, नागरीदास।
"सरस रंग रसबस भये एक प्रान द्वै देह।" वही, पृ० २८६, सरसदेवजी।

२. सिद्धान्तरत्नाकर, भू०, पृ० ३४, गोविन्द शर्मा।

३. केलिमाल, पद ५१।

४. "राधा रसिक हैं कुंजबिहारी, कहत जु हौं न कहूं गयौ,
सुनि सुनि राधे, तेरी सौं।

संयोगावस्था में मिलकर भी इस प्रेम में तृप्ति और शान्ति नहीं है। आभूषण और वस्त्र तो सह्य हैं ही नहीं, शरीर-शरीर का अन्तर भी कृष्ण को सह्य नहीं है। तन से तन और प्राण से प्राण मिला देने को अतृप्ति-पूर्ण लालसा का हरिदासजी ने कृष्ण में दर्शन किया है :

"ऐसी जिय होति जो जिय सों जिय मिलै।
तन सौं तन समाइ ल्यों, तौ देखौं कहा हो प्यारी।
तो ही सों हिलगि, आंखिन सों आखें मिली रहें,
जीवत कौ यहै लहा हो प्यारी।
मोकौं इतौ साज कहां री प्यारी, हौं तौ अति दीन तुही बस,
राखि लै बाहुबल, हौं बपुरा काम-दहा हो प्यारी॥"[1]

नित्यविहार का सहज रूप संयोगात्मक है। इस संयोग के विविध चित्र इन भक्तों ने प्रस्तुत किये हैं। होली, हिंडोला, रास, यमुना-विहार, कुंजों में इधर से उधर आना-जाना इन बातों से लेकर सुरत की उन्मुक्त क्रीडाओं के चित्र मिलेंगे। हरिदासजी में संभोग के उन्मुक्त चित्र सामान्यतः अधिक नहीं हैं, अधिक है मिलन की लालसा, उल्लास और व्यंजना द्वारा मिलन का निरूपण। उनका सा संयत एवं शान्त शृंगार उनके सम्प्रदाय के अन्य लोगों ने प्रस्तुत नहीं किया। केवल दो-तीन पदों में कुछ मुक्त चित्र हैं।[2] हरिदासजी के पदों में ही नहीं, चित्रों में भी संगीत समाविष्ट है।[3]

हरिदासजी ने उस निभृत-कुंज लीला के भी चित्र दिये हैं जहां न सखियां हैं, न पक्षी-गण।[4] उनके सुरतान्त के चित्र भी बड़े मधुर हैं। श्रीविट्ठलविपुलदेव जी ने सुरतान्त के ही

मोहि न पत्याहु तौ संग हरिदासी हुती
बूझि देखु भटू कहि धौं कहा भयौ, मेरी सौं॥" केलिमाल, पद २५।
"श्री विटठलविपुल विनोदविहारी संभ्रम गयौ, लाय उर लैयां।" नि० मा०, पृ० २३२,
श्रीविट्ठल-विपुलदेव।

१. केलिमाल, पद ३५।

२. आउ लाल ऐसो मद पीजै, तेरौ भगा मेरी अंगिया धरि।
कुच की सुराही, नैननि के प्याले, दारू देहुंगी यों अंकों भरि।" केलिमाल, पद ७४।

३. "नदित मन मृदंगी, रासभूमि सुकान्ति अभिनै सु नव गति त्रिभंगी।
धापि राधा नटति ललिता रसवती, नागरी गाइ तेग्रिनाभि तान तुंगी।
रसद बिहारी बंदे वल्लभा राधिका, निसिदिन रंग-रंगी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी संगीत-संगी।" वही, पद ९४।

४. "चलि री, भीर तैं न्यारेई खेलें। कुंज-निकंज मंजु में झेलैं।
पंछिन सहित सखी न संग कोऊ, तिहिं बन चलि, मिलि केलैं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा प्रेम परस्पर बूका-बंदन मेलैं।" केलिमाल, पद १००।
"श्री विट्ठलविपुल विनोद करत मिलि नहिं ललितादिक नीरी।"
नि० मा० पृ० २२८, विट्ठल-विपुलदेव।

अधिक चित्र दिये हैं।[1] यों सम्प्रदाय के सभी कवियों की गेय निकुंज-गत केलि-क्रीडा ही प्रमुखतया रही है।

साम्प्रदायिक भावना के अनुरूप यह निकुंज रस भक्तों के लिए तादात्म्य भाव से आस्वाद्य नहीं, सखीभाव से आस्वाद्य है। वह सखियों के लिए सहचरी भाव का ही विभाव है, प्रेयसीभाव का नहीं। सखीभाव में सेवा-परिचर्या वाली भावना भी मिलती है, साथ ही सख्य का खुलापन भी। मान के प्रसंगों में दौत्य कर्म करते हुए इन सहचरियों का सख्य ही उभरकर आया है। यह चेतना निम्बार्क सम्प्रदाय के ही समान है। फिर भी, मात्रा की दृष्टि से निम्बार्की सहचरीभाव में दास्यानुमिश्रित सहचरीभाव अधिक है, हरिदासी सहचरी-भाव में सख्यानुमिश्रित। इन सखियों में वही दर्शन-सुख काम्य है, विलास-तृप्ति नहीं :

"ऐसे ही देखत रहौं, जनम सुफल करि मानों।
प्यारे की भावती, भावतीजू कौ प्यारौ, जुगल किसोरहिं जानौ।
छिनु न टरों, पल होहुँ न इत-उत, रहौं एक ही तानौं।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी मन-रानौं।"

सखियों को इसी में चरम सुख है कि राधा और कृष्ण नित्य-मिलन से सुख-भोग प्राप्त करते रहें। इस रति में वही तत्सुख-सुखित्व है जो निम्बार्की भाव-साधना में स्वीकृत है।

हरिदासजी, विट्ठलविपुलदेवजी आदि की रस परिकल्पना में सखीभाव की तटस्थ कामरति की पग-पग पर वैसी चर्चा नहीं मिलती जैसी निम्बार्की श्रीभट्ट आदि में। अतः पाठक के समक्ष राधा-कृष्ण का शृंगार ही अव्याहत रूप से उपस्थित होता है। ऐसे काव्य में सम्प्रदाय की भाव-दृष्टि और संस्कार-साधना का परिचय अधिक अपेक्षित होता है, नहीं तो उसे लौकिक शृंगार की ही काव्यानुभूति होती है।

अन्य रस

हरिदास-सम्प्रदायी काव्य में प्रमुख रस-परिकल्पना मधुर की ही है जिसका परिचय हम अभी पा चुके हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं श्रीहरिदासजी के सिद्धान्त के पदों में तथा श्रीविहारिनदेवजी के काव्य में अन्य भावों की परिकल्पना भी उपलब्ध होती है।

शान्त

हरिदासजी के सिद्धान्त के पद संख्या में अठारह मिलते हैं। इनमें से कई पदों में शान्तरस का उज्ज्वल रूप सामने आता है :

"हरि भज, हरि भज, छांड़ि न मान नर तन कौ।
मत बंछैं, मत बंछैं तिल-तिल धन कौ।
अनमांग्यौ आगै आवैगौ, ज्यौं पल लागत पलकौ।
कहि हरिदास मीच ज्यौं आवै, त्यौं धन है आपुन कौं।"[2]

---

१. "प्रिया स्याम संग जागी है।
सोभित कनक-कपोल ओप पर दसन-छाप लागी है।
अधरन रंग छुटी अलि की बल सुरति रंग अनुरागी है।
श्री विट्ठलविपुल कुंजकी क्रीडा कामकेलिरस पागी है।" नि० मा०, पृ० २२७, बिट्ठल०।

२. केलिमाल, पद ५।

"हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे, काल फिरत सर सांधै ।
बेर कुबेर कछू नहिं जानत, चढ्यौ रहत है कांधे ।
हीरा बहुत जवाहर संचे कहा भयौ हस्ती दर बांधे ।
कहि हरिदास महल में बनिता बनि ठाढ़ी भई,
एकौ न चलत जब आवत अंत की आँधै ।"[1]

वस्तुतः इन सिद्धान्त के पदों में कुंज-विहारी स्यामा-स्याम का नाम भले आ जाय, इनका प्रेषणीय प्रभाव शान्तरस का ही है । जगत् की अनित्यता, वैभव की निस्सारता, मनः-प्रबोध एवं भक्ति-मार्ग की उपादेयता ही इन पदों का वक्तव्य है । यह शान्त किसी-किसी पद में स्वतन्त्र रूप से दिखायी पड़ता है, किसी में भगवद्विषयक रति के अंग रूप में ।

श्रीविहारिनदेवजी के काव्य में भी शान्तरस की प्रचुर कल्पना है । स्वतन्त्र शान्तरस की भी, शान्तभक्तिरस की भी । शान्तभक्ति के रूप में आया शान्त कभी सामान्यतः भगवद्रति के अंगरूप में दिखायी पड़ता है, कभी सहचरीरति के अंगरूप में । इन सभी रूपों की एक ही प्रमुख प्रेषणीयता है विरक्तिमूलक भगवद्रति ।

"मन मेरे अजहू होहु सयानौ ।
हरि-पदकमल विसारि विषय-रति कहा फिरत बौरानौ ।
सोइ सोइ दाव उपाव करत नित जो अपने चित भानो ।
भयौ बिबस आलस अभिमानी नेकु न हित नियरानौ ।
जीवत मृतक भयो लोभिन संग रहत लोभ लपटानौ ।
विहारीदास विन बहुत बिगूचे कितेक बरन बखानौ ।[2]

विहारिनदासजी के इस प्रकार के पदों में शान्त युगल-किशोर में रति का परि-पोषक है :

"रे चित, चंचल, अनत न जैए ।
जुगलकिसोर चतुर चिंतन विन मुख संतोष न पैए ।
कहुं आदर कहुँ होत निरादर, विन विवेक विष खैए ।
मानस किए हौ कित कूकर भड़हाई न अघैए ।
कंचन लोहनि गढ़ हठ छूटै मनसा हू न बंधैए ।
पाप पुन्य दोऊ सम सुनियत है डहकाए डहकैए ।
परमारथ विन जे स्वारथ की सबै जानि दुख पैए ।
बिहारीदास प्रभु को आनंद नित नागर नैंक रिझैए ।।"[3]

विहारिनदासजी के शान्तभक्तिरस की परिकल्पना में उतनी ही गहरी भावुकता है जितनी उनके मधुर रस की परिकल्पना में । सम्प्रदाय में विहारिनदासजी को श्रीहरिदासजी की वाणियों का भावात्मक व्याख्याता समझा जाता है ।

दास्य भक्तिरस

विहारिनदासजी की वाणियों में ही दास्यभक्ति की भाव-पूर्ण परिकल्पना मिलती है

---

१. केलिमाल, पद ३ ।
२. निम्बार्कमाधुरी, पृ० २४५-६, श्रीविहारीदासजी ।
३. वही, पृ० २४६, श्रीविहारिनदासजी ।

भगवान् के पतितपावन विरुद, आत्म-लघुत्व एवं दैन्य की सुन्दर अनुभूतियां उनके वचनों में मिलती हैं। दैन्य को उन्होंने भगवत्स्नेह-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है।[1]

"हौं तौ आयौ शरन तेरी, तू मया करि स्वामी।
हौं पति तुम पतितपावन, निज जन-ताप-नसावन, औसर बड़ भारी।
अब कैसे मन कपटहिं राचत छिन छिन दिन यह जांचत दीन दास विहारी।"[2]

वस्तुतः इस काल के हरिदासी भक्तों में एक विहारिनदासजी ही ऐसे हैं जिनमें एक ओर ज्ञान-विराग पर प्रतिष्ठित शम और दास्य की लोकमंगलमयी भावनाओं से ओत-प्रोत भगवद्भक्ति के दर्शन होते हैं, दूसरी ओर श्रीहरिदासजी द्वारा प्रवर्तित सखीभावमयी मधुरा भक्ति के। दोनों के ही पूर्णतः विकसित सूत्र हरिदासजी में हमें मिलते हैं। इनमें यदि कहीं साम्प्रदायिकता की कुछ झलक है भी, तो भी वह इन लोक-प्रकृत भावों के बीच जन-सामान्य की अनुभूति के लिए बाधक नहीं होती।

राधावल्लभ-सम्प्रदायी काव्य में रस-परिकल्पना

आलोच्य काल का काव्य—हमारे आलोच्य काल की परिधि में इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवि ये हैं—श्रीहितहरिवंशजी, श्रीदामोदर 'सेवकजी', श्रीहरिराम 'व्यासजी', श्री चतुर्भुज दासजी, श्रीध्रुवदासजी, श्रीनेही नागरीदासजी, श्रीकल्याणपुरीजी।[3] यों ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्तनामावली' में वैष्णवदास, गोपालदास, खरगसेन, गंगाबाई, यमुनाबाई आदि भक्तों का उल्लेख किया है, पर इनकी कोई रचना सम्प्रदाय को भी उपलब्ध नहीं है।[4] ऊपर के लोगों का भी सम्पूर्ण साहित्य प्रकाशित होकर अभी सर्व-सुलभ नहीं है। मात्रा की दृष्टि से इस सम्प्रदाय का साहित्य सबसे अधिक है।

हमारे आलोच्य काल की परिधि में आने वाले साहित्य का एक बड़ा अंश ऐसा है जिसका रस-कल्पना से सीधा सम्बन्ध नहीं। वह सिद्धान्त-प्रतिपादक है, रस-काव्य नहीं है। फिर भी इस सम्प्रदाय के काव्य की रस-परिकल्पना समझने और इस काव्य में रसास्वादन करने के लिए उस सिद्धान्ती साहित्य का महत्त्व अपरिहार्य है। इस सम्प्रदाय का रस-काव्य भी अपने में इतना साम्प्रदायिक है कि यदि सम्प्रदाय की सिद्धान्त दृष्टि को ओझल कर दिया जाय तो यह काव्य उद्दाम शृंगार एवं ह्रासोन्मुखी वृत्तियों का परिचायक मात्र प्रतीत होगा। सम्प्रदायानुयायियों के लिए तो इस सिद्धान्त-प्रतिपादक अंश में भी एक सिद्धान्त-रस है, जैसा कि व्यासवंशीय श्रीराधाकिशोर गोस्वामी ने व्यास-वाणी का वर्गीकरण करते हुए स्वीकार किया है।[5]

परिकल्पित रस—सम्प्रदाय सखीभाव से मधुरोपासक है, जिसका मोटा-मोटा वही रूप है जो हम निम्बार्की एवं हरिदासी रस-परिकल्पना में देख चुके हैं। फिर भी इस विषय में सम्प्रदाय की अपनी निजी दृष्टि है। मधुर के अतिरिक्त सम्प्रदाय के कई कवियों ने शान्त-

---

१. श्रीनिम्बार्कमाधुरी, पृ० २४१ "विहारीदास यौं भजै दीन ह्वै, दिन दिन बाढ़ै प्रीति नई।"
२. वही, पृ० २४४, पद १३। श्रीविहारिनदास।
३. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक।
४. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ३५५।
५. डॉ० स्नातक : रा० व० सं० : पृ० ३८३।

रस में डूबी भक्ति-वाणियाँ भी प्रस्तुत की हैं। अन्य सम्प्रदायों के कवियों के समान गुरु और परम तत्त्व में अभेद करते हुए गुरु विषयक रति के भी अनेक पद्य रचे गये हैं। व्यासजी की वाणी में कहीं-कहीं वीर, बीभत्स, अद्भुत, करुण आदि की झलक मिल जाती है। किन्तु रस-परिकल्पना की दृष्टि से ये झलकें भक्तिरस-परिपोषक एवं अंगरूप ही हैं। आधारभूत रस-परिकल्पना एक मधुर की ही है, जिसे वृन्दावन-रस, नित्यविहार रस, युगल-रस आदि नामों से निरूपित-विवेचित किया गया है।

हम यहां संक्षेप में सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना समझने का प्रयास करेंगे।

मधुर रस—राधावल्लभीय काव्य में मधुर रस प्रेम की साधना है। यह प्रेम दो रूपों में अभिव्यंजित हुआ है—एक तो राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम के रूप में, दूसरे इस युगल-प्रेम के प्रति सखीभावमयी आसक्ति के रूप में। काव्यदृष्टि से दूसरे प्रेम का परिपाक ही भक्त एवं सहृदय का रस है जिसके लिए पहला विभाव-रूप है।

पर सम्प्रदाय की दृष्टि में बात यों ही नहीं है। वह नित्य-विहार या वृन्दावन रस के चार अंग या विधायक तत्त्व मानता है[1]— श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन और सहचरी। रसरूप नित्यविहार के लिए सम्प्रदाय की दृष्टि में सहचरी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि राधा और कृष्ण रूप दो तत्त्व। इस दृष्टिकोण को समझने के लिए पाठक को सम्प्रदाय का प्रेम-तत्त्व सम्बन्धी दृष्टिकोण समझना आवश्यक है।

प्रेमतत्त्व—इस सम्प्रदाय में प्रेम-तत्त्व की जैसी व्याख्याएँ की गयी हैं वैसी अन्यत्र नहीं मिलतीं। यहां प्रेम केवल एक सम्बन्ध-रूप नहीं, तत्त्व-रूप है। वह राधा और कृष्ण के बीच या युगल और सहचरी के बीच का एक चित्तवृत्तिरूप राग या भाव-सम्बन्ध नहीं, अपितु स्वरूपतः एक तत्त्व है, और वह तत्त्व परात्पर तत्त्व है जिसके अधीन चर और अचर समस्त दृश्यादृश्य जगत् है। विश्व उसी का रूप है।[2] अतः राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी भी उसी के रूपान्तर हैं। सम्बन्धात्मक प्रेम उसी प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति है। प्रेम अभिव्यक्ति के लिए दो की अपेक्षा रखता है। उन दो के बीच में अभिव्यक्त प्रेमतत्त्व को ही हम सम्बन्धात्मक प्रेम कहते हैं। अतः राधा कृष्ण के बीच या युगल-सहचरी के बीच का सम्बन्धात्मक प्रेम भी उसी परात्पर प्रेम-तत्त्व का व्यक्त रूप है।

'प्रेम', 'आनन्द', 'रस' ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। अतः राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय में 'रसो वै सः' श्रुति का प्रतिपाद्य यही प्रेम-तत्त्व माना जाता है न कि भगवान्। भगवान् स्वयं उस प्रेम के वश्य हैं, अथवा कहिए, उसके एक रूप हैं। प्रेम की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह स्वयं को नहीं, दूसरे को सुखी करना चाहता है। हित-करण उसका आन्तरिक स्वरूप लक्षण है। राधावल्लभ सम्प्रदाय कदाचित् इसी विशेषता के कारण प्रेम को 'हित'

---

१. "चारों मिलि रस-सिन्धु के सार चार वर चन्द।
गौर श्याम सहचरि विपिन विलसत परमानन्द।" सु० बो० ५७। लाड़िलीदास, सेवकवाणी की विवृत्ति।

२. "जो रसरीति सबनि तैं दूरि। सो सब विश्व रही भरपूरि।
मूरि सजीवनि कहि दई।" सेवकवाणी, २-२।
"जो है नित्य विहार रस वैभव हित अभिलाष।
सोइ खिलारी, खेल सो, आपुहि करतलास।" भजनादि वसा : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी, ८३।

कहकर चलता है। यों इस सम्प्रदाय को किसी दार्शनिक वाद का प्रवर्तक न होने के कारण सामान्यतः दर्शन से दूर कहा जाता है, किन्तु प्रेम या हित तत्त्व का जैसा दार्शनिक पद्धति पर इसके अनुयायियों ने निरूपण किया है उसे देखकर इस सम्प्रदाय का दर्शन 'हित-दर्शन' नाम से स्वीकार किया जा सकता है। सम्प्रदाय की दृष्टि में यह 'हित' ही रस है।

प्रेम-तत्त्व मूलतः अद्वय एवं अखंड है, किन्तु यह एक नित्य प्रकट तत्त्व है। प्रेम स्वयं आत्म-रूप की अनुभूति के लिए प्रतिक्षण व्याकुल है,[1] अतः वह नित्य प्रकट है। प्रकटन के लिए द्वित्व अपेक्षित है। अतः यह प्रेम राधा और कृष्ण के बीच अद्भुत अनंगकेलिमय राग-रंग-सम्पन्न प्रेमरस के रूप में नित्य उदित रहता है :

"राग-रंग जुत प्रेमरस अद्भुत केलि-अनंग।
छिन-छिन आनंद-सिंधु के उठिबौ करत तरंग ॥"[2]

अतः आत्म-प्रकाशनार्थ हित-तत्त्व भोक्ता और भोग्य या प्रेमी और प्रेमास्पद दो के रूपों में नित्य प्रकट रहता है। प्रेम-विहार की सहज सम्पन्नता के लिए किसी आधार और प्रेरक की भी आवश्यकता है। प्रेरक-प्रेम को इसी दृष्टि से भोक्ता-भोग्य से अलग तीसरे 'हित-रूप' के रूप में स्वीकार किया गया है। यह प्रेरक प्रेम दो प्रकार का होता है—जड़ और चेतन। जड़ रूप वृन्दावन है जो भोक्ता और भोग्य के बीच प्रेम-विहार को आधार-स्थल बनकर तथा प्रेरणा देकर सहज सम्भव बनाता है, चेतन रूप सहचरि-गण हैं जो अपनी सरस युक्तियों एवं सेवा द्वारा युगल से मिलन एवं रस-प्रकाशन का अवसर लाती हैं। इस प्रकार भोक्ता, भोग्य और प्रेरक त्रिविध प्रेम चार रूपों के सामने आता है।[3]

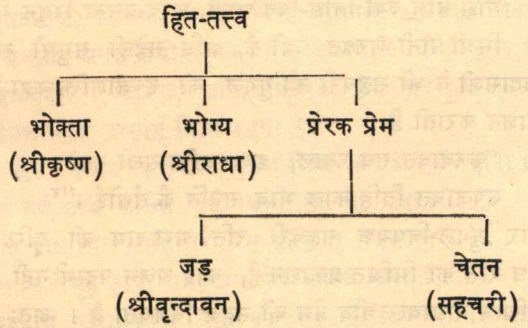

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भोक्ता या प्रेमी श्रीकृष्ण हैं, राधा भोग्या या प्रेमास्पद हैं। इसीलिए सम्प्रदाय की वाणियों में प्रेमाभिव्यक्ति श्रीकृष्ण की ओर से राधा के प्रति ही प्रायः की जाती है। श्रीकृष्ण राधा के प्रेम में विवश, उनके नित्य अधीन एवं आराधक-प्रसारक के रूप में सामने आते है। जो महत्त्व अन्य सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण को प्राप्त हैं वह

---

१. "इक हित द्वै बिनु होत नहिं दोऊ मिलि इक होइ।"
उद्धृत : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० ८६।

२. ध्रुवदास : उद्धृत : वही, पृ० १७३।

३. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० ८०-८३।

यहां राधा को मिला हुआ है। यह कदाचित् भोग्य-पक्ष के स्वाभाविक महत्त्व के कारण है, ऐसा सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास है।[1] फिर भी प्रेम की स्थिति राधा और कृष्ण दोनों में समान रूप से मानी जाती है। यह राधावल्लभी प्रेम-पद्धति की प्रमुख विशेषताओं में से है। जहाँ कृष्ण राधा-प्रेम में अवश दिखायी पड़ते हैं, वहाँ राधा के भी कृष्ण-प्रेम में व्याकुलता के चित्र स्वयं हितहरिवंशजी ने दिये हैं।[2] प्रेम के उभय-निष्ठ होते हुए भी प्रेमी श्रीकृष्ण और प्रेमास्पद राधा को ही मानकर राधावल्लभीय काव्य की रस-परिकल्पना आगे चलती है। यों सूफ़ी प्रेम-पद्धति में भी प्रेम-प्रयास नायक की ओर से होता है, किन्तु वहाँ रति की उभय-निष्ठता समान रूप से तथा समानकालीनतया नहीं दिखायी जाती।

इस प्रकार सम्बन्धात्मक प्रेम भी चाहे वह राधा-कृष्ण के बीच हो, चाहे युगल और सहचरी के बीच, उसी प्रेम-तत्त्व का रूप है। प्रेरक प्रेम के दोनों रूपों वृन्दावन और सहचरी को पारिभाषिक रूप में 'हित-सन्धि' कहा गया है। वह इसलिए कि राधा और कृष्ण की रति इन आधारों में मिलकर एकाकार एवं प्रकट होती है। वृन्दावन में नित्य प्रकट लीला-विहार के रूप में, और सहचरी में भाव-रूप में। श्रीमोहनजी के शब्दों में सहचरी राधा-कृष्ण के दो शरीरों की एक परछाईं है, दो नेत्रों में स्थित एक ही दृष्टि है, दिन और रात्रि के बीच उन्हीं के योग से बनी संध्या है, मिश्री और जल मिलकर बना हुआ शरबत है :[3]

"अद्भुत गीत या प्रेम की या में रीति अनेक।
दुहुँ तन की काहू सुनी परछाईं है एक॥
दुहुँअन बीच सखी यह नाहीं, दुहुँ तन की एकै परछाहीं।
त्यों दुहुं बीच सखी सुखदाई, दुहुं नैननि ज्यौं दीठ रहाई।
सांझ संधि ज्यौं निसि-दिन माहीं, शरद-वसन्त रितुन में आहीं।
मिश्री पानी शरबत ज्यौं कै, संधि सहेली समुझौ त्यौं कै।"

श्री ध्रुवदासजी ने भी सहचरी को युगल की इच्छाशक्ति कहा है जो उनकी रसमय क्रीड़ाओं का प्रकाशन कराती है :

"करवावत सब ख्याल, इच्छाशक्ति सखी तहां।
उपजावत तिहि काल भाव सबनि कै तैसोई।"[4]

इस प्रकार युगल-विषयक सहचरी रति सम्प्रदाय की दृष्टि में राधा-कृष्ण की पारस्परिक द्विविध रति का मिश्रित प्रकाशन है, कोई अलग पदार्थ नहीं।

तत्सुखसुखित्व राधावल्लभीय प्रेम की सहज विशेषता है। अतः कृष्ण-प्रेम में राधा

---

१. "राधा-माधव में सब प्रकार से समान रस की स्थिति होते हुए भी श्रीराधा की प्रधानता प्रेम के क्षेत्र में प्रेमपात्र की स्वाभाविक प्रधानता को लेकर है।" श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० १२५।

"जद्यपि दोउन की लगन, हब मिलि कहैं समान।
पै प्यारी महबूब है, प्यारौ आशिक जान।"

श्री वल्लभरसिक : बारह बाट अठारह पैड़े : वही, पृ० १२५।

२. "दंपति रस समतूल" श्री हितहरिवंशजी, हितचौरासी, उद्धृत, वही, पृ० १२०।

३. श्रीमोहनजी : केलिकल्लोल : उद्धृत : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० २२४-५।

४. ध्रुवदास : सभा : मण्डल।

को सुखी करने की तथा राधा-प्रेम में कृष्ण को सुखी करने की भावना व्याप्त रहती है। सहचरियों का तो यह जीवनाधार भाव ही है कि उनके राधा-मोहन केलि-विलास का अबाध आनन्द पाते रहें और सुखी रहें। पर राधा-मोहन भी इसी उद्देश्य को लेकर ये केलिमयी क्रीडाएँ रचते हैं कि उनकी हित-सन्धि रूप सहचरियां उसका दर्शन-सुख पा सकें।

हम कह चुके हैं कि इस सम्प्रदाय के काव्य में प्रेम का दो रूपों में गान हुआ है—एक रूप है राधा और कृष्ण के बीच का प्रेम, दूसरा है सहचरी-निष्ठ प्रेम। यहां दोनों की अलग-अलग कतिपय ऐसी विशेषताएं हैं जो ध्यान देने योग्य हैं।

राधा-कृष्ण प्रेम—हम कह चुके हैं कि इस प्रेम में कृष्ण प्रेमी हैं, आश्रय हैं, राधा प्रेमास्पद हैं अतः आलम्बन हैं। प्रमुख रूप यही है, वैसे कहीं-कहीं राधा-निष्ठ भी प्रेम का चित्रण हुआ है। इस प्रेम की दूसरी विशेषता यह है कि इसका अभिव्यंजन कृष्ण की ओर से होते हुए यह उभय-निष्ठ है, सूफियों के समान एक-पक्षीय नहीं। तत्सुखसुखित्व की चर्चा हम अभी कर ही चुके हैं।

यह प्रेम नित्य प्रकट एवं क्रीड़ाशील है।[1] जैसे वल्लभादि सम्प्रदायों में प्रकट और अप्रकट ललीएं अलग-अलग मानी गयी हैं, वैसी मान्यता यहां नहीं है। यह प्रेम तो नित्य प्रकट ही है। इसकी नित्य क्रीडा चलती है जो काम-केलि के रूप में होती है। वृन्दावन के निकुंजों में सहचरियों के भाव-रस से सिंचित यह प्रेम नित्य-विहार के रूप में प्रकाशित होता रहता है।

यह प्रेम-विहार नित्य होते हुए भी नित्य नूतन है। सौन्दर्य को क्षणे-क्षणे नवीन होने वाला कहा गया है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।" इस नूतनता का प्रेम-विहार में अर्थ है सौन्दर्य का कभी बासी न होना, और प्रेम-विहार का नित्य नूतन आरम्भ होते रहना। ध्रुवदासजी के शब्दों में यह नित्य नूतनता इस मात्रा तक बढ़ी हुई है कि राधा और कृष्ण के अनादि अनंत संयोगात्मक प्रेम-विलास के चलते रहते हुए भी अभी तक दोनों में पहचान नहीं हुई है। कान्ति, छवि, विलास, प्रेम सब-कुछ सदा नया-सा ही बना रहता है, नये-नये मिलन-सा उत्साह नित्य रहता है :

"न आदि न अंत विलास करैं दोउ, लाल-प्रिया से भई न चिन्हारी।
है नई भांति नई छवि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी।
रहै सुख चाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहैं इक पास, करैं मृदु हास, सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी।"[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय राधा-कृष्ण प्रेम की एक उल्लेखनीय विशेषता, जो इसकी अपनी मौलिक है, यह है कि यह प्रेम नित्य संयोगात्मक होते हुए विरह के साथ घुला हुआ है। यों साहित्य-शास्त्र ने भी शृंगार के संयोग और वियोग दो पक्ष माने हैं, तथा प्रेमा भक्ति के अनुयायियों ने भी ये दो रूप स्वीकार किये हैं, किन्तु उन सबमें विरह का अर्थ होता है अलग होना जो संयोग में नहीं बनता। कुछ प्रेमवैचिती जैसी स्थितियाँ कल्पित की गयी हैं, पर राधावल्लभी भावना उससे भी अलग है। संयोग का आदर्श सारस का प्रेम है, पर वह

---

१. "नित्य किशोरी नित्य किशोर, नित वृन्दावन, नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद, नित आनन्द बरषत चहुं ओर।" ध्रुवदास, ब्यालीस लीला, पृ० ३५।

२. ध्रुवदास : ब्यालीसलीला : भजनशृंगार सत लीला : पृ० १०२।

विरह के आनन्द को नहीं जानता। विछोह होते ही प्राण छोड़ देता है। चकवी संयोग का सुख नहीं जानती, उसकी दृष्टि में विरह महत्त्वपूर्ण है। पर राधावल्लभी प्रेम में ही इतनी प्यास समा दी गयी है कि प्रेमी को निरतिशय अभिलाष रहती है, इतनी तीव्र अभिलाष कि वह विरह की सी घनीभूत वेदना अनुभव करता है।[1]

राधा-कृष्ण के इस संयोग-विरहात्मक प्रेम की दो अवस्थाओं का निरूपण ध्रुवदास जी ने किया है। जब राधा-कृष्ण एक-दूसरे के प्रेम में एकरस होकर विवश हो डूब जाते हैं तब उस अवस्था का नाम 'प्रेम' है, और जब कुछ होश में आकर काम-केलि में निरत हो जाते हैं तब उस अवस्था का नाम 'मदन' है :

"प्रेम मदन के सिंधु द्वै बहत रहत दिन हीय।
कबहुं बिबस, चेतत कबहुं, छिन-छिन प्यारी पीय।
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे।
यह सुख सखियन बट परौ भूलैं ध्रुव सब नेम।
इकरस फूली फिरत संग पाइ माधुरी प्रेम॥"[2]

इसी मदनावस्था को प्रेम-यंत्रित नेम कहा गया है। 'नेम' वे क्रियाएं और चेष्टाएं होती हैं जो क्रिया-निर्वृत्त होती हैं। इस प्रकार काम-केलियाँ भी एक प्रकार का नेम हैं, और भक्त द्वारा की गयी नवधा भक्ति और कर्म-काण्ड भी नेम हैं। राधा-कृष्ण के प्रेम से जुड़ी हुई काम-केलियां प्रेम-यंत्रित 'नेम' हैं। ये उपर्युक्त मदनावस्था के उच्छलन हैं। सिद्धान्त यह है कि प्रेम के उदय होने पर नेम का विलय हो जाता है। पर यह सिद्धान्त भक्त की दृष्टि से ही प्रतिपादित है कि उसमें प्रेम का उदय होते ही कर्मकाण्ड और नवधा भक्ति प्रेम में विलीन हो जाती है। राधा-कृष्ण के प्रेम में मदनात्मक नेम का विलय नहीं होता। विवशात्मिका प्रेम-दशा में आलिंगनादि क्रियाएं क्षण-क्षण विलीन होती रहती हैं, दूसरे क्षण मदनावस्था में उच्छालित होती रहती हैं।[3] इन प्रेम-यंत्रित नेम-रूपा मदन-केलियों से ही प्रेम

---

१. चकई प्राण जु घट रहैं पिय बिछुरन्त निकज्ज।
... ...
सारस मन सन्देह प्राण घट जु रहैं चकई॥
सारस सर बिछुरन्त कौं जो पल सहै शरीर।
अगनि अनंग जु तिय भखै तौ जानै पर पीर।
... ...
हितहरिवंश विचारि प्रेम-विरहा विन वारस।
निकट कंत नित रहत मरम कहा जानै सारस।" पद ५-६ : स्फुटवाणी।
"देखिबौ जहां विरह सम होई, तहां कौ प्रेम कहा कहि कोई।" ध्रुवदास, रहस्यमंजरी।
"मिले अनमिले रहत विवि अंग अंग अकुलाइ।
प्रेमहि विरह सरूप जहं यह रस कह्यौ न जाइ।" भ[illegible] जी : उद्धृत : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० १११।

२. ध्रुवदास : सिद्धान्तबिचारलीला : पृ० ४९।

३. ध्रुवदास : सिद्धान्तविचारलीला : गद्य : पृ० ४९।
डा० स्नातक : रा० व० सं० : सि० और सा० : विहारपरक प्रेम और नेम तथा साधारण प्रेम और नेम : पृ० १५२-१६०।

आस्वाद्य बनता है। हम कह चुके हैं कि राधा-कृष्ण का प्रेम काम-केलिमय एवं नित्य प्रकट माना गया है।

इन प्रेम और मदन अवस्थाओं के बड़े सुन्दर किन्तु उन्मुक्त चित्र इस सम्प्रदाय के कवियों ने उतारे हैं जिनमें भाव और कल्पना दोनों का सम्पुट है। राधा और कृष्ण संयोग में प्रेम की एकरस विवशात्मिका दशा में डूब गये हैं। उनमें पुनः चेतना एवं सुध-बुध लाने के लिए सावधान सखियाँ दोनों में चेष्टात्मक काम-क्रियाओं का संचार करके मदनावस्था संचारित करती हैं :

"होत बिबस जबही पिय-प्यारी।
सावधान तहां सखी हितकारी॥
कुंवरि अधर पिय-अधरनि लावै। रूप वदन नैननि दरसावै॥
पिय के कर लै उरज छुवावै। मनौ मैन के खेल खिलावै॥
उर सौं उर मिलि भुजन भरावै। चरन पलोटि सेज पौढ़ावै।
ऐसी भांति नव लाड़ लड़ावै। ताही सौं अपनौ जिय ज्यावै।"[1]

इस नित्य संयोगात्मक प्रेम में विरह को सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई अवकाश नहीं है। यह प्रेम मिलने-बिछुड़ने दोनों से ऊपर अद्भुत है।[2] स्वरूपतः इसी संयोगात्मक प्रेम को अतिशय अतृप्ति-परक होने से विरहात्मक रूप में देखा गया है। इस विरह में देश, काल और ज्ञान का अन्तर नहीं। अतः यह अत्यन्त सूक्ष्म विरह ही सिद्धान्ततः स्वीकृत है। फिर भी इस सम्प्रदाय के वाणीकारों ने कई प्रकार के विरह के चित्र उतारे हैं। प्रमुख रूप इस प्रकार हैं :

सूक्ष्म विरह

१. **अतृप्तिमूलक**—अतृप्तिमूलक संयोग-वियोगात्मक प्रेमानुभूति की हम चर्चा अभी कर चुके हैं। इस दशा को श्रीहितहरिवंशजी ने 'प्रेम-विरहा' नाम दिया है। यह प्रेम-वैचित्य से भिन्न है जिसमें ज्ञान का अन्तर रहता है।

२. **प्रेमवैचित्य**—प्रेमवैचित्यपरक विरह का उदाहरण श्रीहितहरिवंशजी कृत राधा-सुधानिधि का यह संस्कृत पद्य लिया जा सकता है :

"अंकस्थितेपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुंजसीम्नि।"[3]

हित-चौरासी के इस पद्यांश में भी कृष्ण में प्रेम-वैचित्य के दर्शन होते हैं :

"सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय सुन्दरि सहज सनेह।
तव पद-पंकज कौ निजु मन्दिर पालय सखि मम देह।"
प्रिया कहंत कहु कहां हुते पिय नव-निकुंज-वर-राज।
सुन्दर वचन रचन कत वितरत रति-लम्पट विनु काज॥"[4]

---

१. रतिमंजरी : उद्धृत : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० २२८।
२. "तहां न मिलिबौ बिछुरिबौ, जीवत रूपहि चाहि।" ध्रुव० : ख्यालहुलासलीला : पृ० २३।
३. राधासुधानिधि : श्लो० ४६।
४. हि० चौ० : पद ६६।

३. अंगान्तर-विरह—प्रेम की घनता में प्रेमियों को अपने शरीरों का दो होना, केशों की लट नेत्रों और रूप के बीच आ जाना तथा स्वयं अपने पलकों द्वारा दर्शन में व्याघात उपस्थि करना, अथवा प्रियामुख का अंचल की ओट हो जाना अत्यन्त दाहकारी विरह के रूप में अनुभव होता है। ये दिव्य प्रेमी इतने ही विरह-क्षण में व्याकुल हो उठते हैं। इन देहान्तर, लटान्तर, पटान्तर और पलकान्तर विरहों के चित्र उतारकर राधावल्लभी कवियों ने राधाकृष्ण-प्रेम की सघनता की मधुर व्यंजना प्रस्तुत की है।

अंगान्तर-विरह का एक कल्पना-प्रवण चित्र ध्रुवदासजी का यहाँ उदाहरणीय है। जिन क्षणों में राधा-कृष्ण उर से उर मिलाकर लिपट जाते हैं, उन क्षणों में नेत्रों का दर्शन-सुख बंद हो जाता है और वे विरह में डूब जाते हैं। तथा जब अलग होकर परस्पर रूप-सुधा का पान करने लग जाते हैं तब अंगों में विरह-व्यथा समा जाती है :

"जब ही उर सौं उर लपटाहीं।
तब नैना विरही ह्वै जाहीं।
छुटैं जबहिं छवि देख्यौ करैं।
विरह आनि अंगनि संचरै॥"[1]

४. निकट-मान—राधावल्लभीय काव्य में मान के अनेकमुखी चित्र मिलते हैं। स्वयं हरिवंशजी की हित-चौरासी में ही अनेक प्रकार से मान का चित्रण किया गया है। हरिव्यासजी में तो स्थूल खंडिता मान भी मिलता है। देश-दृष्टि से सम्प्रदाय के मान को 'निकट-मान' और 'निकुंजान्तर-मान' के दो भेदों में रखा जा सकता है।[2] सूक्ष्म मान में निकट मान के दो भेद किये जा सकते हैं—एक सहज मान, दूसरा संभ्रम मान। श्रीहितहरिवंशजी ने राधा को सीधी-साधी गोप-कन्या के रूप में नहीं अपितु एक केलि-कला-कुशल नागरी के रूप में चित्रित किया है। राधा स्वभावतः केलिरस के गहरे आस्वादन के लिए भीतर-भीतर से प्रेम-सिक्त होकर भी कृष्ण से मान करती रहती हैं और उनकी आतुरता और विनय के अनन्तर उन्हें अपना सर्वस्व समर्पण करती हैं। मान की यह स्थिति सहज-मान के अन्तर्गत समझनी चाहिए। ध्रुवदासजी की निम्न पंक्तियों में यही सहज मान है :

"मानकुंज आये जबहिं कुंवरि भौंह भई भंग।
चितै लाल पाइनि परैं समुझि मान कौ अंग।
ऐसे रस में हो प्रिये ऐसी जिय न विचार।
तासौं इती न चाहिए तन मन जो रह्यौ हार।"[3]

"राधा प्यारी हौ मान न करु।
अन्तर विरह दहन तन जारत, वरषावहि बिम्बाधर जलधरु।
बिन अपराध कोप न कीजै, दीनै हौं प्यारी।
प्रान दान धन, राधा तेरी हौं अनुचर।
व्यास स्वामिनी मन्द हास करि कण्ठ लगाइ लयौ सुन्दर वर।[4]

---

१. ध्रुवदास : रहस्यमंजरी : पृ० १८६।
२. श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० ११८।
३. ध्रुवदास : उद्धृत : वही : पृ० ११७।
४. श्रीव्यासवाणी : मानरस-प्रकरण : पृ० २४७।

संयोग के अन्तर्गत ही निकट-मान का दूसरा रूप भ्रम-जन्य मान का है। श्रीकृष्ण के उरस्थल में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर राधा को भ्रम हो जाता है कि इनके हृदय में तो कोई और बसी है। बस राधा को मान हो जाता हैं। यह मान स्वयं कृष्ण द्वारा या सखियों द्वारा वस्तु-स्थिति स्पष्ट करते ही दूर हो जाता है :

"हरि उर मुकुर विलोकि अपुनपौ विभ्रम विकल मानयुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिंब जनाय निहोरी।
नेति-नेति वचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।
हित हरिवंश करत कर-धूनन प्रणय-कोप मालावलि तोरी।"[1]

स्थूल विरह

सिद्धान्ततः राधावल्लभीय प्रेम-पद्धति में स्थूल विरह स्वीकार नहीं किया गया। फिर भी यत्र-तत्र देशकाल का अन्तर सामने रखते हुए कतिपय स्थूल विरह के चित्र मिल ही जाते हैं। कतिपय रूप ये हैं :

१. निकुंजान्तर मान—जब राधा प्रणय-कुपित होकर एक निकुंज से दूसरे निकुंज में चली जाती हैं तब निकुंजान्तर मान की स्थिति आती है।[2]

२. खण्डिता मान—'राधासुधानिधि' के श्लोक दो सौ बत्तीस तथा दो सौ तेंतीस में श्रीहितहरिवंशजी ने श्रीकृष्ण की राधा के अतिरिक्त अन्य सखियों के साथ रस-लम्पटता का चित्रण किया है। किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप राधा में किसी प्रकार की ईर्ष्या या खण्डितात्व की बात नहीं दिखायी। सामान्यतः खण्डिता-मान सम्प्रदाय की प्रेम-दृष्टि के अनुरूप नहीं है। पर श्रीहरिरामजी व्यास की 'व्यासवाणी' में कुछ चित्र इस प्रकार के भी हैं जो खण्डिता मान के अन्तर्गत आते हैं।[3] सिद्धान्ततः उन्होंने भी सूक्ष्म मान को ही स्वीकार किया है।

३. दिन-विरह—'राधासुधानिधि' में श्रीहितहरिवंशजी ने कई चित्र इस प्रकार के दिये हैं जिनमें राधा प्रिय के विरह में डूबी हुई, प्रिय के गुण-गान करती हुई, आँखों से आँसू बहाती हुई कठिनता से दिन पार करती हैं :

"वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां ता—
माधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षै-
र्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेस्तु राधा।"[4]

सामान्यतः ये स्थूल विरह-रूप कम ही मिलते हैं। सम्प्रदाय के कवियों ने सूक्ष्म विरह-रूपों का ही चित्रण किया है। सिद्धान्तरूप में तो स्थूल रूपों को स्वीकार ही नहीं किया।

सहचरी-निष्ठ प्रेम—राधावल्लभी काव्य में प्रेम का दूसरा रूप है सहचरी-निष्ठ प्रेम। इस प्रेम के आलम्बन सामान्यतः राधा, कृष्ण एवं उनके केलि-विलास हैं। कहना चाहिए, नित्य-विहार के रूप में चित्रित राधा-कृष्ण-प्रेम इस प्रेम का विभाव है। इसके

---

१. हितचौरासी : पद ७।
२. वही : पद ४४।
३. व्यासवाणी। रा० व० सं० : डा० स्नातक : पृ० ३८९।
४. रा० सु० नि० : श्लोक ४८।

अतिरिक्त सहचरी-निष्ठ प्रेम श्रीहितहरिवंशजी के प्रति भी व्यक्त हुआ है, जिन्हें हित-तत्त्व से अभिन्न माना गया है।

सहचरी-प्रेम को तात्त्विक दृष्टि से राधा-कृष्ण की द्विविध रति का एकीकृत अभिव्यंजन कहा गया है, यह हम देख चुके हैं। इस प्रेम की प्रमुख आलम्बन श्रीराधा ही हैं, श्रीकृष्ण तो इसलिए प्रिय हैं कि वे राधा के प्रियतम हैं।

सहचरी-प्रेम कभी सेवा के रूप में, कभी सख्य के रूप में, कभी राधा को केलि-शिक्षा के रूप में व्यक्त हुआ है। सभी रूपों में तत्सुखभावना प्रधान है।

निष्कामता इस प्रेम की अपनी विशेषता है। वल्लभी गोपियों का स्तर इनसे इसी लिए नीचा है कि उनके प्रेम में सकामता है। सहचरियों में श्रीकृष्ण के प्रति दाम्पत्य रति का उदय इस सम्प्रदाय में इष्ट नहीं। श्रीहितहरिवंशजी ने कतिपय ऐसी भाव-स्थितियों का चित्रण किया है जिनकी व्याख्या मनोविज्ञान की छाया में की ही नहीं जा सकती। ये स्थितियाँ विचित्र हैं।

श्रीकृष्ण यह मानकर कि ये सहचरियाँ उनकी प्रियतमा राधाजी की कृपा-पात्र हैं, उनका चुम्बन करते हैं, आलिंगन करते हैं, उन्हें सुरत-मदिरा से मतवाला बना देते हैं। इतना सब होते हुए भी, उन सहचरियों में कृष्ण के प्रति कामात्मिका रति उद्बुद्ध नहीं होती, उद्बुद्ध होती है श्रीराधाचरणों में अनन्य रति :

"निज प्राणेश्वर्या यदपि दयनीयेयमति मां
मुहुश्चुम्बत्यालिंगति सुरतमाध्व्या मदयति।
विचित्रां स्नेहर्धिं रचयति तथाप्यद्भुतगते-
स्तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः।"[1]

यह सहचरी-प्रेम की एक विचित्र स्थिति है। चरम कोटि की निर्वासनात्मकता एवं राधा के प्रति अनन्यता है। इस चित्र में जो रति-संचार हुआ वह कृष्ण की ओर से, सहचरी उससे सर्वथा अप्रभावित रही, हाँ सुरत-मदिरा से उसे मतवाला बनाने का प्रयास अवश्य हुआ, किन्तु उसकी अनन्य रति राधा के प्रति ही रही, श्याम के प्रति उसमें कोई प्रतिक्रिया जागरित न हुई। अब एक दूसरा चित्र लीजिए—राधा ने अपने रस-लम्पट प्रिय के प्रति स्नेह-वश अपनी अनन्य-निष्ठ सहचरी को सौंप दिया। सहचरी ने मुस्कान के सहित कटाक्षों से कृष्ण को प्रसन्न किया, गाढ़ आलिंगन भी दिया। कृष्ण भी रोमांचित हो उठे। यह सब दोनों ओर से हुआ, पर विचित्रता यह रही कि सहचरी में रति जागी श्रीराधा-चरणों के प्रति ही, उसमें विकारी काम का उदय नहीं हुआ : अद्भुत भाव-स्थिति है :

"यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलाम्पट्यपदवीं
गतं ते स्वप्रेष्ठं, तदपि मम निष्ठं शृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरैर्जातपुलकं
समाश्लिष्याम्युच्चैरथच रसये त्वत्पदरसम्॥"[2]

श्रीमद्भागवत की प्रेरणा पर सभी सम्प्रदायों के कृष्ण भक्तों ने रास-प्रसंग का चित्रण किया है। अन्य सम्प्रदायों के चित्रणों में, भले ही वे भी सहचरी-भाव की भावना

---

१. राधासुधानिधि : ५५।

२. राधासुधानिधि : श्लो० ८७।

को लेकर चले हों, राधा के साथ ही सहचरी प्रेम में भी कृष्ण के प्रति कुछ न कुछ कामात्मक उभार झलक उठता है। किन्तु राधा वल्लभी सहचरी प्रेम की यह विशेषता है कि यहाँ रास में नृत्य-मग्न कृष्ण-प्रेयसी राधा ही प्रायः आराध्या रहती हैं।[1]

सहचरी-प्रेम में भक्तों ने पूर्ण नारीत्व का तादात्म्य प्राप्त किया है। स्वयं हित-हरिवंशजी ने सखी-रूप में अपनी कल्पना करते हुए अपने में कुचों आदि की भी कल्पना की है।[2] राधा-परक इस सहचरी प्रेम को ही चरम काम्य माना है।[3] कभी-कभी तो श्रीकृष्ण भी सहचरीभाव की कामना कर उठते हैं।[4] वृन्दावन के पुष्प और लताएँ, पक्षी और भौंरे सहचरी भाव अपनाकर राधा-कृष्ण केलि के प्रेरक एवं आस्वादक बनते हैं।

हम देख चुके हैं कि राधा-कृष्ण प्रेम में स्थूल नेमों का तो नहीं, किन्तु मदन-क्रिया रूप प्रेम-यन्त्रित नेमों का सम्बन्ध बना रहता है। सहचरी प्रेम में किसी प्रकार का नेम नहीं रह जाता। कर्म-काण्डरूप नेम इस प्रेम में ग्राह्य नहीं। राधावल्लभी भावोपासना में धर्म के बाह्याचारों को स्थान नहीं है। नवधा भक्ति साधनाकाल के लिए अवश्य स्वीकार्य है। पर यह नेम भी सहचरी प्रेम के उदित होते ही उसमें विलय हो जाता है। मदनात्मक नेम का इस प्रेम में उठने का प्रश्न नहीं। इस प्रकार सहचरी प्रेम ही सर्वथा नेम-रहित पूर्ण शुद्ध प्रेम है, अतः राधा-कृष्ण प्रेम से भी सूक्ष्म, सरस एवं काम्य है। यह प्रेम-विषयक प्रेम है :

"लाल-लाड़िली प्रेम तैं सरस सखिनु कौ प्रेम।
अटकी हैं निजु प्रेमरस परसत तिनहिं न नेम॥"[5]
"सहज प्रेम की सींव दोउ नवल किशोर वर जोर।
प्रेम कौ प्रेम सखीन कैं, तिहि सुख कौ नहि छोर॥"[6]

यह सहचरी-प्रेम अनेक पदों में धाम-रति के रूप में व्यक्त हुआ है जिनमें राधा-कृष्ण के केलि-धाम वृन्दावन के प्रति अनन्त आसक्ति प्रकट की गयी है। ऐसे भाव-पूर्ण पद श्रीहरिवंशजी सहित सभी अनुयायियों ने लिखे हैं। इनमें धाम-रति राधा-रति की पोषक, अंग या प्रेरक के रूप में ही प्रायः आया करती है। नमूने के तौर पर हित चौरासी का एक पद देखा जा सकता है :

"प्रथम यथामति प्रणऊं श्रीवृन्दावन अति रम्य।
श्रीराधिका कृपा विनु सबके मननि हगम्य॥
... ...
अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज।
सेवत सगन प्रीतिजुत दिन मीनध्वज-पुंज॥
रसिक रास तंह खेलत श्यामा श्याम किशोर।
उभै बाहु परिरंजित उठे उनीदे भोर॥"[7]

---

१. राधासुधानिधि—श्लो० १५८।
२. वही : श्लो० ५२।
३. "तत्कैंकर्यरसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते।" वही : श्लो० ७७।
४. "तन्मामात्मसखीं कुरु।" वही : श्लो० २४५।
५. प्रेमलता : उद्धृत : श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : पृ० २२५।
६. प्रेमावली : उद्धृत : वही : पृ० २२५।
७. हितचौरासी : पद ५७।

यह वृन्दावन-रति राधा-रति की उद्दीपन, संचारी या अंग-रति के रूप में आती रहती है। इसी प्रकार अनेक चित्रों में कृष्ण-रति भी राधा-रति की पोषिका के रूप में आती है। कारण, सम्प्रदाय की मूल भावना राधा-महत्त्व को अपनाकर चली है।

राधा-महत्त्व—श्रीहितहरिवंशजी ने राधा के गीत इसी रूप में गाये हैं कि उनमें राधा कृष्णाराध्या और कृष्णाधीश्वरी के रूप में सामने आती हैं। सम्प्रदाय के इस राधा-विषयक दृष्टिकोण ने सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना के स्वरूप को एक विशेष दिशा दी है।

श्रीहितहरिवंशजी ने राधा को परा विद्या, परात्परा स्वतन्त्रा शक्ति के रूप में स्मरण किया है।[1] वे ब्रह्मादि देवताओं के लिए अगम्य, शची-ईशानी आदि देवी रूपा, और कृष्ण-सेव्या हैं। वे कृष्ण की न स्वकीया हैं, न परकीया। कहना चाहिए कृष्ण उनके स्वकीय नायक हैं। उन्हें शक्ति कहने का अर्थ यह नहीं कि उनकी अपेक्षा शक्तिमान् का स्थान महत्त्वपूर्ण है और वे वल्लभादि सम्प्रदायों के समान कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। वे 'स्वतन्त्रा' एवं 'परा' शक्ति हैं।

जिस प्रकार शैव भक्ति के विकास में उन्हीं की प्रेयसी शक्ति को प्राधान्य देकर शाक्त भक्ति का प्रचलन हुआ, वैसे ही कृष्ण भक्ति में कृष्ण की प्रेयसी को प्राधान्य देकर राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा-भक्ति का समर्थन किया गया है। इसकी प्रेरणा सीधी शाक्तों से नहीं है, पर श्रीमद्भागवत से भी नहीं है। देवी-भागवत जैसे पुराणों में शक्ति-पक्ष का महत्त्व वैष्णव चेतना के साथ उभर चुका था। देवीभागवत के नवम स्कन्ध के प्रथम श्लोक में देवी के पाँच रूपों की कल्पना की गयी है[2]—दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री। इनमें राधा-रूप को परमानन्दस्वरूपा माना गया है। देवी भागवत के अन्तिम स्कन्धों में इन्हीं रूपों का गान है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की राधा-भावना उसी वैष्णव परम्परा की एक विकसित कड़ी है।

शाक्त तन्त्रों में शक्ति के कल्पित अनेक रूपों में तीन रूप प्रधान हैं—मातृरूप, असुर-संहारक रूप, शृंगारकेलिमय रूप। तन्त्रों में शृंगारमय रूप का भी खूब विकास हुआ है, जिसकी दार्शनिक आधार-भूमि भी बनायी गयी है और एक ऐसा शृंगारी रूप भी अपनाया गया है जिसने विकार-पूर्ण साधना-मार्ग का द्वार खोला है। शैव और शाक्त तन्त्रों की इस शृंगार-कल्पना ने वैष्णव मधुर-चेतना के लिए पूर्वेतिहास अवश्य तैयार किया है।

श्रीहितहरिवंशजी ने राधा के केलिविलासमय रूप के अतिरिक्त वात्सल्यपूर्ण रूप की भी चर्चा की है।[3] उनका वात्सल्य मातृ-निष्ठ वात्सल्य के अतिरिक्त दासी-वात्सल्य के रूप

---

१. "प्रेम्णः सन्मधुरोज्ज्वलस्य हृदयं श्रृंगारलीलाकलावैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम।"
रा० सु० : श्लो० ७८।

२. "गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पंचधा स्मृता॥" देवीभागवत : नवम स्कन्ध : श्लो० १।

३. "वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
... ...
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिकास्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः।" राधासुधानिधि : श्लो० १७।

में भी प्रस्तुत किया गया है। पुत्र-वात्सल्य को तो पल्लवित नहीं किया गया, किन्तु दासी-वात्सल्य का पर्याप्त पल्लवन हुआ है।[1]

सम्प्रदाय के परवर्ती लोग श्रीहितहरिवंश द्वारा प्रतिपादित राधा के इस पक्ष पर या तो मौन हैं या इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं। वे राधा के पराविद्या और स्वतन्त्रा परा शक्ति रूप के प्रतिपादन को प्रेमास्पद के स्वाभाविक महत्त्व के रूप में देखते हैं।[2]

अब तक हमने राधावल्लभ सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना का आवश्यक परिचय प्राप्त किया है। इस सम्प्रदाय के कवियों ने इसी मधुरिमा-मय नित्य-विहार रस के गीत गाये हैं जिनमें उनकी आत्मा सहचरी भाव की भाव-साधना अपनाकर घुली हुई है। संयोग का चित्रण उनकी भाव-साधना के अनुरूप रहा है, पर उस संयोग को नित्य सजीव, नित्य नूतन एवं अद्भुत बनाने का उनका सदा प्रयास रहा है। उनकी साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा मिल जाने पर उनके ये गीत मानव-मन के कलुषित से कलुषित लोहे को पारस-स्पर्श से स्वर्ण बनाने की क्षमता रखते हैं, किन्तु यह भाव-निष्ठा मिलना हर एक के भाग्य की बात नहीं। तब, लौकिक संस्कार सम्पन्न व्यक्तियों के लिए यह काव्य उन्मुक्त एवं उद्दाम शृंगार का है, जन-सामान्य के लिए ह्रासोन्मुखी वृत्तियों का द्वारोद्घाटक। इस सत्य को स्वयं ये रसिक भक्त भी जानते हैं और जन-सामान्य के लिए इस साहित्य का द्वार बन्द रखते चले आये हैं :

"महा गोप्य, अद्भुत, सरस, चितत रहै मन माहिं।
या रस के रसिकनि विना सुन ध्रुव कहिबो नाहिं॥"[3]

यहाँ उदाहरण-स्वरूप इन कवियों के कतिपय पद प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे इनकी रस-परिकल्पना ठीक से समझी जा सके :

"सुरत नीवी-बंध हेत प्रिय मानिनी,
प्रिया की भुजनि में कलह मोहन रची।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत,
रोष हुंकार गर्व दृग-भंगि भामिनि लची।
कोक कोटिक रभसि रहसि हरिवंश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची।
प्रनय मय रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिबत मकरंद सुखराशि अंतर सची॥"[4]

---

१. "लुलितनवलवंगोदारकर्पूरपूरं
प्रियतममुखचन्द्रोद्गीर्णताम्बूलखण्डम्।
घनपुलककपोला स्वादयन्ती मदास्ये-
पर्यंतु किमपि दासीवत्सला कर्हि राधा।" वही : श्लो० १५५।

२. (क) "ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।" वही : श्लो० ७८।
"ब्रह्मादिदुर्गमगतेः।" श्लो० ३९, "चरणारविन्दं गोविन्दजीवनधनं।" श्लो० २१।
"भगवतः पूज्यैव कापीशता।" श्लो० ७८, "विद्या परा" श्लो० ९५। "ज्योतिः परं" ४०।
(ख) "श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सिद्धान्त खण्ड : पृ० १२५।
"राधामाधव में सब प्रकार से समान रस की स्थिति होते हुए भी श्रीराधा की प्रधानता प्रेम के क्षेत्र में प्रेमपात्र की स्वाभाविक प्रधानता को लेकर है।"

३. ध्रुवदास : रसरत्नावली : पद ५०।

४. हित-चौरासी : श्रीहितहरिवंश : पद ५०।

"क्रीडत कुंज कुटीर किसोर।
कुसुम पुंज रचि सेज हेज मिलि बिछुर न जानत भोर।
स्याम काम-बस तोरि कंचुकी, करजनि गहि कुच-कोर।
स्यामा मुंच-मुंच कह, खंडित गंड अधर की ओर।
नागर नीबी बंधन मोचत चरन गहि करत निहोर।
नागरि नेति नेति कहि करसौं कर पेलत गहि डोर।
मत्त मिथुन मैथुन दोऊ प्रगटत वरबट जोबन-जोर।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति भये सखि-लोचन चोर।"[१]

"विपिन निर्तत रसिक रस-रासि।
दंपति अति आनंद बस पेम-मत्त निश्शंक क्रीडत।
चंचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरंग ब्रीडत।
झटकत पट, चुटकनि चटक, लटकत लट, मृदु हास।
पटकत पद, उघटत सबद, भटकत भृकुटि विलास।"[२]

"रूप की राशि किशोर किशोरी रंगे रस-केलि निकुंज विहारा।
माते अनंग-प्रवीन सबै, अंग फूल सरीरहु ते सुकुमारा।
बसौ उर नैननि में दिन रैन, नशौ मन के जिते आहि विकारा।
जांचत बात न और कछू ध्रुव देहु प्रिये रस-प्रेम की धारा।"[3]

"मेरौ झूमत हथिया मद कौ।
पिय हिय हिलग परी पग सांकर मैमत अपने सदकौ।
सुरत नदी मरजादा ढाहत मान गुमान मरजाद जलद कौ।
नागरीदास बिनोद मोह मृदु आनंद वर विहार बेहद कौ।"[४]

"आजु प्रिया मुख की छवि देखत ह्वै गयौ मोहनलाल लटू।
पलकैं न लगैं, उत नैन लगे, इत देह संभारति नांहि लटू।
अब हाथ सें छूटि गई मुरली, अरु आपहिं तैं गयौ छूटि पटू।
धाई प्रिया हिय लाय लये, कहे फूली कली, अली देखें भटू।"[५]

हमारे आलोच्य काल में तीन वाणीकार काव्य-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—श्रीहितहरिवंश जी, ध्रुवदासजी और व्यासजी। व्यासजी संयोग के कलापूर्ण कवि हैं। उनमें आगामी रीतिकाल का स्वर पोषण पाता दिखायी पड़ता है। हितजी और ध्रुवदासजी की रस-परिकल्पना पर, मधुरता का पूर्ण आवेश होते हुए भी, सिद्धान्त-प्रतिपादन का एक अज्ञात भार रहता है। उनकी वाणी किसी लक्ष्य धर्म को ध्यान में रखकर लिखी जाती प्रतीत होती है। फल यह हुआ है कि उनकी वाणियों में सम्प्रदाय की निष्ठा स्वयं उच्छलित है, जबकि व्यासजी आदि के लिए उसे याद रखना पड़ता है।

---

१. श्रीहरिराम व्यास : व्यासवाणी : उत्तरार्द्ध : पद २८० : पृ० ३८५।
२. श्रीदामोदरदास 'सेवकजी' : सेवकवाणी : प्रकरण ७ : पद ७।
३. श्रीध्रुवदास : भजनश्रृंगार सत लीला : तृतीय श्रृंखला : व्यालीसलीला : पृ० १०९।
४. श्रीनेही नागरीदास : डा० विजयेन्द्र स्नातक : रा० व० सं० : पृ० ४८२ : संकलित पद : सं० १०।
५. श्रीकल्याणपुजारीजी : वही : संकलित पद : पृ० ४८७।

काव्यशास्त्रीय स्थिति—यहाँ प्रश्न उठ सकता है—राधावल्लभीय इस मधुर-परिकल्पना की काव्यशास्त्रीय स्थिति क्या है ? सम्प्रदाय की दृष्टि में तो यह रस विगलित-वेद्यान्तर, अखंड, स्व-पर-भेद-शून्य, आत्म-क्रीड एवं आत्म-रति है। यह एक उपास्य की मधुर-तम एवं चरम उपलब्धि है। लौकिक रस एवं काव्यरस इसके समकक्षी कदापि नहीं हो सकते। किन्तु यह दृष्टिकोण केवल उन्हीं साधकों के लिए स्वीकार किया जा सकता है जो सम्प्रदाय की पूरी भावनिष्ठा के अनुसार इस रस-तत्त्व में गोते लगा सकें। काव्य-सहृदय के लिए वैसी ही स्थिति सहज नहीं है।

काव्य-दृष्टि से इस रस का स्थायी भाव सहचरी-रति है। इस रति का रूप (Complex) विचित्र एवं मिश्रित है। काव्यशास्त्र जिन भावों को स्थायी भाव कहता है उनको मनोविज्ञान की सहायता से समझा जा सकता है। उस भाव-भूमि का प्रकृत सम्बन्ध लोकानुभूति से होता है। किन्तु सहचरी रति को जिस रूप में स्वीकार किया गया है, उस रूप में वह लोक के लिए एक बौद्धिक चेतना है। उसकी सहजानुभूति उसे कभी नहीं हुई है, यदि हुई है तो केवल उस प्रमुख रूप की जिसे कि इस सहचरी-रति के विभाव-रूप में चित्रित किया गया है। और वह है रति की अनुभूति। अतः काव्य-शास्त्र में इस भाव का वाचक कोई शब्द नहीं है। इसे 'सहचरी-रति' ही नाम दिया जाना उपयुक्त है।

जब काव्य में वर्णित प्रधान भाव पाठक के लिए अनुयोगी नहीं होता तब वह तदात्म भी नहीं होता और उसकी विभाव-सामग्री को कवि के अभीष्ट रूप में साधारणीकृत रूप में भी ग्रहण नहीं करता। तब वह विभाव सामग्री कवि के अभीष्ट रूप में नहीं, उसके सामान्य संस्कारों के अनुरूप उस पर भावात्मक प्रतिक्रिया डालती है, और वह पाठक या सामाजिक जिस स्तर के संस्कारों का व्यक्ति होता है, उसी प्रकार का प्रभाव छोड़ती है। इस सिद्धान्त के अनुरूप साम्प्रदायिक भाव-निष्ठा को अप्राप्त पाठक इस काव्य में शृंगारी प्रतिक्रिया ही पाता है, जन-सामान्य अनेक स्थलों पर विकृत प्रतिक्रिया। सम्प्रदाय के विद्वान् इसे पहले से ही जानते हैं, और इसीलिए पहले बिना सिद्धान्त निष्ठा दिये इस काव्य को ऐसे पाठकों से बचाना चाहते हैं।

काव्यशास्त्र की दृष्टि में उक्त सहचरी रति का विभाव पक्ष राधा-कृष्ण-निष्ठ शृंगार से खड़ा होता है। वृन्दावन जिसमें उद्दीपन के रूप में है। जब सहचरी रति भी पद्य-स्थल में साक्षात् रूप से प्रस्तुत नहीं होती तब तो उसके सामने राधा या कृष्ण ही सामान्य काव्य के नायिका-नायक के समान होते हैं और उन स्थलों की सामग्री की वही काव्य-शास्त्रीय स्थिति होती है जो सामान्य शृंगारी काव्य में होती है। नैतिक पाठक के लिए उन्मुक्त चित्रों में औचित्य का ह्रास भी यत्र-तत्र सामने आ जाता है।[1]

राधावल्लभीय मधुर परिकल्पना और अन्य सम्प्रदाय

राधावल्लभीय मधुर-परिकल्पना की जिन विशेषताओं को विशेष रूप से इसी सम्प्रदाय का समझा जाता है वे भी समकालीन अन्य-सम्प्रदायी कवियों में भी हमें उपलब्ध होती हैं।

---

१. गौर श्याम सहचरि विपिन सम्पति नित्य विहार।
चारनि के उर में लसत हित गुरु परम उदार।
उछरि लड़ावत तासु कौं, बूड़ि जात तिहि मांहिं।
विगलित वेद्यान्तर जु रस सो अखंड विलसाहिं।
ऊर्ध्वगति है, आत्मक्रीड है, आत्मरति है।" उद्धृत : डा० स्नातक : सुधर्मबोधिनी, लाड़िलीदास : पृ० २१।

सहचरी-भाव से निकुंजरस का गान वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में भी कुछ मिल जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय के कवियों की तो यह प्रमुख चेतना ही है। जैसा शुद्ध नित्यविहार राधावल्लभी सम्प्रदाय की भाव-साधना में है वैसा ही हरिदासी भाव-साधना का भी लक्ष्य रहा है। इस साम्य को दो प्रकार से व्याख्यात किया जा सकता है—एक तो उन सब पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव मानकर, दूसरे उस युग की भक्ति-साधना का इन बातों को एक प्रचलित रूप मानकर। हम दूसरी बात मानते हैं। सम्प्रदाय के लोग पहली। अन्तर केवल यह रहा है कि किसी सम्प्रदाय ने इस भाव-साधना को प्रमुख रूप से अपनाया है, किसी ने गौण रूप से। अपने-अपने सम्प्रदाय की विशिष्ट धारणाओं के अनुरूप सहचरी भाव की भाव-साधना के रूप में भी अन्तर रहा है।

राधावल्लभीय सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना में तीन ऐसी बातें हैं जो इसकी अपनी विशेषताएँ समझी जाती हैं, जो इसी की अपनी मानी जाती हैं। वे हैं—राधा का कृष्ण से भी अधिक महत्त्व, राधा-कृष्ण प्रेम को संयोगात्मक मानते हुए भी समकालिक रूप से विरहात्मक मानना, तथा सहचरियों को राधा-कृष्ण तत्त्व से किसी प्रकार अभिन्न तत्त्व मानना। हरिदासी सम्प्रदाय में भी ये बातें प्रमुख चेतना के ही रूप में मिलती हैं, हम देख चुके हैं। ध्रुवदासजी ने जैसे सहचरियों को युगल की इच्छाशक्ति रूप माना है उसी प्रकार निम्बार्क-सम्प्रदायी श्रीहरिव्यासदेवजी ने महावाणी में सहचरियों को इच्छाशक्ति बताया है।[1] राधा के महत्त्व को मुक्त कंठ से गाया है। हरिदास-सम्प्रदायी श्रीविट्ठलविपुल-देवजी का यह पद इस दृष्टि से देखने योग्य है :

"हमारे भाई स्यामजू कौ राज।
जाके अधीन सदाहि सांवरौ या ब्रज कौ सिरताज।"[2]

शान्त भक्तिरस

सम्प्रदाय की प्रमुख चेतना नित्यविहार-रस की होते हुए भी कतिपय कवियों की वाणी में शान्त रस की भी परिकल्पना मिलती है। श्रीहरिव्यासजी, श्री चतुर्भुजदासजी, श्रीकल्याणपुरी तथा श्रीध्रुवदासजी की कतिपय वाणियों में शान्त रस मिलता है।

व्यासजी यद्यपि प्रमुखतः संयोग के कवि हैं, तथापि उनकी साखियों में तथा अनेक पदों में ज्ञान, विवेक एवं निर्वेद के द्वारा भगवद्रति की ओर झुकाव व्यक्त किया गया है। अनेक वाणियों में स्वतन्त्र शान्तरस की भी कल्पना मिलती है।

मात्रा की दृष्टि से व्यासजी की शान्तरसमयी अनेक वाणियाँ हैं और सम्प्रदाय के अन्य कवियों की तुलना में सर्वाधिक हैं। अभिव्यक्ति और अनुभूति की दृष्टि से भी व्यासजी के शान्तरस में बड़ी सबलता है। उनकी वाणियों में से शान्त-वृत्ति के अनेक प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, कहीं स्वतन्त्र शान्त के, तो कहीं मन की शान्त-वृत्ति

---

१. प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्दसरूप।
तनु वृन्दावन जगमगे इच्छा सखी अनूप।
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिए इच्छाशक्ति।
प्राणेशसिंह प्रमुदावहिं प्रमदावली अनुरक्ति।" महावाणी : सिद्धान्तसुख।

२. श्रीविट्ठलविपुलदेवजी : निम्बार्कमाधुरी : पृ० २३० : पद २६।

को किसी विशेष दिशा की ओर उन्मुख करते हुए जैसे कभी भगवान् के सौन्दर्य की ओर, कभी गुरु-चरणों की ओर, कभी सन्त-समागम की ओर, कभी वृन्दावन की ओर। इन सभी दिशाओं में रति का कोई न कोई रूप मिलता है जो अनिवार्यतः कान्तारति नहीं है। इन रतिरूपों के गुणीभूत होकर भी शान्त की झलक बड़ी मनोहर है। व्यासजी की वाणियों से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :

"भक्ति बिनु मानुष तन खोवै क्यों सोवै, उठि जागु रे।
विषयाग्नि पर भागि उबरियै साधुनि सौं कीजै अनुराग रे।
देह गेह दारा सुख संपत्ति ज्यौं कोकिल सुत कागु रे।
लाज बड़ाई, गुन चतुराई जैसो फोकट फागु रे।
माया मोह जियत नहिं छूटै, जैसो दुमुँहां नागु रे।
लोक बड़ाई कौ सुख झूठौ बाजीगर कैसो बागु-रे।"[1]

"हरि बिनु सब सोभा सोभा-सी।
अंजन-मंजन पति बिनु सीठौ ज्यां मटकै मसवासी।"[2]

"जरतु जग अपनैं ही अभिमान।
लोभ लहरि तैं भागि उबरियै रहियै हरि की आनि।
एकनि विद्या धन कुल कौ मद, एक गुनी गुन खान।
एक रहत जोबन मद माते एक जती तप दान।"[3]

"सबै सुख विमुखन कौ दुखरूप।
जहां न रसिक अनन्य सेईयतु वृन्दावन के भूप।
जहां न जीव दया न दीनता, भाव-भक्ति न अनूप।"[4]

"भगति बिन अगति जाहुगे बीर।
बेगि चितै हरि चरन सरन रहि छांड़ि विषै की भीर।
कामिनि कनक देखि जन भूलहु मन में धरयतु धीर।
साधुन की सेवा करि लीजै जौ लगि जियत सरीर।"[5]

"मनहिं नचावै विषय वासना क्यों हिरदै हरि आवै।
हौं असमर्थ अनाथ मारयतु, पांचनि को समुझावै?"[6]

"व्यास कनक और कामिनी ये लांबी तरवारि।
निकसे हे हरि भजन कौं बीचहिं लीने मारि।"[7]

"व्यास विभौ के मीत सब अन्तकाल कोउ नाहिं।"
ताते तुम हरि कौं भजो यम न गहेंगे बांह।"[8]

---

१. श्रीव्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद २१२, पृ० १११।
२. वही, पद १८६, पृ० ९७।
३. वही, पद १९३, पृ० १०१।
४. वही, पद १९५, पृ० १०२।
५. वही, पूर्वार्द्ध, पद १५८, पृ० ८५।
६. वही, पद १९७, पृ० १०३।
७. वही, साखी २१, पृ० १५३।
८. वही, साखी २२, पृ० १५३।

कहीं-कहीं जुगुप्सा-व्यंजक चित्रों द्वारा निर्वेद में तीव्रता लायी गयी है :

"जूठनि जे न भक्त की खात ।
जिनके मुख सूकर कूकर के भक्षि अभक्षि पोषत गात ।
जिनके वदन सदन नर्कनि के जे हरि-जननि घिनात ।
काम विवस कामिनि के पीवत अधरन लार चुचात ।
भोजन पर मांखी मूतति ताहू रुचि सौं खात ।
भक्तनि कौ चरनोदक अंचवत अभिमानी जरि जात ।
स्वपच भक्त कौ भोग ग्रहत हरि बांभन ताहि डरात ।
बाजदार की पाँति ब्याह में जैंवत विप्र बरात ।
भेंटति सुतनि रेंट मुख लागत सुख पावत जड़ तात ।
अपरस ह्वै भक्तनि छ्वै छुतिहा तेल सचैल नहात ।"[1]

प्रस्तुत पद में जगत् के आकर्षण-केन्द्रों के प्रति जुगुप्सा ही नहीं उभारी गयी है, भक्तों एवं भक्ति के प्रति आकर्षण भी जगाया गया है । साथ ही कवि का उन व्यक्तियों के प्रति क्षोभ भी व्यंजित हुआ है जो भक्तों के प्रति श्रद्धा रखने, उनका जूठन खाने आदि में जाति-पांति, शुचिता-पवित्रता आदि की बातें करते हैं । सब मिलाकर व्यासजी की वाणियों में शान्तरस का परिपाक सबल एवं प्रभावोत्पादक है । उसकी अनुभूति में चोट करने की क्षमता है । अधिकांश शान्त-परक उक्तियाँ रति की अंग होकर ही आयी हैं, और उनके शान्त को व्यापक अर्थ में शान्तभक्तिरस का रूप प्रदान करती हैं ।

ध्रुवदासजी की कई रचनाओं में शान्तभक्ति की झलक मिलती है । ध्रुवदासजी का शान्त मोटे तौर पर भगवद्रति का साधन है । प्रेममय भगवान् की ओर अनन्यता से लग जाने के लिए संसार की ओर से मुँह मोड़ना भी अनिवार्य है । जीवदशालीला, वैद्यक ज्ञान, मनशिक्षा, वृन्दावन सत, ख्याल हुलास भजन सत, में शान्त की सुन्दर झलकें मिलती हैं । भजनसत की ये साखियाँ शान्त में डूबी हुई हैं :

"विषया जल में मीन ज्यों करत कलोल अग्यान ।
नहिं जानत ढिग काल बक रह्यौ ताकि धरि ध्यान ।।
निशि वासर कर कतरनी लिये काल कर बाहि ।
कागद सम भई आयु हो, छिन-छिन कतरत ताहि ।"
पुरुष सोई जो पुरीष सम छांड़ि भजै संसार ।
विपिन भजन गहि हृदै दृढ़ तजि कुटुंब परिवार ।।"[2]

ध्रुवदासजी का शान्त सिद्धान्त-निरूपण के प्रसंग में पड़ जाने के कारण उतनी गहरी अनुभूति नहीं दे पाता जितनी कि व्यासजी का शान्त देता है । व्यासजी की शान्त की परिकल्पना में स्वानुभूति का गहरा योग है और यही कारण है कि उनकी अभिव्यक्तियाँ भक्ति को गहरी अनुभूति देती हैं । ध्रुवदासजी सिद्धान्ततः शान्त को मधुर भावना से नीची कोटि का और मधुर उपासना की प्रारम्भिक सीढ़ी के रूप में ही समझते हैं :

---

१. श्रीव्यासवाणी, पूर्वार्द्ध, पद १६५, पृ० ८८ ।

२. भजनसतलीला, व्यालीसलीला, दो० १०५, १०७, ११०, पृ० ७७ ।

"ज्ञान शांत रस ते अधिक अद्भुत पदवी दास।
सखा भाव तिन तें अधिक जिनके प्रीति प्रकास।
अद्भुत बाल चरित्र को जो जसुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस ब्रज वनितनि के हेत।
सर्वोपरि है मधुर रस जुगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवत तिनहिं मिटत न कबहुं हुलास।"[1]

चतुर्भुजदासजी और कल्याणपुरीजी में भी कहीं-कहीं शान्ति की सुन्दर झलक मिलती है।[2] वस्तुतः हमारे आलोच्य काल के राधावल्लभी कवियों में मधुरोपासना ही एक रस-परिकल्पना का रूप रही है। केवल व्यासजी में रस-परिकल्पना के नाते शान्त कहा जा सकता है। व्यासजी ने ही शान्त की अनुभूति में डूबकर कुछ रचना इस रस की, की है। अन्यों द्वारा शान्त एक रस-परिकल्पना के रूप में नहीं, भक्ति-मार्ग की सामान्य चेतना के रूप में आया हुआ प्रतीत होता है।

चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य में रस-परिकल्पना

पीछे 'भक्तिकाव्यशास्त्र में रस' शीर्षक अध्याय में हम चैतन्य सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक रस-परिकल्पना देख चुके हैं। इस सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना आज भी सैद्धान्तिक रूप से उसी रूप में मान्य है जिस रूप में इस सम्प्रदाय के विज्ञ रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी भक्त-आचार्यों ने अपने इन ग्रंथों में निरूपित की है। अतः यहाँ हमें यह आवश्यक नहीं रह जाता कि हम उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर फिर से कुछ कहें। यहाँ इस सम्प्रदाय के हिन्दी काव्य में उस रस-परिकल्पना का व्यावहारिक स्वरूप भर देखना है।

साहित्य—चैतन्य सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य संस्कृत और बंगला में है। हिन्दी का साहित्य मात्रा और महत्त्व की दृष्टि से उस काल के साहित्य में अपना कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखता। इधर अनेक कवियों के नाम इस सम्प्रदाय की छाया में सामने आये हैं, उनकी रचनाएँ भी धीरे-धीरे प्रकाश में आ रही हैं। पर ऐसा कोई विशिष्ट रचनाकार या कोई विशिष्ट ग्रंथ सामने नहीं आया जो हिन्दी वैष्णव साहित्य में चैतन्य सम्प्रदाय की रस-परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा जमा सके।

हमारे आलोच्यकाल में इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रचना करने वाले कुछ उल्लेखनीय

---

१. भजनाष्टकलीला, १-३, व्यालीसलीला, पृ० ६३।

२. "माया कौ फल गृह सुत जाया। सब संसार धूरि सी छाया।
बाजीगर की सी सब चौंधी। तन की गति चपला सी कौंधी।"
"अब ही आनि बिचारिये जू।
पुत्र कलत्र सजन सुपनें सो जागे तैं कछु न निहारियै जू।"
"अजहूं तजि रे घर कूं भरुआ करुपा गहिकें न चलै वन को।
सिर सेत भयौ गयौ खोखरि है समुझावत क्यों नहिं या मन को?"
रा० व० सं० सि० सा०, पृ० ४२३, ४२२, ४८५ क्रमशः, चतुर्भुजदास तथा कल्याणपुनारी से।

कवियों में ये नाम आते हैं—श्रीमाधवनाथ जगन्नाथी, श्रीरामरायजी, श्रीसूरदास मदनमोहन, श्रीगदाधर भट्ट, श्रीचन्द्रगोपाल, श्रीभगवानदास, श्रीराधिकानाथ, श्रीरसिकमोहन, श्रीमाधुरीजी, श्रीकृष्णदास, श्रीभगवतमुदित। इनमें से श्रीमाधवनाथ जगन्नाथी और रामरायजी के सम्बन्ध में वल्लभ सम्प्रदाय का नाम भी लिया जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय तथा मध्व सम्प्रदाय के कवि भी अलग-अलग नहीं किये जा सकते। समान नाम के कवि दूसरे सम्प्रदायों के अन्तर्गत भी हुए हैं, और एक-दूसरे के पद भी मिले हुए चले आ रहे हैं। इस प्रकार जो भी थोड़ा-सा साहित्य आज इस सम्प्रदाय के कहे जाने वाले कवियों का मिलता है, वह शोध और अपेक्षित प्रमाणों की प्रतीक्षा में है।

रस-परिकल्पना—जहाँ तक इस काव्य में रस-परिकल्पना का सम्बन्ध है, इसमें कोई ऐसा रूढ़ साम्प्रदायिक भाव-चित्रण प्रायः नहीं मिलता जिसके आधार पर इसे शुद्ध चैतन्य सम्प्रदायी कहा जा सके। केवल एक बात अवश्य है। अन्य सम्प्रदायों के समान इस सम्प्रदाय के भी कुछ कवियों ने अपने सम्प्रदाय-गुरु श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति भाव-सुमन प्रस्तुत किये हैं। यों तो अन्य सम्प्रदाय के लोग भी अपने सम्प्रदाय-गुरुओं को भगवद्रूप मानकर उनके गीत गाते हैं, किन्तु महाप्रभु गौरांग को तो उनके जीवन काल में ही भावुक जनता के बीच अवतार के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था। महाप्रभु-गौरांग-विषयक रति सम्बन्धी पदों को छोड़कर उपर्युक्त कवियों की वाणियों में ऐसी विशेष कोई बात नहीं मिलती जिससे इस काव्य की रस-परिकल्पना को अलग से छाँटकर चैतन्य-सम्प्रदायी कहा जा सके।

इस काव्य में सामान्यतः सिद्धान्त-निरूपण कम हुआ है। सिद्धान्त-निरूपण का कार्य संस्कृत और बंगला में रहा, हिन्दी में इस काम को बहुत कम ही लोगों ने उठाया। गौरांग विषयक रति[1] एवं भक्तिमहत्त्व[2] के विषय में कतिपय वाणियाँ मिलती हैं। शेष काव्य कृष्ण लीला का है। रस दृष्टि से उसे शान्त रति, वात्सल्य और मधुर का

---

१. "श्रीचैतन्य दयानिधि धीर।
कलिकालीन मलीन दीन जन, पावन करन परम गंभीर।"
आनन्दघन, चैतन्यमत और व्रजसाहित्य, पृ० १४०।

"करहु हे गौर-चंद स्नान।
सीतल जल निर्मल सों सुन्दर, सर्वस कृपानिधान।" चन्द्रगोपालकृत अष्टयाम, वही, पृ० १६५।

"श्रीगौरांग प्रान आधार।
षोडस कला पूर्न पुरुषोत्तम, प्रगट भये नदिया रस-धार।" राधिकानाथ, वही, पृ० १७६।

"श्रीकृष्ण चैतन्य जै जै बिहारी।
नागरी रूप-गुनागरी विधि सबै, भाग री भक्ति कौ दयाकारी।"
भगवतमुदित, वृन्दावनशतक, वही, पृ० २१०।

२. "भज मन नंदनंदन चरन।
विनय पंजर पोत पद भवसिन्धु तारन-तरन।
जिन भजे तैं अटल टरे मिटे जीवन-मरन।
श्रीजगन्नाथ अनाथ बंधु विश्व-पोषन-भरन।
'दास माधव' हरि-भजन तें सोध अन्तःकरन।" श्रीमाधव जगन्नाथी, वही, पृ० १३८।

कहा जा सकता है। इसमें प्रधानता मधुर की ही है। धाम रति के रूप में भी कुछ रचना है।[1]

शान्त भक्तिरस

मात्रा में शान्ता रति की परिकल्पना कम ही है। चैतन्य सम्प्रदाय भी मूलतः रसोपासक सम्प्रदाय है, अतः इसकी रसपरिकल्पना में भी शान्त के लिए अवकाश कम ही रहा है। फिर भी यत्र-तत्र उसकी झलक मिलती है। यह शान्त स्वतन्त्र नहीं, कभी साधारणी कृष्णरति का अंग है, कभी मधुरा रति का। इस प्रकार के पदों में ही शान्त कुछ स्वतन्त्र कहा जा सकता है :

"भोग के भोग में रोग करैं, सब जोग डरें बिन बात बुलाये।
सोक कौ सोक गयौ सो भयौ पुनि आयौ न हर्ष-मुखाम्बुज पाये।
राजा के राजा भये बिन ताज समाज के मुख्य भये सुख छाये।
एक प्रताप है त्याग कौ तीरथ कौन नहीं जाकों जो ललचाये॥[2]

विष्णुदासजी का यह पद्य शान्त को युगलरति के अंगरूप में प्रस्तुत करता है :

"काम तजो, धन-धाम तजो, गृह-गाम तजो, मनि-दीप अटारी।
लाज तजो, कुल-काज तजो, वनराज के साज-समाज सुखारी।
धाम तजो, सुत-माय तजो, निज भाय तजो जो रजोगुन धारी।
'विष्णु' सबै तजियै, भजियै गुरु राधिका-माधव प्रीतम-प्यारी॥[3]

---

१. "पांच तत्त्व त्रिभुवन विसैं जो तू जान्यौ चाह।
तौ निस्चै राधा प्रिया बन गयौ साहंसाह॥
प्रथम तत्त्व श्री वृन्दावन धाम।
दूजें श्रीगोवर्द्धन गिरिवर सोभा हिय लोभा अभिराम।
तीजौ तत्त्व दीनजन-जीवन श्रीजमनाजी ललित ललाम।
चौथौ श्रीराधा माधवजू, पावत जहां जीव विश्राम।
पंचम श्रीजयदेव महाप्रभु, गीतगोविन्द गान निष्काम।
श्रीराधाप्रिया पांच के जानें है गयौ साहंसाह सुनाम।" राधिकानाथ, महावाणी, वही, पृ० १७७।
"मेरौ एक श्रीवृन्दावन विपिन सहारौ।" पद २।
"श्रीजमनाजी मेरे व्रत एक।" पद ६।
"श्रीगोवर्द्धन सब गुन खान।" पद १०, वही, पृ० १७६-७८।
"श्रीराधाकुंड की बलि जैयै।" पद ११।
"तीरथ तरि जात सब पूर्वज विना ही तप,
बंस में तै एक हू जो पावै व्रजवास है।" तीर्थराम, वही, व्रजवास, पृ० १८७।
"वृन्दावन की बात कछु कहत बनैं नहिं बैन।
नैन समाने विपिन में विपिन समाने नैन।" माधुरी, वृन्दावनमाधुरी, वही, पृ० २०२।

२. तीर्थराम : चैतन्यमत और व्रज साहित्य : पृ० १८६।

३. विष्णुदास : वही, पृ० १७३।

रसिक भक्तों की दृष्टि में शान्ता रति का स्थान भक्ति-मार्ग में सबसे छोटा होता है। यही दृष्टि सामान्यतः चैतन्य सम्प्रदायी हिन्दी कवियों की भी सम्भवतः रही है।

वात्सल्य रस

चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी कवि निकुंज-लीला तक ही परिसीमित न रहकर व्रजलीला का गान भी करते हैं, अतः कुछ कवियों ने किशोरलीला के अतिरिक्त बाल-लीला के भी कुछ पद्य लिखे हैं। इनमें कृष्ण-राधा की बधाई, बाल-क्रीडा एवं यशोदा की मातृ-कामनाएँ प्रमुख हैं। इस दृष्टि से सूरदास मदनमोहनजी का नाम उल्लेखनीय है। उनकी वाणी विषय एवं भाव के अनुरूप शब्द-चयन में भी कुशल है :

"झनक-मनक तनक से छंगना।
नैन्हीं-नैन्हीं सोहैं दूध की दतियां।
किलकि किलकि लागै छतियाँ,
रज झारत रिझिपगना।
गोद लिये दुलरावै, खिलावै, कंठ सोहै सुभ बघना।
श्रीसूरदास मदनमोहन संग लागी-लागी डोलै।
लाल घुटुरुवन चलत री अंगना।"[1]

"जसोदा मैया लाल कौं झुलावै।
आछे बारे कान्ह कौं हुलरावै।
कनियां-कनियां अइयां-अइयां यौं कहि लाड़ लड़ावै।
उंलुलुलु हुलुलुलु, हां-हां-हां-हां कहि गोद लिये खिलावै।
दोउ कर पकर जसोदा रानी ठुमकी पांव धरावै।
घननन घननन घुंघरू बाजैं, झाँझरिया झमकावै।
'सूरदास मदनमोहन' कों याही भांति रिझावै।
मं मं मं मं पप् पप् पप् पप् चच् चच् चच् चच् ता ता थेई,
या विधि लाड़ लड़ावै।"[2]

चैतन्य-सम्प्रदायी कवियों में वात्सल्य-परिकल्पना जैसी सूरदास मदनमोहन में मिलती है वैसी सम्प्रदाय के अन्य कवियों में नहीं मिलती। पर उनके भी इस भाव के पद इने-गिने ही हैं।

दास्य भक्ति

महत्त्व-चेतनापूर्वक दास्यरति भी इस काव्य में सामान्यतः नहीं मिलती। हाँ, धामरति, गौरांग-रति और गुरु-रति के अंग-रूप में दास्य-चेतना के अवश्य कहीं-कहीं दर्शन होते हैं। उनमें भक्त अवश्य अपने लघुत्व या आराध्य के महत्त्व की चेतना लेकर चलता दिखायी पड़ता है। कुछ उदाहरण इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं :

---

१. श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी : पृ० ६, पद १२।
२. सूरदास मदनमोहनजी की वाणी : पद १४।

(क) "रसिक आद्य आचार्य वर महाप्रभु श्रीजयदेव।
प्रगट कियौ निज वंस जहाँ श्रीराधा-माधव सेव॥
श्रीराधा-माधव सेव देव-देवन नें माँगी।
सहज मिली सो आय पाय सेवक अनुरागी।
श्रीप्रभु चन्द्रगोपाल गुरु करुना करि दीनी चसिक।
श्रीवृन्दावन धाम बसि पाये ऐसे गुरु रसिक।"[1]

(ख) "श्री प्रभुचंद्रगोपाल लाल पद मेटत बाधा।
'रसिक मोहन' के सेव्य प्रान माधव श्री राधा।"[2]

(ग) "अधम पति-सिरमौर विषय-लंपट खल अतिहि जुआरी।
परनिन्दा परदोष खुनस जिद रहत है नित्य खुमारी।
श्रीभगवत इहि विधि सब दोषन भर्‌यौ वृन्दावन बसि धन हरत।
देखि अति प्रभाव वृन्दाविपिन सु मत्त-प्रेम ताहू करत।"[3]

सख्य भक्तिरस

प्राप्त साहित्य में सख्य भक्ति की परिकल्पना भी नहीं मिलती। सख्य सामान्यतः सहचरी भाव के अंग रूप में ही उपलब्ध होता है।

मधुर भक्तिरस

हम कह चुके हैं कि इस काव्य की प्रमुख रस-परिकल्पना शृंगार की है। इसमें किशोर राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के ही चित्र प्रमुख हैं। इनमें ब्रज-सम्बन्धी दान-लीला, रास, होली आदि के भी चित्र हैं, और निकुंज-गत शुद्ध नित्य-विहार के भी। यों संयोग और वियोग दोनों का वर्णन हुआ है किन्तु प्रधानता संयोग की ही है।

हमने पीछे संकेत किया है कि यदि इस काव्य के कवियों द्वारा श्रीचैतन्य की स्तुतियों वाली बात सामने से हटा दी जाय तो इनके मधुर-चित्रण में ऐसी कोई विशेष बात सामान्यतः नहीं मिलती जिसके आधार पर इस काव्य को एकान्ततः चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध किया जा सके।

मधुर-भावना के सम्बन्ध में चैतन्य-सम्प्रदायी रस-परिकल्पना की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—एक तो राधा की परकीयता, दूसरे वियोग का महत्त्व। प्रगट लीला की राधा ही क्यों, समूचा गोपी-प्रेम चैतन्य सम्प्रदाय की दृष्टि में परकीया-प्रेम है। रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी ने बड़े ऊहापोह के साथ प्रेम की घनता एवं आवेश के हेतु परकीयात्व का समर्थन किया है, यह हम 'भक्तिकाव्यशास्त्र में रस' नामक अध्याय में देख चुके हैं। जहां तक विरह का सम्बन्ध है, दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो इन गोस्वामी आचार्यों ने विरह को सैद्धान्तिक महत्त्व प्रदान किया है, दूसरे हम जानते हैं कि श्री चैतन्य महाप्रभु

---

१. चैतन्यमत और ब्रजसाहि० : रसिकमोहनराय : पृ० १८८, पद १।

२. वही, पद २ : रसिकमोहनराय।

३. भगवतमुदित : वही, पृ० २११, पद ३५।

अपनी कीर्तन-मंडलियों में कितने विरह-मग्न होकर प्रेम-गान करते-करते रो निकलते थे, मूर्छित हो जाते थे। उनकी इस विरहानुभूति ने चैतन्य सम्प्रदायी भक्ति में विरह को व्यावहारिक महत्त्व प्रदान कर दिया था। प्रस्तुत काव्य में ये दोनों विशेषताएँ उस मात्रा में नहीं झलक पातीं जिस रूप में एक सम्प्रदाय-विशेष का काव्य कहलाने के लिए झलकनी चाहिए थीं।

परकीयात्व—इन कवियों की वाणियों में परकीयात्व उसी सामान्य मात्रा में उभर-कर आया है जिस सामान्य मात्रा में सूर आदि वल्लभ सम्प्रदायी कवियों में उभर आता है। वल्लभादि सम्प्रदायों में राधा को स्वकीया माना गया है, तथा परकीया प्रेम को अवांछित ठहराया गया है। फिर भी, श्रीमद्भागवत के रासादि प्रसंगों को महत्त्व देकर सामने रखने के कारण गोपी-प्रेम में परकीयात्व ही झलक उठता है। राधा के परकीयात्व को सिद्धान्ततः बचाने के लिए उन्होंने प्रायः रासादि के प्रसंगों में राधा-कृष्ण के विवाह की योजना की है, और यत्र-तत्र उनके दाम्पत्य का उल्लेख किया है। इन चैतन्य-सम्प्रदायी कवियों की वाणियों में भी वैसी ही स्थिति हमें मिलती है। राधा-कृष्ण के या गोपी-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में जहां परकीयात्व झलका है, उसे बचाया नहीं गया, पर सप्रयास उसे लाया भी नहीं गया। इसके विपरीत कई कवि तो राधा के विवाह और दाम्पत्य की भी योजना-चर्चा करते हुए चलते हैं :

सूरदास मदनमोहन—

"दूलह मदन गोपाल, राधा नव दुलही।"[1]
"श्रीसूरदास मदनमोहन **दंपति** बतरात जात कामरस भोरैं।"[2]
"देवी पूत-नंद **पति** मेरैं। जो पै होई अनुग्रह तेरैं।"[3]

निम्न पद में उन्होंने एक प्रकृति-रूपक में राधा-कृष्ण का विवाह रचाया है :

"मधुरितु जो इच्छा वर कियौ स्याम कौं,
ताकौं देखन कौं पठई प्रथम चतुर पिक अली।
रीझे मदन मोहन संग सोहन नवल जाइ कह्यौ।
जैसौ देख्यौ नैनन तैसी बाढ़ी अबला बल्ली लली।
सु नक्षत्र पंडित लगन धरी श्रीपंचमी सगाई आई,
मोर-वधू रूपवारी, वन उपवन द्रुम।
नव पल्लव वस्त्र पहिरि चली।
आगौनी कारन भंवर गुंजार नाद सुनि।
पुहुप वाटिका सखी प्रफुलित आनन कमल कली,
उठि चलि वेगि मिलि श्रीसूरदास मदनमोहन,
सीतल मंद सुगंध पवन चली।"[4]

---

१. श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद २५।
२. वही, पद ९९।
३. वही, पद १०१।
४. वही, पद ७७।

श्रीमाधुरीजी—

"माधुरी लता में अति मधुर विलासन की,
मधुकर आनि लपटानी सब सखियां।
दुलहिन दूलहू के फूल के विलास कछू,
बास लै लै जीवति हैं जैसैं मधु मखियां।"[१]

इस सम्प्रदाय में गिने जाने वाले एकाधिक कवियों का सम्बन्ध अन्य सम्प्रदाय भी अपने से जोड़ते हैं। सूरदास मदनमोहन के पद अन्य कई सम्प्रदायों की कीर्तन-पोथियों में पहले से संकलित हैं, और आज भी उनके मंदिरों में गाये जाते हैं।[२] श्रीरामरायजी को वल्लभ सम्प्रदाय वाले दो सौ वैष्णवन की वार्ता के उल्लेख के आधार पर अपना कहते हैं।[3] अन्य कई कवियों के विषय में भी ऐसी ही स्थिति है। श्री भगवत मुदित जी तो कई-कई सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं :

"श्रीकृष्ण चैतन्य जै जै बिहारी।"[४]
"जै जै श्री हरिवंश हंस हित-कोविद बानी।"[५]
"श्री सत्य सनातन रूप जै नाना आरति मन हरन।
जै श्री हरिदास अनन्य जै, श्री कुंजबिहारी हित करन।"[६]

ये सब बातें बताती हैं कि इनमें से अधिकांश कवि कट्टर साम्प्रदायिक लोग नहीं थे और व्रज के वातावरण में, वृन्दावन की भूमि में, उस काल में घुली मधुर-भावना के सामान्यतया प्रचलित रूप से ही प्रभावित थे। वे भक्ति के इस मधुर रूप की मधुरता में अपने को बहाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, सम्प्रदाय की रूढ़ियों और अतिवाद की ओर उनका ध्यान नहीं था। इसका सम्भवतः यह भी कारण हो सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय की गद्दियों की प्रभुता सामान्यतः इन लोगों के हाथ में नहीं रही, और अन्य सम्प्रदायों के गद्दी-आचार्य के समान वे साम्प्रदायिक अतिवाद के लिए रस-परिकल्पना के क्षेत्र में बाधित नहीं हुए।

संयोग भावना

इन चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी कवियों की रचनाओं में विरह की अपेक्षा संयोग मुखर रहा है। अधिकांश में निकुंज-रस का गान है। मोटे तौर पर वे ही निकुंज, वे ही नित्य मिलित राधा और कृष्ण, वे ही सेवा और सख्य-मयी सहचरियां; राधा और कृष्ण का वैसा ही नित्य नूतन अजस्रप्रवाही सौन्दर्य एवं काम-विलास, वैसा ही सहचरियों का तत्सुखसुखित्व-पूर्ण सेवा-परायण दर्शन-सौख्य, जैसा कि हम निम्बार्की, हरिदासी और राधा-वल्लभी काव्य में देख चुके हैं। हां, यहां परकीयात्व की स्वीकृति के कारण खंडिताओं के

---

१. माधुरी : चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० २०३, पद दानमाधुरी से।
२. चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० १५२।
३. वही, पृ० १४१।
४. वही, भगवत मुदित, पृ० २१०, पद १।
५. वही, पद ३।
६. वही, पद ३।

चित्र कुछ अधिक उभरे हुए हैं, कृष्ण की मधुकरी वृत्ति का सौन्दर्य कुछ विशेष है। वैसे यह झलक वल्लभी काव्य में भी कम नहीं है।

यों उन्मुक्त श्रृंगार के भी कुछ चित्र हैं, पर यह उल्लेखनीय है कि अन्य सम्प्रदायों के निकुंज-रस की तुलना में इन कवियों के चित्र अधिक संयत हैं। सूरदास मदनमोहन के चित्रों में संभोग कुछ उभरा हुआ है :

"चलौ किन देखत कुंज कुटी।
सुरत सेज पै लरति अंगना मुक्ता माल टुटी।
उरज ते कंचुकि चुरकुट भई, कटि-तट ग्रंथि हटी।"[1]

सामान्यतः कवियों ने नित्य विहार को अप्रस्तुतों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उस समय की भक्ति-भावना ने किसी भी उन्मुक्त चित्र पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगायी थी, और इन कवियों पर भी रोक न थी। सूरदास मदन मोहन, रामराय और चन्द्रगोपालजी के सुरतान्त चित्र अत्यन्त मनोहर हैं। रामरायजी का एक सुरतान्त चित्र प्रस्तुत है :

"आजु किसोरी लेत हिलोर।
नैक समात न हिये रसिकिनी मिली जु नवल किसोर।
सिर सीमंत कुसुम लट अटपट, विकिरत चारों ओर।
अरुन नैन आलस बस विथकित, पीक कपोल अथोर।
सुरति रंग में रंगी रंगीली, लूटे निज चितचोर।
डगमगात पग धरत गहि लई रामराय पट छोर।"[2]

सुरतान्त-चित्रण में सूरदासजी ने नवीन कल्पनाओं की भी योजना की है। "राधा के नयन मिलन के उपरान्त झुक गये हैं—लगता है, भीगे हुए मधुकर हैं, जिन पर उड़ा नहीं जाता।"[3] "कृष्ण के नेत्र एक सखी के शब्दों में इसलिए ऊपर नहीं उठते कि या तो उन्होंने किसी अन्य के न देखने का ही व्रत लिया हुआ है या फिर पलकों में प्यारी को बसा लिया है, और उसके भार से ऊपर को उठते ही नहीं।"[4] अभी-अभी कुछ पहले जो कृष्ण व्याकुल हो रहे थे, मिलनोपरान्त उनकी व्याकुलता इस प्रकार शान्त हो गयी है जैसे काँसे के बर्तन की चोट से निकलती हुई ठनक हाथ से छू देने से एक दम शान्त हो जाती है।"[5]

श्रीमाधुरीजी का सहचरीभाव से यह रन्ध्र-दर्शन है :

"नव केसरि के कुंज अनूपा। नव किसोर दोउ सुखद सरूपा।
रजनी सेष रह्यौ जब आई। तब सजनी बैठी अकुलाई।
अपनी सौंज सबै कर लीये। झांकत नैन झरोखे दीये।"[6]

---

१. श्री सूर० मदन० की वाणी, पद ३८।

२. चैतन्य मत और व्र० सा० : पृ० १४६, रामरायजी।

३, ४, ५. श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद सं० क्रमशः ४०, ४४, ५४।

६. श्रीमाधुरीजी : केलिमाधुरी : चैतन्य मत और व्रज साहित्य : पृ० २०२।

श्री राधिकानाथजी का तो व्रत ही नित्यविहार-गान है :

"एक नियम व्रत एक है, एक मेरे आधार।
श्रीजमना जल पीवनौ, निरखन नित्यविहार ॥"[1]

श्रीहितहरिवंशजी से प्रभावित श्रीभगवत मुदितजी महारानी राधा के गुण-गायक हैं :

"मेरी प्यारी राधा महारानी।
जाके बल मैं सब सों तोरी लोकलाज कुल-कानी।
प्रान-जीवन-धन लाला विहारन, वार पिऊं तित पानी।
भगवत मुदितन कौं मनमोहन टहल भई मनमानी।"[2]

वियोग—विरह का चित्रण सामान्यतः कम है। यों श्रीचन्द्रगोपालजी की 'राधाविरह' और श्रीमाधुरीजी की 'उत्कण्ठा-माधुरी' तथा 'मान-माधुरी' को विरह-रचना कहा जा सकता है। कतिपय स्फुट पद भी विरह से सम्बद्ध हैं। उत्कण्ठा एवं हृदय की वेदना व्यक्त करने वाले विरह की अपेक्षा मान और खण्डितात्व के चित्र प्रधान हैं। माधुरीजी की उत्कण्ठा-माधुरी में अवश्य विवृत वेदना की झलक मिलती है :

"रोम-रोम तन जो उठै, बरि-बरि उठै सरीर।
कब छिरकौगे आनि कै कृपा-कटाच्छनि नीर ॥"
"एक बार तौ आय कै नैनन ही मिलि जाउ।
सौंह तुम्हें जो सांवरे नैक न दरस दिखाउ।"
"नैन दुखी तुव दरस बिन देत छिनहिं छिन रोय।
नैनन के दुख हरन कौं तुम बिन नाहिन कोय ॥"[3]

श्रीमाधुरीजी ने 'मान-माधुरी' में मान का सैद्धान्तिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। संयोग-रस की गहरी अनुभूति के लिए मान अपेक्षित है :

"बिन सनेह नहीं मान, मान बिना न सनेह कछु।
जैसे रस-मिष्ठान्न नोंन सहित रोचक अधिक ॥
जैसौ जहां सनेह, मान तहां तैसौ बनै।
ज्यौं बरसै नित मेह सोख न सूर प्रकास बिन ॥
मिस्री मान समान, छूवत कर लागत कठिन।
जब कीजै रस-पान, तब जानै रसना सरस ॥"[4]

चन्द्रगोपालजी के अरिल्ल छंदों में लिखे 'राधाविरह' में विरह-वेदना को विस्तार नहीं मिल पाया। मदनमोहन 'सूरदास' के मान में सखियों द्वारा मान-मनौती, एवं हार कर स्वयं कृष्ण को ही मनाने के लिए ले जाना अधिक वर्णित है। उनके विरह-चित्रों में कहीं-कहीं परवर्ती रीतिकाल के स्वर गर्भित हैं :

"ससकि-ससकि रही मोरनि की कूक सुनि,
अजहूँ न आये पिया मुरझानी मन में।

---

१. राधिकानाथ, वही, पृ० १७७।
२. भगवदमुदित, स्फुट पद १, वही, पृ० २१२।
३. उत्कंठामाधुरी : श्रीमाधुरीजी, वही, पृ० १९९।
४. चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृ० २०४।

चहुँ ओर बादर तंबुआ से छाय रहे,
पावस कौ पेसखानौ आन पर्‌यौ बन में।
बालम बिदेस-देस, कैसे राखूं बाल बेस,
कोकिला की कूक सुनि हूक उठै तन में।
सूरदास मदनमोहन बिन दुख पावै बाम।
काम करै टूक-टूक सूर जैसे रन में॥"[1]

सूरदास मदनमोहनजी का यह चित्र स्थूल कोटि का विरह है, जिसमें प्रिय देश-विदेश चले गए हैं, प्रकृति के रूढ़ पदार्थ उद्दीपन दे रहे हैं। यहां प्रिय 'बालम' भी बन गये हैं।

चैतन्य सम्प्रदाय की व्यावहारिक भक्ति में जो विरह की अनुभूति उस काल के उच्च कोटि के भक्त कर रहे थे, उसका प्रकाशन इस काव्य में श्रीमाधुरीजी की वाणी को छोड़ अन्यत्र नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चैतन्यसम्प्रदायी मधुर-परिकल्पना का रूप गहरी मात्रा में चैतन्यीय नहीं है। उसे सामान्य रूप से उस काल में वृन्दावन के वातावरण में घुली हुई मधुर-चेतना की भावात्मक प्रतिक्रिया भर कहा जा सकता है। फिर भी, उसमें मधुरता पर्याप्त मात्रा में है।

मीराँ के काव्य में रस-परिकल्पना

मीरां के पदों के आज अनेक संकलन मिलते हैं, हिन्दी में भी, गुजराती में भी, बंगला में भी। पर उनमें निहित सभी सामग्री मौलिक है—इस विषय में विद्वानों को संदेह है। वस्तुतः मीरा के नाम से अनेक पद प्रचलित होते रहे हैं, उन में हेर-फेर होती रही है। अन्य कवियों के पदों से पंक्तियां, पदावली और पद्यांश मीरां के पदों में मिलते रहे हैं। अतः जो भी विचार-धारा या रस-परिकल्पना इन उपलब्ध पदों में मिलती है, उसका मौलिक सम्बन्ध मीरां से है, इसमें तब तक कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती जब तक कि पूर्ण वैज्ञानिक शोध एवं ठोस प्रमाणों के आधार पर मीरां की मूल सामग्री छांट कर अलग न की जा सके।

मीरां के नाम से प्रचलित पदों में तीन प्रकार की विचार-धाराएं मिलती हैं—एक तो कृष्ण-प्रेम के सगुण भक्ति के पद हैं, दूसरे निर्गुण-प्रेम के कबीर आदि संतों से मिलते-जुलते पद हैं, तीसरे कुछ ऐसे भी पद हैं जिनमें त्रिकुटी ऊपर सेज पिया की और सुन्न महल की चर्चा है, इन पदों में हठयोगी साधना की बातें आ जाती हैं। हठयोगी प्रक्रिया-योग की चर्चाओं को हम यह मान सकते हैं कि वे कदाचित् सन्तों के माध्यम से मीरां में आयीं। इस प्रकार मीरां की रस-परिकल्पना का सम्बन्ध दो परस्पर ऐसी धाराओं से जुड़ता है जिनमें ऊपरी ताल-मेल नहीं है। अनेक विद्वान् सगुण प्रेम के पदों को ही मीरां की मौलिक रचना मानते हैं, शेष को मिश्रण।[2] ठोस प्रमाणों के आधार पर दोनों ओर की संभावनाएं की जा सकती

---

१. श्रीसूरदास मदनमोहनजी की वाणी, पद सं० ८९।

२. मीरा-स्मृतिग्रन्थ : बंगीय हिन्दी परिषद् : आ० ललिता प्रसाद सुकुल : कृष्णभक्ति परम्परा और मीरा : पृ० १८३-२३७।

हैं। यह भी संभव हो सकता है कि साधु-सन्तों के साथ सम्प्रदाय और लोक-लाज के झंझटों से मुक्त मीरां मिलती रही थीं, अतः उनमें विविध भाव-साधनाएं अपने युग के प्रतिबिम्ब के रूप में उभरीं। यह भी संभव माना जा सकता है कि मीरां की अपनी भाव-साधना सगुण कृष्ण-प्रेम की ही थी, शेष जो कुछ है, मीरां की भाव-माधुरी पर मुग्ध परवर्ती पद-गायकों द्वारा चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने मिलाया गया है। ऐसी स्थिति में जितने साहित्यांश पर प्रश्न-चिह्न लगा है, उतने की रस-परिकल्पना पर भी प्रश्न-चिह्न तब तक लगा ही रहेगा, जब तक मीरां के साहित्य की निर्णयात्मक गवेषणा न हो ले। यदि त्रिमुखी विचार-धाराओं के प्रदर्शक पदों को मीरा का काव्य मानकर चला जाय तो उनकी रस-परिकल्पना में कुछ विविधता स्वीकार करनी पड़ेगी। जब तक हम मीरां के मौलिक काव्य तक ठोस प्रामाणिक आधारों पर पहुंचे, तब तक एक प्रश्न-चिह्न को स्वीकार करते हुए ही उनकी रस-परिकल्पना पर विचार करना होगा। हम भी यहां यही दृष्टि अपनाकर चल रहे हैं।

मीरां के काव्य में बाहर-भीतर भक्ति-रस का ही परिषिंचन है। भक्ति रस के दो रूप उनमें मिलते हैं—एक मधुर, दूसरा शान्त। दोनों प्रकार की परिकल्पना में मीरां की स्वानुभूति घुली है। संसार के वैभव और विलास को उन्होंने बड़े पास से देखा था और उसकी असारता का साक्षात्कार करते हुए वे कृष्ण की अनुपमेय माधुरी के प्रति प्रेमाकृष्ट हुई थीं। अतः उनके मधुर रस में सर्वत्र एक पवित्रता और उदात्तता मिलती है। उनकी रस-परिकल्पना में 'सहज विराग'[1] और उत्कट प्रेम मिलकर एकाकार हो गये हैं।

मीरां के पद दो प्रकार के हैं—एक तो जिनमें कृष्ण-लीला का गान हुआ है, दूसरे जिनमें स्वानुभूति की विषयि-परक अभिव्यक्ति है। मात्रा में पहली प्रकार की अभिव्यक्ति कम ही है। उनमें कृष्ण की किशोर-लीलाओं का गान है, गोपी-प्रेम का संगीत है। यों कृष्ण-लीलाओं का गान अनेक कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है और यथा-साध्य अपने को कान्ताभाव में डुबोकर गोपी-भाव से तादात्म्य स्थापित करने का बहुत दूर तक उनका सफल प्रयास भी रहा है, किन्तु इस पार्थिव शरीर से भी नारी होने के कारण गोपी-प्रेम के साथ मीरां का जो सहज तादात्म्य है वह अन्य कृष्णभक्त-कवियों को नहीं मिल सका है। विषयि-परक भाव व्यंजना में मधुर और शान्त हैं।

मधुर-परिकल्पना के दो वर्ग किये जा सकते हैं—एक निर्गुण-विषयक, दूसरा सगुण-विषयक। प्रथम वर्ग में कुछ विशुद्ध भावात्मक पद हैं, कुछ प्रक्रिया-योग के उभारों से मिश्रित। दूसरा सगुण प्रेम के पदों का वर्ग ही मीरां की प्रकृत रस परिकल्पना प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मीरां की रस-परिकल्पना को मोटे तौर पर हम निम्न रूप में रख सकते हैं:

१. विषय-परक : कृष्णलीला-गान : मधुर रस, वात्सल्य ?
२. विषयि-परक : शान्त रस,
—मधुर रस :
निर्गुण-परक : (क) शुद्ध प्रेम परक : मिलन, विरह
(ख) प्रक्रिया-योग मिश्रित
सगुण-परक : मिलन, विरह
— दास्य भक्तिरस ?

---

१. "दास मीरां लाल गिरधर सहज कर वैराग" : मीरांबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी : पृ० १४८ : पद सं० १५८।

इस प्रकार सब मिलाकर मीरां की रस-परिकल्पना में प्रमुख स्थान मधुर का है। मधुर विषयात्मक और विषयि-परक दोनों रूपों में प्रस्तुत हुआ है। विषयि-परक रूप में निर्गुण और दोनों ही रूपों में मधुर की परिकल्पना है। वात्सल्य, दास्य, सख्य और करुण इसी मधुर में घुलकर प्रस्तुत हुए हैं। दूसरा रस शान्तभक्तिरस है। किन्तु वह भी मधुर चेतना से सर्वथा अछूता नहीं है। फिर भी उसकी स्वतन्त्र झलक स्वीकार की जा सकती है।

मधुर रस

हम कह चुके हैं कि मीरां के नाम से उपलब्ध साहित्य में परिकल्पित मधुर रस को हम दो रूपों में पाते हैं—एक विषय-परक लीलागान के रूप में, दूसरे आत्माभिव्यंजन के रूप में। हम यहां अलग-अलग इस परिकल्पना के निरूपण का प्रयास करेंगे।

लीला-गान के रूप में—मीरां प्रमुखतः कृष्ण-चरित की गायिका हैं, यों उनके नाम से शबरी-प्रेम जैसे इक्के-दुक्के पद भी प्रचलित हैं।[1] कृष्ण-चरित में भी व्रज लीला ही गेय है। द्वारका-लीला से सम्बन्धित सुदामा-चरित के पदों में, यदि वे मौलिक हैं, सख्य उभार कर नहीं लाया गया, अपितु प्रियतम गिरधर गोपाल की उदारता सामने की गयी है। यह गुण-कीर्तन स्व-निष्ठ कान्तारति का उद्दीपन-रूप है। व्रज-लीला में कुछ पद बाल-कृष्ण-सम्बन्धी भी हैं, अधिकता किशोर कृष्ण सम्बन्धी पदों की ही है। बाल-कृष्ण सम्बन्धी पदों में भी वात्सल्य रस का परिपाक नहीं है। न बाल स्वभाव का और न ही मातृ-हृदय का चित्रण है, उनमें कृष्ण की बाल-छवि के प्रति आकर्षण और सामान्य अनुराग की झलक है।[3] इस प्रकार वात्सल्य रस भी मधुर के अन्तर्भूत सा ही है।

किशोर लीला के पदों में वंशी-मोहिनी, चीर-हरण, पनघट, फाग, दधि-दान, उद्धव-संवाद सम्बन्धी पद हैं।[4] इन पदों में गोपी-प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की मधुर व्यंजना है। इन पदों की गोपियों को सूर की गोपियों के समान समझा जा सकता है। ये अनिवार्यतः स्वकीया नहीं हैं।[5] कृष्ण की मधुकरी रसिकता की भी यत्र-तत्र झलक है।[6]

---

१. मीरांबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५६, पद १८६।

२. वही, पृ० १५६, पद १८७।

३. "हो काना किन गूंथी जुल्फां कारियां।
सुघर कला-प्रवीन हाथन सूं जसुमतिजू ने संवारियां।
जो तुम आओ मेरी बाखरियां, जरि राखूं चंदन किवारियां।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, इन जुल्फन पर वारियां॥" वही, पृ० १४९, पद १६२।
"जागो बंसीवारे ललना, जागो मेरे प्यारे।
माखन रोटी हाथ लीनी, गउअन के रखवारे।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, सरण आया कूं तारे॥" वही, पृ० १५०, पद १६५।

४. वही, पृ० १४८-१५६।

५. "आज अनारी ले गयो सारी, बैठी कदम की डारी, हे माय।
सास बुरी और ननद हठीली, लरि लरि दे मोहि गारी, हे माय।" वही, पद १६९।

६. "म्हारी गलियां नां फिरे, वाके अंगणा डोले हो।
म्हारी अंगुली ना छुवे, बांकी बहियां मोरे हो।
म्हारों अंचरा न छुवो, वाको घूंघट खोले हो।
मीरां के प्रभु सांवरो, रंग-रसिया डोले हो।" वही, पृ० १५४, पद १८१।

इन पदों के मधुर रस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें राधा और गोपियों के साथ मीरां का अपना व्यक्तित्व घुला हुआ है। इनके माध्यम से मीरां की स्वानुभूत व्यक्तिगत भावनाएं एवं अनुभूतियां अभिव्यंजित हुई हैं। जब मीरां गोपियों और राधा की अनुभूतियों को इन शब्दों में चित्रित करती है :

"सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि दे मोहि गारी, हे माय।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल की वारी, हे माय।"[1]
"ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजै किसन मुरारी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल पर वारी॥"[2]

तो लगता है, मीरां अपनी ही बात कह रही हैं।

मीरां ने इन पदों में संयोग-भावना को अत्यन्त शिष्ट और संयत भाषा में प्रस्तुत किया है। मीरां का-सा शृंगार अन्य कृष्ण-भक्तों में नहीं मिलता। अधिक-से-अधिक इस प्रकार का चित्रण मिल जायगा :

"केसर चीर दरयाई को लेंगो, ऊपर अंगिया भारी।
आबत देखी किसन मुरारी, छिप गई राधा प्यारी।"[3]
"स्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो, औरन सूँ खेलै धमाल।
म्हारों अंचरा ना छुवो, वांको घूंघट खोले, हो।"[4]

और, गोपी-वियोग में तो मीरा ने आत्मा उंडेली है :

"कुण बांचै पाती, विना प्रभु कुण बांचै पाती।
कागद लै ऊधौ जी आयो कहां रह्या साथी।
आवत जावत पांव घिस्यारे, अंखियां भई रातीं।
कागद ले राधा बांचण बैठी, भर आई छाती।"[5]

पर यह विषय-परक मधुर मात्रा में थोड़ा ही है। मीरां का प्रकृत क्षेत्र है स्वानुभूतियों को विषयि-परक अभिव्यंजना के रूप में प्रस्तुत करना। मीरां की प्रकृत रस-परिकल्पना वहीं सामने आती है।

आत्माभिव्यंजन के रूप में—आत्माभिव्यंजन के रूप में परिकल्पित मधुर रस के मीरां में हमें दो रूप मिलते हैं—एक तो निर्गुण-परक, दूसरा सगुण-परक। निर्गुण-परक रति-व्यंजना में कभी-कभी प्रक्रिया-योग के उभार भी मिल जाते हैं। निर्गुणिए पदों की मौलिकता संदिग्ध है।

निर्गुण-परक मधुर-परिकल्पना—निर्गुण-परक पदों में मधुर-परिकल्पना कबीर आदि सन्तों के ढंग की है। इनमें कृष्ण, हरि अविनासी, गिरधर गोपाल ब्रज के अवतारी पुरुष नहीं रह गये हैं। इनमें आत्म-परमात्म के अद्वैत की भी झलक मिलती चलती है और 'जोगिया'

---

१. मीरांबाई की पदावली, परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १५१, पद १६९।
२. वही, पद १७१।
३. वही, पद १७१।
४. वही, पृ० १५४, पद १८१।
५. वही, पृ० १५५, पद १८५।

प्रियतम से 'जोति में जोति' मिला देने की साध भी।[1] प्रिय को अनेक बार घट के भीतर देखा गया है।[2]

कभी-कभी इन पदों में प्रक्रिया-योग के उभार आ जाते हैं। सेली, कंथा, मुद्रा, सुन्नि महल आदि की चर्चा हो जाती है। 'नीझर भरने वाले' रस की बात भी आ जाती है।[3]

कबीर आदि सन्तों के समान, अनेक बार उनसे मिलती-जुलती पदावली में विरह-वेदना को व्यक्त करने वाले पद भी मिल जाते हैं। यदि जोगिया आदि की चर्चा न आ गयी हो, तो इन पदों में भी वैसी ही अनुभूति मिलती है जैसी सगुण पदों में।

सामाजिक की अनुभूति की दृष्टि से निर्गुण-प्रेम के पद मधुर होते हुए भी वह रस-मग्नता नहीं दे पाते, जो सगुण पदों में मिलती है। सच्ची मीरां यहां नहीं मिल पातीं।

सगुण-परक मधुर-परिकल्पना—स्वरूप और स्वभाव से कृष्ण-दिवानी मीरां सगुणोपासिका हैं। कृष्ण की माधुरी छटा और बंकिम शोभा पर रूप-लुभाणी मीरां ने अपने को लुटा दिया है।[4] और फिर पति, कुल और लोक-लाज की बाधाएं उनके लिए बेकाम हो

---

१. "तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।
मीरां के मन और न माने, चाहे सुन्दर स्यामां।" मीरांबाई की पदावली, पद ११४।

"जोगी मत जा, मत जा, मत जा, पाइं परूं तेरी चेरी हौं।
प्रेम भगति को पैड़ो ही न्यारो, हमकूं गैल बता जा।
अगर चंदन की चिता बनाऊं, अपणे हाथ जला जा।
जब बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा।
मीरां कहै प्रभु गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा।" वही, पृ० ११६, पद ४६।

२. "म्हां गिरधर रंग राती, सैयां म्हां०।
पचरंग चोला पहर्‌या सखी म्हां, झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट में मिल्यो सांवरो, देख्यां तण मण राती।
जिणरो पिया परदेस बस्यां री लिख लिख भेज्यां पाती।
म्हारां पिया म्हारे हीयड़े बसतां, ना आवां ना जाती।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, मग जोवां दिन-राती।" वही, पृ० १०८, पद २३।

"जोगियाजी निसदिन जोऊं बाट।
पांव न चालै, पंथ दुहेलो, आड़ा औघट घाट।
नगर आइ जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ।" वही, पद ४४, पृ० ११५।

"रोगी अंदर बैद बसत है, बैद ही ओखद जाणैहो।" वही, पृ० १२३, पद ७३।

३. "धूतारा जोगी एकरसूं हंसि बोल।
जगत बदीत करी मनमोहन, कहा बजावत ढोल।
अंग भभूत गले मृगछाला तू जन गुढ़ियां खोल।
सेली नाद बभूत न बटवो, अजूं सुनी मुख खोल।" वही, पद ५८, पृ० ११९।

४. निपट बंकट छब अटके म्हारे नैणां णिपट बंकट छब अटके।
देख्यां रूप मदनमोहन री पियत पियूख ण मटके।
वारिज भवां अड़क मतवारी नैण रूप-रस अटके।
टेढ़्यां कट टेढ़े कर मुरड़ी टेढ़्या पाग लर लटके।
मीरां प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके।" मीरांस्मृतिग्रन्थ : पृ० ३, पदावली ५।

गयी हैं। विष का प्याला उनके लिए सुधा बना है, काला साँप शालिग्राम।[1] मीरां की रचनाओं में उनकी घनीभूत प्रेमासक्ति साकार हुई है।

मीरां की मधुर-परिकल्पना का स्थायी भाव कान्ता-रति है। किन्तु यह कान्ता-भाव अन्य कृष्ण-भक्तों से इसलिए सर्वाधिक स्वाभाविक है कि जन-सामान्य की दृष्टि में, न वह कृत्रिम है न आरोपित। पुरुष भक्त जब अपने में कान्ता-भाव का अभिमान करके प्रेमाभिव्यंजन करता है तो सामान्य पाठक के लिए उस भक्त की भाव व्यंजना समारोपित लगती है। उस भक्त से भाव-तादात्म्य पाने के लिए पाठक को तदनुरूप संस्कार, निष्ठा या भावाभिमान करना पड़ता है। और, इस पक्ष में उन भक्तों की भावानुभूति साम्प्रदायिक हो उठती है। मीरां की प्रेम-व्यंजना में यह गुत्थी नहीं है।

जिन कवियों ने राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण के प्रेम का चित्रण करते हुए स्वकीयात्व का निर्वाह करना चाहा है, वे भी पूरी तरह से निभा नहीं सके हैं। यह बात सूर में ही देखी जा सकती है। इस प्रेम-पद्धति के मूल स्रोत श्रीमद्भागवत में ही स्वकीयात्व को आध्यात्मिक अधिक माना गया है, भौतिक कम। प्रेम की तीव्रता के लिए आर्य-पथ का परित्याग और परकीयात्व की झलक मधुर कृष्ण-काव्य में अनिवार्यतः आयी है। एक प्रकार से मीरां की कान्ता-रति भी वैसी ही है। वे विवाहित हैं, लोक-लाज कुल-मर्यादा के आर्य-पथ को उन्होंने तिलांजलि दी है। उनके पति हैं श्रीकृष्ण। फिर भी मीरां की रति में राधा की रति के समान नैतिकता के व्याघात की समस्या नहीं है। राधा और कृष्ण एक युग के एक स्थान के प्रेमी जीव हैं। गोपियों की भी यही स्थिति है। अपने पतियों-पुत्रों को छोड़ कृष्ण की ओर प्रेम-दीवानी होकर दौड़ने वाली गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम-विलास के चित्रों में नैतिकता की समस्या उठती है, जिसका समाधान स्वयं साम्प्रदायिक भक्तों एवं आचार्यों को भी देना पड़ा है। किन्तु मीरां की स्थिति स्पष्ट है। उनके लोक-सम्बन्धों का आधार भौतिक है, कृष्ण-सम्बन्ध का आध्यात्मिक। अतः कृष्ण-दीवानी मीरां के प्रेम में न मनोवैज्ञानिक ग्रंथियां हैं, न अनैतिकता की सम्भावना। उसकी काव्यानुभूति भी इसीलिए सहज है।

मीराँ की कृष्ण-विषयक रति में सहज दाम्पत्य-भाव निहित है। अतः उसमें एक भारतीय पतिव्रता नारी की रति के सहज अंग-भूत दास्य और सख्य दो भाव अनुमिश्रित हैं। मीरां में बड़ी तीव्र दास्य-भावना है। किन्तु उनका दास्य अन्य तुलसी आदि दास्य-प्रवण भक्तों के समान भक्ति का कोई अलग प्रकार नहीं खड़ा करता। कान्तारति में घुलकर मीरां का दास्य भगवान् के प्रति पातिव्रत प्रेम की प्रतिष्ठा करता है। उनका सख्य भी इसी प्रकार पतिव्रता के सहज सख्य के रूप में है। कृष्ण-भक्ति साहित्य की मधुर-परिकल्पना में इस दृष्टि से मीरां की रति दूसरों से सर्वथा न्यारी है और अपने में बेजोड़ है, जिसमें न कोई ग्रन्थि है, न कुण्ठा, न उद्दामता। सहज दाम्पत्य रति वाली मधुर-परिकल्पना हमें कृष्ण-भक्ति में यदि कहीं मिलती है तो मीरां में। उनकी रति में सख्य की अपेक्षा दास्य मुखर है।[2]

---

१. मीरांबाई की पदावली, पद ३६, ३७, ४०।

२. "मीरां रे प्रभु हरि अविनासी, तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी।" मी० की पदावली, ५६।
"म्हाणे चाकर राखांजी, गिरधारी ड़ाड़ा चाकर राखां जी।

मीरां के इस कान्ताभावान्तर्गत दास्य आलम्बन की महत्त्व-चेतना से परिपोषण भी होता है। मीरां के प्रभु भक्त-वत्सल हैं, पतित-उधारन हैं, गणिका-गज-गीध को तारने हारे हैं।[1] यह महत्त्व-चेतना उनके प्रकृत रति-भाव का पोषण ही करती है, हाँ उन स्थलों में प्रायः दास्य का अनुमिश्रण रहता है।

मीरां के कान्ता-भाव में मिलन एवं विरह दोनों के चित्र हैं, किन्तु अधिकता विरह की ही है। मिलन की विशेषता यह है कि उसमें कहीं भी स्थूलता नहीं आयी है। प्रिय-मिलन के उल्लास की सम्भावना में ही मीरां की प्रकृति का कण-कण मिलनोल्लास से भर जाता है :

"सुण्यां री म्हारे हरि आवंगा आज।
म्हैलां चढ़-चढ़ जोवां सजणी कब आवां महाराज।
दादुर इन्द्र पपीया बोल्यां, कोल मधुरा साज।
उमग्याँ इन्द्र, चहूँ दिस बरसाँ, दामण छोड्यां लाज।
धरती रूप नवां नवां धर्‌या इन्द्र मिलण रे काज।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, बेग मिल्यो महाराज।"[2]

मीरां का संयोग-शृंगार व्यंजना-प्रधान है। इन्द्र मेघों के रूप में उमंग ले कर आया है। दामिनी ने लज्जा छोड़कर उसका समालिंगन किया है। कहिए, प्रेयसी के अंचल ने स्पन्दन करते हुए लज्जा छोड़ दी है। और धरती इन्द्र-मिलन के लिए नया-नया रूप सजाती है। बस, मीरां के संयोग-चित्रण की यही सीमा है।

मीरां की विरह-परिकल्पना वेदना प्रधान है। उसमें संचारियों एवं अनुभावों दोनों की रसोपयोगिनी योजना है। वस्तुतः मीरां की वेदना ही मीरां का काव्य है।

"हेरी म्हां तो दरद दिवाणी म्हारां दरद णा जाण्यां कोय।
घायड़ री गत घायड़ जाण्यां हिवड़ो अगण संजोइ।"[3]
"अंग खीण व्याकुड़ भयां मुख पिव-पिव बाणी हो।
अन्तर वेदण हो विरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो।"[4]

मीरां के विरह में भारी तल्लीनता एवं भावावेश है। पाठक इस भावावेश में डूबता है, भक्त प्रेम की चरम साधना में लीन होता है। उनका यह भावावेश कृत्रिम नहीं, स्वानुभूत है। और उसकी स्वानुभूतता ही मीरां की विरह-कल्पना के प्रवाही रस का रहस्य है।

शान्त भक्तिरस

मीरां के काव्य में मधुर के अतिरिक्त दूसरा भक्तिरस शान्त है। हम कह चुके हैं कि एक प्रकार से मीरां की आसक्ति सहज विरक्ति के ऊपर प्रतिष्ठित है। विराग की उच्च

चाकर रहसूं, बाग ड़गाश्यूं, णित उठ दरशन पाश्यूं। इत्यादि।" मी० रमृ० ग्र० : पद ३५।
"मीरां के प्रभु गिरधर नागर सरण गह्यां थे दासी।" मी० की पदा० : पद १९४।
"मीरां के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत।" वही, पद ५७।

१. मीरां की पदावली : पद ६१, ६२।
२. मीरांबाई की पदावली : पद १४३, पृ० १४४।
३. मीरां स्मृति ग्रन्थ : मीरां पदावली, पद १९।
४. वही, पद ३९।

भूमि पर खड़े होकर मीरां ने प्रेम-साधना की थी। उनके काव्य में इसीलिए विरक्ति और आसक्ति एकाकार हैं। फिर भी अनेक पदों में लोक की वैभव-सामग्री की उपेक्षा, संसार की असारता, मनःप्रबोध एवं सच्चे निर्वेद तथा विवेक के दर्शन होते हैं।

"भज मण चरण कंवड़ अवणासी।
जेताईं दीसां धरण गगण मां, तेताईं उट्ठ जासी।
तीरथ बरतां ग्यान कथंतां कहां लयां करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मां मिड़ जासी।
यो संसार चहर रां बाजी, सांझ पड्यां उठ जासी।
कहा भया थां भगवां पहर्‌यां घर तज लयां सण्यासी।
जोगी होयां जुगत णा जाणा उलट जणम रां फांसी।
अरज करां अबड़ा कर जोड्यां, स्याम···दासी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, काट्यां म्हांरी गाँसी।"[1]

मीरां के शान्त की अनुभूति संसार से विरक्ति के साथ भगवदासक्ति की प्रबल भावना जगाती है। वस्तुतः उनका शान्त प्रेम का ही एक रूप है।

रसखान

मुसलमान कृष्णभक्त कवियों में रसखान का स्थान अत्यन्त उच्च है। उनकी वाणी में प्रेम-रस का अनुपम परिषिंचन है। उनकी रस-परिकल्पना में सौन्दर्य-मुग्धता की स्वानुभूत माधुरी एवं अभिव्यंजना की सरलता है।

रसखान का जीवन-चरित अप्रकाश में है। समय सत्रहवीं शती का मध्य ठहरता है। प्रेम-वाटिका का रचना-काल उसी में सं १६७१ दिया हुआ है।[2] केवल दो रचनाएं उपलब्ध हैं—'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान-रसखान'। सुजान-रसखान गोपी-प्रेम का मधुर-काव्य है, किन्तु स्फुट पदों का संकलन प्रतीत होता है। कहीं-कहीं शिव, गंगा-विषयक रति के दो-एक पद हैं। शिव और कृष्ण को रसखान ने एक पद में अभिन्न चित्रित कर अपनी प्रेम-भावना की उदारता का परिचय दिया है।[3] रसखान की प्रेम-वाटिका प्रेम-तत्त्व का निरूपण करने वाली लगभग पचास दोहों की एक छोटी-सी रचना है। है तो रचना छोटी-सी किन्तु इसमें प्रेम-तत्त्व का निरूपण अत्यन्त सुन्दर है। रसखान की रस-परिकल्पना को समझने के लिए उसे समझ लेना आवश्यक है।

प्रेम-तत्त्व—रसखान ने जैसा प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया है वैसा केवल राधावल्लभ

---

१. मीरां स्मृति ग्रन्थ : मीरां पदावली, पद २।

२. "विधु सागर रस इंदु सुभ व स सरस रसखानि।
प्रेमवाटिका रुचि रुचिर चिर हिय हरख बखानि।" प्रेमवाटिका, दो० ५१।

३. "इक ओर करीट लसै दुसरि दिसि नारन के गन गाजत री।
मुरली मधुरी धुनि ओठन पै उत डामर नाद सौं बाजत री।
रसखानि पितंबर एक कंधा पर एक बघंबर राजत री।
कोउ देखहु संगम लै डुबकी निकसे यह भेख बिराजत री।" सुजानरसखान, पद १६।

सम्प्रदाय के कवियों में, विशेषतः श्रीध्रुवदास में पाया जाता है। रसखान और ध्रुवदास के निरूपण को मिलाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसखान ध्रुवदासजी से ही प्रेम-तत्त्व का निरूपण लेते हैं। ध्रुवदासजी का रचना काल डा० विजयेन्द्र स्नातक के द्वारा सं० १६५० से १६९८ तक निर्धारित किया गया है।[1] अतः अपने वृन्दावन-वास काल में रसखान का ध्रुवदासजी से प्रभावित होना स्वाभाविक है। किन्तु एक बात उल्लेखनीय है। रसखान ने राधावल्लभीय प्रेम-निरूपण को ग्रहण करके भी उसे उसी रूप में स्वीकार न कर अपने दृष्टि-कोण से प्रस्तुत किया है। अतः उन्हें राधावल्लभीय भक्त नहीं कहा जा सकता। पर उसकी प्रेम-माधुरी, रसिकता एवं प्रेम-दृष्टि का उन पर प्रभाव अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

रसखान का 'प्रेम-तत्त्व' राधावल्लभीय प्रेम-तत्त्व के समान ही परम तत्त्व है। वह कारण-रूप भी है, कार्य-रूप भी। कर्त्ता, कर्म, क्रिया और करण सब-कुछ प्रेम-तत्त्व है। विश्व में जो कुछ है, जिससे है, जिसमें है, जिसके लिए है, वह सब प्रेम ही है। प्रेम वह बीज है जिससे समस्त प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम वह क्षेत्र है जिसमें समस्त प्रेम उत्पन्न होते हैं। यह प्रेम-तत्त्व नित्य, एकरस, रसमय, निस्वार्थ, अचल एवं स्वाभाविक है। इस प्रकार प्रेम-तत्त्व ही पर-तत्त्व है।[2]

प्रेम और हरि में तात्त्विक अन्तर नहीं। प्रेम हरि-रूप है, हरि प्रेम-स्वरूप।[3] यों प्रेम-तत्त्व हरि से भी महान् है। प्रेमी इस तत्त्व को प्राप्त कर बैकुण्ठ और बैकुण्ठवासी हरि की भी कामना नहीं करता।[4] प्रेम 'रस' है, अलौकिक है, विशुद्ध, काम और कामनाओं से रहित, एवं मंगलमय है।[5]

प्रेम एक व्यापक तत्त्व है। प्रेम ब्रह्म की व्यापक अभिव्यक्ति ही सब-कुछ है। प्रेमायनी

---

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक : राधावल्लभ सम्प्रदाय और साहित्य : पृ० ४२७।

२. रसखान और घनानन्द : संकलनकर्ता स्व० बाबू अमीरसिंह : प्रेमवाटिका :

"रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस शुद्ध सोइ प्रेम अहै रसखान ॥४२।
जातें उपजत प्रेम सोइ बीज कहावत प्रेम।
जामें उपजत प्रेम सोइ क्षेत्र कहावत प्रेम ॥ ४३।
जातें पनपत, बढ़त अरु फूलत फलत महान।
सो सब प्रेमहि प्रेम यह कहत रसिक रसखान ॥ ४४।
बीज वही, अंकुर वही, सेक वही आधार।
डाल पात फल फूल सब वही प्रेम सुखसार ॥ ४५।
जो, जातें, जामें, बहुरि जाहित कहियत बेस।
सौ सब प्रेमहि प्रेम है जग रसखान असेस ॥ ४६।
कारज-कारन रूप यह प्रेम अहै रसखान।
कर्ता, कर्म, क्रिया, करण आपहिं प्रेम बखान ॥" ४७।

३. "प्रेम हरी कौ रूप है औ हरि प्रेम सरूप एक होइ द्वै यौं लसै ज्यों सूरज अरु धूप।" २४

४. "जेहि पाये बैकुण्ठ अरु हरिहूं की नहिं चाह। सोइ अलौकिक सुद्ध, सुभ, स-रस सप्रेम कहाइ।" २८

५. वही, दो० २८।

राधा और प्रेम-वर्ण में रंगे कृष्ण दोनों प्रेम-वाटिका के मालिन और माली हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रेम राधा और कृष्ण से भी ऊपर है।

प्रेम एकत्व की अनुभूति है। मन का एक होना ही प्रेम का रूप नहीं, तन का एक होना भी :

"दो मन एक हुते सुन्यो पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबै द्वै तनहुँ इक सोई प्रेम कहाइ॥"[2]

राधा-वल्लभीय ध्रुवदासादि भक्तों ने प्रेम के साथ 'नेम' की चर्चा की है जिसका उल्लेख हम यथा-स्थान कर चुके हैं। रसखान ने भी उसकी चर्चा की है। रसखान के अनुसार ये नेम दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और अशुद्ध। स्वार्थ-मूलक, आत्मसुख की कामना से परिचालित जितने धर्म, कर्म, भक्ति, फल हैं, सभी अशुद्ध नेम हैं। ये प्रेम-तत्त्व के उद्भूत होते ही नष्ट हो जाते हैं, उसमें समा जाते हैं। प्रेम के स्वभावानुकूल निस्वार्थ प्रेम-विकार विशुद्ध नेम हैं, वे प्रेम के ही उच्छलन हैं।[3]

प्रेम मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन है।[4] पर इसको जान लेने पर कुछ ज्ञेय नहीं रह जाता। प्रेम जिसे मिल जाता है वह मद छाका मस्त विचरता है।[5] इस प्रेम की उपलब्धि श्रवण, कीर्तन और दर्शन के सहारे होती है।[6] वस्तुतः प्रेम से ही प्रेम तत्त्व उपलब्ध होता है।[7]

---

१. "प्रेम अयनि श्रीराधिका प्रेमवरन नंदनंद। प्रेमबाटिका के दोऊ मालीमालिन-द्वंद्व। १
"प्रेमकठिन सबतैं सदा नित इकरस भरपूर।" वही, दो० १६।
"शुद्ध कामना तें रहित प्रेम सकल रस-खानि" १५।
"इकअंगी, बिनु कारनहिं इकरस सदा समान।" २१।

२. दो० ३४ : प्रेमवाटिका : रसखान : 'रसखान और घनानन्द'।
प्रेमवाटिका : रसखान : रसखान और घनानन्द : संकलनकर्ता स्व० बाबू अमीरसिंह :

३. "शुद्धाशुद्ध विभेद तें द्वै विध ताके नेम। ४०
स्वारथ-मूल अशुद्ध त्यों शुद्ध स्वभावऽनुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि कियौ जाहि को तूल।" ४१
"याही तें सब मुक्ति तैं लही बड़ाई प्रेम।
प्रेम भए नस जाहिं सब बंधे जगत के नेम।" ३५
"रसमय स्वाभाविक बिना-स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस 'शुद्ध' सोई प्रेम अहै रसखान।" ४२

४. "कमलतंतु सों छीन अति, कठिन खड्ग की धार।
अति सूधो टेढ़ौ बहुरि प्रेमपंथ अनिवार।" ६
"कोउ याहि फांसी कहत, कोउ कहत तरवारि।
नेजा, भाला, तीर कोउ कहत अनोखी ढार।" २९

५. "जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात विसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कैं रहि न जात कछु सेस।" १८
"पै मिठास या मार के रोम रोम भरपूर।
मरत जियै, झुकतो थिरै, बनै सु चकनाचूर।" ३०

६. "श्रवन, कीरतन, दरसनहिं जो उपजत सोइ प्रेम।"४०

७. "प्रेम बिना नहिं उपज हिय प्रेम-बीज-अंकुवार।" १०

किन्तु राधा-वल्लभीय प्रेम-तत्त्व को निकुंज-रस के साम्प्रदायिक ढांचे में ढाला गया है और सहचरी-प्रेम को उसका उच्चतम आदर्श ठहराया गया है। ध्रुवदासजी ने दास्य, सख्य आदि विविध प्रेम-रूपों में मधुर प्रेम की महत्ता दिखाते हुए उच्च प्रेम गोपी-प्रेम कहा है। श्रीमद्भागवत का यही प्रतिपाद्य है। किन्तु सहचरी-प्रेम गोपी-प्रेम से भी उत्कृष्ट है।[1] किन्तु रसखान ने यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया। ढांचे एवं स्वरूप में राधावल्लभीय प्रेम-तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उसका उच्चादर्श गोपियों को ही ठहराया है:

"जदपि जसोदानन्द अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम को गोपी भईं अनन्य॥"[2]
वा रस की कछु माधुरी ऊधो लही सराहि।
पावै बहुरि मिठास अस अब दूजो को आहि॥"[3]

रसखान की रसिक अनन्य प्रेम-भावना का यही गोपी-प्रेम आदर्श रहा है। इसीलिए उनके काव्य में जो कृष्ण-रस परिषिचित है वह गोपी-प्रेम का परिपाक है, साम्प्रदायिक सहचरी-प्रेम का नहीं। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वे कृष्ण-लीला के मधुर पक्ष के दर्शन में राधावल्लभीय की अपेक्षा वल्लभीय प्रेम-दर्शन से अधिक प्रभावित थे। रसखान के राधा-कृष्ण निकुंज-विहारी श्यामा-श्याम न होकर व्रज-विहारी राधा-कृष्ण हैं। और, वस्तुतः तो राधा उसी प्रकार कहीं-कहीं सामने आयी हैं जैसे सूर के वर्णनों में आती हैं। समस्त प्रेम चर्चा गोपी-कृष्ण के बीच की ही प्रधानता है। इस दृष्टिकोण को रसखान ने कदाचित् वल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों से पाया था। कहा जाता है कि उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा भी ली थी।[4] कहीं-कहीं निकुंजों के भीतर 'राधिका-पायंन' को पलोटते हुए कृष्ण की जो झांकी रसखान ने दिखायी है वह यद्यपि राधावल्लभियों के निकुंजरस के अनुरूप है, किन्तु वैसी ही झांकियां वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों में भी स्वीकृत थीं, तथा अन्य मधुर सम्प्रदायियों में भी सामान्यतः स्वीकृत थीं। वस्तुतः रसखान रूढ साम्प्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठे हुए अपने युग में वृन्दावन के वातावरण में धारा-प्रवाह से बहने वाली रसिक कृष्ण-भक्ति के मधुर आस्वादनकर्त्ता भावुक जीव थे। उनकी रस-परिकल्पना का भी यही स्वरूप रहा है।

रस-परिकल्पना

रस-परिकल्पना की दृष्टि से रसखान मधुर-रस के गायक कवि हैं। उनके मधुर में भावों की मधुरता और सहजता ही नहीं है, भक्ति का सहज आवेश भी है। साथ ही उनकी

---

१. "और जहां ताईं भक्त, जनक, उद्धव, सनकादि और लीला द्वारिका मथुरा आदि, तिन सबनि पर अति गरिष्ट सर्वोपरि ब्रज-देविन कौ प्रेम है। ब्रह्मादिक हू जिनकी पद-रज वांछित हैं। तिनके रस पर महारस अतिदुर्लभ·····निकुंजमाधुरी-विलास ललिता विसाखा आदि इन सखियन को प्रान अधार यहै है। इन सखियन कौ प्रेम सर्वोपरि जानौ।"

सिद्धान्तविचारलीला : बयालीसलीला : ध्रुवदास : पृ० ४५।

२. प्रेमवाटिका : रसखान : दो० ३८।

३. वही, दो० ३९।

४. चौरासी वैष्णव वार्ता और दो सौ बावन वैष्णव वार्ता के आधार पर : श्रीरसखानजी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र : रसखान और घनानन्द : अमीरसिंह : पृ० ६।

अनुरक्ति में संसार की ओर से एक भारी विरक्ति भी छिपी हुई है। जिस प्रकार प्रेमादर्श गोपियों ने लोक-कुल-धर्म की लाज-कानि छोड़ी थी, मीरां ने लौकिक सम्बन्धों एवं मर्यादाओं का हठ पूर्वक परित्याग किया था, रसखान ने भी अपने समाज और धर्म को तिलांजलि देकर संसारी बादशाहत तक की घोर उपेक्षा करते हुए प्रेम के पवित्र एवं सरस मार्ग में प्रवेश किया था। अतः उनकी वेगमयी अनुरक्ति में लोक-विरक्ति का सहज अनुरंजन है।

रसखान प्रमुखतः सौन्दर्यात्मक संयोग-भावना के कवि हैं। उन्होंने अधिकांश गोपी-प्रेम के ही गीत गाये हैं। सामान्यतः यह विषयात्मक प्रेम-चित्रण है। और इसके आधार पर रसखान का कान्ताभाव गोपियों का कान्ताभाव है। किन्तु गोपियों के इस कान्ताभाव में रसखान का हृदय घुलता है, उसमें उनकी तदात्म अनुभूति भी मिलती है :

"मोर-पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारन संग फिरौंगी।
भावतो वोहि मेरो रसखानि सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी।"[1]

इस प्रकार के पदों में कान्ताभाव गोपियों का ही नहीं रह जाता, रसखान की स्वानुभूति के रूप में सामने आता है।

रसखान की रस-परिकल्पना में एक ही अंगी रस है मधुर। वात्सल्य और शान्त इसी के अंगरूप में कहीं झलके हैं। मधुर में भी संयोग-पक्ष मुखर है। यह संयोग मधुर सम्प्रदायियों के समान उन्मुक्त एवं अश्लील-सीमा-स्पर्शी नहीं है। संयोग स्वरूपतः कुछ खुला वर्णन चाहता है। किन्तु रसखान के संयोग में कहीं-कहीं खुलापन होते हुए भी व्यंजकता ही अधिक है, वर्णनात्मकता की स्थूलता नहीं है।

रसखान ने केवल निकुंजरस के नहीं, व्रजरस के गीत गाये हैं, जिसमें कहीं-कहीं निकुंजरस भी है। कृष्ण की व्रजलीला के गान में दानलीला, मान, चीरहरण, गोचारण-प्रत्यावृत्ति, होली-चांचर आदि के मधुर चित्र हैं। आर्य-पथ का परित्याग कर वंशी की तान पर दौड़ने वाली गोपियों के प्रेम-गान में परकीयात्व की वैसी ही स्वाभाविक झलक आयी है जैसी सिद्धान्ततः स्वकीया-प्रेम को स्वीकार करते हुए भी वल्लभ-सम्प्रदाय के सूर आदि कवियों में मिलती है।

रसखान की गोपियों में अनेक रूप की गोपियां मिल सकती हैं। बाल-छवि पर मुग्ध होने वाली भी, सख्य वाली भी, स्वयं काम-मूलक कान्तारति से युक्त भी, और राधा की आराधिका-सेविका भी। वस्तुतः रसखान ने इन सब भेदों की ओर ध्यान न देकर अपने युग में प्रचलित कृष्ण-लीला के सामान्य माधुर्य का रसपान किया है।

आत्माभिव्यंजन के रूप में भी रसखान के अनेक सवैये हैं। धाम-रति के रूप में अभिव्यक्त उनका कृष्ण-प्रेम इन सवैयों में भरा हुआ है :

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
... ...
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन।"[2]

---

१. सुजान, रसखान, पद ३, अमी सिंह।
२. रसखान और घनानन्द : सुजान रसखान, पद १।

उनमें व्रज के प्रति अगाध प्रेम है। वे करील की कुंजों के ऊपर कोटिन कलधौत के धाम निछावर कर सकते हैं। उनकी यही लालसा है :

"रसखानि कबौं इन आंखिन सों व्रज के वन बाग तडाग निहारौं।"

रसखान ने प्रेम की संचारी वृत्तियों के उतने चित्र नहीं दिये जितने रूपाकर्षण के।[1] वे कृष्ण की माधुरी मूर्ति पर मुग्ध हैं। उनकी गोपियों में सबसे अधिक यदि कोई भाव है तो रूपासक्ति। यह रूपासक्ति कहीं-कहीं बाल-छवि के प्रति भी व्यक्त हुई है :

"आजु गई हुती भोरहि हौं रसखानि रई कहि नन्द के भौनहिं।
वाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं।
तेल लगाइ, लगाइ कै अंजन, भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डालि हमेलनि हार निहारत बारत ज्यौं चुचुकारत छौनहिं।"[2]

पर इस प्रकार के स्थलों में, जो मात्रा में नगण्य हैं, वात्सल्य का परिपाक नहीं है। वस्तुतः ऐसे बाल-चित्रण प्रासंगिक ही हैं।

संयोग शृंगार के अन्तर्गत आने वाले कुछ चित्र उन्मुक्त भी हो गये हैं :

"बागन काहे को जाओ पिया घर बैठेहि बाग लगाय दिखाऊं।
एड़ी अनार सी मौर रही बहियां दोउ चंपे सी डार नवाऊं।
छातिन में रस के निबुआ अरु घूंघट खोलि कै दाख चबाऊं।
ढांगन के रस के चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊं॥[3]

पर इस प्रकार का चित्रण बहुत ही कम है। इनमें आगामी रीतिकाल झलकता है। मधुर-सम्प्रदायी उस काल में इनसे भी अधिक खुले चित्रण करते हुए भक्ति-भावना की गहराई अनुभव करने का दावा कर रहे थे। एक रसिक मुसलमान और जीवन-भर रसिकता में बहने वाले अनुरागी कवि में उस युग में ऐसी बातें आ जाना कोई आश्चर्य नहीं है। पर यह रसखान की रस-परिकल्पना का प्रमुख रूप नही है।

कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण गोपियों में विरह का प्रसंग आया है। रसखान के गोपी-विरह में व्यथा की गम्भीरता अधिक है, तड़प उतनी नहीं जितनी घनानन्द में। सूर के समान उनके विरह में व्यापकता एवं अगाधता भी नहीं, पर उनके विरह की मर्मस्पर्शिता कम नहीं। उसमें संचारियों की योजना तो अधिक नहीं, पर अनुभाव-योजना, विशेषकर सात्त्विकों की सुन्दर है :

"उनही के सनेहन सानी रहैं, उनही के जू नेह दिवानी रहैं।
उनही की सुनैं न औ बैन त्यौं सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं संग डोलनि में रसखानि सबै सुख सिन्धु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आंखि मेरी अंसुवानी रहैं।"[4]
"नव रंग अनंग भरी छवि सों वह मूरति आंख गड़ी ही रहै।
जिय की नहिं जानत हौं सजनी रजनी अंसुवान लड़ी ही रहै।"[5]

---

१. रसखान और घनानन्द : सुजान रसखान, १०।
२. "दोउ कानन कुंडल मोरपखा सिर सोहै दुकूल नयो चटकौ।" वही, ३४।
"रूप अनूपम वा नट को हियरे अंटक्यो अंटक्यो अंटक्यो।" रसखान का अमर काव्य, ३३।
३. रसखान और घनानन्द, १६।
४. रसखान का अमर काव्य : सुजान- सखान, १०६।
५. वही, १०७।

वस्तुतः रसखान के विरह में संयोग की स्मृतियों एवं अनुभूतियों के अभाव की अनुभूति का चित्रण होने के कारण संयोग-कालीन बातें अधिक वर्णित होती हैं :

"काह कहूं रतियां की कथा बतियां कहि आवत है न कछूरी ।
आय गोपाल लियो भरि अंक कियो मन भायो पियो रस कूं री ।
ताहि दिना सों गड़ी अंखियां रसखानि मेरे अंग-अंग में पूरी ।
पै न दिखाई परै अब सांवरो दै कै वियोग विथा की मजूरी ।।[1]

शान्तरस का स्वतन्त्र परिपाक तो नहीं, किन्तु कहीं-कहीं शान्ता रति के अवश्य दर्शन होते हैं :

"कंचन के मंदिरनि दीठि ठहराति नाहिं
सदा दीप माला लाल रतन उजारो सो ।
और प्रभुताई कहां लौं बखानौं
... ...
प्रतिहारिन की भीर भूप टरत न द्वारे सों ।
ऐसे ही भये तो कहा कीन्हौं रसखान जु पै
चित्त दै न कीन्हीं प्रीति पीत पट वारे सों ।"[2]

वस्तुतः उनकी लोक-विरक्ति कृष्णानुरक्ति के रूप में सामने आती है :

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं ।
आठहु सिद्ध नवौ निधि कौ सुख नंद की गाय चराय बिसारौं ।
... ...
कोटिकहूं कलधौत के धाम करील की कुंजनि ऊपर वारों ।"[3]

परात्पर ब्रह्म तत्त्व श्रीकृष्ण को उन्होंने कुजों के भीतर राधा के चरण पलोटते पाया है :

"ब्रह्म मैं ढूंढ्यो पुरानन गायन वेद रिचा सुनि चौगुने चायनि ।
देख्यो दुर्‌यो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटतु राधिका पायंन ।"

सब मिलाकर रसखान की रस-परिकल्पना एक मधुर रस की ही है । उसमें संयोग की प्रधानता है । संयोग एकाध स्थलों को छोड़ संयत है । वियोग सामान्य है । उनका आदर्श गोपी-प्रेम है जिसका चित्रण वल्लभ-सम्प्रदायी कवियों के समान हुआ है ।

अब तक हमने प्रस्तुत अध्याय में कृष्ण-भक्ति काव्य में रस-परिकल्पना का अध्यनन किया है । यदि मात्रा को मिलाकर देखा जाय तो मधुर रस की ही प्रमुख परिकल्पना कृष्ण-काव्य की विशेषता रही है । कृष्ण-कवियों ने कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं के मधुरिम संगीत में अपने हृदय की अनुभूतियों को घोला है । उनके सामने प्रेम ही आदर्श था, प्रेम ही मर्यादा । और इस सर्वोपरि प्रेम-मर्यादा के लिए उन्होंने लोक-नेम की पूर्णतः उपेक्षा ही की ।

अब हम अगले अध्याय में अपने आलोच्य काल के प्रमुख राम काव्य में निहित रस-परिकल्पना का अध्ययन करने का प्रयास करेंगे ।

---

१. रसखान का अमर काव्य : सुजान रसखान, ११० ।
२. वही, ७ तथा द्रष्टव्य ८, ९, १० ।
३. वही, ५ ।

६

रामभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना

विगत अध्याय में हम कृष्ण-भक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना का अध्ययन कर चुके हैं, प्रस्तुत अध्याय में हमें अपने आलोच्य काल के रामभक्ति-काव्य में रस-परिकल्पना का परिचय प्राप्त करना है।

रामभक्ति शाखा के निम्न कवि हमारे काल की परिधि में आते हैं :

१. तुलसीदास
२. अग्रदास
३. नाभादास
४. हृदयराम
५. प्राणचन्द चौहान
६. केशवदास
७. सेनापति

इनके अतिरिक्त दो-चार और छोटे-मोटे कवियों के नामों का उल्लेख मिल जाता है जैसे रायमल्ल पांडे,[1] बलदास, लालदास[2] आदि। पर भक्ति-काव्य की दृष्टि से इनकी रचनाओं का स्थान नगण्य है। उदाहरणस्वरूप बलदास का 'चित्तावबोधन' ब्रह्म-सृष्टि-ज्ञान और योग-साधन वर्णन की एक सामान्य रचना है। किसी रचना को उसमें राम की चर्चा आ जाने या ज्ञान-वैराग्य की बातें दोहा-चौपाई में लिखे जाने के कारण ही रामभक्ति-साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता। भक्ति-काव्य के भीतर गिने जाने के लिए उसमें भक्ति का परिपाक अपेक्षित है, वैष्णव साहित्य की परिधि में आने के लिए उसमें वैष्णव चेतना का समावेश आवश्यक है।

ऊपर के सात नामों में भी हृदयराम और प्राणचन्द चौहान का स्थान रस-परिकल्पना की दृष्टि से अलग अध्येय नहीं है। प्राणचन्द का 'रामायण महानाटक' एक वर्णनात्मकता-प्रधान साधारण कोटि की रचना है। उसमें न काव्यरस का अच्छा परिपाक है, न भक्ति-रस का। हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' संस्कृत के इसी नाम के एक नाटक पर आधारित कवित्त-सवैयों की रचना है। इन रचनाओं में नाटक नाम लगे होने पर भी न नाटकीय कथा-विकास है न नाटकीय रस-परिपाक। संवादात्मक तत्त्व का अवश्य प्रयोग है। इनके भक्ति-आदर्श तुलसी द्वारा अपनाये लोक-प्रतिष्ठित राम-भक्ति के आदर्शों के अनुरूप ही हैं, फिर भी रस-परिपाक की दृष्टि से इन रचनाओं का विशिष्ट स्थान नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि रामभक्ति की आदर्शवादी धारा में तुलसी ही एक उज्ज्वल आदर्श

---

१. डा० रामनिरंजन पांडे, रामभक्ति-शाखा, पृ० ४५९, आ० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी सा० का इतिहास, सं० २०१४ पृ० १३९ के आधार पर सूचना।

२. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४९५।

हैं। उनकी रस-परिकल्पना एवं भक्ति-भावना के परिचय-अध्ययन के अनन्तर इस धारा के अन्य कवियों के पृथक् अध्ययन के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता।

दो धाराएं—राम-भक्त कवियों को सुविधा के लिए हम दो धाराओं में विभक्त करके चल सकते हैं—एक तो उन कवियों की धारा मिलती है जिन्होंने राम के लोक-मंगल कारी आदर्श-प्रधान चरित्र को सामने रखते हुए उनके अवतारी रूप के वैभव-ऐश्वर्य के अनुरूप ही रामकथा का गान किया है। ऐसे लोगों के प्रतिनिधि तुलसी हैं। दूसरी धारा उन कवियों की है जो कृष्ण-भक्ति की मधुर-साधना से प्रभावित होकर राम-भक्ति में भी माधुर्य का समावेश करते हुए राम के आदर्श चरित्र को दृष्टिपथ से ओझल कर डालते हैं और कृष्ण के विहार-विलास के समान राम के विहार-विलास के भी चित्र उतारते हैं। पहली धारा को हम आदर्शवादी धारा कह सकते हैं, दूसरी को रसिक धारा।

रसिक धारा को प्रतिष्ठित साम्प्रदायिक रूप हमारे आलोच्य काल के बाद ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार कृष्णभक्ति के रसिकोपासकों ने अपने पक्ष-समर्थन में अनेक ग्रंथों की रचना-व्याख्याएं कीं, वैसे ही रसिकोपासक रामभक्तों के द्वारा भी किया गया। साम्प्रदायिक साहित्य के अनुरूप ही उनकी रचनाओं का एक प्रधान भाग सैद्धान्तिक निरूपण में खपने लगा। पर यह सब सत्रहवीं शती के अनन्तर हुआ, यों उन ग्रंथों, टीकाओं, व्याख्याओं को सम्प्रदाय के लोग बहुत प्राचीन मानते हैं और अपनी रसिक-भावना को कृष्णभक्ति की रसिक-भावना का मूल कहते हैं। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है।

हमारे आलोच्य काल में रसिक धारा का प्रौढ़ साम्प्रदायिक रूप सामने नहीं आता। केवल अग्रदास और नाभादास में यह रसिकोपासना पायी जाती है। इन दो महानुभावों के आधार पर ही हमारे युग में रसिक भक्ति को धारा के रूप में नहीं समझा जा सकता। किन्तु परवर्तिनी रूढ़ धारा की पूर्ववर्तिनी व्यवस्थित कड़ी के रूप में उसे अवश्य समझा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त कवियों को हम इन दो धाराओं में निम्न रूप में वर्गीकृत करके चल सकते हैं :

आदर्शवादी धारा	**रसिक धारा**
तुलसीदास	अग्रदास
केशवदास	नाभादास
सेनापति	

ये ही रामभक्ति के हमारे युग के प्रधान कवि हैं। हम इन्हीं की रस-परिकल्पना का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में करेंगे। पहले आदर्शवादी धारा के कवियों को, पीछे रसिक धारा के कवियों को लेना है।

तुलसीदासजी

हम तुलसी की रस-दृष्टि का परिचय 'हिन्दी वैष्णव कवियों की रस-विषयक आचार्य-चेतनाएं' शीर्षक अध्याय में प्राप्त कर चुके हैं। तुलसी की दृष्टि से उनके काव्य का एक ही विषय है—राम-सुयश का गान, और एक ही रस है—भक्तिरस। काव्यरसों के रूप में स्वीकृत शृंगारादि रस इसी अंगी भक्तिरस के आश्रित एवं उपजीवी हैं, इससे स्वतंत्र

होने पर तुलसी के लिए वे विषय-रस हैं। तुलसी के काव्य में रस-परिकल्पना इसी दृष्टिकोण से सर्वत्र परिचालित है।

रस-परिकल्पना की इस आधार-भूत चेतना को सर्वत्र सामने रखते हुए भी यत्किंचित् दृष्टिकोण के रूपान्तर के कारण उनकी रचनाओं में रस-परिकल्पना का रूप भी बदला है। उनकी विविध रचनाओं में उनका उपर्युक्त अंगी भक्तिरस विविध रूपों में परिकल्पित हुआ है। पर यह ध्यान रखने की बात है कि यह सब होते हुए भी उनकी समूची रचना राम-गान ही रही है, किसी प्राकृत जन का गुण-गान कर उनकी गिरा को पछतावा कभी नहीं करना पड़ा।

रामचरित गान के लिए तुलसी ने हिन्दी के स्वयुगीन सभी रूपों एवं शैलियों का उपयोग कर उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि की है। राम-गान को उन्होंने विविध ग्रंथों में विविध दृष्टियों से विविध कोणों से प्रस्तुत किया है। इस विविधता के अनुरूप ही रस-परिकल्पना की विविधता भी हमें उनकी रचनाओं में मिलती है।

तुलसी की अपनी भक्ति-भावना आदर्शमयी दास्यभक्ति की है, इस भक्ति में उच्च कोटि के ज्ञान-विवेक-विराग का भी योग है। उनका काव्य इसी भक्ति के रसात्मक परिपाक का काव्य है। फिर भी उनके सामने भक्ति की विविध धाराओं को तरंगित करते हुए बहने वाला उनका युग भी है। इसमें कृष्ण-भक्ति की रमणीय तरंगिणी भी प्रभावित है। वे अपने आदर्श की सीमाओं में रहते हुए ही कृष्ण-भक्ति की रमणीयता से भी प्रभावित हुए हैं। कृष्णगीतावली उसी प्रभाव का व्यक्त रूप है। गीतावली की रचना में वह प्रभाव अव्यक्त रूप में बोला है। तुलसी की रस-परिकल्पना में रूपान्तर डालने वाला एक तत्त्व काव्यत्व है, दूसरा है कृष्ण-भक्ति।

यों तुलसी का एक-एक शब्द उत्कृष्ट काव्य का निदर्शन है। साहित्य-रसिकों के लिए उसका कहीं फीकापन अखरे भी, तब भी भावुक भक्तों के लिए तो वह सर्वदा वेद-वाक्य-सा प्रमाण है। पर तुलसी की दृष्टि में काव्यरसों एवं भक्तिरसों की पृथक् स्थिति की चेतना जागरूक रहती है। वे सदा यत्नशील रहते हैं कि उनके काव्य-रस कभी विषय-रस न बनने पाएं। अतः काव्यरसों एवं भक्ति रस के अन्य रूपों के योग एवं समन्वय से उनके काव्य में रस-परिकल्पना के चार रूप हमारे सामने प्रमुख रूप में आते हैं:

१. अपने दृष्टिकोण के अनुरूप केवल भक्तिरस की परिकल्पना, जिसमें काव्यरसों के परिपाक की ओर दृष्टि नहीं, और न ही भक्ति के अन्य किसी रूप की ओर ध्यान है। इसे हम विशुद्ध भक्तिरस की परिकल्पना कह सकते हैं।
२. अंगभूत काव्यरसों के द्वारा परिपुष्ट भक्तिरस अंगी की परिकल्पना।
३. भक्तिरस के अंगी-रूप में नहीं, किन्तु एक व्यापक भावना के रूप में रखते हुए काव्यरसों का परिपाक।
४. अपने आदर्श भक्ति-रस के साथ अन्य भक्तिरस-रूपों के समन्वय की रस-परिकल्पना।

इन चार रूपों में प्रथम तीन तो तुलसी के आदर्श भक्तिरस और काव्य-रसों के योग के कारण हैं, चौथा भक्ति-रस के अन्य रूपों के साथ समन्वय दृष्टि का फल है। पहले तीन

रूपों में काव्यरसों की स्थिति क्रमशः नगण्य, अंगात्मक और प्रधानीभूत है। इन तीनों में भक्तिरस क्रमशः एकमात्र, अंगी और गुणीभूत है।

तुलसी की इस चतुर्विध रस-परिकल्पना के परिचायक उनके अलग-अलग चार ग्रंथ हमारे सामने हैं। ये ग्रंथ हैं क्रमशः—विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली। विनयपत्रिका शुद्ध भक्तिरस का ग्रन्थ है, रामचरितमानस काव्यरस-परिपुष्ट अंगी भक्तिरस का काव्य है, कवितावली भक्ति-परिपुष्ट काव्य-रसों की परिकल्पना सामने लाती है, गीतावली भक्तिरस के समन्वय का काव्य है। उनके भक्तिरस की परिकल्पना के चारों रूप हमें इन चार ग्रंथों में मिल जाते हैं।

यों तुलसी का साहित्य मात्रा और संख्या में विशाल है। सर्व-सम्मति या अधिक-मति से प्रामाणिक रूप में स्वीकृत भी उनकी रचनाओं की संख्या पर्याप्त है। पर उनके समूचे साहित्य का सार विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली में समाहित है। अन्य रचनाएं इनमें निहित भाव-भूमि को ही विविध रूपों-शैलियों आदि के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। रस-परिकल्पना की दृष्टि से तो उनकी ये ही आधार कृतियाँ हैं। हम तुलसी की रस-परिकल्पना का अध्ययन करने के लिए इन चार कृतियों को ही आधार बना कर चलेंगे।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। सूर और तुलसी हमारे साहित्य के सर्वाधिक अधीत महाकवि हैं। आलोचकों, शोधकों और भक्तों ने इन महाकवियों के ऊपर न जाने कितना लिखा है, कितना विचार किया है। इनकी रस-परिकल्पना भी किसी न किसी रूप में बहु-अधीत हो चुकी है। वह अछूती नहीं, आज अपरिचित नहीं। उसके अध्ययन में दृष्टिकोण भेद हो सकता है, कोई नया आविष्कार नहीं। इन सब वस्तुस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ उन बातों का पिष्ट-पेषण न करना चाहेंगे जो सर्व-परिचित हैं, विद्वानों के द्वारा बहुत कही जाती रही हैं। अतः, संक्षेप के साथ यहाँ हमें अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना ही इष्ट है। हां, विद्वानों के अध्ययन का लाभ उठाने का अधिकार भी हम सुरक्षित रखना चाहेंगे।

विनयपत्रिका—भक्तिरस के परिपाक की दृष्टि से विनयपत्रिका तुलसी की सर्व-श्रेष्ठ कृति है। इसमें तुलसी की गंभीर एवं प्रांजल अनुराग-भावना आत्माभिव्यंजन के रूप में व्यक्त हुई है। अतः इसकी रस-परिकल्पना में जो अनुभूति की तीव्रता है वह अन्यत्र नहीं मिलती।

विनयपत्रिका भक्तिरस का उत्कृष्ट काव्य है। इस भक्तिरस के उसमें दो रूप दिखायी पड़ते हैं—दास्यभक्तिरस, एवं शान्तभक्तिरस। कहीं-कहीं कुछ पदों में निर्वेद-विवेक-तत्त्वज्ञानादि-मूलक स्वतन्त्र शान्तरस के भी दर्शन होते हैं। पर यदि पत्रिका की समूची भाव-धारा के बीच उन पदों की रस-परिकल्पना को रखकर परखा जाय तो वे भी शान्त-भक्तिरस के ही अन्तर्गत होंगे।

भक्तिरस के इन्हीं दो रूपों की अनन्त भाव-रश्मियों का प्रस्फुटन एवं अनुरंजन विनयपत्रिका में मिलता है। इन भाव-रश्मियों की विविधता एवं रंगीनी अपने में इतनी विचित्र है कि काव्यशास्त्र के स्थूल बंधान उन्हें परिगणित करके अपने में परिसीमित करने में असमर्थ हैं। विनय-पत्रिका में भक्तिरस की छाया में तरंगायित भाव-व्यंजना को हम तीन प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं :

(क) संचारी रूप में,
(ख) अंग-रूप में,
(ग) अनुभाव-रूप में।

इन रूपों के अतिरिक्त अनेकत्र एक भाव दूसरे भाव को जन्म देता हुआ विभाव-रूप में भी चित्रित मिलेगा।

'पत्रिका' की भक्ति स्वरूपतः प्रेम-लक्षणा है। उसकी अनन्यता, तल्लीनता एवं प्रेमावेश कवियों एवं भक्तों के लिए स्पृहणीय है। पर यह भक्ति उच्च कोटि के विराग-विवेक एवं तत्त्व ज्ञान पर भी आधारित है। इस निर्मल आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित अनुराग अपने में आनन्द भी रहा है, मंगल भी। इस मणि-कांचन योग का प्रभाव रस परिकल्पना पर यह पड़ा है कि पत्रिका में भक्ति एवं शान्त घुलकर एकाकार हो गये हैं। उसमें जब आप अनुराग की वेगवती धारा देखेंगे, तभी उसके मूल में गहरा विराग भी आपको मिलेगा। राम-चरण-अनुराग में ही संसार-विराग घुला हुआ है। इसी प्रकार जब शान्त की निस्वन धारा प्रवाहित मिलेगी तो साथ ही उसका मुख अनुराग के अतल उदधि की ओर मिलेगा। इस रूप में पत्रिका में भक्ति और शान्त को परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा अलग करना असम्भव है। फिर भी स्थल-विशेषों के आधार पर, अभिव्यंजना एवं परिकल्पना के रूपान्तर के आधार पर तथा भाव-व्यंजना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहीं भक्ति-रस की प्रधानता है, कहीं शान्तभक्तिरस की, कहीं शुद्ध शान्त की। इसी दृष्टि से हम पत्रिका में दास्यभक्तिरस, शान्तभक्तिरस एवं शान्त तीनों की परिकल्पना का अलग-अलग स्वरूप देखेंगे।

यह हम पुनः याद दिला दें कि पत्रिका में उच्च कोटि का कवित्व होते हुए भी काव्य-रसों का परिपाक नहीं है, न स्वतन्त्र, न अंगरूप में। जो अनेक भावों की झलक मिलती है, वह सब भाव-व्यंजना के अन्तर्गत है, रस-परिपाक में नहीं आती।

दास्य भक्तिरस

विनयपत्रिका की भाव-भूमि का केन्द्रबिन्दु निम्न पंक्तियों में समाहित है :

"राम सौ बड़ौ है कौन मोसौ कौन छोटौ।
राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो।"[1]

इस केन्द्रीय भाव की परिधि ही व्यापक होते-होते शक्ति-शील-सौन्दर्य की राशि भगवान् राम के महत्त्व, पतितपावनत्व एवं अनन्त भक्तवत्सलत्व तथा तुलसी के लघुत्व, दैन्य एवं अनन्यत्व के नाना रूपों में फैल गयी है।

देव-रतियां—पत्रिका के प्रारम्भ में तुलसी ने गणेश, सूर्य, शिव, देवी, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता की स्तुतियां की हैं। इन स्तुतियों में तत्तद्विषयक रति-भाव की व्यंजना है, सामान्यतः इनमें वर्ण्य के रूप एवं गुणों का विषयात्मक वर्णन आलम्बन एवं उद्दीपन रूप में रति-भाव का विभाव-पक्ष खड़ा करता है; अनुभावों एवं संचारियों की स्थिति दुर्बल है; भाषा संस्कृत-निष्ठ पदावली की आवेगमयी गति लिए हुए

---

१. विनयपत्रिका, पद ७२।

है। इन स्तुतियों में से शिव, हनुमान तथा सीता की स्तुतियों में ही तुलसी के सहज अनुराग की झलक मिलती है।

इन स्तुतियों में अभिव्यंजित किसी विशिष्ट देवादि के प्रति रति अपने में साध्य नहीं है। सभी देवताओं की स्तुति करते हुए प्रायः उनसे रामरति प्राप्त कराने की प्रार्थना तुलसी करते हैं।[1] हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीता इन राम-परिकर के लोगों की स्तुतियों में रामरति की उपलब्धि की सीधी प्रार्थना न होने पर भी तुलसी का उद्देश्य वही है जो अन्य स्तुतियों में है। यह उद्देश्य विनयपत्रिका के अन्त में जाकर स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार इन स्तुतियों में व्यंजित तत्तद् रति की काव्यशास्त्रीय स्थिति स्वतन्त्र रस-परिकल्पना या भाव-व्यंजना के अन्तर्गत नहीं आती। इनमें व्यंजित रतियां रामरति का अंग बन जाती हैं। अतः देवादि-विषयक रति-भाव एक दूसरे राम-विषयक रति-भाव के अंग होने के कारण काव्यशास्त्रीय दृष्टि से 'प्रेयः' या 'अपरांग गुणी-भूत व्यंग्य' का विषय है। पर भक्ति को रस मान कर चलने पर ये समस्त विविध रतियां भक्ति-रस के ही अंग रूप में आती हैं।

इतना होते हुए भी इन पदों में राम-विषयक भक्तिरस का परिपाक नहीं हो पाता। रामरति एक भाव के रूप में ही यहां अन्तर्निहित रह जाती है। ये स्थितियां काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी, और भक्तिशास्त्र की दृष्टि से भी 'भाव' की ही स्थितियां हैं, रस-स्थितियां नहीं।

इन देव-स्तुतियों के अनन्तर कई पदों में उसी प्रकार की स्तोत्र-पद्धति वाली पदावली और छन्द-गति के द्वारा राम की स्तुतियां भी की गयी हैं। इनमें राम के नाम, रूप, गुणों के वर्णन द्वारा राम-विषयक रति का विभाव-पक्ष तो खड़ा किया गया है किन्तु रस-परिपाक के लिए अपेक्षित संचारी भावों की योजना एवं अनुभावों के विधान का प्रायः अभाव है। इस प्रकार इन पदों में भी राम-रति भाव-कोटि की ही रह जाती है, रस कोटि को प्राप्त नहीं हो पाती।

किन्तु इन स्तुतियों से आगे बढ़कर नाना संचारियों एवं अनुभावों की सुन्दर नियोजना से भक्ति-रस की धारा प्रवाहित हो निकलती है। अनन्यता, दैन्य एवं प्रेम-विवशता तुलसी की दास्य-भक्ति की अपनी विशेषताएं बन गयी हैं। भगवान् के महत्त्व की अनुभूति, पतित-पावनत्व के विरद का गान, आत्म-दैन्य एवं आत्म-पतितत्व की चेतना के साथ आत्म-निवेदन तुलसी से अधिक किसी अन्य भक्त में नहीं मिलेगा। संसार-लिप्सु मानव के कलुषपूर्ण मन को विश्वास और साहस के साथ अनन्त शील-सम्पन्न अहैतुक कृपालु भगवान् राम के समक्ष प्रस्तुत कराने में जो आश्चर्यपूर्ण कार्य विनय-पत्रिका करती है वह अन्य कोई रचना नहीं

---

१. "मांगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।" गणेशस्तुति, पत्रिका, पद १।
"तुलसी रामभगति वर मांगे।" सूर्यस्तुति, वही, पद २।
"देहु कामरिपु रामचरन-रति।" वही, शिवस्तुति, पद ३।
"तुलसी बसि ह्रदय रामजपु जो भयो चहै सुपासी।" काशीस्तुति, वही, पद २२।
"तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम। सेइय करि निरुपाधि प्रेम।" चित्रकूट, वही, पद २३। देवीस्तुति, पद १५। गंगास्तुति, पद १७।

करती। इस क्षेत्र में थोड़ा सूर के पदों का योग अवश्य है, पर सूर इस क्षेत्र में जमे नहीं रहे, तुलसी का यह अपना क्षेत्र ही बना। इस प्रकार की अनुभूतियों का सहज स्रोत तुलसी के हृदय में निहित है जो विनयपत्रिका के रूप में व्यक्त हुआ है।

"और मोहि को है, काहि कहिहौं,
रंक राज ज्यौं मन कौ मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं।
इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं।
दीजै वचन कि हृदय आनिये "तुलसी को पन निर्बहिहौं"।"[1]

विनयपत्रिका ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, अगाध प्रेम एवं विश्वास की निकटता घनीभूत होती जाती है। भगवत्प्रेम सम्बन्धित अनेक भाव पहले के पदों में संचारी के रूप में आते हैं और दास्यरति का पोषण करते हैं, किन्तु अन्तिम पदों में प्रेम की तीव्र अनुभूति तीव्र-गति से प्रवाहित सरिता के समान भावों को इस प्रकार उछाल-उछालकर बाहर फेंकती चली जाती है कि पाठक का मानस-तट नूतन-नूतन भाव-लहरियों से रसाप्लावित होता चला जाय। रति की गहरी अनुभूति से उत्पन्न इन अनेक प्रकार की भाव-लहरियों को भगवद्रति का अनुभावात्मक भाव ही समझना चाहिए।

"पन करि हौं हठि आजुतें रामद्वार पर्‌यो हौं।
तू मेरो यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं।
... ...
हौं मचला लै छांड़िहौं जेहि लागि अर्‌यो हौं।
तुम दयालु, बनिहै दिये, बलि, बिलंब न कीजिये, जात गलानि गर्‌यो हौं।
प्रगट कहत जो सकुचिये, अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइये तुलसिहि कृपा करि, कलि विलोकि हहर्‌यो हौं।"[2]

ये भाव प्रेमानुभूति के उच्छलन हैं। इन्हें काव्य-शास्त्र के बंधे नामों में चाहे समेटा जाय या नहीं, पर इनका उभार प्रेम की गहरी अनुभूति के कारण ही हुआ है। अनुवर्तिनी अनुभूतियां होने के कारण ऐसे भाव अनुभाव-रूप ही होते हैं।

'अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायेउं नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खसैहौं।[3]

इस प्रकार के न जाने कितने प्रेम-सिंचित भाव विनयपत्रिका में बिखरे हुए हैं। विनय-पत्रिका की भक्ति-भावना का मूल स्वर दास्य-भक्ति का होने के कारण ये सब भाव दास्य-भक्तिरस की परिकल्पना के अन्तर्गत आते हैं।

शान्त भक्तिरस

हम पीछे कह चुके हैं कि तुलसी की भक्ति में शान्त सहज रूप से घुला हुआ है। शान्त सम्बन्धी पदों को हम पत्रिका में दो रूपों में पाते हैं—एक तो जहां मनःप्रबोध, विवेक, तत्त्व-ज्ञान आदि की चर्चा एवं अनुभूति स्वतन्त्र रूप में की गयी है। दूसरे जहां यह प्रशान्त अनुभूति भगवद्रति-पर्यवसायिनी हो जाती है। दूसरी प्रकार की स्थितियां शान्तभक्तिरस के

१. विनयपत्रिका, पद २३१।
२. वही, पद २६७।
३. वही, पद १०५।

अन्तर्गत मानी जाती हैं, प्रथम प्रकार की शान्तरस के अन्तर्गत। शान्तभक्तिरस के निम्न नमूने पत्रिका में से देखे जा सकते हैं :

(क) "हे हरि, यह भ्रम की अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संशय-संदेह न जाई।
... ...
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-भगति, संत-संगति बिनु को भव-त्रास मिटावै।"[1]

(ख) "ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुरसरिता आस करत ओस कन की।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यौं तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहं सीतलता न वारि पुनि हानि होति लोचन की।
कहं लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की।"[2]

इस प्रकार के पदों में मनःप्रबोध, विवेक एवं शम की गहरी अनुभूति होती है किन्तु इस प्रशान्त अनुभूति का साक्षात् सम्बन्ध भगवत्प्रेम की अनुभूति से होता है। इस प्रकार की अनुभूतियां शान्तभक्तिरस की कही जा सकती हैं।

शान्त रस

विनय-पत्रिका में अनेक पद इस प्रकार के भी हैं जिनका स्वर ज्ञान-विवेक एवं तत्त्व-ज्ञान के गहरे अनुभवों से निकला हुआ है। यदि इन पदों को पत्रिका की प्रवाहिनी भाव-धारा में रख कर न जांचा जाय तो इनमें शान्तरस की तीव्र एवं निर्मल अनुभूति सामने आती है। निम्न पद इसी कोटि के हैं :

(क) "जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी।
सोवत सपनेहूं सहै संसृति-संताप रे।
बूड्यौ मृग-वारि, खायो जेवरी को सांप रे।
कहैं वेद बुध तू तो बूझि मन मांहि रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।
तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूं ताय रे।
रामनाम सुचि-रुचि सहज सुभाय रे।"[3]

(ख) "केशव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये।
... ...
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।"[4]

---

१. विनयपत्रिका, पद १२१।
२. वही, पद ९०।
३. वही, पद ७३।
४. वही, पद १११।

इस प्रकार की अनुभूतियां शुद्ध शान्त रस के अन्तर्गत आती हैं।

पाठक के लिए विनय-पत्रिका की अनुभूति आत्माभिव्यंजन के रूप में प्रस्तुत किये जाने पर भी सीधी और सरल है, उसमें कोई उलझन 'कम्प्लैक्स' नहीं है। जिन रसों की जैसी परिकल्पना है वैसी ही पाठक को अनुभूति होती है। उसकी विभाव सामग्री में साधारणीकृत होने की पूर्ण क्षमता है। क्या भाव-व्यंजना और क्या रसानुभूति सभी स्थितियों में पाठक तुलसी से समानुभूति प्राप्त करता चला जाता है।

विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना की विशेषता यह है कि इसमें कवित्व एवं भक्ति दोनों की उच्च कोटि की अनुभूति है। सहज अनुभूति, सहज आत्म-निवेदन, सहज भगवत्प्रेम। जन-जन जिन अनुभूतियों को अपना बना सके; दुनिया की चोटों से व्यथित होकर जो भगवान् के सामने खड़ा होना चाहता हो, और शब्द न पा रहा हो, उसे तुलसी की पत्रिका रसमग्न ही नहीं करती, ज़बान भी देती है। जो दुनिया के प्रवाह में बहा चला जा रहा है उसे झकझोर कर ऐसे प्रेमरस में गोता लगा देना विनयपत्रिका का काम है जिसके सामने विषय-रस फीके लग निकलें। लोक पर सहज रूप से शुभ प्रभाव छोड़ना विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना का सहज गुण है। गहरी भावुकता, व्यापक हृदय-संवाद, अधिकतम साधारणीकरण, उदात्त भावोन्नयन एवं मंगलमय आवेग लिये हुए विनयपत्रिका की रस-परिकल्पना काव्य एवं भक्ति का एक उच्च आदर्श है।

रामचरितमानस

'रामचरितमानस' में भक्तिरस एवं काव्यरस दोनों की परिकल्पना है। भक्तिरस 'मानस' का अंगी रस है, काव्यरस उसके अंग हैं। अतः काव्यरसों का काव्यात्मक परिपाक भी उसी सीमा तक किया गया है जहां तक वे भक्तिरस के पोषक एवं अंग बने रहें। हम यहां रामचरितमानस में रस-परिकल्पना का विवेचन इस अंगी और अंग रसों की स्थिति को अलग-अलग स्पष्ट करते हुए करेंगे।

भक्तिरस—भक्तिरस मानस का अंगी रस है, हम यह अभी कह चुके हैं। तुलसी की भक्ति दास्यभक्ति है, अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानस में भी भक्तिरस का यही रूप परिकल्पित है।

दास्यभक्तिरस के लिए आलम्बन के महत्त्व और आश्रय के दैन्य-लघुत्व की अनुभूति आवश्यक है। दोनों पक्षों की चरम अनुभूति में ही यह रस पूर्णतः परिपाक पाता है। विनय-पत्रिका में इसीलिए यह रस चरम कोटि पर है कि इसमें दोनों पक्षों की अनुभूति सघन है। 'मानस' में आलम्बन के महत्त्व को उभारते हुए इस रस का विभावपक्ष जितना दृढ़ है उतना दूसरा पक्ष नहीं है।

'मानस' एक प्रबन्ध काव्य है। उसकी आधिकारिक कथा इसी रूप में वर्णित है कि वह केवल रामचरित न होकर राम-सुयश-गान हो गयी है। राम-सुयश-गान बनकर ही यह कथा भक्ति की कल्लोलिनी है। अन्य पताका-प्रकरी कथाएं इसी भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में निरूपित-विकसित हैं। इन कथाओं का एक ही लक्ष्य है भक्तिरस का परिपाक। सभी कथाएं विकसित होकर राम का महत्त्व उभारकर भक्ति के विभावपक्ष को दृढ़ करती चली जाती हैं।

मानस के पात्रों के व्यक्तित्व का विकास संस्कृति, आदर्श, मनोविज्ञान और स्वाभाविकता के अनुरूप होते हुए भी उनकी दिशाएं और सीमाएं भक्तिरस के हाथों निर्धारित

होती हैं। मानस का कोई पात्र ऐसा न मिलेगा जिसके विकास पर तुलसी की भक्ति-भावना साभार न उतरती हो। नमूने के तौर पर एक उदाहरण लिया जा सकता है।

जनकपुर में राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र पहुँच चुके हैं। लक्ष्मण नगर-दर्शन के लिए उत्सुक हैं पर संकोच-वश खुलकर नहीं कह सकते। राम यह जान गये और उन्होंने विश्वामित्रजी से सविनय अनुमति प्राप्त कर नगर देखने-दिखाने की योजना कर ली। इस घटना में राम के शील, कुशलता एवं भ्रातृ-स्नेह की झलक है। पर गोस्वामीजी इस बात को यों ही न रहने देंगे। तुलसी के शब्दों में राम के मन में भ्रातृ-स्नेह नहीं, 'भक्त-वात्सल्य' जगा है :

"राम अनुज हिय की गति जानी।
भगत बछलता हियं हुलसानी।"[1]

राम के निवेदन पर अनुमति देते हुए विश्वामित्रजी की प्रतिक्रिया भी देखने योग्य है :

"सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती।
धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।"[2]

जब भाई और गुरु के साथ सामान्य बातों में राम 'भगत-बछल', 'धरमसेतुपालक' 'प्रेम-बिबस', 'सेवक-सुखदाता' हैं, तो सामान्य पाठक और भक्तों के लिए तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार का उदाहरण यह एक ही नहीं है, इसके अनेक साथी मानस-यात्रा में पग-पग पर मिलेंगे। ये स्थितियाँ काव्यरस के परिपाक के भले ही अनुकूल न हों, भक्तिरस के लिए तो ये ही परिपोषिका सिद्ध होती हैं।

तुलसी चार डग नहीं बढ़ेंगे—राम के महत्त्व की चर्चा आ जायगी। शायद, इसीलिए कि कहीं काव्यरसों का परिपाक अपने में उभर न उठे। काव्यरसों के अधिक उभरने से भक्ति-रस के व्याहत होने के खतरे से गोस्वामीजी भली भांति परिचित थे। जिन कवियों ने इस महत्त्व-चेतना को थोड़ा भी ओझल करते हुए रामचरित का गान किया है, उनके रामचरित-गान में काव्यरस उभरे हैं, भक्तिरस दबा है। केशव और सेनापति के रामचरित-गान में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। भक्तिरस की परिकल्पना को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तुलसी के पास रामचरितमानस में राम के महत्त्व एवं ब्रह्मत्व की चर्चा सबसे प्रमुख उपाय है।

मानस की प्रत्येक घटना, प्रत्येक पात्र, प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का पर्यवसान राम महत्त्व में है। उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार के रूप में रामचरितमानस का प्रतिपाद्य रस राम-रस ही ठहरता है, यह तथ्य अपने में इतना स्पष्ट है कि उदाहरणों से समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता।

तुलसी की रति के आलम्बन राम हैं, दशरथ-सुत राम हैं। पर इन राम को उन्होंने निर्गुण-सगुण की उभयात्मक स्थितियों में एकाकार करके देखा है। राम की परब्रह्मता और परब्रह्म की रामता मानस का पदे-पदे प्रतिपाद्य है। उन्हीं की लीलाओं का गान मानस का अगाध सुधारस है जिसमें प्रेमाभक्ति ने अपनी मधुरता और शीतलता मिला दी है।[3]

---

१. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २१७।३।
२. वही, दो० २१७।७-८।
३. "प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई।" मानस, बा० का०, ३५।६।

आलम्बन के विस्मय-पूर्ण कर्म, अनन्त शक्ति, चरम शील इस रति के लिए स्वयं आकर्षण का केन्द्र भी हैं, उद्दीपन भी। शक्ति-शील-सौन्दर्य की निर्गुण-सगुण खनि के प्रति तुलसी के काव्य की रति अंधानुरक्ति नहीं, भले ही उसमें अंधानुरक्ति का आवेग-आवेश भरा है। यह रति ज्ञान-विवेक समन्वित है।[1] इस रति की सुरसरि के साथ कर्म की यमुना और ब्रह्म-विचार की सरस्वती का भी तीर्थराजी योग है।[2] इसमें लोक-कामनाओं का सर्वथा परिहार है।[3]

इस रति के लिए आलम्बन में टूटकर गिरने का केन्द्र-बिन्दु राम के चरण हैं। यों राम का अंग-अंग अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न है, जिस पर अनन्त काम न्यौछावर हैं, पर तुलसी की मानस-चित्रित रति में समर्पण एवं साधना का केन्द्र भगवान् के चरण हैं। यह चेतना ही तुलसी की भक्ति को दास्य में प्रतिष्ठित करती है। शील की खनि भक्तवत्सल राम के प्रति दास्यमयी यह रति उनके चरण-कमलों के पराग का रस-पान है।[4]

रामचरितमानस में इस राम-रति का 'कैन्वास' बहुत फैला हुआ है। यों यह रति राम के सगुण रूप के प्रति है, पर इस सगुण में ही निर्गुण की महिमा भी अन्तर्व्याप्त है। कभी यह रति नामी से नाम को भी अधिक महत्त्व देते हुए नाम रति के रूप में दिखायी देगी,[5] कभी राम-प्रिय सन्तों एवं राम के आराध्य शिव का गुण-गान करते हुए सन्त-रति और शिव-रति के रूप में। शिव को तो तुलसी कभी राम का आराध्य और कभी राम का अनन्य आराधक दिखाकर राम से एकाकार कर देना चाहते हैं। राम की अभिन्न शक्ति सीता और अनन्य दास हनुमान् के प्रति भी आने वाली रति राम-रति का ही अन्यतम रूप है। नाना देव रतियां इसी राम रति की पोषिका-उद्भाविका के रूप में चर्चा का विषय हैं।

तुलसी के मानस की यह राम-रति उनके 'रामचरितमानस' में उसके प्रबन्ध-काव्य होने पर भी असाक्षात् रूप में भी व्यक्त हुई है, स्थल-स्थल पर साक्षात् रूप में भी। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि अन्य पात्रों द्वारा की हुई भाव-व्यंजना में भी तुलसी का अपना दृष्टिकोण ही उभरकर बोला है। इसी के कारण तुलसी के पात्र राम के महत्त्व और परब्रह्मत्व की जागरूक चेतना नहीं छोड़ सके। उदाहरण-स्वरूप वात्सल्य की प्रकृत अनुभूति के लिए यह आवश्यक था कि तुलसी की कौसल्या से राम का परब्रह्मत्व सूर की यशोदा के समान ओझल रहता। पर तुलसी के लिए यह कठिन था। कहिए, उन्हें इष्ट न था। कौसल्या, दशरथ, लक्ष्मण, विश्वामित्र, जनक, स्वयं सीता सबके सब राम के परमेश्वरत्व के प्रति जगह-जगह जागरूक हैं। इस जागरूकता से लौकिक सम्बन्धों की स्वाभाविकता भले ही कुछ कम होती हो, पर भक्तिरस की परिकल्पना निस्सन्देह पुष्ट होती है।

काव्य-रस—अब हम रामचरितमानस में काव्यरसों की क्या स्थिति है, यह देखना चाहेंगे। रामचरितमानस के बालकाण्ड में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए तुलसी ने बताया है कि उनके इस ग्रन्थ में एक भक्तिरस है, काव्यरस तो एक सुन्दर सरोवर की शोभा बढ़ाने

---

१. "ग्यान बिराग भगति रस सानी।" वही, अयो० का०, ९१।३।

२. "रामभक्ति जहं सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्मविचार प्रचारा।
विधिनिषेधमय कलिमलहरनी। करमकथा रबिनंदिनि बरनी।" बा० का०, १।७-८।

३. 'सकल कामना हीन जे रामचरन-रसलीन।" बा० का०, दो० २२।

४. "पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।" बा० का० : २२१ : छंद ३।

५. बा० का० : दो० १९-२६ : नाम-महात्म्य।

वाले मीनादि कमनीय जलचर के समान हैं।[1] यह अपने 'मानस' की तुलसी द्वारा की हुई अत्यन्त सजग समीक्षा है। मानस की रस-परिकल्पना का यही स्वरूप समझना चाहिए। यहां सभी रसों को अलग-अलग लेकर देखना अप्रासंगिक न होगा।

शृंगार—'मानस' में तुलसी का शृंगार-वर्णन अत्यन्त सीमित, संक्षिप्त एवं सर्वत्र मर्यादित है। उनकी दास्यभक्ति-चेतना ने शृंगार-परिकल्पना को सर्वत्र प्रभावित किया है। यदि कोई तुलसी से पूछे कि क्या उनके भक्त के लिए सीताराम के शृंगारी चित्रों में साधारणीकरण होता है, तो तुलसी का उत्तर एकदम नकारात्मक होगा। शिव-पार्वती के विवाह के अनन्तर उनके शृंगार-विलास का अवसर आया था। वर्णन के इस अवसर पर कालिदास ने सारी मर्यादाओं को तिलांजलि दे दी थी। पर तुलसी के लिए यह असम्भव ही है :

"जगत मातु-पितु संभु-भवानी। तेहि सिंगारु न कहउं बखानी।"[2]

शिव और पार्वती का शृंगार ही उनके लिए अवर्ण्य है तो सीताराम के शृंगार वर्णन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। गीतावली को छोड़कर उन्होंने सर्वत्र यही आदर्श अपनाया है।

रामचरितमानस में संयोग-शृंगार के प्रमुखतया निम्न प्रसंग आये हैं :

१. पुष्प-वाटिका में जनकपुर में राम-सीता का मिलन।

२. वन-प्रसंग में ग्राम-वधुओं द्वारा रामादि के दर्शन पर।

३. उपर्युक्त शिव विबाह के अवसर पर।

शिव-विवाह के अवसर पर उनके शृंगार-वर्णन के विषय में तुलसी ने जो दृष्टिकोण अपनाया है, हम अभी देख चुके हैं।

जनकपुर में पुष्पवाटिका के प्रसंग में सीता-राम के मिलन में उत्पन्न प्रीति को विवाह से पूर्व की होने के कारण पूर्वराग के ढंग की समझनी चाहिए। पर तुलसी ने उसके चित्रण को आश्चर्यजनक रूप से मर्यादित किया है। सखी के मुख से सीता को सूचना मिली कि उनकी वाटिका में वे दोनों कुमार घूमने आये हैं जिन्होंने अपने सौन्दर्य की मोहिनी सारे नगर पर डाल रखी है। सुनकर सीता के नयन दर्शन के लिए अकुलाने लगे। उत्कंठा-रूप में इस रति के उदय को दिखाकर भी तुलसी उसका सम्बन्ध 'पुरातन प्रीति' से जोड़ देते हैं :

"चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥
सुमिरि सीय नारद क्वचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।"[3]

हृदय में उत्कण्ठा, नयनों में आकुलता और देखने में मृगी शिशु का भय दिखाते हुए तुलसी 'पुरातन प्रीति' और नारद की बात सामने लाकर सीता-राम के अवतारी रूप को सामने ला देते हैं और यह प्रीत निश्चित रूप से 'पुनीत प्रीति' रह जाती है। सीता के अनिर्वचनीय सौन्दर्य का प्रभाव राम पर भी पड़ा। उसका चित्रण करने तुलसी बढ़े, पर इनीगिनी चौपाइयों के बाद ही सम्हल गये :

---

१. "नव रस जप-तप जोग-विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।" बा० का०, ३६ १०।

२. बा० कारड : १०२।४।

३. वही, २२८।१०, २२९।

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीनी। मनसा विस्व विजय कहं कीन्हीं ॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ॥
भए विलोचन चारु अचंचल। मनहुं सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा ॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहं प्रगटि दिखाई ॥
सुंदरता कहं सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ॥"[1]

इस प्रसंग को उद्धृत करने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी किस प्रकार सीता-राम के शृंगार-चित्रण से बचते हैं। इस क्षेत्र की बारीक से बारीक अनुभूति को चित्रित कर सकने की उनमें पूरी-पूरी क्षमता है, पर वे जान-बूझकर बचना चाहते हैं, इस बात का यह प्रसंग निदर्शन है। थोड़ेसे शब्दों में व्यंजित एवं मर्यादित शृंगार ही तुलसी की भक्ति-भावना में आ सकता था।

इसी प्रकार वनपथ-प्रसंग का शृंगार सीमित एवं व्यंजित है। सौन्दर्य-शोभा से आकृष्ट ग्रामवधूटियों ने बड़े संकोच एवं विनय से सीता से पूछा—"कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।"[2] सीता ने बड़े संकोच के साथ मुस्कराते हुए उत्तर दिया :

"सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।
तिन्हहिं विलोकि विलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन विधु अंचल ढांकी। पियतन चितै भौंह करि बांकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेहु तिन्हहि सिय सयननि।"[3]

इस दाम्पत्य रति के संक्षिप्त किन्तु मनोरम चित्रण के साथ तुलसी ने कान्तारति का एक सामान्य रूप भी चिचित्र किया है जिसे काव्य-शास्त्र की भाषा में नहीं बांधा जा सकता। जनकपुर पहुंचने पर राम-लक्ष्मण नगर घूमने निकले। नगर-नारियां इन रूप-निधियों के सौन्दर्य को देखकर प्रेम-विवश हो गयीं। वाटिका में पहले पहल जिस सीता की सखी ने उन्हें देखा था उसकी प्रेम-दशा भी अजीब थी।[4] वनपथ में ग्रामवधुओं में भी इस सौन्दर्य-राशि के प्रति आकर्षण दिखाया गया है।[5] पुरुष-सौन्दर्य के प्रति नारी का यह आकर्षण कान्तारति के अन्तर्गत ही आता है। किन्तु यह आकर्षण इतना निर्मल एवं सहज है कि इसे

---

१. बा० का०, २२९।१-१०।

२. अयो० का०, ११६।१।

३. २१६।२-८।

४. "तेहि दोउ बंधु विलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिं आई।
तासु दसा देखीं सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।" बा० का०, दो० २२८।

५. अयो० का०, दो० ११४-५।
"मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा।"
"तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा।"

कान्तारति कहने से इसकी निर्मलता पर आंच आती है। किसी अन्य शास्त्रीय शब्द के अभाव में ही हम इसे 'सामान्य कान्तारति' कहकर चल रहे हैं। इस निर्मल शृंगार का और सुन्दर परिपाक तुलसी ने कवितावली में किया है।

संक्षेप में मानस में तुलसी का शृंगार अत्यन्त मर्यादित, वर्णन में अल्प एवं सीमित, व्यंजनापूर्ण, अनुभावों एवं संचारियों के माध्यम से चित्रित होकर भी अस्थूल है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और जगन्माता सीता के चरित्र में तुलसी के भक्तिरस की परिकल्पना के भीतर इससे अधिक खुले शृंगार-चित्रण की कोई गुंजाइश नहीं।

सीता-हरण के अनन्तर वियोग के अवसर भी कवि को मिलते रहे हैं। वन में राम पशुओं-वृक्षों-लताओं से सीता की खोज पूछते फिरते हैं, ऋतुएं उन्हें दाहक होती हैं, और कुछ परम्परा-भक्त शैली में किन्तु अत्यन्त संयत रूप में राम अपनी वेदना अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु इससे कोई यह न समझे कि यहां तुलसी के अतिमानवीयत्व की छाया हट गयी है। उनकी भाषा में यह सब 'मनुज-चरित' है :

"एहि विधि विलपत खोजत स्वामी। मनहुँ महा विरही अति कामी।
पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।"[1]

रावण-द्वारा हरण करते समय, अशोक-वाटिका में उसके द्वारा यातनाएं दिये जाने पर, तथा इसी प्रकार के अवसर निकलने पर तुलसी ने सीता के घनीभूत विरह-दुःख का चित्रण किया है। यह विरह परिस्थिति, शील और व्यक्तित्व के अनुरूप अत्यन्त संयत एवं संक्षिप्त है। अशोक-वाटिका में सीता के विरह में 'उन्माद' की स्थिति भी चित्रित है जब वे जल-मरने के लिए आकाश के अंगारमय तारों से, पावकमय शशी से, अनलवर्षी पल्लवों वाले अशोकों से अग्नि-कणों की याचना करती फिरती हैं। पर हनुमान् के साथ भेंट में सीता का विरह मर्यादित एवं पुटपाक-व्यथा का सूचक ही चित्रित हुआ है :

"बूड़त विरह जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहुँ जलजाना।
अब कहु कुसल जांउं बलिहारी। अनुज सहित सुखभवन खरारी।
कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई।
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक।
कबहुं नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता।
वचन न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी।
देखि परम विरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु वचन विनीता।"[2]

इस प्रकार सब मिलाकर मात्रा में शृंगार संक्षिप्त, व्यंजनापूर्ण एवं भक्तिरस की सीमाओं में मर्यादित है।

हास्यरस—गोस्वामी जी की गंभीर प्रकृति और आदर्श चरित्र-चित्रण में हास्य को भी विशेष अवकाश नहीं है।

नारद-मोह में एक प्रसंग हास्य का आता है जिसमें काम-पीड़ित नारद हास्य के आलम्बन के रूप में चित्रित हैं :

---

१. अरण्य काण्ड, दो० २९।१६-७।

२. सुन्दर का० : १३।१-७।

'जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न विलोकी भूली।
पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं।"[1]

यह हास्य नारद के रत्याभास से उत्पन्न है। अभिनव ने भरत के 'शृंगाराज्जायते हासः' की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार के भावाभासों से हास्य की उत्पत्ति दिखायी है।[2]

इसी प्रकार शिव की बेढंगी बारात के चित्रण में भी हलके हास की योजना[3] की गयी है। भगवान् विष्णु सब देवताओं को शिव के अनूठे परिवार से अलग करा देते हैं। यह सब प्रेम-जन्य हास्य-विनोद है। यहां का हास स्नेह का फल है। अतः इसका विभाव शिव-विषयक रति है।

इस प्रकार मानस में हास्य यत्र-तत्र संचारी स्थितियों में ही चित्रित है।

करुण—मानस के दो प्रसंगों में करुण की व्यंजना अधिक मार्मिक है—एक तो राम के वन-प्रस्थान पर अयोध्या में विरह-जन्य शोक का वातावरण जिसमें दशरथ की मृत्यु से शोक और घनीभूत हो उठा है, दूसरा है लंकाकाण्ड में लक्ष्मण के शक्ति लगने पर। दोनों ही प्रसंगों में शोक की परिकल्पना मर्मस्पर्शिनी है।

दशरथ की मृत्यु को तुलसी ने शोक के विभाव के रूप में कम ही चित्रित किया है। दशरथ-मरण उस व्यापक शोक का उद्दीपन ही होकर आया है जो राम के वन चले जाने के कारण अयोध्या के नर-नारियों, पशु-पक्षियों, नदी-घाटों में भी फैला हुआ है। यह शोक-धारा चित्र-कूट पर भरत के पहुंचने तक बहती चली जाती है।

विरह-जन्य शोक को सामान्यतः शोक नहीं कहा जाता। किन्तु भरत के शोक के विभावों में न केवल मृत्यु को, अपितु इष्ट-विप्रयोग को भी परिगणित किया है।[4] गोस्वामीजी ने भी राम-वियोग को इसी गहरे विप्रयोग के रूप में चित्रित किया है।

लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में राम जैसे गम्भीर व्यक्ति को गहरे शोक में दिखाकर तुलसी ने काव्योचित कार्य ही किया है। राम का यह शोक मर्यादाओं को तोड़ता दिखायी पड़ता है। यदि उन्हें ऐसा आभास होता तो वे पिता के वचन टाल देते। दुनिया कहेगी स्त्री के लिए भाई को राम ने खोया।[5]

रस-दृष्टि से तुलसी ने शोक को रस-परिपाक की स्थिति तक पहुँचाया है किन्तु उसे पूर्णतः स्वतन्त्र विकसित नहीं होने दिया। उदाहरणतः लक्ष्मण-शक्ति पर राम के शोक को राम के अपौरुषेयत्व की आगे-पीछे जागरूक चेतना दिखाकर पाठक के लिए शोकानुभूति का

---

१. बा० का०, १३४।१-२।

२. अभि० भा०, भा० १, पृ० २९६।

३. बालकाण्ड, शिव-विवाह-प्रसंग।

४. ना० शा० : अ० ६ : पृ० ३१७। "शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघात-व्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।"

५. (क) "जौं जनतेउ बन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनतेउं नहिं ओहू।" लं० का०, ६०।६।
(ख) "जैहउं अवध कौन मुंह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई।
बरु अपयसु सहतेउं जग माहीं। नारि हानि विसेष छति नाहीं।
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा।" वही, ६०।१२-४।

स्वरूप कुछ हलका कर दिया है। उस प्रसंग के आदि और अन्त इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं :

(क) उहां राम लछिमनहिं निहारी। बोले वचन मनुज अनुसारी ॥"[1]

(ख) उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल दिखायी।"[2]

इस प्रकार इस शोक-चित्रण में तुलसी का उद्देश्य पाठक को शोकानुभूति कराना ही नहीं, अपितु उन राम के महत्त्व के प्रति श्रद्धानत करा देना है जो भाई के लिए नहीं, अपितु भक्त के लिए अपने आदर्श और मर्यादा को तिलांजलि देकर अपयश भी सहने को तैयार हैं।[3]

वीर और रौद्र—मानस में उत्साह की व्यंजना के तथा क्रोध के आवेग के अनेक प्रसंग आये हैं, यद्यपि इन सबमें वीर और रौद्र का बंधा-बंधाया परिपाक नहीं है।

लक्ष्मण-परशुराम संवाद में इसकी एक झलक मिलती है। दोनों ओर से आवेश का अच्छा चित्रण इस प्रसंग में है। परशुराम में क्रोध के वाचिक और कायिक अनुभावों की योजना अच्छी है, पर लक्ष्मण में क्रोध की अपेक्षा व्यंग्य और चिढ़ाने की प्रवृत्ति का चित्रण अधिक है। अतः रौद्र का रसात्मक परिपाक इस प्रसंग में नहीं हो पाता।

वस्तुतः इस प्रसंग की योजना वीर या रौद्र के परिपाक के लिए है ही नहीं, अपितु परशुराम जैसे क्रोधी और क्षत्रियकुल-घालक गर्वोन्नत व्यक्ति को राम के सामने नत-फन दिखाकर अन्ततोगत्वा राम के महत्त्व की प्रतिष्ठा दिखानी है। इस प्रसंग का अन्त तुलसी ने इसी रूप में किया है :

"जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु समात।"[3]

अतः इस प्रसंग की भाव-व्यंजनाओं का उपयोग राम-महत्त्व की दृष्टि से ही किया गया है। भक्तिरस की पुष्टि के लिए जहां तक इन भावों की व्यंजना उठायी जा सकती थी, उठायी गयी है।

वीर और रौद्र दोनों की सुन्दर परिकल्पना हमें लंका काण्ड में मिलती है। अंगद और रावण के संवाद में उत्साह और आवेश का सफल उपयोग हुआ है। युद्ध में तो वीर और रौद्र दोनों मिलकर चले हैं। युद्ध-प्रसंग में ही दो बार बीभत्स की योजना भी हुई है। साथ ही स्थल-स्थल पर कभी इस पक्ष में तो कभी उस पक्ष में भय की योजना करते हुए गोस्वामीजी ने युद्ध वर्णन को सजीव बनाया है। इस प्रसंग में भावों के अनुरूप ही शब्दावली और छन्द की गति ने रस-परिकल्पना को सफल बनाया है।

पर इन सब चित्रणों में उद्देश्य है राम-महत्त्व की प्रतिष्ठा। अंगद-रावण-संवाद में जो भाव-व्यंजना है उसका अवसान अंगद के महत्त्व में होता है। अंगद ने सभा में जाने से पूर्व रावण के एक पुत्र का संहार किया, सभा में पहुँचकर समस्त सामन्तों के सहित रावण को छकाया, रावण के मुकुटों को उठाकर राम-दल में फेंक दिया। इस प्रकार अंगद का महत्त्व गोस्वामीजी पग-पग उभारते चले गये हैं। किन्तु इस महत्त्व का श्रेय अंगद को नहीं, राम को

---

१. लंका काण्ड, ६०।१।

२. वही, ६०।१८।

३. बाल काण्ड, दो० २८४।

है। न स्वयं अंगद ही अपना महत्त्व समझते हैं, न कवि ही। समूचे प्रसंग को तुलसी शिव के द्वारा इन शब्दों में राम-महत्त्व में पर्यवसित कर देते हैं :

"उमा राम की भृकुटि विलासा। होइ विस्व पुनि पावइ नासा।
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई।"[1]

इसी प्रकार युद्ध-प्रसंग में भी तुलसी राम के अलौकिक महत्त्व को बार-बार इस प्रकार सामने लाते रहते हैं कि रावण-पक्ष का महत्त्व बढ़कर भी शंका-आशंका की स्थिति नहीं ला पाता, राम-पक्ष के महत्त्व के कर्म अपनी पूरी महत्ता स्थापित नहीं कर पाते। यहां तक कि स्वयं भगवान् राम के वीरतापूर्ण कर्म भी उनके परमपुरुषत्व के वर्णन के कारण उनकी सामान्य क्रीडा मात्र रह जाते हैं :

"उमा करत रघुपति नर लीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला।
भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई।"[2]

राम यदि स-दल नाग-पाश में बंध भी गये तो क्या हुआ ?

"रन-सोभा लगि प्रभुहिं बंधायौ। नाग पास देवन भय पायो।
गिरिजा जासु नाम जपि मुनि काटहिं भव पास।
सो कि बंध तर आवइ व्यापक विस्व निवास।।"[3]

तो तुलसी के राम का मेघनाद की नाग-पाश में बंधना रण-शोभा के लिए है। तात्पर्य यह कि तुलसी का कवि वीर रौद्रादि रसों की सुन्दर योजना करता है किन्तु तुलसी का भक्त उन रसों के परिपाक को एक निश्चित रेखा से आगे नहीं बढ़ने देता और उनका उपयोग उसी रूप में करता है जिस रूप में वे भगवान् राम का महत्त्व एवं गुणानुवाद करते हुए भक्ति रस के अंग बन सकें।

भयानक—रस कोटि तक पहुंचने वाले भय के चित्र मानस में कम ही हैं। लंका काण्ड में ही युद्ध प्रसंग में कभी एक सैन्य दल में तो कभी दूसरे में भय की स्थिति का तुलसी ने चित्रण किया है। ये भय की स्थितियां सामान्यतः प्रसंग व्याप्त रस की पोषक संचारी स्थितियां ही समझनी चाहिए।

लंका-दहन के समय भय विपक्ष-निष्ठ है। इस प्रसंग में भय का जैसा परिपाक कवितावली में हुआ है वैसा मानस में नहीं। विपक्ष-निष्ठ भय की अनुभूति में पाठक डूबता नहीं, अपितु अपने मनोनीत पक्ष के महत्त्व में नत होता है। इसी रूप में इस प्रसंग के भय की कल्पना है :

"निबुक चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भई सभीत निसाचर नारी।
हरि-प्रेरित तेहि अवसर चले पवन उनचास।
अट्टहास करि गरजा कपि बढ़ि लाग अकास।
देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर तें मंदिर चढ़ि धाई।
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट लपट बहु कोटि कराला।

---

१. लंका काण्ड, १४।८।
२. वही, ६५।१-२।
३. वही, ७२।१३।

तातु मातु हा सुनिय पुकारा। एहिं अवसर को हमहिं उबारा।
हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर रूप धरें सुर कोई।"[1]

इस चित्र में लंका-वासियों में भय का विधान है। हनुमान् के आकार बढ़ाने अदि में अद्भुत की सृष्टि है। दोनों ही बातें हनुमान के महत्त्व की प्रतिष्ठा करती हैं। किन्तु वास्तविक महत्ता तो उस 'हरि' की है जिसने सभी वायुओं को प्रेरित किया है। सारी लंका जली, विभीषण का घर नहीं जला। क्यों, यह शिवजी के मुख से सुनिए—

"ताकर दूत, अनल जेहिं सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा।"[2]

तो मानस में भय के प्रसंग अनेक हैं। अधिकांश में तो उसकी स्थिति हलके संचारियों के रूप की है, प्रायः इस वर्ग के संचारी भावों की ही। जिन प्रसंगों में इसका कुछ खुलकर परिपाक है भी, उनमें भी या तो यह वीर-रौद्र आदि किसी अन्य वर्ण्य रस का अंग है, अथवा विषय-निष्ठ होता हुआ राम-वर्ग का महत्त्व स्थापित करता हुआ अन्ततोगत्वा भक्तिरस के परिपाक में योग देता है।

बीभत्स—बीभत्स का स्वतन्त्र चित्रण मानस में कहीं नहीं है। लंकाकाण्ड में ही युद्ध के प्रसंगों में दो स्थलों पर तुलसी ने युद्ध का वर्णन विषयानुरूप सजीव करने के लिए बीभत्स की झलक प्रस्तुत की है। अतः वह बीभत्स वहाँ के प्रसंग-निष्ठ रस का अंग है, स्वतन्त्र नहीं।

वात्सल्य—रामचरितमानस में वात्सल्य की परिकल्पना भी राम के महत्त्व की अनावश्यक चेतना से दबी हुई है। यह चेतना उसे भक्तिरस में ही पर्यवसित करती है, एक स्वतन्त्र रस के रूप में परिकल्पित नहीं होने देती। बालक राम के प्रति वात्सल्य रति के अनुभव-कर्त्ता सभी पात्र राम के ब्रह्मत्व की चेतना से आक्रान्त हैं। राम के जन्म होते ही कौशल्या ने चतुर्भुज रूप के दर्शन कर भक्त के रूप में स्तुति की। वशिष्ठ ने नामकरण के समय सबको आगाह करते हुए उनके परब्रह्मत्व का परिचय कराते हुए नाम रखे :

"जो आनन्द-सिन्धु सुखरासी। सीकर तैं त्रैलोक सुपासी।
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा।"[3]

कभी मानो भूल से यदि कौसल्या को कभी वात्सल्य की स्वाभाविक अनुभूति हुई तो तुलसी अगली ही पंक्ति में उस शिशु की परब्रह्मता समझाने के लिए आपको तैयार मिलेंगे :

"हृदव अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा।
कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलराइ कहहि प्रिय ललना।
व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद"[4]

इस प्रकार की वात्सल्य-परिकल्पना में काव्य-निष्ठ आश्रय पात्रों को भी वात्सल्य की

---

१. सुंदर काण्ड, २४।१०, दो० २५।
२. वही, २५।७।
३. बालकांड, १९६।५-६।
४. १९७।७-८, १९८।

अनुभूति नहीं होती, पाठक को तो दूर की बात है। वस्तुतः शिशु राम की कमनीय बाल-छवि की सुन्दर झलक दिखाते हुए तथा यदा-कदा मातृ-हृदय की झाँकी प्रस्तुत करते हुए भी तुलसी पाठक को भक्तिरस में ही निमग्न कराना चाहते हैं। और, इस उद्देश्य के अनुरूप मानस में उनकी वात्सल्य-परिकल्पना पूर्ण सफल है। ऐसा ही वात्सल्य उनके भक्ति-सरोवर का एक चारु मीन बन सकता था।

अद्भुत—रामचरितमानस में यदि काव्यरसों में से किसी का सर्वाधिक चित्रण हुआ है तो वह रस है 'अद्भुत'। मानस में आदि से लेकर अन्त तक यह रस परिव्याप्त है। राम के विस्मय पूर्ण कर्म ही नहीं, उनके दासों-आश्रितों के भी विस्मय-पूर्ण कर्मों से मानस भरा पड़ा है। लंकाकाण्ड को ही ले लीजिए। नल-नील ने समुद्र पर पाषाण तैरा दिये। लंका में राम-दल के पहुँचते ही सारे वृक्ष फलों से लद गये और सेना की भोजन-समस्या का हल हो गया। राम ने अपने दल में बैठे ही बैठे रावण के छत्र एवं मन्दोदरी के ताटंकों को काट दिया। अंगद ने रावण के चार मुकुट ऐसे फेंके कि राम-दल में ही आकर गिरे। अंगद का चरण रावण दल के असंख्य योद्धा मिलकर भी टसमसा न सके। युद्ध में तो राक्षसों द्वारा माया के रूप में और राम-परिकर द्वारा उनके निराकरण के रूप में अनेकत्र अद्भुत का चित्रण है। वस्तुतः मानस अद्भुत रस से भरी पड़ी है; कहीं स्वतन्त्र तो कहीं दूसरे काव्यरस की प्रतिष्ठा कराते हुए।

पर मानस का अद्भुत भी अपने में स्वतन्त्र काव्यरस नहीं है। वह भी प्रायः रामरति का एक अंग है। जो राम के कृपापात्रों के महत्त्वपूर्ण अद्भुत कर्म हैं उन सबका आधार राम की महत्ता है, राम की ही सत्ता है। स्वयं राम के अद्भुत कर्म, अद्भुत गुण, अद्भुत सौन्दर्य, उनकी क्रीडा एवं उनका स्वरूप है। वस्तुतः मानस का अद्भुत अन्ततोगत्वा पर्यवसित रूप में राम के महत्त्व की प्रतिष्ठा करता हुआ राम-विषयक रति के विभाव-पक्ष की प्रतिष्ठा करता है। कभी आलम्बन का स्वाभाविक-स्वरूपात्मक अंश बन-कर, कभी उद्दीपन रूप में आकर। नल-नील ने सागर पर पाषाण तैराकर एक आश्चर्य किया :

"बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेही।"[1]

परन्तु :

"महिमा यह न जलधि कर बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी।"[2]

तब इसका रहस्य क्या है, यह आपको शिवजी ही बताएँगे :

श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमन्द जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन।"[3]

शान्तरस—यों मानस में जिस प्रकार पदे-पदे अद्भुत परिव्याप्त है, उसी प्रकार सहज अनासक्ति, शान्त वृत्ति, निर्मल ज्ञान एवं उच्च विवेक पर आधृत तुलसी की भक्ति में शान्त भी सहज रूप से घुला हुआ है। फिर भी उत्तर काण्ड में शान्त रस का विशेष परिपाक है।

---

१. लंका काण्ड, २।८।
२. वही, ४।९।
३. वही, दो० ३।

हमारे ऊपर के कथन से यह स्पष्ट ही है कि मानस में शान्त का स्वतन्त्र स्थान नहीं है, वह भक्ति-योगी शान्त ही है। अतः उसे शान्त-भक्तिरस ही कहा जाना चाहिए।

मानस में शान्त दो रूपों में मिलेगा—एक पात्र-निष्ठ रूप में, दूसरा उपदेश के रूप में। पात्र-निष्ठ शान्त भक्ति की अनुभूति के साथ सहज रूप में घुला हुआ है। भगवद्रति का स्वाभाविक अर्थ है विमल विवेक, अतुल अनासक्ति और घनीभूत अनन्य प्रीति।

उपदेश रूप में आये शान्त के दो स्थल उत्तरकाण्ड से उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं। पहला है राम द्वारा भरत को संतों का स्वरूप समझाते हुए, दूसरा है उन्हीं के द्वारा नगर-वासियों को कर्तव्योपदेश करते हुए :

(क) "विषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख-दुख सुख-सुख देखे पर।
सम अभूति-रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।"[1]

(ख) एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।
नर तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस में काव्यरसों की स्थिति भक्तिरस की सापेक्षता में ही है। मानस का तो एक ही प्रतिपाद्य रस है—भक्तिरस, जिसे तुलसी ने एक 'विशेष रस' कहा है।[3] काव्यरस उसी के शोभाधायक उपादान हैं। इतनी बात अवश्य है कि राम-चरितमानस विनयपत्रिका के समान केवल अपने में ही परिनिष्ठित भक्तिरस का काव्य नहीं है, उसमें काव्यरसों की चारुता का भी योग है। पर यह योग कवितावली के समान भक्ति-रस से अधिक बढ़ नहीं जाता।

काव्यरसों में से मानस में अद्भुत और शान्त तो सहज रूप में भक्तिरस के साथ घुलकर एकाकार हैं। अद्भुत का समावेश भक्तिरस के विभाव-पक्ष में अधिक है, शान्त का आश्रय-पक्ष और भाव-पक्ष में। अद्भुत आलम्बन में एकाकार है, चाहे कर्म के साथ चाहे शक्ति के साथ, चाहे कृपापात्रों के कर्मों के रूप में। शान्त भक्ति के स्थायी भगवद्रति के साथ सहज स्वभाव से मिला हुआ है।

इन दो रसों के अतिरिक्त काव्यरसों में से करुण, वीर और रौद्र की परिकल्पना एक पर्याप्त मात्रा तक विकसित और परिरूढ़ है। राम-वनवास, दशरथ-मरण, सीता-वियोग, लक्ष्मण-शक्ति, कौसल्या का राम-वियोग, इस प्रकार विरह के विविध रूपों एवं स्वयं शोक स्थायी के सहज और मर्मस्पर्शी विकास के कारण करुण की परिकल्पना अन्य सबसे उत्कृष्ट है। बीभत्स और भयानक अनुयोगी रस होकर ही प्रायः आये हैं। हास्य का अभाव-सा है। शृंगार सीमित, व्यंजित एवं अस्थूल होने के साथ मर्यादित है।

ये सभी काव्यरस भक्तिरस के परिवेश को व्यापक और सुन्दर बनाते हुए ही आते हैं। इनकी अनुभूति में पाठक यदि कुछ भी भक्ति-संस्कारों से युक्त है तो उसे इनके आस्वादन के साथ पर्यवसित रूप में भक्तिरस का ही आस्वादन होता है। मानस के भक्तिरस में कथा

---

१. उत्तर काण्ड, ३७।१-२।

२. वही, ४३।१-२।

३. "जेहि महुं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।" उ० का०, ६०।६।
"रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिशेष जाना तिन्ह नाहीं।" उ० का०, ५२।१।

और चरित्र का आधार लेने के कारण सामान्य से सामान्य पाठक का प्रवेश है। जन-सामान्य के लिए उसका काव्य-सौन्दर्य चाहे अपरिचित हो, काव्यरसों की चर्वणा चाहे उसे न हो पाये, किन्तु उसका भक्तिरस इतना आवेगमय है कि पाठक इसमें अवश्य डुबकी लगा लेता है।

मानस में परिकल्पित भक्तिरस आलम्बन की महत्वचेतना से समन्वित गहरी रति पर अवस्थित है। साथ ही उसमें ज्ञान-विवेक का सहज योग है। अतः एक ओर तो इस रस-परिकल्पना में कोई उलझन न होकर सहजता है, दूसरी ओर लोकमंगलकारी शुभ प्रभाव है। मानस की कथा परिचित एवं सहज संवेद्य है, अतः सामान्य जन का उसमें सहज प्रवेश है। उसमें साधारणीकरण की मात्रा उस कोटि की है जिसमें जन-सामान्य को भी बाधा नहीं है। हिन्दी के किसी भी कथा-काव्य की ऐसी शुभोदर्की रस-परिकल्पना नहीं जैसी रामचरित-मानस की है। उसमें जन-सामान्य, काव्य-रसिक और भक्त अपनी-अपनी दृष्टि से समान रूप से डूब सकते हैं। किन्तु उसका भक्तिरस इतना आग्रही है कि पाठक कितना ही तटस्थ क्यों न हों, एक बार को अवश्य उससे आप्लावित होता है।

मानसी रस-परिकल्पना का विभाव-पक्षीय वातावरण अलौकिक एवं अनास्था-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए एक मात्रा तक अतिशयोक्तिपूर्ण भी है। पर ऐसे लोगों के लिए भी उसमें काव्य-रसत्व एवं शुभोदर्की प्रभाव ग्रहण करने की पूरी गुंजाइश रहती है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर मानसी रस-परिकल्पना उसे विश्व-काव्य का अंग बनाती है। श्रद्धापूर्ण आस्थामय व्यक्तियों के लिए तो वह अतिशयोक्ति एवं अलौकिकता ही काव्यरसत्व के स्तर से उठाकर 'विशेष' भक्तिरस का आस्वादन कराने वाला एकमात्र साधन है।

मानसी रस-परिकल्पना में कवित्व का पूरा योग है, काव्यरसों का सुन्दर परिपाक है। पर वह सब तुलसी की आत्म-समीक्षा के अनुसार भक्तिरस के परिवेश के भीतर ही है। अतः मानस का अंगी रस है 'भक्तिरस', अंग रस हैं विविध काव्यरस। इस ग्रन्थ में काव्यरस काव्य की आत्मा नहीं, कमनीय, भक्ति-सरोवर के शोभाधायक सुन्दर जलचर मात्र हैं।

कवितावली

कवितावली की रस-परिकल्पना में भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरसों का उभार अधिक है। मानस से उसकी यही विशेषता है कि मानस में जहां काव्यरसों के ऊपर भक्तिरस छाया हुआ है, कवितावली में काव्यरस भक्तिरस का अनुरंजन पाते हुए भी पर्याप्त स्वतन्त्र रूप में विकसित हो सके हैं।

कवितावली मानस के समान पूर्ण-चरित नहीं, न ही प्रबन्ध काव्य है। वह समय-समय पर लिखे चुने हुए प्रसंगों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जिसकी बाह्य परिधि भक्ति की ही है, भक्ति भी इस नाते कि उसका सम्बन्ध राम-चरित से है। इस रचना में सभी काव्यरसों की परिकल्पना नहीं। उत्तर काण्ड विविध भाव-लहरियों का संकलन है जिसमें कथा-विकास एवं कथा-सम्बन्ध का कोई प्रश्न नहीं है। उत्तर-काण्ड विनयपत्रिका के समान आत्मानुभूति-प्रधान अभिव्यक्तियों का संकलन है, पूर्व के काण्ड राम-कथा से सम्बद्ध हैं। इस बिखरे उद्देश्य को बटोरकर चलने के कारण कवितावली की रस-परिकल्पना भी तदनुरूप ही है। मानस में भक्तिरस के अंगी रूप से जैसे सभी काव्यरस एकसूत्रता में संग्रथित हैं, वैसे संग्रथन का प्रश्न नहीं उठता। फिर भी इस सबके कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि कवितावली में भक्ति के आदर्श ही नहीं हैं। रामचरितमानस के समूचे आदर्श तथा उसकी रस-परिकल्पना

को परिचालित करने वाली दृष्टि यहां भी मूलतः वैसी ही है। ग्रन्थरूप एवं उद्देश्य की यत्किंचित् भिन्नता से उसमें यत्किंचित् ही रूपान्तर है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

कवितावली की रस-परिकल्पना की सामान्य विशेषताओं को निम्न रूप में समझना चाहिए :

१. कवितावली में तुलसी का मूल आदर्श कि राम-चरित से स्वतन्त्र प्राकृतजन-गुणगान नहीं करना, सुरक्षित है। राम-भक्ति के मूल आदर्श यहां भी उसी प्रकार रखे गये हैं जैसे वे मानस में पाये जाते हैं।

२. मूल आदर्शों को अविक्षत रखते हुए भी यहां की रस-परिकल्पना को राम के महत्त्व की अनावश्यक चेतना एवं अलौकिकत्व-प्रदर्शन के द्वारा आच्छादित नहीं किया गया। मानस में इन तत्त्वों के अतिमात्र प्रयोग के द्वारा ही काव्यरसों को भक्तिरस के भीतर समेटा गया था। कवितावली में इस प्रयोग के न होने से काव्यरसों का प्रकृत एवं सहज विकास हो सका है।

३. मात्रा की दृष्टि से सभी काव्यरसों का चित्रण समान नहीं है, न ही सभी काव्य-रसों की परिकल्पना है। हास्य और बीभत्स के एक-एक ही छंद हैं तो विस्तृत उत्तर काण्ड में शान्त के लिए पूरा-पूरा अवकाश दिया गया है।

४. कवितावली में रौद्र, वीर, भयानक परुष रसों का परिपाक अन्य सब ग्रन्थों से श्रेष्ठ हुआ है। मानस से भी यहां इन रसों के सुन्दर चित्रण का प्रमुख कारण यही है कि यहां काव्यरसों की परिकल्पना को साग्रह भक्तिरस में डुबा कर राम महत्त्व में पर्यवसित करने का प्रयास नहीं है। यहां उनका स्वतन्त्र विकास हुआ है, राम-महत्त्व है तो सहज-व्यंजित है।

५. कवितावली की रस-परिकल्पना को उसके छंद, भाषा एवं नाद; तात्पर्य यह कि कवित्व के सभी उपादानों का विशेष योग प्राप्त है। यहां के कवित्व को न प्रबन्ध-विधान की चिन्ता है, न समानुपात की, न भक्तिरस के बंधान की। उसका यहां एक ही प्रमुख उद्देश्य है, रस-व्यंजना। अतः काव्यरसों का परिपाक यहां अधिक सहज है। भले ही किसी रस का परिपाक एक ही पद में क्यों न हो ?

६. रस-व्यंजना के लिए उपयोगी विभाव-विधान के साथ संचारियों एवं अनुभावों की जैसी योजना यहां पायी जाती है वैसी मानस में भी नहीं है।

इस सामान्य परिचय के साथ अब हम कवितावली में परिकल्पित रसों की स्थिति संक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे।

वात्सल्य—कवितावली के प्रारम्भ में रामादि चारों शिशुओं की माधुरी छवि का चित्रण है। इन पदों में वात्सल्य वर्णित है। काव्य-निष्ठ वात्सल्य के आश्रय दशरथ और माताओं की अनुभूतियों को अंकन करने का विशेष प्रयास नहीं है। बाल-छवि के प्रति इन पदों में तुलसी ने अपनी ही रति को प्रस्तुत किया है, अतः यहां कवि ही रति का आश्रय है।

कवि की यह रति अपने में मातृत्व-पितृत्व के अभिमान के साथ नहीं है, इस रति में सौन्दर्य की मुग्धता और महत्त्व की चेतना मिली हुई है।

"तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ?
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फल कौन जिये ?"[1]

---

१. कवितावली, बालकाण्ड, पद ६।

पर इस महत्त्व-चेतना ने सौन्दर्य-बोध को आच्छादित नहीं किया, बाल-चित्रण ही विभाव रूप में सामने आता है :

"अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच-विमोचन कौं ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से।
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन नयन सु खंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से विकसे।"[1]

"कबहूँ ससि मांगत आरि करैं, कबहूं प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूं करताल बजाइ कैं नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूं रिसियाइ कहैं हठि कैं, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मन्दिर में बिहरैं।।"[2]

कवितावली में वात्सल्य-चित्रण सूर के समान मनोवैज्ञानिक नहीं है, उतने विस्तृत रूप में चित्रण का यहां उद्देश्य भी नहीं है। वह वर्णित अधिक है। वस्तुतः उसमें वात्सल्य-रस का परिपाक नहीं, तुलसी की अपनी रति का ही परिपाक है जो बाल-छवि से विभावित है और जिसका अपना प्रकृत रूप दास्यभक्ति का ही है।

शृंगार—कवितावली में भी मानस के समान ही शृंगार संक्षिप्त, संयत, व्यंजित एवं मर्यादित है। लगभग उन्हीं प्रसंगों को यहां भी लिया गया है जो मानस में वर्णन का अवकाश पा चुके हैं। फिर भी, यहां एक काव्यरस के रूप में विकसित होने का उसे कुछ अधिक अवसर मिला है। उसके दाम्पत्य-रति और कान्ता-रति वाले दोनों रूप यहां अधिक सबलता से अंकित हुए हैं।

दाम्पत्य-रति के मधुर परिपाक के दो अवसर हैं जो अत्यन्त सुन्दरता से निरूपित हैं। एक है विवाह-प्रसंग का, दूसरा है वन को प्रस्थान करते ही सीता की परिश्रान्तावस्था का। दोनों चित्र प्रस्तुत हैं :

(क) "दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम कौ रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातैं सबै सुधि भूलि गई कर टेकी रही पल टारति नाहीं।"[3]

(ख) "पुर तैं निकसीं रघुबीर वधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भालकनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं 'चलनौ अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै।"
जल को गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छांह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायं पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह कौ नेह लख्यौ, पुलको तनु, बारि विलोचन बाढ़े।"[4]

---

१. कवितावली, बाल काण्ड, पद १।
२. वही, पद ४।
३. वही, पद १७।
४. कवितावली, अयोध्याकांड, पद ११-१२।

हम इन अति परिचित उद्धरणों को प्रस्तुत करके तुलसी के शृंगार वर्णन की केवल प्रशंसा ही नहीं करना चाहते, अपितु यह दिखाना चाहते हैं कि दाम्पत्य-रति के परिपाक के लिए संचारियों तथा अनुभावों की जैसी सघन, सजीव एवं मधुर योजना यहां है वैसी मानस में नहीं है। कुछ ही पहले वन की विपत्तियों से लोहा लेने के लिए तैयार होकर चलने वाली रामचरितमानस की सीता नगर से दो डग चलने पर यह पूछ ही नहीं सकती थी कि 'चलनो अब केतिक, पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै ?'। न मानस के राम अपना प्रेम-प्रदर्शन 'विलंब लौं कंटक काढ़' कर सकते थे। किसी ब्रह्मसत्ता की मनुज-लीला की याद दिलाकर तुलसी यहां पाठक को काव्यरस के आस्वादन से रोक नहीं देते, उसे एक मर्यादित, संयत एवं उदात्त शृंगार का काव्यात्मक आस्वाद करने का पूर्ण अवसर प्रदान करते हैं।

ग्राम-वधुओं के साथ सीता के वार्तालाप की योजना यहां भी तुलसी ने की है। दोनों चित्रों को आमने-सामने रख लीजिए, दोनों की वर्ण्य-समानता होने पर भी दृष्टिकोण का सूक्ष्म अंतर स्पष्ट हो जायगा। हम यहां दोनों प्रसंगों को प्रस्तुत कर रहे हैं :

रामचतिमानस—"सिय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूंछत अति सनेह सकुचाहीं।
बार-बार सब लागहिं पाएं। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएं।
राजकुमारि विनय हम करहीं। तिय सुभायं कछु पूँछत डरहीं।
स्वामिनि अविनय छमबि हमारी। बिलगु न मानहु जानि गंवारी।
राजकुअंर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लही दुति मरकत सोने।
स्यामल गौर किसोर बर सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु सरद-सरोरुह नैन ॥
कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महं मुसुकानी।
तिन्हहिं विलोकि विलोकति धरनी। दुहुं संकोच सकुचति बरबरनी।
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर वचन पिकबयनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकौ।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।"[1]

कवितावली—"सीस जटा, उर बाहु विसाल, विलोचन लाल, तिरीछी सी भौहैं।
तून सरासन बान धरे, तुलसी वन-मारग में सठि सोहैं।
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामवधू सिय सों 'कहौ, सांवरे से सखि रावरे को हैं ?'
सुनि सुंदर बैन सुधारस साने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली।
अनुराग तडाग में भानु उदै विगसीं मनो मंजुल कंज कली।"[2]

---

१. मानस, अयो० का०, ११५।२-८, ११६।१-७।

२. कवितावली, अयोध्या काण्ड, पद २१-२२।

इन दोनों चित्रों को मिलाइए। मानस में तुलसी इस चित्र को देने से पहले ग्राम-वधुओं में शिष्टाचार, आतंक, भय, संकोच न जाने क्या-क्या भर देना चाहते हैं। वे बिना बार-बार सीता के पैर छुए, अविनय को क्षमा करने की प्रार्थना किए 'राजकुमारी' सीता से अपनी बात पूछ ही नहीं सकतीं। पूछते-पूछते सकुचाती भी हैं, डरती भी जाती हैं। पर कवितावली की ग्रामवधुएं इस भाव-जंजाल से दूर दीख पड़ती हैं। 'कहौ सांवरे से सखि, रावरे को हैं ?' में उनका सख्य बोल रहा है, दासत्व नहीं। कवितावली की सीता ग्रामवधुओं के लिए राजकुमारी नहीं, सखी है। मानस की ग्रामिकाएं भोली-भाली हैं, वे सचमुच नहीं समझ पायीं कि इन दोनों में से सीता के पति कौनसे हैं, किन्तु कवितावली की सखियां मानों भाँप कर भी सवाल कर रही हैं, वह सब विनोद के लिए, स्त्रीसुलभ सजीवता के नाते। यह सजीवता इस वाक्य के लहजे से ही टपकती है—'कहौ, सांवरे से सखि, रावरे को हैं ?"

मानस की सीता को शील-जन्य भारी संकोच है। वे एक ओर तो शीलवश इस प्रश्न का उत्तर खुलकर नहीं देना चाहती हैं, दूसरी ओर उन्हें उनके राजकुमारीपन की चेतना भी करा दी गयी है। अतः सोचती हैं कि इन सरल ग्रामिकाओं को यदि इस प्रश्न का उत्तर न दिया जायगा तो वे मन में खिन्न होंगी। महारानी सीता यह नहीं चाहतीं। उनके इस प्रश्न की सरलता पर उन्हें हंसी आती है पर वे खुलकर मुसुका भी नहीं सकतीं, मन में ही मुसुका रही हैं—'सकुची सिय, मन महं मुसुकानी' और 'दुहुं संकोच सकुचति बरबरनी' में सीता की जो स्थिति है वह कवितावली में नहीं है। यहां की जानकी सयानी हैं, उनके विनोद को समझ रही हैं—'सयानी हैं जानकी जानी भली।' यहां दो संकोचों में से किसी की चर्चा नहीं है। यहां उनकी मुसकान पर भी बंधन नहीं है—'तिरछे करि नैन, द सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।' मर्यादित श्रृंगार की सीमाओं में रहकर भी कवितावली का श्रृंगार-चित्रण रामचरितमानस की अपेक्षा खुला है, यह बात इस प्रसंग की तुलना से स्पष्ट हो जाती है। यहां श्रृंगार मर्यादित होते हुए भी एक काव्य-रस के रूप में आ सकता है, मानस में उसे भक्तितरस की दृढ़ सीमाओं में रहकर उसका ही पोषण करना अनिवार्य है।

इन्हीं ग्रामवधुओं में कवितावली में सामान्य कान्तारति के मधुर चित्र तुलसी ने दिये हैं :

"धरि धीर कहैं, चलु देखिय जाइ जहां सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच, न सोच कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं।
सुख पाइहैं कान सुनैं बतियां कल आपुस में कछु पै कहिहैं।"
तुलसी अति प्रेम पगी पलकैं पुलकीं लखि राम हिये महि हैं।"[1]

हास्य—प्राधान्येन व्यंजित हास्य का एक ही उदाहरण कवितावली में है,[2] किन्तु वह इस बात का प्रमाण है कि तुलसी इस रस का परिपाक यदि चाहें तो बहुत सफलता से कर सकते हैं।

कहीं-कहीं संचारी हास की भी झलक है। केवट-प्रसंग में हास इसी प्रकार का है :

"तुलसी जिनकी धूरि परसि अहिल्या तरी,
गौतम सिधारे गृह गौनो सौ लिबाइ कै।

---

१. कवितावली, अयोध्या काण्ड, पद २३।

२. "विन्ध्य के वासी उदासी महा·····।" कवि०, अयोध्या का०, पद २८।

तेई पायं पाइकैं चढ़ाइ नाव धोये बिनु
ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वैहों न हंसाइ कैं।"[1]

जो भी थोड़ा-बहुत हास्य कवितावली में है उसकी कवित्व-पूर्ण परिकल्पना है। उसकी व्यंजना पर भक्तिरस का दबाव नहीं है।

वीर और रौद्र—वीर और रौद्र रसों का सुन्दर परिपाक कवितावली के लंका-काण्ड में पाया जाता है। वीर, रौद्र और भयानक रसों के परिपाक के लिए कवितावली तुलसी की समस्त रचनाओं में बेजोड़ है। कोमल और कठोर दोनों प्रकार की भाषा द्वारा तुलसी ने ओज गुण की सृष्टि करते हुए लंका काण्ड में वीर और रौद्र की व्यंजना की है। हनुमान् के युद्ध-कौशल के चित्रों में से एक चित्र नीचे प्रस्तुत है :

"दबकि दबोरे एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे एक मींजि मारे लात हैं।
तुलसी लखत राम, रावन विबुध विधि
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े-बड़े बानइत बीर बलवान बड़े
जातुधान जूथप निपाते बातजात हैं।"[2]

प्रस्तुत पद में तुलसी ने कोमल पदावली से ही रसानुरूप ओज की सृष्टि की है। छप्पयों की ओजस्वी पदावली द्वारा भी इन कठोर रसों का सफल चित्रण है।

लंका काण्ड तक कवितावली में सब मिलाकर ओज गुण की प्रधानता है। कहीं वक्ता के अनुरूप, तो कहीं वर्ण्य के अनुरूप, तो कहीं रस के अनुरूप ओज की सृष्टि हुई है। जनकपुर में धनुर्भंग का चित्रण, परशुराम के क्रोध-पूर्ण वचन, हनुमान का सागर-लंघन, अंगद-रावण संवाद आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन प्रसंगों में ओज गुण के बल पर ही प्रसंगानुकूल कठोर रसों की सफल अनुभूति होती है। अनेक प्रसंगों में वर्ण्य विषय का ओजस्वी वर्णन स्वयं उत्साह-चर्वणा का विभाव बनता है। धनुर्भंग का यह कविकृत वर्णन ऐसा ही है :

"डिगति उर्वि अति गुर्वि, सब्ब पब्बै समुद्द सर।
व्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर।
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिम-भानु भानु संघटित परस्पर।
चौके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियौ चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ।"[3]

इसमें धनुर्भंग का वर्णन ही स्वयं राम के शौर्य एवं वीरत्व की व्यंजना करता है। यह वीरत्व की व्यंजना वस्तु-व्यंजना के रूप में नहीं, अपितु पाठक को रसानुभूति के रूप में होती है। यहां धनुर्भंग का ओज-पूर्ण वर्णन ही विभाव अर्थात् पाठक की रसानुभूति का कारण है।

---

१. कवि०, अयो० का०, पद ९।
२. कवि०, लंका काण्ड, पद ४१।
३. कवि०, बा० का०, पद ११।

अतः इस प्रकार के स्थल इसी दृष्टि से वीरादि रसों के अन्तर्गत समझने चाहिए।

भयानक—सुन्दर काण्ड में लंका-दहन में भयानक का चित्रण बेजोड़ है। इस रस की इतनी सुन्दर योजना अत्यन्त दुर्लभ है। यह वर्णन संक्षेप में नहीं, पर्याप्त विस्तार से भी है। यहां भय विपक्ष-निष्ठ है, अतः उसका पर्यवसान हनुमान् के महत्त्व एवं पराक्रम में होता है। पर इन प्रसंगों में बलात् राम-गुण गान की प्रवृत्ति नहीं है। अतः रस-व्यंजना काव्यरस की व्यंजना रही है, भक्तिरस की नहीं बनायी गयी। इस प्रसंग से एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"लपट कराल ज्वालजालमाल दहूं दिसि
घूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे ?
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात
परे पाइमाल जात, 'भ्रात, तू पराहि रे।
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ तू पराहि, बाप
बाप, तू पराहि, पूत पूत, तू पराहि रे।
तुलसी विलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे।"[1]

बीभत्स—बीभत्स का चित्रण लंकादहन और युद्ध-प्रसंग में सहयोगी रस के रूप में हुआ है। इस रस का विधान अधिक नहीं, किन्तु योजना बड़ी सांग है। रस-परिपाक रौद्र और भयानक की अनुभूति को और गहरे करने के उद्देश्य में पूर्ण सफल है।

शान्तभक्तिरस एवं दास्यभक्तिरस—कवितावली के उत्तर काण्ड का रामचरित के उत्तर भाग से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसमें विनयपत्रिका के जोड़ पर ही आत्मपरक शैली में तुलसी की भक्ति-भावना अभिव्यंजित हुई है। भगवान् के महत्त्व का गान करते हुए आत्म-दैन्य, निरवलम्बन, विश्वास, अनन्यता, आत्म निवेदन आदि के भाव वैसे ही यहाँ मिलेंगे जैसे विनयपत्रिका में भरे पड़े हैं। यहाँ भक्तिरस का वही दास्यानुभूतिमूलक रूप मिलेगा जो मानस और पत्रिका में निरूपित है।

संसार से निर्वेद एवं विवेक के आधार पर प्रतिष्ठित रामरति की अनेक-विध भाव-लहरियों का यहां भी चित्रण हुआ है। पर पत्रिका के समान शुद्ध ज्ञान का यहां अति-भार नहीं है। अतः यहां के पदों में शान्तरस की अपेक्षा प्रायः शान्तभक्तिरस की ही परिकल्पना है। दास्य-भक्तिरस एवं शान्त के परस्पर मिले और अलग-अलग सभी प्रकार के स्थल इस उत्तरकण्ड में मिल सकते हैं। यों सब मिलाकर यह भाव-व्यंजना पत्रिका की ऊँचाई को तो नहीं पहुंचती, किन्तु उसे बहुत-कुछ छूती है।

इस प्रकार कवितावली की रस-परिकल्पना में लंका-काण्ड तक काव्यरसों का सुन्दर एवं स्वतन्त्र परिपाक है। यहां के काव्य की आत्मा काव्यरस हैं, भक्तिरस नहीं। हाँ, ये काव्यरस भक्ति-भावना की सामान्य चेतना से अनुरंजित अवश्य हैं। काव्यरसों का ऐसा सफल परिपाक तुलसी की अन्य कृति में नहीं मिल सकता जैसा कवितावली में है। उत्तरकाण्ड में रस-परिकल्पना का स्वरूप वही है जो हम पत्रिका में प्रमुखतया देख चुके हैं। यहाँ कथानक का आधार न होने के कारण रस-परिकल्पना मानस के अनुरूप नहीं

---

१. कवितावली, सुंदर काण्ड, पद १६।

अपितु विनयपत्रिका के ही अनुरूप है। इस अंश में दास्यभक्तिरस एवं शान्तभक्तिरस का सुन्दर परिपाक है।

कवितावली में प्रमुखतया वीर, रौद्र, भयानक, शृंगार और वात्सल्य ? की काव्यरसों में से तथा दास्यभक्ति एवं शान्तभक्ति की भक्तिरसों में से परिकल्पना हुई है। काव्यरस और भक्तिरसों की परस्पर अनुरंजित किन्तु परस्पर स्वतन्त्र रस-परिकल्पना की दृष्टि से कवितावली तुलसी के अन्य सभी ग्रंथों में विशेष महत्त्व-पूर्ण कृति है। वास्तविक कवितावली तो लंकाकाण्ड तक है, उत्तरकाण्ड तो विनयपत्रिका का परिशिष्ट जैसा है। लंकाकाण्ड तक की कवितावली में काव्यरस भक्तिसरोवर के शोभाधायक जलचर मात्र नहीं हैं, वे ही यहाँ की सजीवता के आधार हैं।

गीतावली

गीतावली की रस-परिकल्पना में गोस्वामीजी ने मानस एवं पत्रिका की अपेक्षा एक विशेष मोड़ स्वीकार किया है। इसकी रस-परिकल्पना पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पड़ा है—गीतावली की यही एक विशेष बात उल्लेखनीय है। तुलसी के मूल आदर्श यद्यपि यहाँ न तो विकृत हुए हैं, न त्यक्त, तथापि राम-काव्य और कृष्ण-काव्य की दो अलग-थलग प्रवहमान धाराओं की एक विशेष समन्वित भाव-धारा यहाँ बहती हुई मिलती है। इस धारा का रूप कुछ नया-सा लगता है जो तुलसी की अन्यत्र प्राप्त दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कुछ अटपटा-सा है।

गीतावली एक विकसित प्रबन्ध-काव्य नहीं है। वह एक गीति-काव्य है। अतः उसमें राम-चरित के कतिपय कोमल प्रसंगों को चुनकर धारावाहिक रूप में कुछ पद लिखे गये हैं। बहुत सम्भव है कि वे इन प्रसंगों पर अलग-अलग समयों में धारावाहिक गीतों के रूप में लिखते रहे हों और पीछे से उनकी कड़ियों को जोड़कर कथा-विकास भी सूचित कर दिया गया है।

गीतावली में गीतानुरूप रामचरित के कोमल, करुण एवं मधुर प्रसंगों पर ही पद-रचना प्रमुखतः हुई है। थोड़े-से प्रसंग वीर रस के क्षेत्र के भी हैं। इस रस के लिए भी गीति-काव्य की प्रकृति अनुकूल रही है।

गीतावली में भक्तिरस के तीन रूप वात्सल्य, मधुर और दास्य—तथा काव्य-रस के दो रूप—करुण और वीर—परिकल्पित मिलते हैं। सामान्यतः गीतावली कवितावली के समान काव्यरस-प्रधान रचना नहीं, भक्तिरस-प्रधान रचना ही है। किन्तु मानस के समान प्रबन्धात्मक रचना न होने तथा विविध कालों में रचे हुए गीतों का संकलन होने के कारण उसमें करुण और वीर दो रसों का एक दूरी तक स्वतन्त्र परिपाक भी निभ सका है। इन रसों के अतिरिक्त शेष वर्णन भाव-व्यंजना के ही अन्तर्गत आते हैं, रस-कोटि तक नहीं पहुँचते। उन भाव-व्यंजक विविध प्रसंगों में तुलसी की आदर्श भक्ति की भावना के अनुरूप रामचरित का ही गान हुआ है।

यहाँ हम गीतावली में परिकल्पित रसों का अलग-अलग परिचय प्राप्त करना चाहेंगे। पहले भक्तिरस के तीनों रूपों की चर्चा रहेगी—वात्सल्य, मधुर तथा दास्य के क्रम से। पीछे करुण और वीर काव्यरसों की।

वात्सल्य भक्तिरस—तुलसी ने गीतावली में बाल-वर्णन अपने अन्य सब ग्रंथों की

अपेक्षा अधिक किया है। इसके संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का चित्रण हुआ है। वात्सल्य का वियोग पक्ष अधिक मार्मिक है और करुण की सीमा को छूता है। वात्सल्य की ओर इस झुकाव का एक प्रमुख कारण कृष्ण-काव्य का, विशेषतः सूर-काव्य का प्रभाव है।

संयोग-पक्ष में बाल-वर्णन को गीतावली में तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. राम की छवि का सालंकार वर्णन,

२. राम की बाल-सुलभ क्रीडाओं का वर्णन,

३. मातृ-हृदय की अनुभूतियाँ।

सब मिलाकर तुलसी का बाल-वर्णन स्वयं उनकी ओर से वर्णित अधिक है, विभाव के प्रति अपेक्षित संचारियों एवं अनुभावों की योजना द्वारा व्यंजित कम है। विभाव-विधान में भी सूर के समान मनोवैज्ञानिक चित्रण कम ही है। आश्रय-पक्ष में इस प्रकार की मातृ-हृदय की अनुभूतियां कम ही मिलेंगी :

"ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लखन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्‌यो भैया।
बाल-विभूषन-वसन मनोहर अंग नित विरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारनै जैहौं।
छगन-मगन अंगना खेलिहौ मिलि ठुमुक-ठुमुक कब धैहौ।
कब बल वचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौ।"[1]

प्रायः भावाभिव्यंजना में तुलसी का महत्त्व के प्रति जागरूक मन उभरकर आगे आ जाता है और वात्सल्य की काव्यरसात्मक अनुभूति बाधित हो जाती है :

"दास तुलसी मुदित, जननी करै आरती,
सहज सुन्दर अजिर पांव धारे।"[2]

"जागिये कृपानिधान जानराय रामचन्द्र,
जननी कहै बार-बार भोर भयो प्यारे।
राजिवलोचन विसाल, प्रीतिवापिका मराल,
ललित कमल दल ऊपर मदन कोटि वारे।
अरुन उदित, विगत सर्वरी, ससांक किरनहीन,
दान दीप-ज्योति, मलिन दुति समूह तारे।
मनहुं ग्यान घन प्रकास, बीते सब भव-विलास,
आस-त्रास-तिमिर तोप-तरनि-तेज जारे।"[3]

तुलसी की यह महत्त्व-चेतना कौसल्यादि आश्रय-निष्ठ पात्रों में भी आरोपित होकर बोलती है। बाल-क्रीडाओं में भी बाल-सुलभ मनोवैज्ञानिक चित्र मात्रा और स्तर में सूर की तुलना के नहीं हैं। खेल के भीतर यदि कहीं भरत राम से बाजी जीत जाते हैं तो उन्हें भारी संकोच होता है। यह तो छोटे भाई के आदर्श के अनुरूप नहीं, अतः राम से हार जाने में उन्हें प्रसन्नता है :

---

१. गीतावली, पद ८।

२. वही, पद ३७।

३. वही, पद ३८।

"हारे हरष होत हिय भरतहि, जिते सकुच, सिर नयन नये।"[1]

वस्तुतः गीतावली में परिकल्पित वात्सल्य एक काव्यरस नहीं है, यह भक्तिरस है। अतः तुलसी को वात्सल्य का रसात्मक परिपाक उतना इष्ट नहीं जितना अपने इष्ट का बाल-वर्णन करते हुए महत्त्व-ज्ञान-पूर्वक आत्मरति का समर्पण। यह बाल-चरित का गान ही अपने में उनके लिए रसात्मक है।[2]

राम की बाल-क्रीड़ाओं पर देवता सुमन-वर्षा करते हैं, मेघों की ओट से सब देख-देख कर मुग्ध होते रहते हैं।[3] कौसल्यादि को राम के ब्रह्मत्व की चेतना है, वशिष्ठादि द्वारा और भी स्पष्ट करा दी गयी है।[4] इन स्थितियों में वात्सल्य की एक काव्य-रस के नाते जिस मात्रा में क्षति होती है उसी मात्रा में एक भक्तिरस के नाते उसकी परिकल्पना सबल हो जाती है। तुलसी के वात्सल्य का पाठक-द्वारा आस्वादन कोरे काव्यरस के रूप में हो नहीं सकता, यदि उसमें भक्ति-संस्कारों की सहृदयता है तो अवश्य वह वात्सल्य-भक्तिरस का ही आस्वादन करेगा। सामान्य रसिक भी भक्ति की भावात्मक अनुभूति, रसात्मक न सही, उपलब्ध करेगा।

राम के वन चले जाने पर वात्सल्य का वियोग-पक्ष सामने आता है। काव्यरस के नाते वियोग वात्सल्य अधिक रसात्मक है। इसमें भी जहाँ तुलसी की कौसल्या तुलसी की महत्त्वचेतना से आच्छादित हो उठी हैं, वात्सल्य काव्यरस न रह कर भक्तिरस बन जाता है :

"सुनहु राम मेरे प्रान-पियारे।
बारौं सत्यवचन श्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे।
... ...
मुनिलोचनचकोर-ससि राघव, सिव-जीवन धन सोउ न विचारे।
... ...
तदपि हमहिं त्यागहु जनि रघुपति, दीनबन्धु, दयालु मेरे बारे।"[5]

पर सूर की यशोदा के जोड़ पर कौसल्या के विरह में भी कतिपय पदों में काव्यरस के नाते वात्सल्य का सफल चित्रण हुआ है :

"हाथ मीजिवौ हाथ रह्यौ।"[6]

"हौं तौ समुझि रही अपनौ सौ।"[7]

---

१. गीतावली, पद ४५।

२. "तुलसी सराहैं भाग तिन्हके जिन्हके हिये डिंभ राम रूप अनुराग रये हैं।"
—गीता० बा० का०, पद १०।
"तुलसिदास जे रसिक न यहि रस ते नर जड जीवत जग जाये।" वही, पद ३२।

३. "विधि महेस सुर मुनि सिहात सब, देखत अंबुज ओट दिये।" वही, पद ७।

४. "याके चरनसरोज कपट तजि जे भजिहैं मन लाई।
ते कुल जुगल सहित तरिहैं भव यह न कछू अधिकाई।" वही, पद १६।

५. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद २।

६. वही, अयो०, पद ८४।

७. यही, अयो०, पद ८७।

तुलसी ने कौसल्या के विरह को विरह ही कहा है, पर यह विरह शोक की सीमाओं को छूता है, इसका संकेत भी यत्र-तत्र उसे शोक कह कर उन्होंने दिया है :

"तुलसी राम-वियोगसोग-बस समुझत नहीं समुझाए।"[1]

सूर और तुलसी के वात्सल्य की परिकल्पना कर तुलनात्मक दृष्टि डालने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं—

१. तुलसी के वात्सल्य-चित्रण पर सूर की छाप है।
२. तुलसी के वात्सल्य-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता एवं रसात्मकता सूर के समान नहीं है।
३. सूर का वात्सल्य एक भक्ति-रस होते हुए भी काव्यरस पहले है, तुलसी का वात्सल्य एक भक्तिरस पहले है, काव्यरस पीछे।
४. तुलसी के वात्सल्य में संयोग-पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष अधिक मार्मिक है। इसी पक्ष का काव्यात्मक परिपाक भी अधिक है।
५. तुलसी के वात्सल्य भक्तिरस में महत्त्वचेतनामयी आत्मरति स्थायी भाव है, मातृत्व के अभिमान वाली रति नहीं। उनके वात्सल्य भक्तिरस का अर्थ है आराध्य राम की बाल-छवि पर मुग्ध होना और बाल-चरित का गान करना।

मधुर भक्तिरस—तुलसी की भक्ति की प्रकृति एवं प्रवृत्ति आदर्शमयी है जिसका आदर्श दास्य का है। उसमें आराध्य के चरित्र में शील और आदर्श की चरम कल्पना है। अतः तुलसी के काव्य में सामान्यतः श्रृंगार के अवसर आने पर भी तुलसी उनसे कन्नी-सी काटते रहे हैं।

तुलसी में श्रृंगार की रसिकता और उसके चित्रण की क्षमता न हो यह बात नहीं है। उनकी सभी रचनाओं में उनकी इस क्षमता की झलक हमें मिल ही जाती है। अलबत्ता उस क्षमता पर स्वकृत संयम रहता है। भक्ति-प्रधान मानस और विनयपत्रिका में यह संयम सबसे अधिक है। पत्रिका में तो राम-सीता के श्रृंगार का सर्वथा अभाव है। केवल एक पद में शिव की स्तुति में 'देखौ आज वन वन्यौ उमाकंत' इस एक पद में श्रृंगार की झलक है, किन्तु वह भी वन-वर्णन के बहाने।

किन्तु गीतावली में तुलसी की इस रस की रसिकता खुली है। श्रृंगार की रसिकता के खुलने का कोई यह अर्थ न समझ ले कि उन्होंने कृष्ण-भक्त मधुरोपासकों या परवर्ती मधुर रामोपासकों के समान उद्दाम चित्रण किये हैं। उनका श्रृंगार यहाँ भी व्यंजित एवं अन्यों की अपेक्षा बहुत मर्यादित है, फिर भी जितना भी खुल कर चित्रित हुआ है, उतना उनकी अन्य रचनाओं में नहीं है, तथा तुलसी की अन्यत्र निरूपित भक्ति-पद्धति और आदर्श-भावना के मेल में नहीं है।

तुलसी के सामने कृष्ण-भक्ति के विविध मधुर-सम्प्रदायों की मधुरा भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही थी। जिन सम्प्रदायों का आदर्श मधुरा भक्ति नहीं भी थी, वे भी एक बार को इस की चपेट में आ रहे थे। तुलसी जहाँ वात्सल्य के चित्रण में कृष्ण-काव्य से प्रभावित हुए, वहाँ माधुर्य चित्रण में भी कृष्ण-काव्य की मधुर धारा से प्रभावित हुए और गीतावली में उन्होंने राम-सीता के कुछ खुले श्रृंगार के चित्र उतारना सहर्ष स्वीकार किया।

---

१. गीतावली, अयोध्या काण्ड, पद ८८।

इस आकर्षण के दो ही कारण समझ में आते हैं। तुलसी कृष्ण-भक्ति के मधुर प्रवाह में बहक गये, या तुलसी ने जाने-बूझे यह स्वीकार किया।

तुलसी के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से हम परिचित हैं। समाज, साधना, भक्ति, साहित्य आदि के विविध क्षेत्रों में उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय दिया है गीतावली की मधुर-परिकल्पना भी राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के दो आदर्शों के बीच समन्वय का फल है। दूसरी विरोधी धारा से समन्वय और समझौता करने के लिए कुछ दूसरे को झुकाना पड़ता है तो कुछ स्वयं भी त्याग करना पड़ता है। गीतावली की मधुर-परिकल्पना में यही हुआ है। उसमें जहाँ कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना के उद्दाम चित्रण को जागरूक रहते हुए बचाया गया है वहाँ दूसरी ओर एक संयत सीमा तक जाकर राम-सीता के शृंगार का वर्णन करना भी स्वीकार करना पड़ा है। जब हम तुलसी के नाना-क्षेत्रीय समन्वय की बात करते हैं तब इस समन्वय को न जाने क्यों भुला देते हैं? तुलसी का यह प्रयास अपने युग की वैष्णवी भक्ति के दो प्रमुख, परस्पर विरोधी, आदर्शों के बीच समन्वायात्मक समझौता ही समझना चाहिये। यह समझौता तुलसी ने अपने रूढ आदर्श से हटकर जान-बूझ कर स्वीकार किया है। इस समन्वय के द्वारा तुलसी ने अपनी शक्ति के भीतर लोक-कल्याण को ही सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि से आदर्श के पथ से विच्युत मधुरोपासकों को तुलसी ने मधुर-भावना को व्यक्त करने की वह पद्धति गीतावली में बतायी है जिससे उनकी उपासना भी चलती रहे और लोक-मंगल भी अविक्षत रहे। जो शृंगारी भक्ति उनके युग में बल पकड़ चुकी थी उसे वे तोड़ नहीं सकते थे, मोड़ ही सकते थे। व्यक्तिगत साधना के रूप में सम्भवतः यह मार्ग भी किसी के लिए ठीक हो, पर उसकी अभिव्यंजना सम्हल कर होनी चाहिए, केवल इस मार्ग-दर्शन के लिए तुलसी ने, प्रतीत होता है, गीतावली में मधुरा भक्ति की रसात्मक परिकल्पना स्वीकार की।

गीतावली में मधुर या शृंगार के दोनों रूप मिलते हैं—दाम्पत्यरति वाला रूप तथा समान्य कान्तारति वाला रूप। सामान्य कान्तारति अन्यत्र भी उनके ग्रन्थों में है, किन्तु यहाँ वह सखी-भाव का स्पर्श करती हुई सामने आती है। हम यहाँ दोनों प्रकार की माधुर्य भावना के अर्थात् दोनों प्रकार के शृंगार के स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे।

दाम्पत्य शृंगार—गीतावली में राम-सीता के शृंगार सम्बन्धी तीन प्रसंग आये हैं:

१. पुष्प-वाटिका प्रसंग,

२. चित्रकूट पर राम-सीता का विहार,

३. राज्याभिषेक के अनन्तर अयोध्या में राम-सीता का विहार।

इन तीनों प्रसंगों में माधुर्य-भावना का एक सम्बद्ध विकास सामने आता है। यद्यपि ये प्रसंग प्रबन्धात्मक भाव-चेतना के साथ निरूपित नहीं हुए, किन्तु फिर भी इनमें माधुर्य-चेतना का क्रमशः विकास और तुलसी की अपनी आदर्श-चेतना का क्रमशः शैथिल्य सामने आता है। प्रथम प्रसंग में तुलसी का चित्रण अपने ग्रन्थ के शृंगार-चित्रण के समान आदर्श-संयत है, दूसरे में माधुर्य को अन्य वर्णनों के बहाने प्रस्तुत किया गया है, तीसरे में माधुर्य भावना खुल कर आयी है।

पुष्प-वाटिका प्रसंग के दो पद हैं, और उनमें अपनी आदर्श-भावना के कारण तुलसी ने शृंगार-वर्णन से बच कर ही निकलना चाहा है:

"सखिन सहित तेहि औसर विधि के संजोग
गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजू आई हैं।

निरखि लखन-राम जाने ऋतुपति-काम
मोहि मानो मदन मोहिनी मूड़ नाई हैं।
राघौजू-श्रीजानकी-लोचन मिलिबे को मोद
कहिबे को जोगु न, मैं बातें सी बनाई हैं।
स्वामी, सीय, सखिन्ह, लखन, तुलसी कौ तैसो
तैसो मन भयो जाकी जैसिये सगाई है।"[१]

तुलसी सचमुच यहाँ राम-सीता के मिलन-दर्शन के उल्लास का चित्रण न कर बातें-सी बना कर चम्पत हो गये हैं। इसी प्रसंग में अलौकिकता के तत्त्व ने और भी रस-परिपाक को व्याहत किया है। मानस में गौरी-मूर्ति को माला अर्पित करते समय इतना ही कहा गया है—'खसी माल मूरति मुसुकाई'। किन्तु यहाँ तो वह मूर्ति वार्तालाप भी करती है :

"मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई
पूजो मन कामना भावतो वरू बरिकै।[२]

यहाँ तुलसी अलौकिकता, श्रद्धा और आस्था द्वारा अपनी आदर्श-भावना सुरक्षित रखना चाहते हैं।

चित्रकूट-प्रसंग में मधुर-भावना खुल कर आना चाहती है, पर तुलसी का आदर्श अभी उसे मुक्त नहीं करना चाहता। अतः तुलसी उसकी अभिव्यंजना का एक असाक्षात् मार्ग निकालते हैं। राम-सीता के श्रृंगार का चित्रण किया जाय तो प्रकृति के बहाने :

"वन-मिस मुनि-तिय मुनि-बालक बरनत रघुवर-विमल-बड़ाई।"[३]
"तुलसिदास चांचरि-मिस कहे राम-गुनग्रामा।
गावहिं सुनहिं नारि-नर पावहिं सब अभिराम।"[४]

तुलसी ने इस प्रसंग में प्रकृति या चांचर के बहाने सीता-राम के श्रृंगार का ही चित्रण किया है, वे इस बात में सन्देह नहीं रहने देते :

"माधुरी विलास हास गावत जस तुलसिदास,
बसति हिय जोरी प्रिय परम प्रान की।"[५]

इस प्रसंग में सबसे मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि चित्रकूट पर राम के आदर्श चरित्र के अनुरूप उनसे हम तप और संयम की अपेक्षा करते हैं, माधुरी-हास-विलास की नहीं। इस प्रकार के चित्र विवाह के अनन्तर अयोध्या लौटने पर दिये जाते तो उनमें प्रसंगौचित्य अधिक होता। चित्रकूट में इन चित्रों का उतरना कवि का मधुर भावना के प्रति विशेष आकर्षण ही कहा जायगा।

पर यहाँ तुलसी ने राम और सीता को साक्षात् केलि-विलास-मग्न न दिखा कर प्रकृति को काम और रति के प्रतिरूप देखा है। स्फटिक-शिला पर बना लता-कुंज मानो पंच-वाण

---

१. गीतावली, बालकाण्ड, पद ७।
२. वही, बा० का०, पद ७२।
३. वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४६।
४. वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४७।
५. वही, अयोध्याकाण्ड, पद ४४।

की विहार-वाटिका है।[1] इस सघन लता-कुंज में अपने हाथ से पल्लवशयन बनाकर राम प्रेम-पीयूष-पान की साध लिये सीता के अंगों पर धातु-राग से चित्र बनाते हैं, सुमनों के आभूषण गूँथ कर पहनाते हैं।[2] यहां तुलसी बहुत कुछ कहना चाहते हैं, बहुत कुछ कहते भी हैं, किन्तु सब अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से :

"जाइ न बरनि रामवन चितवत चित हरि लेत।
ललित लताद्रूम संकुल मनहुं मनोज निकेत।
लखन कहेउ रघुनंदन देखिय विपिन समाज।
मानहु चयन मयन-पुर आयहु प्रिय ऋतुराज।
चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखासहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु।"[3]
"चित्र विचित्र विविध मृग डोलत डोंगर डांग।
जनु पुर-बीथिन बिहरत छैल सांवरे स्वांग।
नचहिं मोर, पिक गावहिं, सुर बर राग बुधान।
निलज तरुन-तरुनी जनु खेलहिं समय समान।"[4]

यहाँ तुलसी ने राम के इस विहार को 'नित्य विहार' के रूप में भी देखा है :

"चित्रकूट कानन छवि को कवि बरनै पार।
जहं सिय-लखन-सहित नित रघुबर करहिं विहार।"
तुलसिदास चांचरि मिस कहे राम-गुनग्राम।
गावहिं, सुनहिं नारि-नर, पावहिं सब अभिराम।"[5]
"विरचित जहं परनसाल, अति विचित्र लखनलाल
निवसत जहाँ नित कृपालु राम-जानकी।"[6]

वन के मिस राम-विहार का वर्णन इस प्रसंग में करके गोस्वामी जी ने आदर्श और श्रृंगार भावना का समझौता प्रस्तुत किया है :

"आजु बन्यौ है विपिन देखो, राम धीर। मानो खेलत फागु मुद मदन बीर।[7]
"ऋतुपति आए भलो बनो बनसमाज। मानो भए हैं मदन महाराज आज।"[8]

तीसरा प्रसंग उत्तर काण्ड में राम के राज्याभिषेक हो जाने के अनन्तर अयोध्या में राम-सीता के विहार-विलास का है। दो लम्बे पदों में हिंडोले का वर्णन है, एक लम्बे पद में वसन्त-विहार का। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि मानस-स्थित तुलसी के आदर्श के अनुसार राम का उत्तर जीवन उच्च आदर्शों का निदर्शन है। इसी काल में लोक-साधना

---

१. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद ४४।
२. वही, पद ४४।
३. वही, पद ४७।
४. वही, पद ४७।
५. वही, पद ४७।
६. वही, पद ४४।
७. वही, पद ४८।
८. वही, पद ४९।

करने वाले राम ने अल्प-से अपवाद के परिहार के लिए निष्कलमषा सीता का परित्याग किया था। यहाँ राम से नैतिकता एवं मर्यादा-मार्ग की चरम प्रतिष्ठा अपेक्षित है। ऐसे प्रसंग में राम-सीता का यह विहार-विलास युगीन मधुर-भावना का आयात रूप ही कहा जायगा।

हिंडोले और वसन्त में राम-सीता का विलास-विहार चित्रकूट की अपेक्षा साक्षात् रूप में वर्णित है। जिस हिंडोले पर झूलते हैं उसके खंभे मदन-जय के स्तम्भ हैं। डांडा काम के मस्तक की तिलक-रेखा है। उसकी पटुली रति के हृदय की चौकी है।[1] रूप-यौवन की सीमाएँ सुन्दरियाँ शृंगार कर राम-सीता को हिंडोला झुलाती हैं, स्वयं भी झूलती हैं। नृत्य और गान चलते हैं और समूचे वातावरण में शृंगार की मधुरता घुली हुई है।[2]

वसन्त-वर्णन तो और भी उन्मुक्त एवं मादक है। तुलसी के इस वसन्त-विहार में कृष्ण-काव्य के वसन्त-विहार की प्रतिध्वनि है। एक ओर सखाओं और अनुजों के सहित राम की टोली है, दूसरी ओर नव किशोरियों के साथ सीता की। ये कामिनियाँ जिस किसी को पकड़ लेती हैं, आँखों में अंजन लगाकर, उसे नचा कर, हा हा करवाकर, और फगुआ मना कर ही छोड़ती हैं। हंसोड़े विदूषक गधों पर चढ़े ऐसे इशारे करते हैं जिनमें लज्जा किनारा कर गयी है। स्त्रियाँ और पुरुष परस्पर गालियाँ बकते हैं और राम तथा उनके अनुज और सखा उन्हें देखकर हंसते-प्रसन्न होते हैं।[3] ये चित्र निस्सन्देह राम के आदर्श के अनुरूप नहीं हैं। ये तुलसी की लेखनी से निकल कर पाठक को स्तंभित कर देते हैं। इनमें उस युग की असंयत भक्ति की प्रभाविता ही बोल रही है। यद्यपि इस रस-परिकल्पना में सखी-सम्प्रदाय कृष्ण-भक्तों के समान सुरतादि के उद्दाम चित्र नहीं हैं, तथापि जो भी है, राम के आदर्श के अननुरूप है। भले ही इनमें लोक-जीवन का ही चित्र अंकित है, और इस नाते इन चित्रों से लोक-मर्यादा का कोई विशेष विघटन नहीं होता है, तथापि तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित एवं परम्परा द्वारा स्वीकृत राम के आदर्श चरित्र पर प्रश्न-चिह्न अवश्य अंकित हो जाता है। सौभाग्य इतना ही है कि गोस्वामी जी ने इसको विस्तार नहीं दिया और बड़े ही सधे हाथ इसका चित्रण किया है।

सब मिला कर गीतावली की मधुर-परिकल्पना अपने में मधुर है। उसमें न मर्यादा-भक्ति की आग्रह-पूर्ण नीरसता है, और न कृष्ण-भक्ति के तथा कतिपय रामभक्ति के मधुर-उपासकों की सी उच्छृंखल उद्दामता। यह राम-काव्य के लिए, विशेष कर तुलसी के द्वारा, चाहे उपयुक्त न बैठती हो, किन्तु मधुरोपासक कृष्ण-भक्तों के लिए एक आदर्श बन सकती थी। सम्भव है, गोस्वामीजी ने इसी दृष्टि से इसे स्वीकार किया था।

सामान्य-कान्तारति—दाम्पत्यरति के अतिरिक्त सामान्य कान्तारति के भी विविध चित्र तुलसी ने गीतावली में अंकित किये हैं। जनकपुर में राम के सौन्दर्य के प्रति नगर-नागरियों का आकर्षण तो मानस में ही अधिक विस्तार से चित्रित है, किन्तु वनपथ में ग्राम-वधुओं एवं किरातिनियों में तथा राज्याभिषेकोत्तर राम के विलास-विहार में इस प्रकार के रति-भाव की सुन्दर परिकल्पना हुई है।

वनपथ के चित्रों की चर्चा हम अभी ऊपर कर चुके हैं। ग्रामवधुओं में जो राम के प्रति सौन्दर्याकर्षण है उसमें किसी प्रकार की वासना या सम्भोग-लालसा नहीं है। इस प्रकार

---

१. गीतावली, उत्तरकाण्ड, पद १८।

२. वही, पद १९।

के शुद्ध सात्त्विक शृंगार का चित्रण साहित्य में तुलसी के सिवा और किसी ने नहीं किया। यही प्रसंग मानस और कवितावली में भी आया है। यहाँ तुलसी ने उनकी अनुभूति को 'प्रेम-रस' नाम दिया है और इसकी प्रवाहिता और विवशता का कई पदों में उल्लेख किया है।

"यौं कहि भईं मगन बाल, बिथकीं सुनि जुवति जाल,
चितवत चले जात संग मधुप-मृग-विहंग।
बरनौं किमि तिनकी दसहिं, निगम अगम प्रेम-रसहिं।
तुलसी मन-बसन रंगे रुचिर रूप-रंग।"[1]
"दास तुलसी नेह-बिबस बिसरी देह,
जान नहिं आपु तेहि काल धौं को ही।"[2]
"सखिहिं सुसिख दई, प्रेम-मगन भई,
सुरति बिसरि गई आपनी ओही।
तुलसी रही है ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
कौन जानै कहां ते आई, कौन की को ही।"[3]

अतः इस प्रेम-रस में गहरा आत्म-विगलन एवं विवशता है। ग्रामवधुओं के इस प्रेम से सीता में कोई ईर्ष्या नहीं। शुद्ध सात्त्विक प्रेम ईर्ष्या का विषय नहीं होता। सीता उनके प्रति मूर्तिमती प्रभु-कृपा हो जाती हैं।[4] और वे ग्रामवधुएँ भी प्रेम-मूर्ति सीता के प्रति आकृष्ट हैं। तुलसी ने उनके इस दर्शन-सुख को 'स्वामी-स्वामिनी' के दर्शन का रस कहा है:

"तुलसी स्वामी-स्वामिनी जोहे मोही हैं भामिनि
सोभा सुधा पिये करि अंखियाँ दोनी।"[5]

कृष्ण-भक्त मधुरोपासक सखी-सहचरियों के दर्शन-सुख को सीता-राम के केलि-दर्शन तक ले गये हैं, तुलसी ने उसे रूप-दर्शन तक ही रख कर मर्यादा का निदर्शन उनके सामने प्रस्तुत किया है।

उत्तर-काण्ड में इसका मधुर-भाव के अनुरूप स्वरूप और अधिक व्यक्त हुआ है। शृंगार-सज्जा करके नागरी सखियाँ सीता-राम को हिंडोला झुलाने झुंडों में जाती हैं। बारी-बारी सीता-राम को झुलाती हैं, स्वयं भी झूलती हैं, झूलते-झुलाते उनके केश बिथुर जाते हैं, वस्त्र उड़ते हैं, भूषण अंगों से खिसक जाते हैं और इस रूप में उनकी शोभा बढ़ जाती है।[6]

---

१. गीतावली, अयोध्याकाण्ड, पद १७।
२. वही, अयो०, पद २८।
३. वही, अयो०, पद १९।
४. "सनेह-सिथिल सुनि वचन सकल सिया चितई अधिक हित सहित ओही।
तुलसी मनहुं प्रभुकृपा की मूरति फिरि हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही।" वही, अयो०, पद २०।
५. वही, अयो०, पद २२।
६. "झुंड-झुंड झूलन चलीं गज गामिनी बर नारि।
कुसुंभि चीर तनु सोहहीं, भूषन विविध संवारि।
... ...
अति मचत, छूटत कुटिल कच, छबि अधिक सुंदरि पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हंसि-हंसि अपर सखी झुलावहीं।" वही, उत्तरका०, पद १९।४।

स्वर्ग-दुर्लभ भोग का आस्वादन करते हुए भी इनमें विषयाकर्षण नही है।[1] इस प्रसंग का यह सामान्य कान्ताभाव सखी-भाव के रूप में ही सामने आता है,[2] किन्तु उनका आस्वाद्य रस कृष्ण-भक्ति की सखियों से अधिक निर्मल है।

तुलसी ने समन्वय-मार्ग का अवलम्बन कर मधुरोपासकों के समक्ष सखी भाव का निर्मल आदर्श प्रस्तुत किया है।

दास्य-भक्ति—भक्तिरस का तीसरा रूप जो गीतावली में प्राप्त होता है वह है दास्यभक्तिरस। यह तुलसी की प्रकृत भक्ति वाला ही रूप है।

तुलसी ने गीतावली में राम-कथा के कतिपय प्रसंगों का अपनी इस भक्ति-भावना के अनुरूप ही गान किया है। अहल्योद्धार, शबरी मिलन, विभीषण शरणागति आदि में यही भक्ति-रूप उभारा गया है। यों तुलसी में अपने आराध्य की महत्त्व-चेतना कभी दूर नहीं होती, पर इन प्रसंगों में भगवान् की भक्त-वत्सलता-उदारता आदि गुणों को उभार कर सामने किया गया है।

काव्य-दृष्टि से इन प्रसंगों में रस-व्यंजना नहीं हुई, भाव-व्यंजना इनमें बहुत ही सुन्दर है. इनमें कथांश और भावांश मिले-जुले रहते हैं, यह स्थिति भाव-व्यंजना के अनुकूल पड़ती है। पर इस स्थिति से न तो किसी काव्य-रस की गहरी सृष्टि हो पाती है और न भक्ति-रस का ही प्रवाही परिपाक होता है। किन्तु पर्यवसित रूप में यह भाव-व्यंजना सामान्यतः विभाव के महत्त्व, उदारता आदि गुणों को उभारती हुई भक्ति-रस का ही परिपाक करती है।

काव्य-रस—भक्तिरस के गीतावली में उपलब्ध तीन रूपों के परिचय के अनन्तर अब हम काव्य-रसों की ओर आते हैं। काव्य-रस कहने से यहाँ हमारा तात्पर्य यही है कि इनमें भक्तिरस के परिपाक के लिए अलौकिकत्व, अति महत्त्व आदि का दबाव न होकर भाव-व्यंजना प्रकृत रूप में हुई है। इस प्रकार के दो रसों की व्यंजना गीतावली में मिलती है—एक करुण की दूसरी वीर की।

करुण—भक्ति-भावना के अतिमात्र दबाव से मुक्त करुण का परिपाक गीतावली में सुन्दर हुआ है। यहाँ 'करुण' शब्द का प्रयोग अति रूढ़ मृत्यु-जन्य शोक के अर्थ तक ही परिसीमित नहीं लेना चाहिए। इसमें गहरे वियोग-शोक की स्थितियाँ भी गिनी जा सकती हैं। अतः इनमें वात्सल्य-विरह, वियोग-शृंगार और मृत्यु-शोक तीनों ही स्थायी की स्थितियाँ आ जाती हैं।

तुलसी को सर्वाधिक मर्मस्पर्शिनी सफलता गीतावली में इस व्यापक करुण के ही चित्रण में मिली है। वियोग वात्सल्य में कौसल्या के हृदय की व्यापक व्यथा और विरह शृंगार में सीता के मन की पुटपाक वेदना के चित्र हैं। शोक का परिपाक लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग को लेकर है।[3]

---

१. "नाकेस दुरलभ भोग लोग करहिं, न मन विषयनि हरे।" गीतावली, १९।१।

२. "सखि रघुनाथ रूप निहारु।" वही, उत्तरका०, पद ८।
"सखी रघुबीर-मुखछवि देखु।
... ...
नयन सुषमा निरखि नागरि, सफल जीवन लेखु।" वही, उ० का०, पद ९।

३. कौसल्या का विरह—अयो०, पद ५१-५५; ८४-७। अन्यों के लिए सु० का०, ७, १०। तथा लंका०, ६, ७।

करुण की इस सफल परिकल्पना के दो रहस्य हैं। एक तो इनमें कवि की आत्मा डूबी है, दूसरे गीतिकाव्य की कोमल शैली और भावानुरूप भाषा ने भी इसे योग दिया है।

वीर-रस—जिस प्रकार ऊपर हमने करुण को व्यापक अर्थ में लिया है उसी प्रकार वीर को भी एक व्यापक अर्थ में यहाँ लेना चाहिए। हनुमान-रावण संवाद, जटायु-रावण युद्ध, हनुमान का संजीवनी लाना, आदि ओजस्वी प्रसंग इसकी परिधि में आते हैं। अनेक स्थलों पर कोमल पदावली से भी तुलसी गीतावली में ओज गुण वाले भाव की सफल परिकल्पना प्रस्तुत कर सके हैं।

जहां तक गीतावली में पाठक की अनुभूति का प्रश्न है, इसकी अनुभूति सरल, साधारणीकरण की अधिकतम संभावनाएं लिए, एवं शुभोदर्की है। इसमें मधुर रस की अनुभूति अपने में अत्यन्त सरस है। केवल उत्तर काण्ड के कुछ मुक्त चित्रों को छोड़ पाठक तुलसी से सर्वत्र समानुभूति प्राप्त करता है। मधुर के मुक्त चित्रों में कुछ बाधा इस लिए होती है कि ये चित्र तुलसी के हैं यह चेतना पाठक नहीं छोड़ सकता। यदि किसी दूसरे के ये चित्र होते तो उसकी चेतना इनमें काव्यरस का सहज आस्वादन कर सकती। किन्तु ये केवल दो चित्र हैं। भक्तिरस के विषय में एक समन्वयात्मक रस-परिकल्पना प्रस्तुत करने के कारण गीतावली का स्थान तुलसी के साहित्य में उसका अपना है।

केशवदास

भक्त कवियों की परम्परा से सम्बन्ध जोड़ने वाली केशव की एक ही रचना कही जा सकती है—"रामचन्द्रिका"। वह भी प्रधानतया इसलिए नहीं कि उसमें रामचरितमानस के समान भक्तिरस का परिपाक है अथवा विनयपत्रिका के समान वह रामभक्ति के रस में भीगी हुई है, अपितु इसलिए कि उसमें रामकथा राम-भक्ति के आदर्शों को अपनाते हुए आस्था के साथ वर्णित है।

रसिकप्रिया में सिद्धान्त-पक्ष में केशव ने उसमें पारमार्थिकता की ओर संकेत किया है,[1] और उसमें निहित काव्य भी राधा और कृष्ण के नाम पर ही है; किन्तु उसमें भक्ति की चेतना नहीं है। ग्रन्थ का मूल उद्देश्य एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन है। यों उस युग में मधुरा भक्ति कृष्ण-काव्य में पूरा बल पकड़ चुकी थी, किन्तु रसिकप्रिया के काव्य में मधुरा भक्ति के आदर्श भी नहीं पाये जाते और कवि का आत्मानुराग भी नहीं। अतः रसिक-प्रिया के आधार पर केशव को वैष्णव कवि या भक्त कवि नहीं कहा जा सकता। और, इसी कारण वे कृष्ण-काव्य में हमारे विवेच्य नहीं हुए।

केशव का अपना भक्ति-आदर्श राम-भक्ति है। अपने अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने इस आदर्श की यत्र-तत्र चर्चा की है। विज्ञान-गीता में इस प्रकार की विचार-धारा है किन्तु वह भक्ति-काव्य न बनकर एक विचार-प्रधान नीरस-प्राय रचना हो गयी है। अतः भक्ति-काव्य से एक असाक्षात् लगाव होते हुए भी विज्ञानगीता को रस-परिकल्पना के लिए सामने नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः विज्ञानगीता काव्य नहीं, काव्याभासी वैचारिक रचना है।

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध-काव्य है, यद्यपि उसमें प्रबन्ध-धारा विशृंखल है। वह कवि-कौशल-प्रधान एक चमत्कारपूर्ण काव्य-रचना है, अतः इसमें रसात्मकता का स्थान प्रधान

१. "स्वारथ परमारथ लहै रसिकप्रिया की प्रीति।" —रसिकप्रिया, प्र० १६। १६।
"केसव श्याम सुजान कौ सुनत होइ बस चित्त।" —वही, १। १४।

नहीं है। सामान्यतः महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य का आदर्श रसान्वयिता है। उसमें किसी एक अंगी रस की धारा प्रवाहित होनी चाहिए, साथ में वस्तु-वर्णन और काव्य-चमत्कार भी रसानुयोगी रूप में बीच-बीच में चल सकता है। कथा-विकास रसोन्मुखी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य में प्रथम स्थान रस का, द्वितीय घटना और वस्तु-वर्णन का तृतीय काव्य-चमत्कार का है। किन्तु रामचन्द्रिका में काव्य-चमत्कार, वस्तु-वर्णन और रस का स्थान क्रमशः न्यून से न्यून हो गया है। इस प्रकार उसमें रस-परिकल्पना पिछाई पड़ गयी है और अलंकार-छंद के कवि-कौशल तथा चमत्कारी वस्तु-वर्णनों से आच्छादित हो गयी है। अतः हम जो भी रस-परिकल्पना का स्वरूप रामचन्द्रिका में पाने जा रहे हैं, इस तथ्य के साथ ही समझना चाहिए।

रामचन्द्रिका में कवि की प्रवृत्ति चमत्कार एवं कौशल द्वारा पाठक को प्रभावित करने की ओर अधिक है, स्वयं रस में डूब कर डुबाने की ओर कम। अतः उसमें किसी रस की परिकल्पना धारा-वाही रूप में नहीं मिलती। फिर भी रामचन्द्रिका रस-शून्य काव्य नहीं है। उसकी रस-परिकल्पना समझने के लिए हम भक्तिरस और काव्यरस दोनों की दृष्टि से अलग-अलग विचार करें तो उचित होगा। इस पद्धति से ही हम तुलसी की रस-परिकल्पना समझ कर आ रहे हैं। इस पद्धति को अपनाने से केशव की रस-परिकल्पना का तुलनात्मक स्वरूप भी स्पष्ट हो लेगा।

भक्तिरस—रामचन्द्रिका में रामचरितमानस के समान भक्तिरस एक अंगीरस नहीं है जिसके सापेक्ष्य में अन्य रसों एवं घटना तथा चरित्रों का विकास होता है। केशव ने राम-कथा को अपने काव्य का विषय एक आस्था और श्रद्धा के साथ चुना है, इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं है।[1] रामचन्द्रिका के विविध पात्र स्थान-स्थान पर राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम निवेदन करते हैं।[2] स्वयं केशव में और रामचन्द्रिका के पात्रों में राम के परब्रह्मत्व, परमैश्वर्य एवं लोक-रक्षक रूप की महत्त्वमयी वही चेतना है जो दास्यभक्ति के आदर्श के लिए अपेक्षित है।[3] रसिकप्रिया के शृंगारी कवि ने रामचरित में शृंगार के विषय में वही संयम दिखाया है जो मानस के भक्त कवि ने दिखाया था। रामचरित के लोक-प्रतिष्ठित एवं आदर्शवादी भक्ति-धारा में स्वीकृत आदर्शों को केशव ने जागरूक रह कर सुरक्षित रखा है। ये सब बातें रामचन्द्रिका से उद्धरणों की अपेक्षा नहीं रखतीं।

---

१. "जिनको जस हंसा, जगतप्रसंसा, मुनिजनमानस-रंता।
लोचन अनुरूपनि स्यासरूपनि अंजन अंजित संता।
कालत्रयदसा निर्गुन परसी होत बिलम्ब न लागै।
तिनके गुन कहिहौं, सब सुख लहिहौं, पाप पुरातन भागे।" रा० च० : प्र० १। २०।

२. विश्वामित्र—३।८, जनक—६।१८, शबरी—१२।४४, गीध—१२।३०, विशिष्ठ—२५।१-२।

३. "पूरन पुरान अरु पुरुष पुरातन परिपूरन बखानै न बतावैं और उक्ति कौं।
दरसन देत जिन्हें दरसन समुझैं न नेति नेति कहैं वेद छांड़ि भेद-जुक्ति कौं।
जानि यह केसोदास अनुदिन राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति कौं।
रूप देहि अनिमाहि गुन देहि गरिमाहि नाम देहि महिमाहि भक्ति देहि मुक्ति कौं।"
—रामचन्द्रिका, प्र० १।३।

"तुम आदि मध्य अवसान एक। अरु जीव जन्म समुझौ अनेक।
तुमही जु रची रचना विचारि। तेहि कौन भांति समुझौ मुरारि।" वही, २५।१।

इतना होते हुए रामचन्द्रिका में भक्ति की रस-धारा प्रवाहित नहीं होती। कोई पाठक उसे पढ़ कर भक्तिरस में डूब नहीं सकता। उसमें जो भी भक्ति है, भाव कोटि की है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से भी और भक्ति-शास्त्र की दृष्टि से भी। काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसलिए कि वह चमत्कार, अलंकार, वस्तु-वर्णन आदि से गुणीभूत है, उसकी विभावादि-नियोजन पूर्वक प्रबन्धात्मक भाव-धारा के नाते सर्जना नहीं हुई, और भक्तिशास्त्र के नाते इसलिए कि उसमें भक्ति सामान्य कोटि की ही है, जिसे भक्तिशास्त्रियों ने प्रेम की प्रथम कोटि 'भाव' कहा है।

रामचन्द्रिका में राम-विषयक दास्यरति के रस-कोटि तक पहुँच न सकने के चमत्कार-व्याघात के अतिरिक्त कुछ और भी कारण है। एक तो यह कि कवि को स्वयं रामरति की उस कोटि की स्वानुभूति नहीं जिसके आधार पर वह भक्ति का आत्मरस काव्य में घोल सके। दूसरे यह कि काव्य-दृष्टि से उसने राम के गुण-गान और महत्ता, परब्रह्मत्व आदि का वर्णन अधिक किया है, इस सबको विभावित कम किया है। इस वर्णन से भी रति का केवल विभाव-पक्ष खड़ा होता है, आश्रय-पक्ष में संचारी भावों और भक्ति के अनुरूप अनुभावों की योजना नहीं हो सकी। फिर भावों को क्रमशः विकसमान धारा में प्रस्तुत न कर यत्र-तत्र बिखरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन कारणों से रामरति रामचन्द्रिका में भाव-कोटि की ही रह गयी है, वह भी काव्य-चमत्कार एवं भाषा की दुरूहता से यदा-कदा यत्र-तत्र व्याहत है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि रामचन्द्रिका के पाठक पर केशव की भक्ति-भावना का कोई भी अनुभूत्यात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। रामचन्द्रिका की रामरति आदर्शवादी रामभक्ति के मूल स्वरूप को अपनाने के कारण भक्तिसंस्कार-सम्पन्न हृदय में भगवद्विषयक रत्युन्मेष करने में सफल है। उसकी अनुभूति आदर्शमयी रामभक्ति के प्रभाव के अनुरूप लोकमंगल-मय प्रभाव छोड़ती है।

कवित्व-चमत्कार से रस-परिकल्पना रामचन्द्रिका में गौण है, हम यह पीछे कह चुके हैं। पर रस-परिकल्पना में काव्यरसों की अपेक्षा भी भक्ति की परिकल्पना भी गौण है। रस-परिकल्पना के भीतर ही देखें तो भी भक्ति का स्थान काव्य-रसों के अनन्तर आता है।

काव्य रस—रामचन्द्रिका में रस-परिकल्पना चमत्कार से दबी हुई एवं अधारावाही रूप में है, इस तथ्य को ध्यान में रख कर कहा जा सकता है कि काव्यरसों का स्थान भक्तिरस की अपेक्षा उभरा हुआ है। केशव पहले कवि हैं, पीछे भक्त, आलोचकों के इस वाक्य को हम भी इस विषय में यहाँ दुहरा सकते हैं।

वातावरण की सृष्टि करके कुछ दूरी तक एक भाव-धारा को प्रवाहित करते हुए केशव को रामचन्द्रिका में वीर, रौद्र, करुण और शान्त के परिपाक में सफलता मिली है। स्थल-स्थल पर इन रसों का सामग्री-विधान एवं वातावरण-सर्जन पूर्वक जो परिपाक केशव ने रामचन्द्रिका में किया है वह यह बताता है कि इस कवि में रस-सर्जना की क्षमता तो श्रेष्ठ कोटि की है। यदि यह चमत्कार के फेर में न पड़ जाता तो काव्य-जगत् में बड़े पते का आदमी था।

वातावरण-सृष्टि और प्रकरण-वाही धारा-प्रवाह की दृष्टि से रामचन्द्रिका में अपनी सीमाओं में सबसे सफल रस वीर है। केशव का संवाद-कौशल प्रसिद्ध है। इन संवादों में जैसी उत्साह-व्यंजना केशव कर सके हैं, वैसी तुलसी भी नहीं कर सके। हम उन उद्धरणों को देकर यहाँ कलेवर-वृद्धि नहीं करना चाहते।

युद्ध के प्रसंगों में, लंका-युद्ध में भी और लव-कुश के युद्ध में भी उत्साह से परिपुष्ट रौद्र की सुन्दर परिकल्पना मिलेगी। कभी-कभी कोप की व्यंजना के अनुरूप परिस्थिति और वातावरण की सृष्टि कर लेने पर भी अभिव्यक्ति के साधन भाषा और छन्द धोखा अवश्य दे जाते हैं और रस-व्यंजना हलकी पड़ जाती है,[1] किन्तु युद्ध-चित्रों में इन कठोर रसों की व्यंजना में केशव को बहुत दूरी तक सफलता मिली है।[2] रौद्र की व्यंजना के लिए क्रोध एवं शक्ति का चित्रण पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों में हुआ है।

भयानक और वीभत्स इन रसों के सहचारी और अंग बन कर यत्र-तत्र परिकल्पित हुए हैं।[3] परशुराम-प्रसंग में भी भय की हलकी रेखा है।

केशव ने वस्तु-वर्णन में उन प्रसंगों में अधिक सफलता पायी है जिनमें ओज के विकास का अवकाश था। उदाहरण-स्वरूप धनुर्भंग का प्रसंग लिया जा सकता है।[4] रामचन्द्रिका में सब मिला कर ओजस्वी प्रसंगों का आधिक्य है। यदि वस्तु-वर्णन, ओजस्वी प्रसंग, भयादि की सहकारिता आदि पर सब मिलाकर ध्यान दिया जाय तो रामचन्द्रिका का अंगी काव्यरस वीर हो सकता है। पर चमत्कार के व्याघात और अंगी-रस के लिए अपेक्षित प्रवाहिता के अभाव में वैसा नहीं हो सका है।

वीर और रौद्र परुष रसों के अनन्तर सफलता की दृष्टि से रामचन्द्रिका में करुण का स्थान है। दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति के चित्रण में केशव ने इसके परिपाक में

---

१. रावण द्वारा सीता से राम का ध्यान छोड़कर उसे वरने का प्रस्ताव सीता के क्रोध के लिए अत्यन्त उपयुक्त अवसर था। उसकी व्यंजना का उचित प्रयास भी निम्न मालिनी छन्द की धीमी गति के कारण मंद-फल हो गया है :

"तृन बिच देइ बोली सिय गंभीर बानी। दससुख सठ सो तू कौन की राजधानी ?
दसरथसुत-द्वेषी रुद्र ब्रह्मा न भासै। निसिचर बपुरा तू क्यों न स्यों मूल नांसै।
अति तनु धनु रेखा नेक नाकी न जाकी। खल सत-खरधारा क्यों सहै तिच्छ ताकी ?
बिड़कन घन घूरे भच्छि क्यों बाज जावे। सिव सिर ससि श्री कौं राहु कैसे सुछीवे ?
उठि-उठि सठ ह्यांते भागु तौलां अभागे। मम वचन बिसर्पी सर्प जौ लौं न लागे।
विकल सकुल देखौं आसु ही नास तेरो। निपट मृतक तोकों रोष मारै न मेरो।"

—रा० च०, १३ : ६१-३।

२. "करि आदित्य अदृष्ट, नष्ट जम करौं अष्ट बसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु।
बलित अबेर कुबेर बलिहि गहि देउं इंद्र अब।
विद्याधरन अविद्य करौं बिन सिद्धि सिद्ध सब।
निजि होहि दासि दिति को अदिति अनिल अनल मिटि जाइ जल।
सुनि सूरज उवत ही करौं असुर संसार बल।" —रा० चं०, १७ : ४९।

३. रा० चं०, १९।२६-२८ ; ७ : २।

४. "प्रथम टंकारि झुकि झारि संसार मद चंड कोदण्ड रह्यौ मंडि नव खंड कौं।
... ...
बांधि बेर स्वर्ग कौं साधि अपवर्ग धनुभंग को सब्द गयो भेदि ब्रह्मं कौं।" —रा० चं०, ५ : ४३।

अच्छी सफलता प्राप्त की है।[1]

केशव ने विरह-व्यथित सीता के कतिपय चित्र इस रूप में प्रस्तुत किये हैं कि वे पाठक की अनुभूति के लिए करुण का विभाव बन कर आते हैं :—

"धरे एक बेनी मिली मैल सारी,
मृनाली मनौ पंक तें काढ़ि डारी।
सदा रोमनामै रहै दीन बानी,
चहूँ ओर हैं राकसी दुक्खदानी।"[2]

शृंगार राम-काव्य के अनुरूप संयोग-पक्ष में संयत एवं मर्यादित[3] तथा वियोग पक्ष में यत्र-तत्र हृदय-स्पर्शी है। वियोग को राम और सीता दोनों में दिखा कर प्रेम की उभय-पक्षीयता का चित्रण किया गया है।[4]

रामचन्द्रिका में शान्त की परिकल्पना भी सबल है।[5] वस्तुतः आदर्शवादी रामभक्ति के संस्पर्श के साथ ही शान्त का स्वतः समावेश है। केशव ने स्थल-स्थल पर और विशेष कर उत्तर-कथा में शान्त के लिए अवकाश निकाले हैं। ओजस्वी प्रसंगों के बाद रस-दृष्टि से शान्त का ही नम्बर आता है।

अन्य रसों की स्थिति सामान्य है। यों ढूँढने से सभी रसों के कुछ न कुछ सुन्दर स्थल रामचन्द्रिका में निकल आते हैं। वे इस बात के तो प्रमाण हैं कि केशव में अपेक्षित भावुकता और रस-परिकल्पना की क्षमता है, किन्तु उनके आधार पर केशव की विशिष्ट रस-दृष्टि नहीं समझी जा सकती।

तुलसी और केशव की रस-परिकल्पना में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि तुलसी में जहाँ भक्तिरस की धारा आद्योपान्त प्रवाहित है वहाँ केशव में भक्ति 'भाव' के स्तर पर ही रह गयी है। तुलसी में काव्यरस चमत्कार से दूर हैं, या कहिए चमत्कार उनका अनुयोगी है। केशव में काव्यरस चमत्कार के अनुयोगी या उससे व्याहत होकर आये हैं। सामान्यतः केशव की रस-परिकल्पना धारा रूप में नहीं, झलकियों के रूप में मिलती है। धारा रूप में मिलता है कवित्व, चमत्कार; कभी इस रूप में तो कभी उस रूप में।

पाठक की अनुभूति की दृष्टि से केशव की रस-परिकल्पना भाषा की अपरिचितता, एवं अस्पष्टता के कारण व्याहत है, साथ ही चमत्कार-पूर्ण वर्णनों के कारण आच्छादित है। इससे बच कर पाठक केशव के काव्य में भक्ति का भी और रसों का भी एक सीमा में आस्वादन करता है।

सेनापति

सेनापति के कवित्तरत्नाकर के अंतिम दो तरंग चतुर्थ तथा पंचम राम-भक्ति की परिधि में आते हैं। प्रारम्भ के तीन तरंगों में श्लेष, शृंगार और प्रकृति-वर्णन है। वे न तो वैष्णव-चेतना से सम्बद्ध हैं न उनका भक्ति से कुछ लगाव है। वे रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

१. रामचन्द्रिका, १३।५४।
२. वही, १७।४४-५।
३. वही, १।३४।
४. वही, १३।२२, १३।८५, १४।२९।
५. वही, प्रकाश, २४।

अन्तिम दो तरंगों में से चौथे में तो रामचरित के कतिपय चुने प्रसंगों सम्बन्धी कवित्त हैं, पांचवें में आत्मपरक अभिव्यंजना है। इन दोनों ही तरंगों में राम-भक्ति की गहरी भावना पायी जाती है। दोनों ही तरंग राम-काव्य की सुन्दर निधि कहे जा सकते हैं।

रस-परिकल्पना की दृष्टि से जब अभिव्यंजना कथा वर्णन के सहारे से हुई है तब भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरसों की अभिव्यक्ति प्रमुख है, और जब अभिव्यक्ति आत्मपरक हुई है तब काव्यरस की अपेक्षा भक्तिरस अधिक उभरा हुआ है। एक बात और उल्लेखनीय है। सेनापति ने काव्य-कौशल के जिन उपादानों का जीवन भर अभ्यास किया है उनको यहाँ भी एकदम छोड़ नहीं दिया गया। श्लेष, भाषा और छन्द की सफाई आदि का यहाँ भी उपयोग हुआ है। अंतर केवल इतना हो गया है कि जीवन भर ये चमत्कार-साधन उनके साध्य रहे थे, राम-भक्ति के क्षेत्र में आकर अब वे पूजन-समर्पण की सामग्री बन गये हैं। अतः कहीं भी चमत्कार ने रस-परिपाक को व्याहत नहीं किया।

इन तरंगों के आधार पर सेनापति की सच्ची भक्ति-भावना का प्रमाण मिलता है। केवल राम-कथा का सहारा पकड़ कर काव्य-रचना करने से ही किसी कवि को राम-भक्त नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने रघुवंश में कई सर्गों में राम-चरित कहा है। उसमें रस-परिपाक भी स्थल-स्थल पर कालिदास के अनुरूप है। पर कालिदास इससे रामभक्त नहीं कहे जाते। सारे रघुवंश का चरितगान करके भी कालिदास रामभक्त कवि नहीं हैं, यद्यपि उनकी रचना में रस-परिपाक उच्चकोटि का है। भक्त होने के लिए भगवद्रति की राग एवं आवेशमयी स्वानुभूति भी कवि में अपेक्षित है। सेनापति में ऐसी ही रागमयी स्वानुभूति राम के प्रति इन तरंगों में पायी जाती है।

सेनापति की भक्ति का आदर्श तुलसी के समान ही मर्यादावादी है। उनकी भक्ति भी स्वरूपतः दास्यमूलक है। इस भक्ति के लिए अपेक्षित भगवान् के महत्त्व, भक्त-वत्सलत्व और लोक-रक्षकत्व की चेतना के साथ आत्म-दैन्य, विनय, समर्पण, अनन्याश्रयत्व, एवं चित्त की प्रशान्तता की सच्ची अनुभूति सेनापति में है। यह दूसरी बात है कि इन अनुभूतियों में तुलसी की कोटि की सघनता न हो, किन्तु सेनापति में ये अनुभूतियाँ कवि-कल्पना की कृपा से नहीं आयी हैं, स्वानुभूति के बल पर आयी हैं, इस बात का साक्षी स्वयं उनका काव्य और पाठक पर उनकी रस-परिकल्पना का पड़ने वाला प्रभाव है।

कवित्तरत्नाकर के इन तरंगों में प्राथमिक तरंगों के सेनापति की भाव-दिशा के परिवर्तन की झांकी है। वहाँ का शृंगारी तथा चमत्कारी कवि यहां आकर भक्त बन गया है, अतः ये अनुभूतियां निश्चय ही उनके जीवन के पिछले काल की होनी चाहिए। यहाँ कवि अपने काव्य से या तो अपने आराध्य को रिझाना चाहता है या अपने मन की प्रेमाकुलता व्यक्त करना चाहता है। यहाँ उसमें विनय भी इतना है कि उसे संकोच है कि जिस की कृपा से यह दीप की सी ज्योति मिली है उस दीप्त भानु के सामने इस दीप को कैसे रखे :

"धाता जाहि गावै, कछू मरम न पावै, ताहि
कैसे कै रिझावै, भलौ मौन ठहराइयै।
रसना कौं पाइ, पाइ बचन सकति, विन
राम नाम गुन-गाइ तऊ मन अकुलाइयै।
जैसे बिन अनल, सलिल ही कौ दीपक दै,
दीपतिनिधान भान कौं भलौ मनाइयै।

ऐसे, थोरी उकति जुगति करि सेनापति
राजा राम तीनि लोक तिलक रिझाइयै ।।"[1]

दीपक भी हो तब न, यह तो बिना ज्योति का और पानी का दीपक है, फिर दीप्ति-निधान भानु के सामने कैसे रखा जाय ?

सेनापति के इन तरंगों में भक्तिरस के दो रूप उभर कर आये हैं—दास्यभक्तिरस तथा शान्तभक्तिरस । कथा-गान में भक्तिरस गौण है और काव्यरस प्रधान । सेनापति ने रामचरित के कुछ ही प्रसंग चुने हैं,[2] ये प्रसंग वे ही हैं जिनमें वे राम के शक्तिमान्, शौर्य-पूर्ण और उदार रूप को उभार सकें । अतः काव्यरसों की दृष्टि से कथा-गान में वीर, रौद्र का प्रधान रूप से तथा अद्भुत और भयानक का अनुयोगी रूप से परिपाक हुआ है । रामचरित का कथन करते हुए सेनापति की रस-परिकल्पना का पथ यह होता है कि वर्ण्य विषय के अनुरूप उनका कवित्व पूर्ण सजग हो जाता है, और प्रकृत काव्यरस ही प्रधानतया उभरकर आता है । अन्ततोगत्वा पर्यवसित रूप में उससे राम के महत्त्वादि की व्यंजना होती है और उस वर्णन की परिणति रामरति में जाकर हो जाती है । किन्तु सेनापति के कवित्त मुक्तक पद होने के नाते और मुक्तक प्रसंगों को लेकर रचे हुए होने के नाते, चरित-गान के पदों में अनुभूति काव्यरसों की ही प्रधान होती है ।

चरित-गान के पदों में काव्यरसों की प्रधानता का कारण है । इनमें भक्तिरस का दूरान्वयी विभाव-पक्ष तो खड़ा होता है किन्तु भाव-पक्ष चित्रित नहीं होता । न भक्ति-परिपाक के अनुरूप संचारियों की न अनुभावों की व्यंजना उस सम्बद्ध स्थल में साथ होती है । अतः वह प्रसंग काव्यरस का परिपाक ही सबलता के साथ उभारता है । पाठक इन पदों में इन्हीं वीरादि रसों की अनुभूति करता है । पर्यवसित रूप में कहीं दूर जाकर भक्ति की भावात्मक अनुभूति का अवसर आता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए निम्न स्थल लिया जा सकता है :

"हहरि गयौ हरि हिये, धधकि धीरत्तन मुक्किय ।
ध्रुव नरिंद थरहर्‌यौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय ।
अक्खि पिक्खि नहिं सकइ, सेस नक्खिन लग्गिय तल ।
सेनापति जय सद्द सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल ।
उद्दंड चंड भुजदंड भरि धनुष राम करषत प्रबल ।
टुट्टिय पिनाक, निर्घात सुनि लुट्टिय दिगंत दिग्गज विकल ।।"[3]

इस पद में राम द्वारा धनुर्भंग का ओजस्वी चित्र है । इसमें राम के वीरतापूर्ण कर्म के सहारे वीर रस की काव्यात्मक व्यंजना है । अतः पाठक को यहाँ वीर रस की ही अनुभूति पहले होती है । भगवान् राम के शक्ति-वैभव की कल्पना कर उनके प्रति रति में लीन होने की नौबत पीछे भले आये ।

रामचरित-गान में कवि की वृत्ति वीरोचित ओजस्वी प्रसंगों में ही रमी है । कोमल प्रसंगों को उसने लगभग छोड़ दिया है । इससे उसकी उस रुचि का पता चलता है जिससे वह अपने आराध्य की ओर देखता है । वात्सल्य रस का रसिक जिस प्रकार भगवान् के बाल-

---

१. कवित्तरत्नाकर, तरंग ४, पद ५ ।
२. वही, पद ६ ।
३. क० र०, पद क्रमशः १६-६०-३२, तरंग ४ ।

सौन्दर्य की झांकी देखता है और मधुरोपासक रूप-माधुरी में श्रृंगारमय झांकी के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करता है, उसी प्रकार वीर-भक्त सेनापति ने राम के तेज-पुंज दीप्त रूप की सौन्दर्य-झांकी देखने का प्रयास किया है :

"काढ़त निषंग तैं न साधत सरासन में,
खैंचत चलावत न बान पेखियत हैं ।
स्रवन में हाथ कुंडलाकृति धनुष बीच
सुन्दर वदन इकचक लेखियत है ।
सेनापति कोप-ओप-ऐन हैं अरून नैंन
संवर-दलन मैंन तैं विसेखियत है ।
रह्यौ नत ह्वै कै अंग ऊपर कौ संगर में
चित्र कैसो दिखौ राजा राम देखियत है ।"[१]

काव्यरसों की परिकल्पना का दृष्टि से जिन रसों को सेनापति ने उरेहना चाहा है, उनमें उनका मंजा हुआ कवित्व है । यहाँ उनके उदाहरण देना अपेक्षित नहीं । पर सेनापति की काव्य-साधना रस-परिपाक की दृष्टि से पूर्ण सफल है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है । अद्भुत की व्यंजना करता हुआ निम्न पद उनके अनेक पदों में से एक है, विशेष रूप से छांट कर चुना हुआ नहीं है :

"चल्यौ हनुमान् राम बान के समान, जानि सीता सोध काज दसकंधर नगर कौं ।
राम कौं जुहारि, बाहुबल कौं संभारि करि, सब ही के संसै निरवारि डारि उर कौ ।
लागी है न वार, फांदि गयौ पारावार पार सेनापति कविता बखानैं बेगवर कौं
खोलत पलक जैसे एक ही पलक बीच दृगन कौं तारौ दौरि मिले दिनकर कौं ।"[२]

श्रृंगार का चित्रण राम-विवाह के समय संयत और संक्षिप्त है । भय आनुषंगिक और विपक्ष-निष्ठ है । व्यंजना की दृष्टि से सभी की व्यंजना बड़ी प्रौढ़ है ।

इन काव्यरसों के साथ भक्तिरस की स्थिति गौण-रूप में है, यह ऊपर के निरूपण से स्पष्ट है । किन्तु जहाँ कथाश्रयी अभिव्यक्ति न होकर आत्माभिव्यंजन है वहाँ भक्तिरस ही प्रधान है । और उसके दो रूप हैं दास्य और शान्त ।

पंचम तरंग के अनेक पदों में भगत्प्रेम की सघनता और अनन्यता के भाव भरे हैं । इन सहचारी भावों के बल से ही भक्तिरस की व्यंजना सफल हुई है । कुछ पदों के अंश इस दृष्टि से उद्धृत हैं :

(क) "और हौं न चाहौं, चित चाहत हौं ताही नित,
सेनापति जाकी तीनौं लोक इक नाइकी ।
हूजियौ न दूरि, मेरे जिय की अमर मूरि,
रहौ भरपूरि एक प्रीति हरिराइ की ।"[३]

(ख) "सोवै सुख सेनापति सीतापति के प्रताप,
जाकी सब लागे पीर ताही रघुबीर ही ।"[४]

१, २. क० र०, पद क्रमशः १६-६०-३२, तरंग ४ ।

३. कवित्तरत्नाकर, तरंग ५ : पद १० ।

४. वही, पद १६ ।

(ग) "कीजै न वहर, वेग मेरौ दुख हर, मेरे
आठहू पहर आस रावरे चरन की।
सूझत न और कोई निरभय ठौर राम
देव सिरमौर तो लौं दौर मेरे मन की।"[१]

इस प्रकार के प्रेमोच्छलन वक्रोक्तिपूर्ण उक्तियों से लिपटे हुए, कभी काव्य-चमत्कार के साथ प्रस्तुत सेनापति के कवित्तों में भरे हैं।

सेनापति के इस भक्तिरस में चित्त की शान्तता, संसार की असारता और भगवद्रति बिना जीवन के बीत जाने का पश्चात्ताप एवं निर्वेद भी अनेक पदों में अंकित है। ऐसे पदों में से जिनमें भगवद्रति का आकर्षण भी मिला हुआ है वे तो शान्तभक्तिरस के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, जिनमें केवल निर्वेद-विवेक की अभिव्यक्ति है, उन्हें स्वतन्त्र शान्त का कहा जा सकता है : उदाहरण के लिए निम्न पद लिए जा सकते हैं :

(क) नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।
... ...
आवत विराम वैस जात अभिराम तातैं
करि बिसराम भजि रामैं किन लेत है।"[२]

(ख) "ऐरे मन मेरे, खोए बासर घनेरे करि
जोष अभिलाष अजहूँ न उह रत है।
... ...
कीजिये कहां लौं तेरे मन की बड़ाई जातैं
मरेन के जीवे कौं मनोरथ करत है।"[3]

सेनापति ने उदार-वैष्णवी चेतना के अनुरूप राम के अतिरिक्त भी अन्य देवताओं एवं अवतार-रूपों के प्रति प्रेम-व्यंजना की है। इनमें कृष्ण-रति, शिव-रति और गंगा-रति उल्लेखनीय हैं। शिव-भक्ति एक प्रकार से तुलसी की कृपा से रामभक्ति का ही अंग बन गयी थी। तुलसी ने भी कृष्ण गान गाकर अपनी उदारता का परिचय दिया था। अतः इन रतियों के आधार पर सेनापति की राम-निष्ठा पर आँच नहीं आती, अपितु भक्ति की उदारता ही स्पष्ट होती है। इन रतियों में भी सेनापति की गहरी आवेशमयी अनुराग-भावना मिलती है।[४] कुछ पदों में कृष्ण-चरित का भी गान है। चरित-गान का एक ही उद्देश्य है भगवल्लीला

---

१. कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, पद १५।
२. वही, पद ११।
३. वही, पद ३५।
४. "श्रीवृन्दावनचंद सुभग धाराधर सुन्दर।
दनुजवंस वनदहन बीर जदुवंस पुरन्दर।
अति बिलसति वनमाल चारु सरसीरुह लोचन।
बल विदलित गजराज, विहितवसदेवविमोचन।
सेनापति कमलाहृदय कालिय-फन भूषन चरन।
करनालय सेवौ सदा गोबर्धन गिरिवर धरन॥" —कवित्तरत्नाकर : तरंग ५ : कवित्त २५।

का गान। मध्यकालीन भक्ति के दोनों ही रूप रहे हैं—आत्म-निवेदन भी और लीला-गान भी। सेनापति की उदार रामभक्ति में भी दोनों ही रूप मिलते हैं। सामान्यतः अन्य सभी रतियाँ रामरति का अंग या पोषक बन गयी हैं।[1]

मधुर धारा

पीछे हमने आदर्शवादी रामभक्ति के तीन प्रमुख कवियों की रस-परिकल्पना समझी है। अब हम अपने युग की मधुर-धारा के दो कवियों की ओर आते हैं।

रामभक्ति की मधुरोपासना में मोटे तौर पर वे ही बातें स्वीकार की गयी हैं जैसी कृष्णभक्ति की मधुरोपासना में हैं। यहाँ राधा और कृष्ण के स्थान पर सीता और राम को प्रतिष्ठा मिलेगी। उधर जो महत्त्व ब्रज और वृन्दावन का है वह इधर अयोध्या का है। यहाँ राधा-कृष्ण के निकुंज-विहार के स्थल पर सीता-राम के निकुंज-विहार का चित्रण है। फिर भी एक बात उल्लेखनीय है। १७वीं शती तक रामभक्ति का हिन्दी मधुर काव्य उतना उन्मुक्त शृंगारी नहीं है जितना उसी काल का कृष्ण-भक्ति का मधुर काव्य। १७वीं शती के अनन्तर तो रामभक्ति मधुर-काव्य भी वैसा ही उन्मुक्त शृंगारी हुआ। १७वीं शती के मधुर काव्य में रामभक्ति के कवि राम के प्रतिष्ठित आदर्श का कुछ लिहाज़ करके चले हैं।

यहाँ रामभक्ति की मधुर भावना की कतिपय प्रमुख बातें संक्षेप में उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में इसलिए कि वैसी ही बातों का स्वरूप हम कृष्ण-भक्ति की मधुर धारा का परिचय प्राप्त करते समय जान चुके हैं। हमारे आलोच्य काल में अग्रदास और नाभादास दो लोग आते हैं। इनकी रचनाओं में विशेष सैद्धान्तिक चर्चा नहीं मिलती। किन्तु इनके अनन्तर १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रादुर्भूत महात्मा बाल अलिजी की रचनाओं में सैद्धान्तिक चर्चा एवं शृंगार का उन्मुक्त चित्रण दोनों ही बातें प्रारम्भ हो जाती हैं। इस दृष्टि से सम्प्रदाय का अथवा कहिए, रामभक्ति मधुरोपासना का हिन्दी में तो परिनिष्ठित स्वरूप महात्मा बाल-अलिजी से ही सामने आता है। रामभक्ति की मधुरोपासना का सैद्धान्तिक पक्ष समझने के लिए हम महात्मा बालअलिजी का भी उपयोग कर सकते हैं।

मधुरोपासक रामभक्तों ने अयोध्या में सरयू के तट पर एक अशोक-वन की कल्पना की

"सोहति उतंग उत्तमंग ससि संग गंग।
गौरि अरधंग जो अनंग प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल सेनापति अनुकूल कटि
चाम सारदूल कौ, सदा कर त्रिसूल है।
कहा भटकत, अटकत क्यौं न तासौं मन?
जातैं आठ सिद्धि नव निद्धि रिद्धि तू लहै।
लेत ही चढ़ाइवे कौं जाके एक बेल-पात
चढ़त अगाऊ हाथ चारि फल फूल हैं।" —कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, कवित्त ४५।

१. "रामपदसंगिनी तरंगिनी है गंगा तातैं
याहि पकरे तैं पाइ राम के पकरियै।" —कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, कवित्त ५५।
"वारानसी जाइ मनिकर्निका नहाइ मेरौ
संकर तैं रामनाम पढ़िवे कौं मन है।" —कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, कवित्त ४४।

है जिसमें एक कल्प-वृक्ष है। उसी के नीचे एक मणिमय धाम बना हुआ है। उसकी वेदी के बीच एक रत्न-सिंहासन पर रत्न-कमल का आसन है। उसकी कर्णिका के मध्य में सीता-राम युगल शोभित हैं। कमल की पंखुड़िड़ों पर राम-परिवार और सखियों के निकुंज हैं। यही रामभक्त मधुरोपासकों का निकुंज-महल है। अग्रदासजी तथा नाभादासजी दोनों ने इस अंतः-पुरी निकुंज-महल के वैभव-विलास और ऐश्वर्य का सोत्साह चित्रण किया है :

(क) "कल्पवृक्ष के निकट तहां यह धाम मणिन जुत।
कंचन मय सब भूमि परम अति राजत अद्भुत ॥
स्वर्णवेदिका मध्य तहां यह रत्न सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पदुम शुभासन ॥
ताके मध्य सुदेस कर्णिका सुन्दर राजै।
तामधिशोभित राम नील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अंभोधि सजल घन तन की शोभा ॥
शिर पर दिव्य किरीट जटित मंजुल मणि मोती।
निरखि रुचिरता लजित निकर दिनकर की जोती।"[1]

(ख) "भीतर कोट वोट अति पावन। चिंतामणिमय भूमि सुहावन।
चहूँ दिशि योजन चार सुहावा। सो अवधेन्द्र भवन श्रुति गावा ॥
पंच चौक राजत अति नीके। कौशलसुता राजमहिषी के।"[2]

(ग) "कनक दंड वर चारि सुहावन। रचित करुणमणि अति मनभावन।
अद्भुत रंग कांति सुखरासी। कुंजमहल छवि प्रभा प्रकासी।
गजमुक्तनि की झालरि झमकै। मणिमय दीप ज्योति मधि चमकै।
झीने पट अति परदा परे। पवन प्रसंग व्यजन शिर ढुरे ॥[3]

नाभादासजी के शब्दों में यह निकुंज-भवन मंगलमय, आनंदकर, रसरूप है :

"शीतल मधुर सुगंध सुख-स्वाद-विशद रसरूप।
तृषाहरन मंगलकरन आनंदभरन अनूप ॥"[4]

इस प्रकार कृष्णकाव्य का वृन्दावन यहाँ अयोध्या है, यमुना सरयू है, कदंब अशोक है; पर लता-भवनों के कुंजों के स्थान पर यहाँ राजाधिराज राय और राजमहिषी सीता के वैभव के अनुरूप परम ऐश्वर्य की कल्पना है। यों कतिपय कृष्णभक्तों ने वृन्दावन की दिव्यता दिखाने के लिए चिन्तामणियों, रत्नों आदि का चकाचौंध चित्रण किया है, पर यहाँ राजा राम के वैभव को ध्यान में रखकर कुंजमहल को विशेष वैभव पूर्ण अंकित किया है। हैं दोनों जगह के धाम नित्य, चिद्रूप, रसमय। यदि वृन्दावन के कुंजों के झरोखे लताओं-झुरमुटों के हैं तो वहाँ के नगों-नगीनों के।[5]

---

१. ध्यानमंजरी, अग्रदास, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १९१।
२. रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९६।
३. वही, पृ० १९६।
४. वही, पृ० १९५।
५. "चहुंदिशि अगणित नगन युत बने झरोखा जाल।" नेह-प्रकाश' बालअलिजी, वही, पृ० २०१।

इस निकुंज में रसिक-शिरोमणि रसरूप राम की विलास-विहारमयी लीलाएँ चलती हैं।[१] राम ब्रह्म हैं, सीता उनकी आह्लादिनी शक्ति है।[२] दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं,[३] किन्तु 'एकाकी न रमते' के सिद्धान्त के अनुसार रमण के लिए पति-पत्नी के रूप में व्यक्त हुए हैं।[४] जो सीता के बिना राम का ध्यान करते हैं उनका ध्यान अपूर्ण है।[५] सीता-राम का नित्य-दाम्पत्य है, यहाँ परकीयात्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

सीता और राम का मिलन परम प्रेममय, स्वरूपतः काममय और नित्य है।[६] उनका यह प्रेम परम आवेशमय और तन्मयता-समर्थक है।[७] उनके मिलन में नित्य संयोग की भावना है अतः उसमें स्थूल विरह का अवकाश नहीं है। राम के लिए पलकों का विरह या प्रेमाश्रुओं की बाधा ही व्याकुलता ला देती हैं।[८]

सहचरियों-सखियों के लिए सीता-राम का यह रसरूप नित्यविहार ही विभावरूपेण आस्वाद्य है। सहचारियाँ स्वरूपतः सीता की ही कला-शक्तियाँ हैं, रमा आदि तो उनकी कलाएं हैं।[९] सहचरीभाव को बालअलिजी ने इस रूप में निरूपित किया है :

---

१. "युगल लाल प्रिय कुंज सुख नित नव विमल विहार। रामध्यान, नाभादास, वही, पृ० १९६।

२. ध्यानमंजरी, बालअलिजी, रामभक्ति में मधुर उपासना, पृ० २०१।
"सुद्ध सच्चिदानन्द कन्द वर विग्रह जाको।"
"जयति सिया आह्लादिनी शक्ति शक्ति-गण-भूप।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २१०।

३. "रहे अली इक रूप ह्वै ज्यों जल मिले तरंग।" नेह-प्रकाश, बालअली, राम० में मधुर, पृ० २०९।

४. "पियबस प्रिया, प्रियाबस पीय, उरझे रहत रैनदिन हीय।
सियहिय के जीवन हैं पीय, पीय के प्राण जीवन धन सीय।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २१०।
"एकाकी नहिं रमन ह्वै चहत हियाहि सोइ।
रमत एक ही ब्रह्म यह पति पत्नी तनु होइ।" नेह-प्रकाश, वही, पृ० २०१।

५. जा बिनु रघुबर ध्यान कल्प भरि जौ नर करहीं।
प्रभु नहिं होत प्रसन्न वृथा श्रम करि पचि मरहीं।" ध्यानमंजरी, बालअली, वही, पृ० २१३।

६. "चित्र विचित्र अनि न रुंति सेज सुमन पचरंग।
लाल लाड़िली रसभरे सोवत दोउ हित संग।" रामाध्यान, नाभादास, रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना, पृ० १९६।
"लखत लड़ैती लाल दोउ, सिथिल सनेह सुअंग।
दंपति संपति परसपर समर समर रसरंग।" वही, पृ० १९६।
"निसिदिन रहत तहां सुख-भीनैं।" नेह-प्रकाश, बालअलि, वही, पृ० २०१।
"नेक न न्यारे होत दोउ बंधे प्रेम की डोर।" वही, पृ० २०३।

७. "महा प्रेम-आवेश तें भय तन्मय आकार।
हौं प्रीतम हौं ही प्रिया यह रहि गयौ विचार।" वही, पृ० २०५।

८. "असुवन अंतर करत लखि पिय दरशन बिच आइ।
निन्दत दोउ आनन्द को ललन हिये अकुलाइ।" वही, पृ० २०३।

९. "जिनकी कला कला कौ अंस प्रगटि तिय रमादि अवतंस।
सिय परिचारी पिया पियारी ऐसी सखी अनन्त निहारी।" वही, पृ० २००।

"पिय को निज स्वामी पुनि जानैं।
सिय सहचरि अपने कौं मानैं।
निसिदिन निरखैं रास विलास।
ते सिंगार भक्त नित पास॥"[1]

बालअलीजी ने इस व्यक्त रस की भावात्मक व्याख्या भी की है, भावात्मक इस अर्थ में कि सखीभाव के भक्तों के हृदय-कुंज में विलासमय सीता-राम प्रादुर्भूत होते हैं :

"अंस परस्पर भुज धरे निशिदिन पूरन काम।
प्रेमसखी-हिय में बसे सिया-राम छवि धाम॥[2]

सेवा-सम्पर्कादि के अधिकार के अनुरूप सखियों-सहचरियों-मंजरियों-किंकरियों आदि के भेद भी प्रतिष्ठित-निरूपित किये गये हैं। यह साम्प्रदायिक बंधान १८वीं शती और १९वीं शती में अधिक हुआ। कृष्णभक्ति मधुरोपासना में जिस प्रकार सहचरियों को दर्शन-सुख ही प्राप्य दिखाया गया है, वैसे ही यहाँ भी माना गया है।[3] कहीं-कहीं लीला-रसिक राम के साथ सहचरियों में प्रिया-प्रियतम भाव का उल्लेख भी किया गया है किन्तु उनके साथ साक्षात् काम-विलास की चर्चा नहीं है।[4]

सखियों की रसानुभूति में, जो कि मुख्यतः सीता-राम के विहार-विलास का दर्शन-सुख है, आत्म-विभोरता, व्यक्तितत्व-विगलन एवं विस्मयात्मक आनन्द के मधुर चित्र बालअलिजी ने उतारे हैं।[5] सिद्धान्ततः युगल के प्रति पंच-भावात्मिका रति को स्वीकार किया गया है,[6] किन्तु चित्रण का आधार प्रधानतः कान्ताभाव की मधुरा-रति ही रही है।

इस सामान्य परिचय के साथ अब हम अग्रदासजी तथा नाभादासजी की रस-परिकल्पना की कतिपय बातों का अलग-अलग उल्लेख करना चाहेंगे।

---

१. नेहप्रकाश, बालअलिजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० २००।

२. रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९८।

३. जेहि जेहि अंग की माधुरी में तन लागयौ जास।
सोइ सोइ अंग निरखत सकल मन में परम हुलास।" वही, पृ० १९७।

४. "रंग रंग के गजरा लीन्हें। प्रीतम मग चितवत चित दीन्हें।" वही, पृ० १९६।
"राम कुंवर छवि देखन लागीं। अंग अंग श्याम रूप अनुरागीं।
त्रिदश वर्ष मुग्धा कोउ श्यामा। मध्या कामकेलि विश्रामा।
कोउ वयसंधि केलिप्रिय नारी। युगल रंग रमु रूप बिहारी।
कोउ नित नवल लाल मुख चाहें। यहि प्रीति रीति निरबाहैं।
गदगद कंठ रोम सुभंगा। लहत अष्ट सात्विक कोउ अंगा।
सबकी प्रीति रीति जिय जानत। तन मन वचन लाल सनमानत।"
—रामाष्टयाम, नाभादासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९७।

५. "नेह सरोवर कुंवर दोउ रहे फूलि नव कंज।
अनुरागी अलि अलिन के लपटे लोचन मंजु।
दम्पति प्रेम पयोधि में जो दृग देत सुभाइ।
सुधि बुधि सब बिसरत तहां रहे सुविस्मै पाइ।" नेहप्रकास, बालअलिजी, वही, पृ० २०५।

६. "पंचभाव रति युगल मति वर्णत लहत न पार।" रामाष्टयाम, नाभादासजी, वही, पृ० १९६।

अग्रदासजी

अग्रदासजी की मधुर-परिकल्पना में शृंगार की संयत झाँकी है। ध्यान-मंजरी में उन्होंने युगल-विहार की जो भावात्मक चेतना प्रस्तुत की है उसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। मुख्यकर उन्होंने राम और सीता के सौन्दर्य के अलंकृत चित्र अधिक दिये हैं, उनके केलि-विलास का वर्णन नहीं। अग्रदासजी ने रूप-सौन्दर्य का अलंकृत भाषा में चित्रण किया है :

(क) "मेचक कुटिल सुचारु सरोरुह नयन सुहाए।
मुख पंकज के निकट मनहुं अलि छौना आये॥
भृकुटी त्रय पद सगुन मनहुं अलि अवलि विराजै।
नासा परम सुदेस बदन सखि पंकज राजै॥"[१]

(ख) "हेमुतन्तु कर रचित अरुण साड़ी रंगझीनी।
कंचुकी चित्रित चतुर विविध शोभित रंगभीनी।
पद्मराग मणि नील जटित युग कंकण राजै।
मनहुँ वनज के फूल दुरेफनि पंक्ति विराजै।"[२]

इन दम्पतियों के सौन्दर्य की उपमा दी भी जाय तो कहाँ से ? जितने उपमान हैं, सभी तो उनकी दीपन शक्ति से भासित होते हैं।[3]

इस अद्भुत रूप-राशि युगल के ध्यान में सौभाग्यशाली रसिक भक्त ही निमग्न हो सकते हैं, अरसिक को तो स्वप्न में भी यह ध्यान प्राप्य नहीं।[४]

अग्रदासजी की मधुरोपासना में कवित्व की प्रधानता है। काव्य-कल्पना के द्वारा उन्होंने रूप-सौन्दर्य का ध्यान किया है। उनका युगल-विहार भावात्मक अधिक है जिसमें काम-केलियों का वर्णन अधिक नहीं। १७वीं शती के रामभक्ति मधुर काव्य में काम-केलि वर्णन अल्प ही है, रूप-वर्णन अधिक है।

नाभादासजी

नाभादासजी के चित्रों में राम के वैभव और ऐश्वर्य की चेतना अधिक है। मानो इनके युग का दरबारी वैभव-विलास राम के वैभव-विलास के रूप में चित्रित हो उठा हो।[५]

---

१. ध्यानमंजरी, अग्रदास, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९१-९२।

२. ध्यानमंजरी, अग्रदासजी, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९३।

३. अतुलित युगल स्वरूप कवन अस उपमा जिनकी।
जेतिक उपमा दीप्ति शक्ति करि भासित तिनकी।
यहि विधि राजत राम अ धपुर अवधविहारी।
दम्पति परम उदार सुयश सेवक सुख कारी॥" वही, पृ० १९४।

४. "यह दम्पति वर ध्यान रसिकजन नितप्रति पावै।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुं नहिं पावै।" वही, पृ० १९४।

५. "रत्न नटित बहु धरे कटोरा। बहु मेवन युत स्वाद न थोरा।
पानदान वीरिन ते भरे। अगणित भांति सुरभि कहुं धरे।
पुनि तेहि पीछे परदा डारे। तहं नृत्यत उठि सखि संवारे।
कोउ ताम्बूल लिये कोउ झारी। कोउ सुमनन शृंगार संवारी।
रंग रंग के गजरा लीन्हे। प्रीतम मग चितवत चित दीन्हें।" रामश्याम, वही पृ० १९६।

राम के अन्तःपुर में अनेक सहचरी-परिचारिकाएँ सेवारत हैं।[1] नृत्य, संगीत, भोजन-क्रीडा आदि वैभव और ऐश्वर्य के अनुरूप राजसी-ठाठबाट का संकेत देते हुए नाभादासजी ने चित्रित किये हैं।[2]

नाभादासजी ने अन्तःपुर के उपर्युक्त कुंज-महल में सीता-राम के सुरत-विलास का भी वर्णन किया है, किन्तु वह वर्णन व्यंजनात्मक और संकेतात्मक है, परवर्ती बाल-अलि आदि के समान खुला हुआ नहीं है :

"लसत लड़ैती लाल दोउ, सिथिल सनेह सुअंग।
दम्पति संपति परस्पर समर-समर रसरंग।"[3]

नाभाजी के आराध्य सीताराम युगल भोजन में, क्रीडा में, नृत्य में, संगीत में एक-दूसरे के रूप-माधुर्य एवं सुरत-मिलन का रस-पान करते रहते हैं, उसी रस में भीने रहते हैं।[4] सखियाँ नाना प्रकार की सेवा-परिचर्या में लीन होकर ही दर्शन सुख के अवसर पाती हुई अपनी कृतार्थता का अनुभव करती हैं।[5] नाभादासजी ने सखियों के साथ राम का प्रिया-प्रियतम भाव भी अंकित किया है, उसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं।

नाभादासजी ने अग्रदास की अपेक्षा सुरत-चित्रण को कुछ अधिक उभरा हुआ अंकित किया है। नाभाजी की परिकल्पना में वैभव-विलास पर दृष्टि अधिक है, अग्रदासजी की रूप-सौन्दर्य पर अधिक।

रसानुभूति—अग्रदासजी और नाभादासजी के काव्य में रसानुभूति काव्यरस के रूप में अधिक है, भक्तिरस के रूप में कम। उसमें भक्तिरस की अनुभूति की गुंजाइश केवल साम्प्रदायिक निष्ठा वाले रसिक पाठकों को ही उपलब्ध हो सकती है। किन्तु उसमें शृंगार की सरसता एक मात्रा तक पर्याप्त उपलब्ध है।

एक बात इस विषय में उल्लेखनीय है। सामान्य पाठक की भाव-भूमि में राम के प्रति एक आदर्शमयी भावना सुप्रतिष्ठित है। उसकी कल्पना में उनका एक आदर्शमय चित्र बना हुआ है। श्रीमद्भागवत तथा कृष्ण-गायक मधुर कवियों की कृपा से वैसी आदर्श-भावना कृष्ण-चरित के प्रति नहीं है। पर राम के प्रति उसमें एक विशेष प्रकार के मर्यादा-पूर्ण संस्कार निहित हैं। राम-काव्य का आस्वादन करते समय वह उन संस्कारों को औचित्य का मानदंड बना कर चलता है। जब उस औचित्य के मानदंड में कुछ विक्षति होती है तो उसकी चेतना इस मधुर राम-काव्य में डूब नहीं पाती। साधारणीकरण में कमी रह जाती है, उसकी चेतना

---

१. रामाष्टयाम, रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, पृ० १९६-९७-९८।

२. वही, पृ० १९७।

३. रामाष्टयाम, नाभादास, रामभक्ति साहित्य में रसिक उपासना, पृ० १९६।

४. "युगल रूप रति सरस सनेही। भोजन की सुधि रहत न बेहीं।" वही, पृ० १९८।
"संगीतादि नृत्य बहु कीने। कला अनेक राग रस भीने।" वही, पृ० १९८।
"जाय पलंग बैठे रसभीने। शयन करन की दिशि रुख कीनै।" वही, पृ० १९८।

५. "यहि विधि सबके नयन थकि रहे माधुरी मांही।
सो लखि दंपति कोर दृग अरस परस मुस्क्याहिं।
कुंज कुंज प्रति सहचरी आवत भावत माथ।
सन्मानत मृदु वचन कहि लखि छवि होत सनाथ।"

तटस्थ रह जाती है और उसकी अनुभूति उस कोटि में चली जाती है जिसे आचार्यों ने रसाभास नाम दिया है।

सत्रहवीं शती के इन रामभक्त मधुरोपासकों के विषय में गनीमत यह है कि इन्होंने कृष्णभक्ति के मधुर सम्प्रदायों अथवा परवर्ती मधुर रामभक्तों के समान सीताराम के शृंगार और केलि-विलास के उन्मुक्त चित्र नहीं उतारे। बालअलि में ही ये चित्र कुछ-कुछ खुलकर आने लगे हैं। अग्रदासजी में यह चित्रण बहुत संक्षिप्त एवं संकेतात्मक है, नाभाजी में उनसे कुछ खुला है। बालअलि में उसका उभार सामने आ गया है। इस प्रकार उन्मुक्त चित्रण की दिशा में एक विकास पाया जाता है। अतः अग्रदासजी और नाभादासजी के काव्य में रसाभास की स्थितियाँ प्रायः नहीं आने पातीं। उसमें शुद्ध साहित्यिक स्तर पर शृंगार का रसानुभव कहा जा सकता है।

अग्रदासजी के काव्य में राम और सीता के रूप-चित्रण को ध्यान के लिए प्रस्तुत करने के कारण युगल के माधुर्य के आस्वादन का अवकाश अधिक है। नाभाजी के ऐश्वर्य-चित्रण में उद्दीपन का पक्ष अधिक खड़ा होता है, अग्रदासजी के रूप-सौन्दर्य चित्रण में आलम्बन का। संचारियों और अनुभावों की दोनों में कमी है। सीता और राम के बीच अवस्थित प्रेम का चित्र तो कतिपय अनुभावों और संचारियों के माध्यम से व्यक्त भी है, किन्तु सहचरियों या भक्तों की भावनाओं, उल्लासों एवं निर्मल अनुभूतियों का अंकन प्रायः नहीं है। उसका फल यह हुआ है कि शृंगार रस का सामान तो जुटा है किन्तु भक्तिरस का पक्ष सबल नहीं हो पाया। शुद्ध साम्प्रदायिक आस्था में परिपक्व होकर काव्य में प्रविष्ट होने वाले पाठक की बात दूसरी है।

७

उपसंहार

१६वीं-१७वीं शती विक्रमी का वैष्णव हिन्दी-काव्य हिन्दी की गौरव-निधि है। विगत अध्यायों में हम उसकी रस-परिकल्पना का स्वरूप एक व्यापक पृष्ठभूमि के साथ समझ चुके हैं। यहाँ उपसंहार-रूप में कतिपय बातों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए कुछ निष्कर्षों की ओर आना चाहते हैं। मुख्यतः दो बातें यहाँ कहनी हैं—एक तो वैष्णव साहित्य में निहित रस-परिकल्पना का तुलनात्मक विवेचन, दूसरे परवर्ती साहित्य में रस-परिकल्पना पर इसका प्रभाव।

(क) वैष्णव-साहित्य में रस-परिकल्पना का तुलनात्मक विवेचन

वैष्णव काव्य की तीन मूल चेतनाएँ हैं—उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म-रूप में आस्था, उसके पुराण-प्रतिपादित अवतारी रूप में श्रद्धा और भारतीय भाव-साधना में अत्यन्त प्राचीन काल से घुला हुआ अनुराग-तत्त्व। इन्हीं समन्वित चेतनाओं को अपना कर विक्रम की १६वीं-१७वीं शती में राम और कृष्ण के चरित्रों को आधार बनाकर हिन्दी में जिस भक्ति-प्रवण साहित्य की सृष्टि हुई वह अपने में अनुपम है। वह 'रस' का काव्य है।

यों भाव-प्रधान काव्य ही उत्कृष्ट काव्य-रूप है। भारतीय काव्य-शास्त्र तो 'रस' ही को काव्य की आत्मा मानता है। किन्तु हिन्दी के उक्त वैष्णव साहित्य में जिस 'रस' की परिकल्पना है वह वही रस नहीं है जिसकी रूप-रेखा काव्य-शास्त्र समझाया करता है। उसमें वह रस-तत्त्व निहित है जिसका स्वरूप 'रसो वै सः' कह कर उपनिषदों ने निरूपित किया है, और जिसकी व्याख्या विभिन्न वैष्णव दर्शनों ने की है। इस शोध-प्रबन्ध के दूसरे-तीसरे-चौथे तीन अध्यायों में यह बात निरूपित करने का प्रयास हुआ है कि हिन्दी वैष्णव साहित्य में निहित रस-तत्त्व लीलामय एवं मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का परिगायन है। यही रस इस वैष्णव काव्य में परिकल्पित है। स्वयं वैष्णव कवियों के उल्लेख भी, जो कि चौथे अध्याय में प्रस्तुत किये गये हैं, इस बात के प्रमाण हैं कि उनके काव्य में काव्यशास्त्र प्रतिपादित काव्य-रस नहीं, वैष्णव-दर्शन प्रतिपादित रस-तत्त्व परिकल्पित है। आस्वादयिताओं की दृष्टि से यह रस 'भक्तिरस' है।

यह भक्ति-रस भक्तों का रस है और उनके लिए ब्रह्मानन्द-सहोदर न होकर ब्रह्मानन्द से कहीं बहुत उत्कृष्ट है। वे इसके सामने ब्रह्मानन्द को अत्यन्त उपेक्षणीय समझते हैं। यह रस साधना का विषय है, क्रमिक प्रयास एवं भगवत्कृपा से प्राप्य है, स्थायी उपलब्धि है। इसके प्रमाता चरम कोटि पर पहुँचे हुए सिद्ध भक्त हैं। ऐसे ही सिद्ध भावुकों की आत्मा घुलकर इस काव्य में रस के रूप में अवतरित है।

काव्य-रस के रसिक सहृदयों के लिए भक्त-कवियों द्वारा परिकल्पित यह रस अपने प्रकृत रूप में प्राप्य नहीं है, हम अभी कह चुके हैं कि वह एक भाव-साधना का विषय है। किन्तु इस साहित्य की एक विशेषता है—यह सच्चे अर्थों में एक उच्च कोटि का प्रकृत काव्य भी है। भक्तों ने इस रस का आस्वादन अनादि-वासना-मय भाव-भूमि पर ही लाकर किया है, इस भाव-भूमि का नाश या निरोध करके कोई नयी भूमि नहीं तैयार की गयी। दूसरे इसकी अभिव्यक्ति काव्य और संगीत की समस्त उपलब्धियों का अनुयोग लेकर चली है। इन कारणों से वैष्णव भक्तों का अप्राकृत-अलौकिक 'रस' काव्यरसिकों के लिए भी आस्वाद्य है, किन्तु कुछ सीमाओं के साथ। वे इसका आस्वादन विशुद्ध भक्ति-रस के रूप में तो नहीं कर सकते, किन्तु एक काव्य-रस के नाते उनकी इसमें पहुँच है। एक शब्द में काव्य-रसिकों के लिए इस काव्य में परिकल्पित भक्ति-रस एक काव्य-रस के रूप में आस्वाद्य है।

काव्य-रसिक में आस्वादनीय भाव के वासनात्मक संस्कारों की अवस्थिति और काव्यानुशीलन-मर्मज्ञता अपेक्षित होती है। भक्ति के सामान्य संस्कार जन-मानस में प्रतिष्ठित हैं, कुछ स्वाभाविक रूप से, कुछ परम्परा से। इन परम्पराओं में संस्कृति, धर्म और साहित्य सभी का योग रहता है। साथ ही सहृदय काव्य-रसिक भी एक दूरी तक वर्णनीय भाव में तन्मय हो जाने की एक सामान्य क्षमता भी रखता है। अतः यदि उसमें किसी भाव के हलके से भी वासनात्मक संस्कार हों तो वे कवि की सक्षम भाव-प्रवण अभिव्यंजना से एक प्ररूढ़ रूप पा जाते हैं। अतः काव्य रसिक भी एक दूरी तक इस वैष्णव-रस का आस्वादन करता है, कर सकता है। पर उसका यह आस्वादन होता 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' काव्यरस के रूप में ही है, 'ब्रह्मानन्दोत्तर' वैष्णव-रस के रूप में नहीं। वैष्णव आचार्यों के शब्दों में वह उनके अप्राकृत-अलौकिक भक्तिरस का आस्वादन एक प्राकृत किन्तु अलौकिक भक्तिरस के रूप में कर सकता है।

हमारे आलोच्य काल के हिन्दी वैष्णव साहित्य में इसी रस की परिकल्पना है। यह रस-परिकल्पना राम और कृष्ण इन दो आराध्य रूपों को सामने रख कर चली है, अतः इसके दो मोटे रूप हैं। सब मिला कर इसका अधिकांश साम्प्रदायिक रेखाओं में अनुरंजित है। इस प्रकार वैष्णव रस हमारे सामने कृष्ण-भक्तिरस और राम-भक्तिरस इन दो रूपों में आता है। वैष्णवत्व की तीनों मूल चेतनाओं के समान रूप से निहित रहते हुए भी आराध्य रूपों के अन्तर के कारण वैष्णव-रस के ये दो रूप स्पष्टतः अलग-अलग हो गये है। यहाँ हम दोनों पर कुछ तुलनात्मक दृष्टिपात कर सकते हैं :

१. मात्रा की दृष्टि से कृष्ण-भक्तिरस का साहित्य अधिक है। कवियों की संख्या की दृष्टि से भी रामभक्त कवियों की संख्या कृष्ण-भक्तों की तुलना में न्यून ही है।

२. अभिव्यंजना-रूप की दृष्टि से कृष्ण-भक्तिरस प्रमुखतः मुक्तक पदों के रूप में अभिव्यंजित है, राम-भक्तिरस का प्रमुख रूप प्रबन्धात्मक है।

३. रामभक्तिरस की अपेक्षा कृष्ण-भक्तिरस अधिक साम्प्रदायिक रहा है। कृष्ण-काव्य तो प्रायः सम्प्रदायों की छाया में ही पल्लवित हुआ है। राम-कवियों की दृष्टि में विशिष्ट वैष्णव दर्शन तो रहे, किन्तु रूढ़ साम्प्रदायिकता उतनी नहीं रही।

४. रामभक्तिरस की आधार-भूमि में लोक-मर्यादा का समावेश रहा, कृष्ण-भक्तिरस

में अनन्य एवं एकान्त रसिकता की प्रधानता के साथ लोक के आदर्शों के प्रति उपेक्षा रही।

५. रामभक्तिरस का आदर्श दास्य-भक्ति रही, कृष्ण-भक्तिरस का आदर्श प्रमुखतः मधुर-भक्ति। इस युग में कृष्ण-भक्ति के मधुर पक्ष ने राम-भक्ति को हलका-सा स्पर्श अवश्य किया, किन्तु वह रूप अधिक उच्छृंखल नहीं हो पाया। परवर्ती काल में रामभक्ति में भी मधुर-भावना का आदर्श सामने रखते हुए कुछ सम्प्रदायों की सृष्टि हुई।

६. मर्यादावादी एवं लोक-रक्षक आदर्शों के बीच परिकल्पित राम-भक्तिरस में हिन्दू-जनमानस में स्थायी प्रभाव छोड़ने और चरित्रोत्कर्ष करने की महती क्षमता हुई, किन्तु हिन्दू-क्षेत्र से बाहर भी धर्म-जाति की सीमाओं को पार करते हुए अपने युग पर छा जाने की प्रभवन-शीलता रसिक कृष्ण-भक्तिरस में ही आयी। कृष्ण-माधुरी के प्रभाव में अनेक मुसलमान भावुक जन 'हरिजन' बन गये। उनमें से हमने रसखान को चुना है।

७. रामभक्तिरस की कवि-कृत परिकल्पना में भाव-क्षेत्र की व्यापकता है, कृष्णभक्तिरस की कविकृत परिकल्पना में सघनता।

८. रामभक्तिरस के आदर्श कवि तुलसी हैं। कृष्णभक्तिरस के सूर। कृष्णभक्तिरस के कवियों के व्यक्तित्व सामान्यतः साम्प्रदायिक निष्ठाओं के भार से दबे हुए हैं, अतः कृष्णरस की अनुभूति सामाजिक को शुद्ध काव्य के रूप में उतनी नहीं हो पाती जितनी साम्प्रदायिक रस के रूप में। राम-काव्य के कवि की रस-परिकल्पना का रूप बहुत लम्बी दूरी तक साम्प्रदायिक नहीं है। कृष्ण-कवियों में एक सूर का ही व्यक्तित्व, कहिए कवि-व्यक्तित्व, इस प्रकार का है जिसकी रस-परिकल्पना में कवि साम्प्रदायिकता के भार से तिरोहित नहीं हुआ, आच्छादित नहीं हुआ।

९. फलतः यह हुआ है कि कृष्णभक्तिरस की परिकल्पना में अधिकांश में केवल काव्य-रसिक को, जो साम्प्रदायिक निष्ठा से युक्त नहीं, कवि की अभिप्रेत रसानुभूति नहीं होती। भक्तिरस के स्थान पर प्रायः काव्यरसों का अपनी सहृदयता के अनुरूप आस्वादन होता है। रामरस में प्रायः कवि के अनुरूप।

१०. भक्ति की सहज रसात्मक अनुभूति एक काव्य-सामाजिक को तथा जन-सामान्य को जितनी राम-काव्य में परिकल्पित रस में होती है उतनी कृष्ण-काव्य में परिकल्पित रस में नहीं हो पाती। इसका एक कारण है। भक्ति के जिस रूप की जन-मानस में संस्कार-प्रतिष्ठा है उसमें अपने और भगवान् के बीच के अन्तर की स्पष्ट चेतना है। यह चेतना भगवान् के महत्त्व और अपने लघुत्व, भगवान् की ईश्वरता और अपनी अवशता, भगवान् की शुद्ध आनन्दमयता एवं कृपालुता और अपनी कल्मष-पूर्णता, दुःखिता एवं कृपा-पात्रता के रूप में स्वानुभूत है। इसे हम एक शब्द में भगवान् के प्रति महत्त्व-चेतना कह सकते हैं। दास्य-भक्ति रस की परिकल्पना में यह चेतना अधिकतम मात्रा में उभारी जाती है। साम्य की एक मध्यवर्ती रेखा से आराध्य की ऊंचाई जितनी ले जायी जा सकती है, ले जायी जाती है। दूसरी ओर अपनी लघुता के बिन्दु को जितना नीचे खिसकाया जा सकता है, खिसकाया जाता है। इस रस-रूप में जन-मानस को स्वाभाविक मग्नता

मिलती है और उसकी मानसी वृत्तियों का स्थायी परिष्कार होता है। अतः दास्य-भक्तिरस काव्यानुभूति के रूप में भी सहज, सरल, स्वाभाविक, एवं भक्ति-मय होता है, साथ ही उसकी परवर्तिनी प्रतिक्रिया लोक-मंगल के विधान में योग देती है।

दूसरी ओर कृष्ण भक्तिरस के आदर्श में यथा-साध्य इस महत्त्व-चेतना को घुलाने और तिरोहित करने का प्रयास है। महत्त्वचेतना दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रस-रूपों में क्रमशः क्षीण होती हुई अन्तिम रूप में तो विलीन हो जाती है। मधुर-परिकल्पना का चरम बिन्दु वहाँ है जहाँ द्वैत की चेतना बनाये रख कर प्रेम की भूमिका में अद्वैत की घनीभूत अनुभूति की जाती है। इस प्रकार कृष्णभक्ति-रस की परिकल्पना में प्रायः एकान्तता आयी है। उसकी एकान्त, साधना-साध्य अनुभूति भक्तिरस की हो सकती है, काव्यानुभूति प्रायः विभिन्न काव्यरसों के रूप में प्राकृत चित्तवृत्तियों के सूक्ष्म आनंद के रूप में, यत्र-तत्र भक्ति की निर्मलता से सम्पन्न, किन्तु यत्र-तत्र उद्दाम शृंगार-चित्रों में ह्रासोन्मुखी वृत्तियों का अवकाश उभारती हुई तथा दुरूह है।

ये तो हुई रामभक्तिरस और कृष्णभक्तिरस को सामने रखते हुए कुछ तुलनात्मक बातें। अब हम दोनों रस-परिकल्पनाओं के ऊपर अलग-अलग कुछ तुलनात्मक दृष्टिपात करना चाहेंगे। पहले कृष्णभक्तिरस तदनन्तर रामभक्तिरस की परिकल्पना पर विचार करेंगे।

हम यह अभी कह चुके हैं कि कृष्णभक्तिरस की परिकल्पना का प्रमुख रूप साम्प्रदायिक है। उसके कवि किसी सम्प्रदाय-विशेष की रस भावना का आदर्श सामने रख कर काव्य-सर्जन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की सीमित परिधियों से फूट-फूट कर भी बहती रही है। उसकी मधुरता अपने युग में भक्ति और साहित्य के बीच एक युग-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुई है जिसकी लपेट में ऐसे भी अनेक लोग आये हैं जिन्होंने किसी सम्प्रदाय-विशेष की कण्ठी-मालाएँ नहीं लीं पर कृष्णभक्तिरस की रसात्मक परिकल्पना का इस युग का प्रमुख रूप साम्प्रदायिक ही रहा है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने उसी रस-तत्त्व का काव्यात्मक गान किया है जिसकी रूप-रेखा हमने द्वितीय अध्याय में विभिन्न वैष्णव-दर्शनों के अनुसार समझी है। यह तथ्य चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत कवियों के निजी दृष्टिकोणों से प्रमाणित है। रूप गोस्वामी और जीव-गोस्वामी ने इन्हीं दृष्टिकोणों का एक समन्वित रूप, जिसमें उनके अपने सम्प्रदाय की दृष्टि कुछ प्रधान थी, अपने भक्ति-रसामृत सिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। हम इस स्वरूप को भक्तिकाव्यशास्त्रीय रस के नाम से समझ चुके हैं। कृष्ण-काव्य में यही भक्ति-काव्य-शास्त्रीय रस जिसकी पृष्ठभूमि में विविध वैष्णव-दर्शन हैं, परिकल्पित हुआ है, काव्यशास्त्रीय रस नहीं, भले ही एक काव्य-सामाजिक के नाते हमारी गति उसमें काव्य-शास्त्रीय रस की उपलब्धि के रूप में ही हो। हम इस तथ्य की ओर स्थान-स्थान पर प्रकाश डाल चुके हैं।

कृष्णभक्ति का काव्य निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय, राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय और चैतन्य-सम्प्रदाय की छाया में पल्लवित हुआ है। इनमें से मात्रा की दृष्टि से चैतन्य-सम्प्रदायी हिन्दी-काव्य नगण्य-प्राय है। राधावल्लभीय काव्य मात्रा की दृष्टि से प्रचुर होते हुए भी अभी पूरा प्रकाश में नहीं आया है। प्रकाशित, अधीत एवं विवेचित होने के नाते सबसे प्रमुख स्थान वल्लभ-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य का है।

यद्यपि इन सम्प्रदायों के कवियों के लिए दर्शन का आग्रह अनिवार्य नहीं रहा है, फिर भी वे उसी पथ पर चले हैं जिस पथ की और उनके अमित आचार्यों ने उन्हें चलाया है। इन सम्प्रदायों में से विशिष्ट दर्शनों की प्रतिष्ठा निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय में हुई। चैतन्य के द्वारा स्वयं तो नहीं, किन्तु उनके अनुयायियों के द्वारा यह अवश्य किया गया। हरिदासी भक्तों और राधावल्लभियों के स्वतन्त्र दर्शन-प्रतिष्ठाएँ नहीं कीं। पर उनके लिए दूसरे लोग यह कार्य कर चुके थे। वैष्णव-दर्शनों की प्रतिष्ठाओं में दो उद्देश्य निहित थे। एक तो शंकर के मायावाद के प्रभाव को बुद्धिवादी उच्चस्तरीय व्यक्तियों के ऊपर से हटाना, दूसरे वे जिस प्रेम-मार्ग को प्रसारित करना चाहते थे उसे बुद्धिवादियों द्वारा स्वीकृत कराना। बुद्धिवादी जन-समाज का अल्पांश होते हुए भी उसकी गति का जाने-अनजाने नेता होता है। उसकी स्वीकृति में जन-समाज की स्वीकृति का अनुगमन होता है। इसीलिए वैष्णव-दार्शनिकों ने अपने भक्ति-प्राप्य तत्त्व को प्रकाण्ड बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। जब यह तत्त्व बौद्धिक एवं भावात्मक स्तर पर जन-स्वीकृत हो गया तो पीछे के लोगों को दर्शन-प्रतिष्ठाओं की आवश्यकता नहीं रह गयी। पीछे के किसी सम्प्रदाय के अनुयायियों को यदि यह कार्य करना भी पड़ा तो जन स्वीकृति के लिए नहीं, अन्य सम्प्रदायों की पंक्ति में गौरव से बैठ सकने के लिए।

इन सभी सम्प्रदायों के काव्य में परिकल्पित रस का स्वरूप वल्लभीय काव्य में सबसे कम साम्प्रदायिक है। यह बात नहीं कि वल्लभ-सम्प्रदायी हिन्दी काव्य जिसे हम अष्ठछापी काव्य कहते हैं, अपने साम्प्रदायिक आदर्शों के प्रति शिथिल हो गया है, अपितु यह कि उसमें एक ऐसा सुमेरु कवि है जिसका कवि-व्यक्तित्व साम्प्रदायिकता के नीचे आच्छादित नहीं हुआ। सूर के काव्य में, और अष्ठछाप में सूर ही प्राण हैं, सम्प्रदाय की चेतना का आग्रह बिना लिए हुए भी रसास्वादन की भारी गुंजाइश है। उसमें भक्ति का भी आस्वादन होता है, कवित्व का भी। यह गुण थोड़ी मात्रा तक परमानन्ददास और नन्ददास में भी मिलता है। शेष अष्टछापी और अन्य सम्प्रदायी हिन्दी कृष्ण-काव्य की रस-परिकल्पना साम्प्रदायिक चेतना और निष्ठा से ही समझी जा सकती है और कवियों के अभिमत रूप में कुछ मात्रा तक अनुभव की जा सकती है। नहीं तो, पाठक वहीं पहुँचता है जहाँ पहुँचने के लिए इस काव्य के रचयिताओं ने मना किया था, और जहाँ पहुँच जाने की उन्हें आशंका थी।

समूचा कृष्ण-काव्य कृष्ण-चरित का गान है। इस कृष्ण-चरित में मथुरा-द्वारका के कृष्ण निहित नहीं, ब्रज के कृष्ण हैं। इस नाते वात्सल्य, सख्य और मधुर तीन रसों के परिपाक का अवकाश इस काव्य में हुआ है। यों कहीं दास्य या शान्त मिल गया, पर वह प्रमुख चेतना नहीं। शान्त का जो स्वाभाविक परिपाक राम-काव्य में है, कृष्ण-काव्य में नहीं। कृष्ण-काव्य में निवृत्ति गहरी प्रवृत्ति में बदल गयी है। लोक-तृष्णा को यहाँ भी तिलांजलि है, मन की वृत्तियों को प्रशान्त धारा में यहाँ भी मग्न किया गया है। किन्तु यहाँ वृत्तियों को तोड़ने के बजाय मोड़ना ही श्रेयस्कर समझा गया है। उनका अनुयोग एवं सर्वग्राही विकास कृष्ण-प्रेम के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया है। दास्य का परिपाक उच्च रसात्मक-परिकल्पना के रूप में हमें प्रमुखतः सूर में मिलता है। यों प्रत्येक सम्प्रदाय के भीतर एक दो नाम लिये जा सकते हैं—जैसे निम्बार्क सम्प्रदाय में शान्त के लिए परशुरामदेवजी का। पर यदि सब मिला कर देखा जाय तो प्रथम स्थान मधुर-परिकल्पना का है, दूसरा वात्सल्य का। वह भी अष्ठछापियों की रस-परिकल्पना में, केवल सूर और परमानन्ददास की बदौलत।

वल्लभ का आदर्श आराध्य रूप बाल और किशोर रूप था। अतः अष्टछाप दोनों रसों की परिकल्पना स्वीकार करके चला। किन्तु मधुर रस कृष्ण-भक्ति के युग-धर्म के रूप में प्रभावशाली बना और वल्लभ-सम्प्रदाय भी उसी रंग में रंग गया। इस प्रकार यह बात एक प्रवाद ही रह जाती है कि कृष्ण-भक्ति में प्रमुखतया सख्य-भक्तिरस की परिकल्पना है। सूर जैसे इने-गिने कवियों में, वह भी एक सीमित मात्रा में सख्यभक्ति की परिकल्पना है। हाँ, सख्य यहाँ कान्ताभाव के भीतर सखी के रूप में घुलकर अवश्य व्यापक धरातल पर परिकल्पित है। पर वह सख्य कान्ताभाव के भीतर तिरोहित है। अतः कृष्णकाव्य में थोड़ी-सी शान्तभक्ति की परिकल्पना के साथ दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर रसों की परिकल्पना है अवश्य, किन्तु उनमें प्रमुखता एक मधुर को ही मिली है।

मधुर के क्षेत्र में संयोग और वियोग में संयोग की ही प्रधानता रही है। विरह का साम्प्रदायिक महत्त्व वल्लभ-सम्प्रदाय तथा चैतन्य सम्प्रदाय में स्वीकृत हुआ है। इनमें चैतन्य सम्प्रदाय के काव्य में तो विरह-भावना प्रभावशाली रूप में उभर कर ही नहीं आ सकी, वल्लभ-सम्प्रदाय में भी सूर और परमानन्ददास को छोड़ अन्यों में इसका रसात्मक परिपाक अधिक नहीं उभर सका। यों विरह को किसी न किसी रूप में अन्य सम्प्रदाय के कवि भी अपनाते हैं किन्तु विरह-मूर्ति वल्लभ की आत्मा सच्चे अर्थों में सूर में ही आकर उतरी है। सूर में विरह भावना का साध्य होकर आया है, औरों में संयोग के सुख की तीव्रता से अनुभव करा देने के लिए। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में विरह के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाया गया है। संयोगावस्था में ही अतृप्ति-मूलक विरह की कल्पना की गयी है। इस दृष्टिकोण की छाप अन्य सम्प्रदायों के कई कवियों में भी मिल जाती है।

मधुरोपासना का अधिकांश संयोगात्मक है जिसमें राधा-कृष्ण के नित्य-मिलन, नित्य-विलास एवं नित्य-विहार की परिकल्पना है। इस भाव-दृष्टि में स्थूल विरह को अवकाश हो ही नहीं सकता। किन्तु विरह की मधुरता के संस्पर्श को अनुभव करते हुए पलकान्तर, अंगान्तर, वैचित्यात्मक आदि विविध सूक्ष्म विरह रूपों की परिकल्पना की गयी है। पर ये विरह-रूप संयोग-भावना में घुल जाते हैं। सामान्यतः निम्बार्की, हरिदासी, और राधावल्लभीय भक्त-कवि नित्य-विहार के रसिक होने के नाते किसी स्थूल विरह रूप की परिकल्पना स्वीकार कर ही नहीं सके। यों ब्रज-लीला का कभी-कभी गान करते हुए उनके चित्रों में देशान्तर विरह की झलक मिल भले जाय। देशान्तर-विरह के चित्र अष्टछापी सूरदासादि में ही काव्यात्मक रूप में सफलता के साथ अंकित हो सके हैं। वहाँ भी इसे 'प्रगट-लीला' कह कर सिद्धान्ततः अप्रगट-लीला में नित्य-मिलन ही स्वीकार किया गया है। पर सूर और परमानन्ददास में देशान्तर-विरह का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है, जिसके फलस्वरूप एक उत्कृष्ट कोटि के 'भ्रमरगीत-काव्य' की सर्जना हुई है।

नित्य-विहार वाले निकुंजरस की परिकल्पना सामने लेकर चलने वाले तीन सम्प्रदाय हैं—निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय और राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय। इन तीनों की रस-परिकल्पना सबसे अधिक साम्प्रदायिक है। इनकी भक्ति-रति अपने में (Complex) उलझी एवं मिश्रित है जिसकी मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्याख्या सम्भव ही नहीं है। पुरुष-भाव को अनिवार्यतः त्याग कर कान्ताभाव का अभिमान, फिर आराध्य राधा-कृष्ण के घोर शृंगारी विलासमय रूप की भावना करना, उन विलास-लीलाओं में अपने व्यक्तित्व को समाहित रखते हुए भी काम-भावना से सर्वथा अप्रभावित रहना, उस कान्ताभाव का सहचरी-रूप ही अपने

में उदित होने देना ये सब ऐसी बातें हैं जो भक्त के इस रत्यात्मक रूप को पूर्णतः साम्प्रदायिक, मनोविज्ञान के लिए अगम्य, एवं साधना-प्राप्य बना देती हैं। सामान्य काव्य-रसिक के लिए इस प्रकार के स्थायी भाव के संस्कार न होने के कारण इन सम्प्रदायों की रस-परिकल्पना में सहचरी-रति का परिपाक न होकर शृंगार की ही अनुभूति होती है। जिन स्थलों पर चित्र उद्दाम हैं वहाँ वह कभी तटस्थ होता है, कभी रसाभास पाता है।

निकुंज-रस की परिकल्पना में कृष्ण का लीला-चरित क्षेत्र की दृष्टि से और भी परिमित हो गया है। हरिदासी और राधावल्लभीय भक्त-कवि तो निकुंज-लीला के गान-क्षेत्र की परिधि से बाहर जाना ही नहीं चाहते। निम्बार्की कवि भी व्यवहारतः इसी क्षेत्र में प्रायः रहते हैं, सिद्धान्ततः अन्य भक्तिरूपों को भी स्वीकार करते हैं। इन सम्प्रदायों के उच्च भाव-साधक की यही कसौटी है कि जो जितना निकुंज-सीमा में रहकर राधा-कृष्ण के विलास-विहार के अधिक-तम रसमय उन्मुक्त चित्र देता हुआ अपनी सहचरी-भावना का समर्पण अधिक कर सके वह उतना ही अनन्य रसिक उच्च कोटि का भक्त है।

इन सम्प्रदायों की इस मधुर चेतना में कुछ सामान्य बातों के अन्तर हैं जो सैद्धान्तिक अधिक हैं, स्वरूपतः रस-परिकल्पना पर विशेष अन्तर नहीं डालते। उनके निर्माण-पक्ष में सैद्धान्तिक अन्तर अवश्य है किन्तु एक काव्य-सामाजिक की अनुभूति में प्रायः उनसे विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उसे इन तीनों सम्प्रदायों के काव्य में रसानुभूति के लिए समान भूमिकाओं में से गुज़रना पड़ता है।

वल्लभीय काव्य भी कुछ मात्रा में इस निकुंज-भावना से प्रभावित हुआ है और उसमें भी राधा-कृष्ण के संयोग के मुक्त चित्रों का अंकन हुआ है। किन्तु अष्टछापी काव्य में एक तो यह भावना उन परवर्ती अष्टछापियों में अधिक है जिनके कवि-व्यक्तित्व सामान्य हैं, जो सूर-परमानन्ददास के सामने बौने कवि रह गये हैं, दूसरी बात यह कि सूर के काव्य में मात्रा की दृष्टि से इस भावना का स्थान सामान्य है। इस प्रकार अष्टछापी काव्य में मधुर-परिकल्पना का रूप उतना साम्प्रदायिक नहीं रह जाता जितना अन्य-सम्प्रदायों की परिकल्पना में है।

वल्लभ-सम्प्रदाय की मधुर-परिकल्पना में आदर्श गोपी-प्रेम रहा, जिससे कवि और भक्त सीधा तादात्म्य अनुभव करते हुए प्रियतम कृष्ण से प्रेम-सम्बन्ध जोड़ सकता है। इसमें वह अपनी समस्त प्रेम-काम की वृत्तियों का कृष्ण के प्रति सीधा समर्पण कर सकता है। किन्तु उपर्युक्त तीनों रसिक सम्प्रदायों की परिकल्पना में गोपी-भाव आदर्श न होकर सहचरी-भाव आदर्श है। जिसमें रति-रूप के 'कम्प्लेक्स' होने के कारण वैसा सीधा समर्पण नहीं हो सकता, वैसी सीधी और सहज अनुभूति पाठक को भी नहीं मिल सकती। इस दृष्टि से वल्लभ-सम्प्रदायी कवियों, विशेषतः सूर की मधुर-परिकल्पना सहृदय के लिए अधिक सहजता से आस्वाद्य है। सूर के निकुंज-रस में भी उनके काव्य का अभ्यासी गोपी-भाव ही उभरा हुआ पाता है।

प्रेम की सघन अनुभूति के लिए सभी कृष्ण-भक्त लोक-लाज एवं कुल-मर्यादादि के साग्रह परित्याग का आदर्श लेकर चले हैं। चैतन्य सम्प्रदायियों ने तो इस सघनता के लिए राधा में परकीया-प्रेम को ही सिद्धान्ततः आदर्श बनाया है। उनका यह आदर्श चैतन्य-सम्प्रदायी कहे जाने वाले हिन्दी कवियों में अधिक उभर कर नहीं आ सका। शेष सम्प्रदायों ने स्वकीया भाव में ही सघनता लाने का प्रयास किया है। इन चैतन्येतर चारों सम्प्रदायों में सिद्धान्ततः राधा को स्वकीया माना गया है और गोपी-प्रेम में स्वकीयात्व को समाहित करने की चेष्टा

हुई है किन्तु भागवतानुसारी लीलाओं का वर्णन करते हुए पति-पुत्र-सास-ननद वाली गोपीकाएँ ही चित्रित हुई हैं। अतः प्रगट-लीला में परकीयात्व ही उभर कर आया है। अष्टछापी कवियों में यह तथ्य सबसे अधिक उभरा हुआ है, कारण उन्होंने ही ब्रज-लीला का सर्वाधिक गान किया है। अन्य सम्प्रदायों के लोग तो वृन्दावन-लीला और निकुंज-लीला तक ही अपने को जागरूक रखकर सीमित करते चले गये हैं।

मधुर-रस की भाव-भूमि लौकिक-शृंगार एवं कामोपासना के तत्त्वों से युक्त होती है। अतः उसी की अनुभूति में सामाजिक एवं लोक-सामान्य के लिए सबसे अधिक खतरा है। इस रस की लौकिकता को दूर कर इसे भगवदीय बनाने वाले दो ही तत्त्व हो सकते हैं—एक तो आलम्बन के महत्त्व की चेतना, दूसरे उसके अलौकिकत्व की चेतना। मधुरोपासना में महत्त्व-चेतना को प्रयत्न-पूर्वक दूर रखने का प्रयास किया गया है। कभी-कभी यह चेतना कवि द्वारा अन्तिम पंक्ति में 'सूर के प्रभु', 'परमानन्द के ठाकुर' जैसे शब्दों में संकेतित कर दी जाती है। निम्बार्क-सम्प्रदायी तथा हरिदासी आदि में प्रायः 'जैश्री' या 'जै' का प्रयोग करते हुए कवि अन्तिम पंक्ति में उस महत्त्व-चेतना को उभारना चाहता है। इससे काव्य-रसिक की अनुभूति को शृंगार में डूबने से एक हलकी-सी आगाही तो मिलती है, किन्तु उसके कारण वह उन शृंगारी चित्रों में शृंगारानुभूति करने से या शृंगारात्मक प्रतिक्रिया ग्रहण करने से रुक नहीं पाता। जैसे कोई व्यक्ति अत्यन्त तीव्र गति से दौड़ा चला जा रहा हो, उसके सामने से एक दूसरा व्यक्ति उसी तेज़ी से अगाई काटकर निकल जाय। इससे उस पहले व्यक्ति की गति में, एकतानता में कुछ बाधा तो अवश्य पड़ती है किन्तु उसकी गति समाप्त नहीं होती, पथ रुक नहीं जाता। यही स्थिति इन अंतिम पंक्तियों की है।

किन्तु सूर की मधुर-परिकल्पना में विशेष बात है। उन्होंने महत्त्व-चेतना को उभारने के लिए सूर-सागर में नवम स्कन्ध तक एक विशाल भावात्मक पृष्ठभूमि ही तैयार नहीं की, अपने शृंगार-चित्रण में वे एक अद्भुत अलौकिक वातावरण की सृष्टि भी करते हैं। चार-पाँच वर्ष के कृष्ण रति-क्षम हो जाते हैं, रूपान्तर में परिणत हो जाते हैं, दो-तीन वर्ष के बाल-कृष्ण से गोपियाँ कान्ताभाव का परितर्पण प्राप्त करती हैं। आठ-सात साल के कृष्ण और राधा उन्मुक्त निकुंज-विहार करते हैं। इस प्रकार का अलौकिक वातावरण बड़ी समर्थता के साथ काव्य-रसिक को शृंगार में डूबने से बचाये रहता है। जो पाठक सूर-सागर को चुने हुए स्थलों के रूप में पढ़ते हैं, उन्हें तो यह वातावरण भी नहीं बचा पाता। वे उस वातावण को अनुभव ही नहीं कर पाते। सूर अपनी इस कवित्व-पूर्ण कला द्वारा अपने पाठक को शृंगार-रस नहीं, मधुरा-भक्ति के आस्वादन कराने में अन्य कृष्ण-कवियों की अपेक्षा सबसे अधिक सफल हुए हैं। सूर के मधुर में अन्य सबकी अपेक्षा काव्यरस के नाते भी, भक्तिरस के नाते भी, सामाजिक की अनुभूति के लिए अधिक खुला अवकाश है।

हम कह चुके हैं कि वात्सल्य की रसात्मक भूमि पर परिकल्पना सूर और परमानन्ददास में है। सूर तो इस भाव के सम्राट् हैं। इन कवियों की वात्सल्य भक्ति का अर्थ है भगवान् की बाल-लीलाओं का गान करना। अतः वे अपने में आराध्य बाल-कृष्ण के प्रति अपनी महत्त्व-चेतना को भी साथ ही व्यक्त करते रहे हैं। विभाव-रूप में काव्य-निष्ठ आलम्बन और आश्रय, बाल-कृष्ण और यशोदा-नन्द की हार्दिक अनुभूतियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण जैसा सूर ने किया है वैसा अन्य कोई नहीं कर सका। इस बाल-लीला-गान में कवि-निष्ठ महत्त्व-चेतना ही वात्सल्य रस को वात्सल्य-भक्तिरस के रूप में अनुभव कराती है। सूर अनेक बार

दूर तक अपनी स्वनिष्ठ महत्त्व-चेतना को बिना संकेतित किये भी कृष्ण और यशोदा के बीच वात्सल्य रस का काव्यात्मक परिपाक प्रस्तुत करते चले जाते हैं। इससे यह होता है कि उनके वात्सल्य-चित्रण में पाठक को एक काव्यरस के रूप में भी वात्सल्य की अनुभूति का पूर्ण अवकाश खुलता है, और अपनी व्यापक परिधि में वह परिकल्पना भक्तिरस की परिधि से भी बाहर नहीं जा पाती। विभाव-रूप में काव्य-निष्ठ पक्ष में बाल-कृष्ण, उनका सौन्दर्य, उनकी चेष्टा-क्रीडाएँ आश्रय-रूपा यशोदा के लिए आलम्बन-उद्दीपन हैं। सूर ने एक काव्य-कौशल किया है। वे अपनी यशोदा को कृष्ण के प्रति महत्त्व-चेतना से सजग होकर यथा-साध्य बचाते रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी यशोदा ही विशुद्ध वात्सल्य की अनुभूति नहीं कर सकीं, उनका काव्य-पाठक भी काव्यरस के रूप में वात्सल्य की अनुभूति कर सकता है। अन्य कवियों में यह अभाव रह गया है। परमानन्ददास आदि वात्सल्य के स्थलों में स्वनिष्ठ महत्त्व-चेतना के अति-प्रसार को रोक नहीं पाते और उनकी यशोदा भी उससे आक्रान्त हो जाती है। इससे होता यह है कि वात्सल्य का एक काव्यरस के रूप में तो अवकाश परिसीमित हो जाता है, हाँ, एक भक्तिरस के रूप में अवश्य सूर की अपेक्षा अवकाश बढ़ जाता है। इस प्रकार हम तुलना की दृष्टि से कह सकते हैं कि सूर की वात्सल्य-परिकल्पना अन्यों से अधिक काव्यात्मक है, अन्यों की अधिक साम्प्रदायिक। काव्य-निष्ठ आश्रयपात्रों में महत्त्व-चेतना के अतिक्रान्त समारोप को तुलसी भी नहीं बचा सके। किन्तु हम देख चुके हैं कि तुलसी इस ओर सोद्देश्य जागरूक हैं कि उनकी रस-परिकल्पना में काव्य-रस कहीं भक्तिरस से अधिक प्रबल न हो उठे। वात्सल्य मुख्यतः अष्टछापी कवियों का ही परिकल्पित रस है, उनमें भी विशेषतः सूर और परमानन्ददास का ही।

कृष्ण-भक्ति में आदर्श दास्य का नहीं रहा। यहाँ दास्य प्रमुखतः मधुर भाव में सहचरियों-सखियों की सेवा-परिचर्या की भावना में अन्तर्भूत हो गया। इसी प्रकार सख्य भी एक प्रकार से सखियों की सख्य-भावना में अन्तर्भूत होकर मधुर में घुल गया। स्वतन्त्र सख्य और दास्य की रसात्मक परिकल्पना सूर में ही सर्वाधिक मिलती है। गोप-सखाओं में सख्य रति की कल्पना भी कृष्ण की बाल-लीलाओं के गान के रूप में है। उनके प्रति भी कवि ने अपनी महत्त्व-चेतना जाग्रत रखी है। साथ ही वात्सल्य के समान काव्य-निष्ठ पात्रों में महत्त्व-चेतना को अलग रखते हुए प्रकृत भाव-परिपाक होने दिया है। सूर का दास्य रसात्मकता में तुलसी के समीप पहुँच गया है।

राम-काव्य में रस-परिकल्पना का स्वरूप, जैसा कि हम अभी पीछे कह चुके हैं, मुख्यतः दास्य-परक है। इसमें मर्यादावादी आदर्शमय चेतना प्रधान रही है। इस काव्य के दो ही प्रमुख भक्तिरस-रूप हैं—दास्य और शान्त। शान्त का जैसा सहज समावेश दास्य-भक्ति के साथ राम-भक्ति-काव्य में हुआ है वैसा कृष्ण काव्य में नहीं हो सका।

राम-काव्य की रस-परिकल्पना का आदर्श तुलसी हैं। कृष्ण-भक्ति की मधुर-भावना ने जो इस क्षेत्र में भी हलका-सा प्रभाव डाला है वह हमारे युग में नगण्य है, और वह राम-भक्ति-काव्य की प्रकृत रस-परिकल्पना नहीं है। राम-भक्ति-धारा में तुलसी के समकक्ष कोई व्यक्तित्व काव्य-जगत् में उभर कर नहीं आया। अतः इस भक्तिधारा की रस-परिकल्पना वस्तुतः तुलसी की ही रस-परिकल्पना है। जो भी अन्य कवि राम-भक्ति के भीतर आये, तुलसी की आदर्शमयी महत्त्व-चेतना-सम्पन्न दास्य-भक्ति की परिकल्पना में ही योग देते रहे। १७वीं शती के अनन्तर रामभक्ति में भी मधुर-परिकल्पना ने कुछ साम्प्रदायिक बल पकड़ा,

किन्तु वह राम-भक्ति की रस-परिकल्पना का प्रमुख स्वर कभी नहीं बनी।

तुलसी की रस-परिकल्पना समन्वयात्मक है। उनके चार ग्रन्थों में रस-परिकल्पना के चार रूप मिलते हैं। विनय-पत्रिका में विशुद्ध भक्ति-रस मिलता है जिसमें काव्यरसों का उभार नहीं है। उसमें दास्य और शान्त दोनों भक्तिरसों की ही काव्य-रस-निरपेक्ष परिकल्पना है। रामचरितमानस एक चरित-काव्य है। उसमें भी उसी आदर्श के साथ दास्य और शान्त भक्तिरसों का परिपाक है। मानस का एक ही अंगी रस है 'दास्यभक्तिरस', किन्तु उसमें साथ ही काव्यरसों का भी अनुयोग है। ये काव्यरस सर्वशः भक्तिरस के अंग हैं। इनका परिपाक इसी ढंग से, इसी मात्रा तक किया गया है कि वे भक्तिरस के अंग बने रहें। तुलसी के ही रूपकात्मक शब्दों में 'मानस-सरोवर' में काव्यरस उसके सुन्दर जल-जन्तुओं के समान शोभाधायक तत्त्व तो हो सकते हैं, उसके आत्म-तत्त्व नहीं। मानस की रसमयी आत्मा भक्तिरस में परिकल्पित है। कवितावली में रस-परिकल्पना का यह रूप मानस से उलट गया है। उसमें भक्तिरस के अनुरंजन के साथ काव्य-रस उभर कर आये हैं। जैसे हम तुलसी के वात्सल्य में काव्यरस के रूप में वात्सल्य का अनुभव कम किन्तु भक्तिरस के रूप में अधिक कर पाते हैं, किन्तु सूर के वात्सल्य में भक्तिरस की अपेक्षा उसका आस्वादन काव्यरस के रूप में अधिक सम्भव है, वैसे ही तुलसी की 'मानस' में भक्तिरसों का परिपाक प्रमुख है, कवितावली में काव्यरसों का। तुलसी की चौथी कृति है 'गीतावली'। उसमें तुलसी ने अपने आदर्श में एक हल्का परिवर्तन स्वीकार करके कृष्णभक्ति की आदर्श-भूत रस-परिकल्पना के साथ समझौता करके एक समन्वयात्मक रस-परिकल्पना प्रस्तुत की है। गीतावली का उत्तर काण्ड तो स्वतन्त्र और विनयपत्रिका के ढंग का है। उसमें दास्य और शान्त की ही रस-परिकल्पना है। किन्तु पूर्व के काण्डों में अपनी अन्यत्र स्वीकृत भक्ति के साथ वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में तुलसी ने कृष्ण-भक्ति की रस-परिकल्पना का प्रभाव स्वीकार किया है। इस प्रकार गीतावली में भक्ति और काव्य के रसों का ही समन्वय नहीं है, तुलसी के युग की दो भक्ति-धाराओं की प्रमुख रस-परिकल्पनाओं का भी समन्वय दिखायी पड़ता है। तुलसी ने अपने आदर्श को शिथिल न करते हुए भी गीतावली में कृष्ण-भक्ति की आदर्श रस-परिकल्पना से समझौता करने के लिए कुछ अपना छोड़ा अवश्य है।

आदर्शवादी राम-काव्य की धारा के लिए तुलसी की रामचरितमानस और विनय-पत्रिका की रस-परिकल्पना आदर्श बनी है। सेनापति-जैसे कवि-व्यक्ति-प्रधान और लोगों का आदर्श कवितावली की रस-परिकल्पना रही है। केशव की राम-भक्ति की रस-परिकल्पना कवित्व एवं कौशल के भार से आक्रान्त है। किन्तु उनके काव्य में भक्ति-भावना या काव्य-रसों की अनुभूति का अभाव नहीं है। कवित्व के भार में गुणीभूत भक्तिरस की परिकल्पना का आदर्श केशव ने तुलसी के समान ही मर्यादावादी अपनाया है।

दास्य और शान्त रामभक्ति-काव्य के प्रमुख परिकल्पित रस रहे, मधुर और वात्सल्य कृष्णभक्ति-काव्य के। यों दोनों ओर के कवि रूढ़ नहीं रहे। सूर ने रामचरित का गान किया, तुलसी ने कृष्ण-गीतावली लिखी। सूर ने दास्य की गहरी अनुभूतियाँ दीं, तुलसी ने वात्सल्य और मधुरता के क्षेत्र में भी हाथ लगाया। उधर अपने-अपने क्षेत्र में भी लोग रूढ़ि-ग्रस्त आग्रही नहीं रहे। निम्बार्की और कभी-कभी कोई हरिदासी-राधावल्लभीय कवि भी ब्रज-रस का गान कर लेते हैं, तो सूर आदि अष्टछापी निकुंज-रस का आस्वादन करते हुए सहचरी-भाव की परिकल्पना प्रस्तुत करते दिखायी पड़ते हैं। परवर्ती लोग कुछ रूढ़ हुए अवश्य,

किन्तु आपको अनेक भक्त ऐसे मिल जायेंगे जो अपने सम्प्रदाय-गुरु की आराधना करते हुए अन्य सम्प्रदायों के, प्रमुख भावुक भक्तों एवं आचार्यों के प्रति श्रद्धा-रस का आस्वादन किया करते हैं।

अनुभूति की दृष्टि से वैष्णव-रस के विविध रूपों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। जहाँ तक कवि की अनुभूति का प्रश्न है, इस काव्य में जितनी सच्ची एवं स्वकीय अनुभूति कवि ने प्रस्तुत की है उतनी सम्भवतः ही किसी अन्य काव्य में मिले। इस काव्य में भाव का गहरा भावावेश है जिसका उत्स कवि का स्वानुभूति-प्रवण अन्तःकरण है। यह भावावेश अकृत्रिम, सहज एवं निर्मल है—ऐसा निस्सन्देह कहा जा सकता है। किन्तु काव्य-पाठक की अनुभूति इस काव्य में कवि से तदात्म है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक एक सम्प्रदाय-निष्ठा-सम्पन्न साम्प्रदायिक पाठक की बात है, उसे इस काव्य में रसानुभूति निर्मल भक्तिरस की, तथा कवि की अनुभूति के साथ समानुभूतिमयी होनी चाहिए। किन्तु सामान्य काव्य-सहृदय के लिए इस वैष्णव-रस के सभी रूपों में कवि के साथ तदात्म समानुभूतिमयी अनुभूति स्वीकार नहीं की जा सकती। वैष्णव-काव्य में परिकल्पित रसानुभूति के विषय में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता कि पाठक अनिवार्यतः सर्वत्र उसी रूप में रसानुभूति करता है जिस रूप में कवि चाहता है या कवि करता है। यहाँ अनेक प्रसंगों में यही सिद्धान्त ठीक बैठता है कि काव्य-पाठक के समक्ष पूर्ण काव्य-चित्र विभाव-रूप में आता है और समूचा अखण्ड चित्र विभाव बनता हुआ सामाजिक के मन में लौकिक संस्कारों की वासना के अनुरूप उसमें एक विशुद्ध भूमिका में भावोदय करता है। जहाँ इन संस्कारों में औचित्य की परिक्षति होती है, साधारणीकरण में कमी रह जाती है, सामाजिक की भावात्मक प्रतिक्रिया अपने संस्कारों के अनुरूप विविध-मुखी हो जाती है। यहाँ हम वैष्णव रस के पाँचों रूपों की अनुभूति के विषय में अलग-अलग तुलनात्मक दृष्टि डाल सकते हैं।

भक्तिरस के स्वीकृत पाँच भेदों में से दास्य और शान्त रस की अनुभति काव्य-पाठक को सबसे प्रकृत एवं उसी दिशा में होती है जिसमें कि स्वयं कवि को होती है। दिशा की बात इसलिए कही गयी कि इन रसों की वैसी घनीभूति जैसी कि कवि को हुई है, केवल सिद्ध भक्तों को ही हो सकती है। इन भावों की वासना से सम्पन्न एक सहृदय तो इनकी अनुभूति काव्यरस के रूप में ही कर सकता है अतः वह भक्ति की रसात्मक अनुभूति दास्य और शान्त में काव्यरस के अनुरूप ही करता है जिनमें भक्ति-भावना की प्रांजलता एवं शुभोदर्की प्रभाव होता है।

सख्य, वात्सल्य और मधुर भक्तिरस क्रमशः सामाजिक के लिए साम्प्रदायिक होते जाते हैं। सख्य और वात्सल्य के लिए आदर्श कवि सूर हैं। सूर के चित्रों में काव्य-रसिक की अनुभूति प्रमुखतया काव्यरस के रूप में होती है। भक्ति का एक भाव के रूप में ही उभार होता है। पाठक साहित्यिक स्तर पर वात्सल्य की अनुभूति करता है, जहाँ और जिस अंश में जिस मात्रा तक कवि उसमें अपने बाल-चित्रों के प्रति महत्त्व-चेतना जगा पाता है, उसी मात्रा तक उसे भक्ति की अनुभूति होती है। यह भक्ति एक भाव-कोटि की अनुभूति रह जाती है। जिन कवियों में महत्त्व-चेतना अधिक मुखर है उनके बाल या सख्य के चित्रण में पाठक को रसानुभूति एक काव्यरस के रूप में भले ही हलकी हो, किन्तु भक्ति की गहराई को वह अधिक अनुभव अवश्य करता है। ऐसे प्रसंगों में भी भक्ति की अनुभूति का स्तर प्रायः भाव-कोटि का ही रह जाता है। इने-गिने प्रसंगों की बात दूसरी है। फिर भी, इन

रसों में अनुभूति पाठक के लिए कवि की अनुभूति की विपरीत दिशा में नहीं होती। अधिक से अधिक यही होता है कि कवि की अनुभूति तो भक्ति-प्रवण है किन्तु पाठक उस रस-परिकल्पना को एक काव्यरस के रूप में ही परिगृहीत करके रह जाता है। या कवि की अनुभूति में तो काव्यरस से भक्तिरस उभरा हुआ है, किन्तु सामाजिक वहाँ भक्तिरस की अपेक्षा काव्यरस के रूप में सख्य या वात्सल्य की अनुभूति अधिक कर रहा है और इस प्रकार कवि का भक्तिरस सामाजिक के लिए रस न होकर 'भाव' ही रह गया है।

मधुर रस की सामाजिक की अनुभूति में कई प्रकार के स्थलों में कुछ विषमताएँ उठ सकती हैं। हम मधुर के प्रसंगों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो जिनमें कान्तारति की सीधी अभिव्यक्ति है। ये स्थल चाहे राधा-प्रेम के हो सकते हैं, चाहे गोपी-प्रेम के। दूसरे वे जिनमें कान्तारति की अभिव्यक्ति सहचरी या सखीरूप में है और प्रिय के प्रति या युगल के प्रति विलास-दर्शन के तटस्थ सुख का आस्वाद कहा गया है। इस प्रकार के स्थलों में प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिक को रसानुभूति किस रूप में होती है।

इन प्रसंगों में, विशेष कर द्वितीय प्रकार के प्रसंगों में काव्य-रसिक की अनुभूति कवि के अनुरूप नहीं होती। कवि यहाँ भक्ति के चरम स्वरूप की अनुभूति कर रहा है, ऐसा उसका दावा है। उसके दावे के पीछे एक सुदृढ़ शास्त्र है। अतः उसकी अनुभूति और उसके उद्देश्य पर आपत्ति नहीं की जा सकती। किन्तु सामाजिक की अनुभूति को भी नहीं झुठलाया जा सकता। वह ऐसे स्थलों में शृंगार की अनुभूति करता है। यदि कहीं चित्र अधिक उन्मुक्त हो गया है और औचित्य में व्याघात प्रतीत होता है तो उसे शृंगार रस के स्थान पर रसाभास की अनुभूति होगी। विशेष कर राम-काव्य में राम के प्रति एक आदर्श-निष्ठा के संस्कार सुसंस्कृत जन-मानस में परिनिष्ठित हैं। तब सीताराम के उन्मुक्त शृंगार के चित्रों में रसाभास की अनुभूति की अधिक गुंजाइश होती है। ऐसे प्रसंगों में न कवि से तादात्म्य कहा जा सकता है, न ही काव्य-निष्ठ आश्रय-पात्र से। साम्प्रदायिक मधुर की अनुभूति में भक्त को अपने में आवश्यकीय कान्ताभाव का आरोप करके चलना चाहिए। किन्तु सामाजिक की अनुभूति के लिए यह भी आवश्यक नहीं होता। यदि पाठक इस प्रकार के संस्कार बना भी ले तो यह उसका व्यक्तिगत राग होगा। काव्यरस की अनुभूति के लिए व्यक्तिगत किसी भी भाव का तिरोधान अपेक्षित है। ऐसे व्यक्तिगत राग के संस्कारों को लेकर भले ही वह 'भक्ति' की अनुभूति कर ले, किन्तु काव्यरस के रूप में तो भक्तिरस की अनुभूति नहीं कर सकता।

अतः, हम यही सिद्धान्त यहाँ भी पोषित पाते हैं कि जैसा सामूहिक चित्र पाठक की चेतना के समक्ष आता है उसी के अनुरूप वह भावात्मक प्रतिक्रिया अनुभव करता है। तब चाहे राधा की ओर से प्रेमाभिव्यंजन हो, चाहे कृष्ण की ओर से। चाहे गोपी-रति का साक्षात् कान्ताभाव हो, चाहे सहचरी-रति का तटस्थ कान्ताभाव; काव्य-रसिक के भावोद्बोधन के लिए समूचा चित्र विभावन करता है। यह विभावन उसी प्रक्रिया के अनुरूप होता है जैसा कि लोक में होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि यहाँ न विभाव-सामग्री व्यक्तिगत होती है, न भावोदय व्यक्तिगत होता है। अतः इस भावोदय में सूक्ष्मता एवं रसात्मकता होती है। यह रसात्मकता वही है जिसका निरूपण काव्यशास्त्र में किया गया है।

इस प्रकार के चित्रों में इस लौकिक ढंग की काव्यानुभूति को भगवदीय बनाने के दो ही तत्त्व हैं—एक आलम्बन के प्रति महत्त्व-चेतना, दूसरे आलम्बन की अलौकिकता। यदि कवि इनमें से किसी का भी सहारा लेकर आया है तो वह पाठक की शृंगारानुभूति में रोक

लगा कर भगवदीयता ला सकता है और एक मात्रा तक अपने शृंगार की मधुर भक्ति का रूप अपने सामान्य पाठक को भी आस्वादित करा सकता है। हम देख चुके हैं कि सूर ने अपने मधुर रस की परिकल्पना में अलौकिकता का उपयोग किया है, तुलसी ने महत्त्व-चेतना के प्रति सजगता बरती है। इन कवियों की मधुर-परिकल्पना किसी हद तक भक्तिभाव की अनुभूति भी कराने में समर्थ हो सकती है। किन्तु निम्बार्की, हरिदासी और राधावल्लभीय मधुर-काव्य में प्रायः ऐसा नहीं हुआ, और यही कारण है कि पाठक कभी तो उनमें अमिश्र शृंगार की अनुभूति पाता है, कभी मिश्रित शृंगार की। कवि द्वारा अभिव्यक्त सहचरी भाव की ओर तो वह एक क्षेत्र के लिए बौद्धिक द्रष्टा के समान देखता रह जाता है। आस्वादन करता है वह उसी शृंगार को जिसका विभावन कवि का उभर कर आया चित्र कर रहा है।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। इन मधुरोपासक कवियों के विविध प्रवृत्त्यात्मक चित्रों में अनेकत्र गहरी लोक-निवृत्ति घुली रहती है। प्रेम की तन्मयता, विशुद्धता एवं प्रशान्तता के अनेकत्र दर्शन होते हैं। ऐसे स्थलों में लगता है, शान्त ही शृंगार के आकार में प्रतिष्ठित हुआ है। ऐसे स्थल संयोग-चित्रण की अपेक्षा वियोग-चित्रण में आपको अधिक मिलेंगे। ये अनुभूतियाँ पाठक को बलवत् एक ऐसे शृंगार की अनुभूति कराती हैं जो लौकिक शृंगार नहीं, साहित्य में अन्यत्र अनुभूत शृंगार रस नहीं, एक उच्च-स्तरीय शृंगार है, उज्ज्वल शृंगार है। महत्त्व-चेतना-सम्पन्न, अलौकिक-विभावना की ओर ले जाने वाला, या प्रशान्तवाही निर्मल शृंगार निस्सन्देह सामाजिक को मधुर रस की भक्तिमयी काव्यानुभूति देता है। और, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव-रस में इस प्रकार के उज्ज्वल शृंगार की मात्रा भी कम नहीं है।

अब तक हमने वैष्णव-काव्य में रस-परिकल्पना के ऊपर तुलनात्मक विचार करते हुए उसकी कवि-कृत परिकल्पना, अभिव्यक्ति और सामाजिक की अनुभूति पर दृष्टिपात किया है। अब हम यहाँ एक दूसरे प्रश्न की ओर जाना चाहते हैं—वह यह कि वैष्णव-साहित्य की इस रस-परिकल्पना का परवर्ती साहित्य की रस-परिकल्पना पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस प्रश्न का सम्बन्ध हमारे आलोच्य काल के काव्य की रस-परिकल्पना के मूल्यांकन से जुड़ा हुआ है।

(ख) परवर्ती साहित्य में रस-परिकल्पना पर प्रभाव

परवर्ती साहित्य में रसपरिकल्पना हमारे आलोच्य युग के वैष्णव साहित्य की रस-परिकल्पना से किस रूप में और किस मात्रा में प्रभावित हुई, इस बात को समझने में लिए हमें यहां भी राम-काव्य और कृष्ण काव्य की रस-परिकल्पनाओं को अलग-अलग सामने रखना होगा। दोनों को अलग-अलग लेने का कारण यही है कि दोनों क्षेत्र की रस-परिकल्पनाएं अलग-अलग आदर्श लेकर चल रही थीं।

राम-भक्ति साहित्य की धारा में परवर्ती युग में कोई उल्लेखनीय कवि नहीं हुआ। मानो जो तुलसी कह चुके थे उसके आगे कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं थी। इन अर्थों में परवर्ती साहित्य में राम-रस की परिकल्पना पर तुलसी व्यक्तित्व का विपरीत प्रभाव पड़ा है, यह स्वीकार करना पड़ता है।

तुलसी के व्यक्तित्व की इस महत्ता के अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं। आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण परवर्ती हिन्दी साहित्य का

प्रमुख स्वर भक्ति से हट कर श्रृंगार और चमत्कार की ओर परिवर्तित हुआ। इस बदली हुई स्थिति के अनुरूप आदर्शवादी राम-भक्ति की रस-परिकल्पना नहीं थी। संस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा में से एक श्रृंगारी एवं चमत्कार-पूर्ण काव्य की धारा बहुत प्राचीन काल से बहती चली आ रही थी। हिन्दी में दरबारी कला-कुशल कवियों का आश्रय पाकर वह जोर पकड़ गयी और उस साहित्य की सृष्टि हुई जिसे हम सामान्यतः श्रृंगारी साहित्य या रीति-साहित्य कहते हैं। इस परवर्ती युग में काव्य-प्रतिभा का तो अभाव नहीं रहा। कला-मर्मज्ञता की दृष्टि से अनेक कला-प्रवण कवि-व्यक्तित्व सामने आये, किन्तु उनकी रुचि एवं स्थिति-परिस्थिति ने रामरस की आदर्शमयी रस-परिकल्पना की ओर उन्हें आकृष्ट न होने दिया।

परवर्ती हिन्दी साहित्य की रस-परिकल्पना को वैष्णव साहित्य के दूसरे अंश कृष्ण काव्य की रस-परिकल्पना ने पूर्णतः प्रभावित किया। एक तो कृष्ण-रस की परिकल्पना अपने मधुर रूप के द्वारा अपने युग में ही राम-काव्य की धारा तक को प्रभावित करने लगी थी। अग्रदास और नाभादास में तथा एक हलके संस्पर्श के रूप में गीतावली के तुलसीदास में हम कृष्ण-भक्ति की मधुरोपासना का प्रभाव देख चुके हैं। यह रसिकता राम-धारा में हमारे आलोच्य काल में तो अत्यन्त सीमित रही, पर परवर्ती युग में इसने बल पकड़ कर कुछ सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा का भी रूप पाया। इन राम-भक्ति के मधुरोपासकों को प्रेरणा कृष्ण-भक्ति की मधुर-परिकल्पना पर ही मिल रही थी। वैसी ही उन्मुक्त रसिकता तथा उसकी पृष्ठभूमि को पुष्ट बनाने के लिए विविध शास्त्रीय ग्रन्थों का संस्कृत में प्रणयन एवं उन्हें प्राचीन काल का कहकर प्राचीन लोगों के नाम से ख्यापन का काम भी हुआ, जो सम्प्रदायों को चलाने के लिए स्वाभाविक था।

कृष्ण-काव्य की रस-परिकल्पना सत्रहवीं शती के अन्तिम चरण तक आते-आते एक मधुर रस की परिकल्पना ही रह गयी थी। वल्लभ-सम्प्रदाय पहले तो ब्रज-लीला गान का उद्देश्य लेकर चला था, उसमें वात्सल्य, सख्य और माधुर्य तीनों के लिए पूरा-पूरा अवकाश था। वल्लभ की चेतना के अनुरूप वात्सल्य और विरह-भावना का रसात्मक पोषण सूर ने प्रस्तुत किया था। किन्तु विट्ठलाचार्यजी के प्रभाव से सम्प्रदाय में श्रृंगार का महत्त्व बढ़ता गया। परवर्ती अष्टछापियों की रस-परिकल्पना एकान्त मधुर की हो गयी थी, यह हम देख चुके हैं। उसमें से वात्सल्यादि ही तिरोहित नहीं हुए, आत्मानुभूति-प्रसूत विरह भी निकल गया। सूर को छोड़ कोई सच्चा विरह-कवि भी अष्टछाप नहीं दे सका। जब वल्लभ-सम्प्रदाय का ही यह हाल हुआ तो जो सम्प्रदाय मधुर रस की एकान्त साधना का सिद्धान्त अपना कर चल रहे थे, उनके विषय में तो कुछ कहने की बात ही नहीं। इस प्रकार हमारे आलोच्य काल के अन्त तक कृष्ण-भक्ति एक प्रकार से एकान्त मधुर की हो चुकी थी।

मधुर-परिकल्पना की अभिव्यंजित भाव-भूमि लौकिक काम की भाव-भूमि है। इस स्थूल काम को भगवदीय बनाने के लिए तीन ही तत्त्व थे—भगवान् के महत्त्व के प्रति जागरूक रहना, विभाव-पक्ष की अलौकिकता के प्रति सजग रहना, तथा इस रस-काव्य के निर्माताओं की स्वानुभूत प्रशान्त-वृत्तिता का घुला होना। जहाँ तक महत्त्व-चेतना का प्रश्न था, सभी रसिक-सम्प्रदायी उसे प्रेम के घनत्व की अनुभूति के लिए अनिवार्यतः परिहार्य समझ कर जान-बूझ कर छोड़ चुके थे। मधुर-परिकल्पना का यह आदर्श ही बन गया था कि जिस भक्ति-रूप में जितनी महत्त्वानुभूति सजग रहेगी वह भक्तिरूप उतना ही हीन कोटि का होगा। इस नाते दास्य को मधुर से बहुत हीन कहा गया था शान्त-भक्तिरस को भक्तिरस के पाँच रूपों में

सबसे नीचा स्थान प्रदान किया गया था। ये आदर्श भक्ति-काल में प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूसरी चीज थी अलौकिकता की प्रतिष्ठा। यह तत्त्व कृष्ण-काव्य में सूर के अतिरिक्त कुशलता से कोई नहीं निहित कर सका। तब वृन्दावन की रसमयी भूमि में पनपने वाले मधुर कृष्ण-काव्य के उदात्त रहने का एक ही आधार बच रहा था कि वह उन लोगों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में सामने आ रहा था जो संसार के वैभव को तिलांजलि दे चुके थे, अपनी वृत्तियों में चरम उदात्तीकरण प्राप्त कर चुके थे, अपने मानस की समूची विषय-वासनाओं को भाव-साधना के सहारे निश्चित रूप से भगवदीय बना चुके थे।

कृष्ण-भक्ति साहित्य की धाराएँ विविध सम्प्रदायों की छाया में वृन्दावन की भूमि में परवर्ती युग में भी प्रवाहित होती रहीं। निम्बार्क सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों की गद्दियाँ उच्च कोटि के रसिक कवियों की वाणियाँ देती रहीं। वल्लभ सम्प्रदाय में भी परवर्ती युग में कुछ अच्छे भक्त कवि हुए, यद्यपि उनमें अष्टछाप की टक्कर का कोई नहीं था।

ब्रज-भूमि में पल्लवित यह परवर्ती कृष्ण-भक्ति साहित्य मात्रा और गुण दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर है। किन्तु इसमें रस-परिकल्पना की दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। साम्प्रदायिक रूढ़ता ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी है, इस काव्य की रस-परिकल्पना पिटी-पिटाई और उन्मुक्त शृंगार की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होती गयी है। फिर भी राधावल्लभ सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय की परवर्ती परम्परा में कई नाम उल्लेखनीय कवियों के हैं। पर एक बात है, इन परवर्ती वृन्दावनी कवियों को राधा-कृष्ण के शृंगार-चित्रण में निकुंज-रस के गान के नाम पर सब कुछ कहने का 'लाइसेंस' मिल गया था। उनके पीछे एक विशाल साहित्य था, उच्चकोटि के भक्तों का आदर्श जीवन था। इन तत्त्वों के आधार पर वे इस परम्परा को निभाये चले जा रहे थे, और एक दबती-उभरती धारा के रूप में आज भी निभाये चले जा रहे हैं, भले ही जीवन की स्वानुभूति-मयी प्रशान्तवृत्तिता का उसमें ह्रास हो गया है। पर इसी धारा में कभी कभी उच्चकोटि के भावुक भक्त और कवियों के भी दर्शन हो जाते हैं। यदि शतियों में जाकर भी ये सम्प्रदाय किसी सच्चे भक्त को प्रस्तुत कर सके तो उनकी यह सम्प्रदाय को सुरक्षित रखने की साधना सफल हो जाएगी।

पर एक बात उल्लेखनीय है। सत्रहवीं शती के अनन्तर यह वृन्दावनी कृष्ण-साहित्य हिन्दी-साहित्य के एक कोने में पड़ गया। उसमें जन-मानस को प्रभावित करने की क्षमता वैसी नहीं रही जैसी सोलहवीं-सत्रहवीं शती तक रही थी। एक प्रकार से उसकी प्रभाविनी पवित्र आत्मा तिरोहित हो गयी। परवर्ती साहित्य में जो प्रभावशाली स्थान पाया वह इस वृन्दावनी साहित्य ने नहीं, प्रमुखतया उस साहित्य ने जो प्रमुखतया दरबारों की छाया में लिखा जा रहा था।

दरबारी साहित्य को कृष्ण-काव्य की रस-परिकल्पना का रूढ़ ढाँचा ही हाथ पड़ा, उसकी आत्मा तक पहुँचने की उसकी क्षमता नहीं थी। हमारे आलोच्य काल के अन्तिम चरण तक आते-आते कृष्णरस-परिकल्पना के पास तीन तत्त्वों में से एक ही बात बच रही थी कि उसके स्रष्टाओं के जीवन में प्रशान्तवृत्तिता घुली थी। दरबारी कवियों के हाथ पड़ते ही कृष्ण-काव्य का वह तत्त्व भी समाप्त हुआ। और परवर्ती दरबारी काव्य अन्य अनुकूल कारणों एवं परिस्थितियों के सहयोग से चमत्कार-प्रवण एवं शृंगारी काव्य के रूप में परिणत हुआ।

इस दरबारी काव्य को हमारे आलोच्य युग के कृष्ण काव्य में निहित रस-परिकल्पना ने एक नैतिक साहस प्रदान किया था। जिस उन्मुक्त मधुर काव्य की व्याख्या में विशाल भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थ विद्यमान थे, जिसकी सृष्टि निरन्तर कई शताब्दियों से भक्त कवियों द्वारा हो रही थी, जिसे जनता नैतिक साहस के साथ भक्ति-भावना के गीत कह कर गा रही थी, उसी के ढंग का साहित्य दरबारी कवि भी देने का साहस क्यों नहीं कर सकते थे ? वे अपनी शास्त्र-दक्षता और चमत्कारी रुचि के अनुसार कवित्त और सवैयों में राधा-कृष्ण का नाम लेकर उन्मुक्त श्रृंगार के चित्र देने में वैष्णवरस की परिकल्पना से नैतिक साहस पा सके। कहा जाता है कि मैक्समूलर ने एक बार वैदिक ऋषियों के अनुकरण पर कतिपय सूक्तों की रचना का प्रयास किया था। वह यह दिखाना चाहते थे कि ऋग्वेद कोई अलौकिक ज्ञान-सम्पन्न ऋषियों की रचना नहीं है, वैसी रचना आज भी की जा सकती है। पर पीछे उन्हें यह भान कराया गया कि उनके सूक्तों में उसी वैदिक भाषा के शब्द उसी व्याकरण एवं छंद-नियमों तथा स्वर-नियमों के सहित होते हुए भी ऋग्वेद की आत्मा नहीं है। और तब उन्होंने अपना यह प्रयास छोड़ दिया था। किन्तु इन दरबारी 'कृष्ण-भक्तों' को जो कविता कर पायें तो ठीक, नहीं तो राधा कन्हाई के सुमिरन का बहाना ही सही, यह उद्देश्य लेकर चल रहे थे, उन्हें यह समझाने वाला कोई नहीं था कि राधा-कृष्ण के मधुर श्रृंगार का चित्रण राजसी महलों में बैठ कर नहीं होता, वृन्दावन के कुंजों में ही जाकर हो सके तो हो सके। जो भी हो, परवर्ती रीतिकालीन कवियों को साहित्य के क्षेत्र में उन्मुक्त श्रृंगार को, और वह भी राधा-कृष्ण का नाम लेकर, प्रस्तुत करने का नैतिक साहस अपने पूर्व के वैष्णव काव्य में निहित रस-परिकल्पना से मिला, यह स्वीकार करना ही पड़ता है।

तो, परवर्ती साहित्यकार ने उन्मुक्त श्रृंगार के चित्रण का नैतिक साहस हमारे काल की मधुर रस की परिकल्पना से पाया, परवर्ती वृन्दावनी साम्प्रदायिक साहित्यकार ने भी और दरबारी साहित्यकार ने भी। कृष्ण-भक्ति की मधुर-परिकल्पना ने साम्प्रदायिक क्षेत्र को भी आच्छन्न किया, साहित्यिक क्षेत्र को भी। साम्प्रदायिक क्षेत्र में न केवल कृष्ण-भक्ति के ही क्षेत्र को अपितु राम-भक्ति के क्षेत्र को भी। परवर्ती साहित्य में निहित रस-परिकल्पना को दिशा और नैतिक साहस देने के रूप में १६वी-१७वीं शती के मधुर भक्ति काव्य की रस-परिकल्पना का प्रभाव उल्लेखनीय है।

अपने आलोच्यकाल के वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना के तुलनात्मक विवेचन और परवर्ती साहित्य में रस-परिकल्पना पर इसके प्रभाव के निरूपण के अनन्तर अब हम इस स्थिति में हैं कि अपने समूचे अध्यन के आधार पर कुछ निष्कर्षात्मक बातें कर सकें।

(ग) निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि १६वी-१७वीं विक्रमी शताब्दियों में निर्मित हिन्दी वैष्णव साहित्य रस-परिकल्पना की दृष्टि से एक अत्यन्त उच्च कोटि का साहित्य है। भक्त-कवियों ने इसमें उस अप्राकृत एवं दिव्य रस की अनुभूति को वाणी दी है जिसका निरूपण उपनिषदें परात्पर तत्त्व कह कर करती हैं और 'रसो वै सः' कह कर उसका स्वरूप बताती हैं। इसी तत्त्व की व्याख्या विभिन्न वैष्णव-दर्शनों ने बुद्धि के परितोषण के लिए नहीं, भाव-साधना के लिए की है। इस वैष्णव-साहित्य के स्रष्टा कवि उन्हीं के आदर्श को अपना कर अपने काव्य में रस की सृष्टि करते हैं। अतः इस काव्य में वह

रस परिकल्पित नहीं है जो सामान्यतः अन्यत्र काव्य में पाया जाता है।

इस वैष्णव-रस के सच्चे आस्वादयिता तो साधक भक्त ही हो सकते हैं, काव्य-रसिकों को इसकी अनुभूति हो ही नहीं सकती। यह रस अपने मूल रूप में साधना एवं संस्कार-सम्पन्नता का विषय है। एक काव्यानुशीलन-समर्थ सहृदय पाठक इसमें केवल काव्यरस का ही आस्वादन कर सकता है। उसे भक्ति-रस की अनुभूति भी एक काव्यरस-रूप भक्ति-रस के रूप में ही हो सकती है।

वैष्णव-रस के दो रूप हैं—एक रामभक्तिरस, दूसरा कृष्ण भक्तिरस। रामभक्तिरस का स्वरूप आदर्शमय, मर्यादा-पूर्ण, लोक-कल्याण सम्पन्न एवं शुभोदर्की है। सहृदय को भक्ति की अनुभूति इसी की परिकल्पना में सबसे अधिक, सबसे सहज, एवं सबसे प्रकृत होती है। कृष्ण-भक्तिरस की परिकल्पना का अधिकांश साम्प्रदायिक है। उसमें प्रमुखतया वात्सल्य, सख्य और मधुर की परिकल्पना आती है। इन तीनों में भी मधुर की प्रधानता है, जो सब भक्ति-रूपों से अधिक साम्प्रदायिक है। मधुरोपासना भक्तिमार्ग की एकान्त-साधना है। उसमें लोक-निरपेक्षता एवं मर्यादोल्लंघन है। भावुक रसिकों के लिए उसमें सान्द्रता अधिक अनुभव होती है, किन्तु सामान्य सहृदय उस सान्द्र अनुभूति तक पहुँच नहीं पाता। उसे इस काव्य के अधिकांश में शृंगारमयी अनुभूति ही होती है।

सब मिला कर वैष्णव साहित्य भाव, भाषा, संगीत, कल्पना और मर्म-स्पर्शिता की दृष्टि से ही एक उच्च कोटि का साहित्य नहीं है, रस-परिकल्पना की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च-कोटि का साहित्य है। एक अंश को छोड़कर इस साहित्य में मंगलमयी अनुभूतियों का समावेश है जिनके आस्वादन से सामाजिक को दिव्य पवित्रता की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से तुलसी और सूर दोनों ही भक्त-प्रवरों की रस-परिकल्पना उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य में यदि कहीं आत्मा का निश्छल साहित्य है, यदि कहीं स्वानुभूति-मूलक सहज रस-कल्पना है, तो वह वैष्णव-साहित्य में। वैष्णव-साहित्य की १६वीं-१७वीं शतियाँ अपनी इस उत्कृष्ट रस-परिकल्पना के कारण ही हिन्दी-साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय रहेंगी। इस साहित्य की रस-परिकल्पना में भाव-साधना के सहारे चरम आत्मोत्कर्ष की सम्भावना निहित है। ऐसे भाव-साधकों के लिए यह रस-परिकल्पना मात्र काव्य-रस की परिकल्पना नहीं है, वह मात्र ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की ही उपलब्धि नहीं करायेगी, ब्रह्मानन्दोत्तीर्ण रस का आस्वादन कराती हुई जीवन का लक्ष्य भी सफल बनायेगी। अब भी साम्प्रदायिकता की शैवाल के नीचे उसका अमृत पेय सुरक्षित है। आवश्यकता है, आस्वादन करने वाले में उसके आस्वादन की क्षमता और पात्रता की। कहते हैं, सिंहिनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही ठहरता है। वैष्णवरस के मूल रूप में ठहराने के लिए ऐसा ही स्वर्ण-पात्र चाहिए।

यह पात्रता उसी की कृपा से मिल सकती है जिसका इस काव्य में गान गाया है।

परिशिष्ट (क)

कबीर-काव्य में रस-परिकल्पना

जिस प्रकार राम-काव्य की धारा में आदर्श कवि तुलसी है उसी प्रकार सन्त काव्य की धारा में आदर्श-स्थान कबीर का है। एक प्रकार से कबीर की काव्य-प्रवृत्तियों के अध्ययन में ही सन्त-काव्य का अध्ययन हो जाता है। अतः हम उन सन्तों के प्रतीक रूप में कबीर को यहाँ ले रहे हैं जिनमें राम-कृष्ण का नाम लेकर प्रेमाभिव्यक्ति पायी जाती है। कबीर की रस-परिकल्पना के विवेचन से हम इस प्रकार के सन्तों की रस-परिकल्पना समझने में सहायता ले सकते हैं।

कबीर ने भी राम-कृष्ण-हरि-गोविन्द आदि वैष्णव नामों को स्वीकार करते हुए अपने निर्मल प्रेम की अभिव्यक्ति की है। किन्तु हम उन्हें तथा उनके अनुयायियों को अपने शोध-प्रबन्ध की परिधि में इस कारण नहीं ला सके कि उनमें वैष्णवत्व की चेतना का मूल स्वर नहीं है। यों कबीर ने अपने को वैष्णवनुरागी प्रदर्शित किया है और वैष्णवों की यत्र-तत्र प्रशंसा भी की है—'वैष्णव की छपरी भली, ना साकत बड़ गाऊं' ये उनके शब्द प्रसिद्ध हैं। फिर भी उन्हें वैष्णव कवि नहीं कहा जा सकता। हमने वैष्णवत्व की तीन प्रमुख चेतनाएँ निर्धारित की हैं :

१. उपनिषत्प्रतिपादित गुणातीत ब्रह्म-रूप के प्रति आस्था।

२. उसके पुराण-प्रतिपादित सगुण-साकार रूप में अधिक श्रद्धा।

३. भारतीय भाव-साधना में अत्यन्त प्राचीन काल से घुला हुआ अनुराग-तत्त्व।

कबीर में इनमें से केवल पहली और तीसरी चेतनाएँ मिलती हैं। हम पुराण-प्रतिपादित सगुण रूप में श्रद्धा न होने के कारण उन्हें वैष्णव नहीं कह सकते। किन्तु राम-कृष्ण का नाम लेकर प्रेमाभिव्यंजन करने तथा वैष्णवों के प्रति अनुराग प्रकट करने के कारण कबीर में जो वैष्णवता का संस्पर्श प्रतीत होता है उसी के आग्रह से हम यहाँ परिशिष्ट-रूप में उनके काव्य में रस-परिकल्पना का निरूपण करने का प्रयास कर रहे हैं।

जहाँ तक 'रस' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, कबीर ने इसे भौतिक सुख, मायाजन्य आकर्षण, रसनेन्द्रिय-आस्वाद्य मधुर-आदि से लेकर हरि, हरि-नाम, प्रेम-तत्त्व, अद्वैतानुभूति तथा हठयोगी-प्रक्रिया से उपलब्ध आदि विविध अर्थों में प्रयुक्त किया है। फिर भी उनका प्राप्तव्य 'रस-तत्त्व' आत्मानुभूति-मूलक आनन्द ही है जिसका उल्लेख प्रायः तीन शब्दों से किया है—'रस', रसाइण', 'महारस'।

कबीर का यह रस-तत्त्व उनके काव्य में मुख्य-रूप से चार रूपों में निरूपित हुआ है :

१. **अद्वैत आत्म-तत्त्व**—यह 'रस' आनन्द-स्वरूप, गुणातीत, अकल, एवं निरंजन है। यह ज्ञान-योग की चरम उपलब्धि है।

२. **हठयोगी साधन मार्ग से उपलब्ध 'रस'**—इसकी चर्चा सामान्यतः दो रूपों में है :

(क) ब्रह्म-रन्ध्र से झरने वाले अजस्र द्रव के रूप में।

(ख) हठयोग से उपलब्ध आनन्दानुभूति के रूप में।

३. **हरि या राम तत्त्व**—वैष्णव भक्तों के समान ही कबीर ने भी राम को 'रस-रूप' कहा है। यह प्रेम-योग की चरम उपलब्धि है।

४. **प्रेम-तत्त्व**—भक्तों की भावना में प्रकाशित प्रेम-तत्त्व स्वयं ही 'रस' है। यह परम-तत्त्व की उपलब्धि का साधन होते हुए अपनी मधुरता और महत्ता के कारण साध्य समझा जाता है।

इस प्रकार कबीर की रस-दृष्टि ज्ञानमार्ग, साधनामार्ग, तथा भक्तिमार्ग की त्रिमुखी चेतनाओं से आकलित है। इन त्रिमुखी चेतनाओं का केन्द्र-बिन्दु एक है—आत्मा के निष्कल एवं परिपूर्ण स्वरूप की अनुभूति। हठयोगी साधना के प्रक्रिया-योग से उपलब्ध आनन्द-तत्त्व तथा ज्ञानयोग से उपलब्ध आनन्द-तत्त्व तो एक है ही, भाव योग से उपलब्ध आनन्दमय परम-तत्त्व भी स्वरूपतः निर्गुण, निराकार एवं अद्वैत है। केन्द्र-बिन्दु की इस एकता के कारण कबीर की रस-परिकल्पना बिखरी नहीं है।

कबीर के काव्य में उनकी अनुभूति की दो दिशाएँ निर्धारित की जा सकती हैं—एक तथ्यानुभूति की, दूसरी भावानुभूति की। तथ्यानुभूति में उन्होंने आत्मा के अद्वैतत्व को साक्षात्कार किया है, ऐसा उनका दावा है। और, उनकी वाणी अपने पाठक के मन पर जो विश्वसनीय प्रभाव छोड़ती है, उसे देखते हुए उनके इस दावे को झुठलाने का हमारे पास कोई आधार भी नहीं है। भावानुभूति में एक ओर तो गुणातीत राम-तत्त्व के प्रति गहरी प्रेमानुभूति आती है, दूसरी ओर लोक के प्रति। लोक-प्रेम की कबीर की अनुभूति को दो रूपों में हम पाते हैं—कभी तो सीधे-सीधे जीव-दया, करुणा आदि के रूप में, कभी लोक-मंगल के विघातक तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश के रूप में। उनकी अनुभूति को इस विवेचन के आधार पर इस रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. **तथ्यानुभूति**

(क) आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति।

(ख) प्रक्रिया-योग से उपलब्ध सत्य की अनुभूति।

२. **भावानुभूति**

(क) निर्गुण परम-तत्त्व के प्रति प्रेमानुभूति।

(ख) लोक के प्रति प्रेमानुभूति :

१. लोक-परक शुभ भावों के रूप में।

२. लोक-मंगल विघातक तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश के रूप में।

तथ्यानुभुति में आत्मा के अद्वैतत्व और जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूतियां ज्ञानयोग-मूलक हैं। अद्वैत की ज्ञानात्मक अनुभूति और प्रक्रिया-योग से उपलब्ध सत्य की अनुभूति के अलग-अलग रूप निम्न स्थलों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाते हैं :

(क) "पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कछु था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥"[1]

---

१. कबीर-ग्रन्थावली : का० ना० प्र० स० : सं० २०१३, पृ० १४।

"जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तथ कथौ गियानी ।।"[1]

(ख) "अगनि जु लागी नीर में कन्दू जलिया झार ।
उतर दखिन के पंडिता रहे विचारि विचारि ।।"[2]

"गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कंवल प्रकास ।
तहां कबीरा बन्दिगी, कै कोई निज दास ।"

पहले प्रकार की वाणियां ज्ञान-मूलक हैं, इस की ओर स्वयं कबीर ने 'यहु तथ कथौ गियानी' कह कर संकेत किया है । इस कोटि की वाणियाँ प्रायः सीधी, सरल एवं काव्यात्मक हैं । उनके प्रतीक बड़े स्वाभाविक हैं । दूसरे प्रकार की वाणियाँ हठयोग द्वारा उपलब्ध सत्यों के अनुभव प्रस्तुत करती हैं । इस कोटि की वाणियाँ प्रायः दुरूह, टेढ़ी और अपरिचित प्रतीकों वाली हैं जिनमें कवित्व दब गया है ।

तथ्यानुभूति-परक इस उभय-विध काव्य को रस-व्यंजक नहीं, वस्तु-व्यंजक ही समझना चाहिए । यह वस्तु-व्यंजना एक में तो प्रायः अभिधा के द्वारा काव्योपयोगी प्रतीकों के माध्यम से हुई है, दूसरे में कबीर के अपने युग में प्रचलित, लक्षणा के अतिभार से दबे, उलटवासियों के कतिपय प्रतीक-रूपकों के माध्यम से ।

उलटवासियों के प्रकार की उक्तियाँ कबीर-जैसे लोगों के लिए उस युग का एक प्रचलित माध्यम थीं । हो सकता है, रहस्यात्मक सत्यों की अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होते-होते कुछ बंकिम हो उठें, किन्तु इनमें तो सप्रयास और सोद्देश्य टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता अपनाया जाता था । कहने वाला अपने श्रोता के मन में आश्चर्य और चमत्कार उत्पन्न कराते हुए अपनी बात उतारना चाहता था । कहना चाहिए, अद्भुत रस की सृष्टि द्वारा वस्तु-व्यंजना करना चाहता था । तब यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी उक्तियों में रस-व्यंजना वस्तु-व्यंजना के प्रति गौण हो जाय । और वह भी उस वस्तु-व्यंजना के प्रति जो स्वयं दुरूह लक्षणाओं के टेढ़े-बकुचे मार्ग से आ रही हो । यही कारण है कि इस काव्य-रूप में अभिव्यंजना जटिल है । ऐसे स्थलों पर कवि तो रस-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना दोनों देना चाहता है, किन्तु उसकी प्रेषणीयता मन-चाहे रूप में नहीं होती । वस्तु-व्यंजना के प्रति गौण इस रस-व्यंजना का प्रभाव भी शैली की दुरूहता में खो जाता है । सिद्धान्ततः भी शैली का अति-भार रसानुभूति के लिए घातक होता है । अतः उलट-बांसियों में कबीर की रस परिकल्पना का स्वरूप उत्कृष्ट नहीं है, केवल लड़खड़ाती वस्तु-व्यंजनाएँ भर हैं ।

कबीर की वाणियों में सच्ची रस-परिकल्पना के दर्शन उनकी तथ्यानुभूति परक वाणियों में नहीं, भावानुभूति-परक वाणियों में होते हैं । यह भावानुभूति निर्गुण परमसत्ता के प्रति तथा लोक के प्रति दो रूपों में सामने आती है ।

परम तत्त्व के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

परम तत्त्व के प्रति प्रेमानुभूति के क्षेत्र में कबीर का प्रेमी रूप वहाँ सामने आता है जहाँ उनका अद्वैतवाद शिथिल पड़ जाता है । अद्वैत की अनुभूति बुद्धि-मार्ग की चरम उपलब्धि है

---

१. कबीर-ग्रन्थावली : का० ना० प्र० स० : सं० २०१३, पृ० १०३ ।

२. वही, पृ० ११ ।

जिसे हृदय का विश्वास बनाते-बनाते कुछ न कुछ द्वैत-छाया आ ही जाती है, साथ ही कुछ रहस्य की झलक आना भी स्वाभाविक है।

कबीर ने अपने प्रिय को रामादि वैष्णव नामों से स्मरण किया है, पर उसे पौराणिक चेतना का जामा नहीं पहनने दिया। उसे द्वैत की भूमिका में लाकर उसके प्रति मधुर कान्ताभाव की अनुभूति उन्होंने की है जो भारतीय चेतना के अनुरूप होते हुए सूफियों से बहुत-कुछ मेल खाती है।

माधुर्य-मूलक कान्तारति का आश्रय कबीर की प्रेमिका आत्मा स्वकीया एकव्रता और पतिव्रता है। दूसरी ओर उसका आलम्बन प्रियतम स्थूलता से परे है। फल यह हुआ है कि कबीर के कान्ताभाव में लोक-मर्यादा एवं लोकानुभूति पर किसी प्रकार से अशुभ प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं है, जैसी कि कतिपय मधुर-मार्गी वैष्णवों के कान्ताभाव में हो जाती है। एकांगी पातिव्रत में डूबी कबीर की प्रेयसी आत्मा की भावानुभूतियाँ लोकानुभूति पर गहरा शुभ प्रभाव छोड़ती हैं।

कबीर के कान्ताभाव की अभिव्यंजना संयोग तथा वियोग दोनों रूपों में हुई है। यों तो संयोग के चित्र भी कम रसान्वयी नहीं हैं किन्तु विरह में तो कबीर की आत्मा ही नाना भाव-चित्रों के रूप में व्यक्त हुई है।

कबीर की संयोग-भावना की दो विशेषताएँ हैं—एक स्थूल दैहिकता का अभाव, दूसरे यदा-कदा ज्ञानयोग और प्रक्रियायोग के उभार। उदाहरण के लिए उनका निम्न पद लिया जा सकता है :

"मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मानियां, और न भावै मोहि रे।
षटदल कंवल प्रकासिया, चहुं कौं फेरि निबाहि रे।
दहुं के बीच समाधियाँ, तहाँ काल न पासै आइ रे।

इस पद में पहले भाव-स्वर पर प्रिय के प्रति प्रनुभूति है, फिर शेष पद में प्रक्रिया-योग की बातें उभर आयी हैं। इन उभारों का कारण है—कबीर आत्म-दर्शन के आनन्द की अभिव्यंजना तीन प्रकार से करते हैं—कभी शुद्ध ज्ञान के सहारे, कभी प्रक्रियायोग के सहारे, कभी शुद्ध प्रेम के सहारे। इन तीनों का अवलम्ब लेने के कारण कभी-कभी एक प्रकार से बात कहते-कहते दूसरों की बातें उभर आती हैं, जो उनके लिए अस्वाभाविक नहीं है। पर प्रेषणीयता की दृष्टि से उनका मुख रस-व्यंजना से वस्तु-व्यंजना की ओर हो जाता है।

कबीर के कतिपय संयोग-रूपकों में संयोग-भावना अभिव्यंजना के स्तर पर ही रह जाती है। उदाहरण के लिए उनका यह प्रसिद्ध पद लिया जा सकता है :

"दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रत करि हौं मन रत करिहौं, पंच तत्त्व बाराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन मदमाती।
सरीर सरोवर वेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचारा।
रामदेव संग भांवरि लेहूँ धनि धनि भाग हमारा।

इस पद में आत्मा और परमात्मा के बीच मिलन की बात एक विवाह के रूपक द्वारा कही गयी है। रूपक संयोग-परक है, पर उसका स्थान अभिव्यंजना शैली के भीतर है। आत्मा

और परमात्मा के मिलन की बात एक वस्तु-व्यंजना के रूप में ही प्रस्तुत की गयी है। फिर भी औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारियों के माध्यम से पर्यवसित भाव-चित्र संयोग-परक माधुर्य-भाव का बनता है।

जिन पदों में प्रक्रियायोगादि की बातें उभर कर नहीं आयी हैं उन संयोग-परक चित्रों में बड़ी प्रांजलता और मधुरता है। इस प्रकार के अनेक स्थल मिल सकते हैं :

"बहुत दिनन में प्रीतम पाये।
भाग बड़े घर बैठे आये।"
"अब तोहि जान न दैहूं राँक पियारे
ज्यूं भावै त्यूं होहु हमारे।"

फिर भी सब मिला कर ऐसे पदों की संख्या कम ही है। सामान्यतः कबीर में संयोग के चित्र भी अधिक नहीं हैं।

कबीर की विरहिणी आत्मा के भाव-संचार बड़े ही मार्मिक हैं। उनमें हठयोगी प्रक्रिया के उभार सामान्यतः दिखाई नहीं पड़ते। फल यह हुआ है कि उनकी वियोग-मूलक रस-कल्पना शुद्ध भावात्मक रही है। उसमें वेदना की गहरी विवृति पायी जाती है। विरहिणी प्रिय की प्रतीक्षा में पथ पर खड़ी है। आने वाले पथिकों से दौड़-दौड़कर पूछती है, उसके प्रिय कब आएंगे ? उसने बड़ी लम्बी प्रतीक्षा की है, प्रिय-मिलन के लिए उसका जी तरस उठा है। कभी वह निराशा में भर जाती है, मरने के पीछे प्रिय आये तो क्या ? पाहन न रहेगा तब क्या होगा पारस का ? प्रिय का नाम रटते-रटते उसकी जीभ में छाले पड़ गये हैं, आंखें भीगी हो उठी हैं।[1] वस्तुतः कबीर ने वियोग-पक्ष में कान्तारति की बड़ी ही वेदनापूर्ण अनुभूतियाँ दी हैं जिनमें सामान्यतः ऊहाओं का अभाव है। कहीं यदि ऊहाएँ हैं भी तो उनके मूल में भाव की तीव्रता निहित है और यह ऊहा प्रायः संवेदनात्मक है :

"यह तन जालौं मसि करौं, ज्यूं धूंआं जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं करसि बुझावैं अग्गि।"[2]

कबीर ने विरह को सैद्धान्तिक रूप में महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है :

"विरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलितान।
जिस घट विरह न संचरै, सो घट सदा मसान।"[3]

भगवत्प्रेम के अन्य रूप

कान्ताभाव के अतिरिक्त कबीर ने भगवान् के प्रति दो अन्य भावों को और अपनाया है—दास्यभाव और पुत्रभाव। तीनों में मधुरता की दृष्टि से कान्तारति का स्थान सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु अन्य दोनों रतिरूपों की अनुभूति और अभिव्यंजना भी निर्बल नहीं है, हाँ मात्रा में अवश्य कम है।

दास्य-भाव में अन्यत्र के अक्खड़ कबीर अपने प्रभु के सामने कितने सरल और विनम्र हैं, यह देखने की बात है। वे अपने को राम के कुत्ते के रूप में प्रस्तुत करते हैं :

---

१. कबीरग्रन्थावली : विरह कौ अंग : साखी ५, ६, ७, ८, २२।
२. वही, पृ० ८।
३. वही, पृ० ९।

"कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाँव ।
गले राम की जेबड़ी जित खेंचैं तित जांव ।"[1]

निम्न सखियों में कबीर का पुत्र-भाव अत्यन्त भावुकता के साथ व्यक्त हुआ है :

"पूत पियारौ पिता कौं गौहनि लागा जाइ ।
लोभ मिठाई हाथ दै आपण गया भुलाइ ।।
डारी खांड़ पटकि करि अन्तर रोस उपाइ ।
रोवत रोवत मिलि गया पिता पियारे जाइ ।।"[2]

दास्यभाव और पुत्रभाव दोनों प्रकार की अनुभूतियों में राम के महत्त्व और आत्म-लघुत्व की सहज स्वीकृति है । दोनों में प्रेम का बड़ा ही सरल, स्वाभाविक एवं लोकानुभूत रूप अंकित हुआ है । इस कोटि की उक्तियां मात्रा में कम ही हैं किन्तु उनकी भाव-व्यंजना बड़ी प्रकृत है ।

निर्वेद

निर्वेद के आधार पर कबीर की दो प्रकार की रस-कल्पना हमारे सामने आती है—शान्तरस की और शान्त भक्तिरस की । स्वतन्त्र शान्त में जगत् की अनित्यता, निस्सारता एवं अतात्त्विकता का बड़े ही शक्तिशाली ढंग से निरूपण हुआ है । अद्वैत तत्त्व की अनुभूति के तत्त्वज्ञानमूलक कुछ वचन भी इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं । दूसरे प्रकार की शान्त भक्तिरस की उक्तियाँ हैं जिनमें निर्वेद रामरति का अंग पोषक या उभारने वाला होकर आया है । दोनों के अन्तर को निम्न रूपों में स्पष्ट देखा जा सकता है :

(क) "कबीर नौबति आपनी दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पाटन ए गली बहुरि न देखौ आइ ।"

(ख) "जिनकैं नौबति बाजती मंगल बजते बारि ।
एकै सरि के नांव बिन गए जन्म सब हारि ।"

लोक के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति

कबीर काव्य का एक बड़ा अंश लोक-प्रेम की अनुभूति से भरा हुआ है । कबीर के सम्बन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वे एक चरम सीमा पर पहुँचे अद्वैतवादी होते हुए भी बड़े भारी लोक-प्रेमी थे । अद्वैतवाद सामान्यतः जगत् के प्रति मिथ्यात्व की चेतना देता है, अतः ज्ञानी में लोक से उदासीनता ही जागती है । यही कारण है कि शंकर की परम्परा में बड़े-बड़े ज्ञानी हुए, किन्तु समाज की समस्याओं ने उनमें से कम को ही सताया । पर कबीर एक ज्ञानी नहीं, एक भावुक भक्त भी थे । उनका उदार हृदय लोक-प्रेम से परिसिंचित था ।

अपने निजि दुःख-सुख की संकुचित परिधि के बाहर आकर जन-सामान्य के दुःख-सुख में निःस्वार्थ भाग लेना और इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ को एकाकार कर लेना लोक-परायणता की एक उत्कृष्ट कसौटी है । ऐसे लोक-हृदय व्यक्तियों में लोक-प्रेम की अनुभूति प्रायः दो रूपों में उदित होती है । कभी तो प्रेम, दया, करुणा आदि के रूप में, कभी लोक-

---

१-२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १० ।

मंगल-विघातक तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश के रूप में। इस दूसरी स्थिति में उनमें पीड़ित के प्रति करुणा एवं सहानुभूति होती है, पीड़क के प्रति गहरा रोष। इन सभी प्रकार की भावाभिव्यक्तियों का बीज-भाव या मूल-भाव लोक-प्रेम ही होता है। कबीर के काव्य में इस लोक-प्रेम के विविध चित्र हैं जिनकी अभिव्यक्ति बड़ी समर्थ है और प्रेषणीयता बड़ी सफल।

कबीर की लोकरति के इस प्रकार दो रूप हैं—एक तो आर्त, पीड़ित के प्रति प्रेम-सहानुभूति-करुणा का, दूसरा शोषक-पीड़क तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश का। पहले में लोक-मंगल से सम्बद्ध शुभ भाव और रूढ़ि-मजहब-समाज के शिकार दुखी प्राणियों के प्रति व्यथा और करुणा के दर्शन होते हैं, दूसरे में उन तत्त्वों के प्रति क्षुब्ध प्रतिक्रिया के जिन्हें वे लोक-मंगल के विपरीत समझते हैं। कबीर ने रीति-रिवाज, जाति-पाँति, छुआ-छूत, भेव-भाव सब के प्रति गहरा आक्रोश संजोकर मुल्ला और पांडे दोनों को फटकारा है। वेद-कतेब, माला-तसबीह, नमाज-रोजा, छापा-तिलक और मूर्तिपूजा जैसे बाह्य आचारों के ऊपर उन्होंने एकबारगी कठोर चोट की है। हिंसा उन्हें भारी व्यथा देती है और वे हिंसक के प्रति बड़े ही कठोर हैं। ये सब अभिव्यक्तियाँ कबीर की लोक-रति की अनुभूति की विविध उच्छलनाएँ हैं।

मात्रा की दृष्टि से लोक-प्रेम की सीधी अभिव्यक्तियों की अपेक्षा लोक-विरोधी तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश वाली अभिव्यक्तियाँ अधिक हैं। इन अभिव्यक्तियों में अपनी मिठास है। इनमें प्रायः 'रस-व्यंजना' न होकर 'भाव-व्यंजना' है। किन्तु इन भाव-व्यंजनाओं के विषय में विशेष बात यह है कि ये कवि की स्वानुभूति और अकृतक भावावेश से उद्भूत हैं। अकृतक भावावेश से निसृत साहित्य में ही स्थायी प्रभवन-शीलता होती है। मध्यकाल के अनेक भावुक भक्तों की समर्थ प्रभवनशीलता का यही रहस्य है कि उनके मूल में निहित भावावेश कवियों का स्वानुभूत एवं अकृतक है।

कबीर की इस कोटि की भाव-व्यंजना केवल काव्य-रचना के लिए नहीं है, उसका उद्देश्य है। वे अपनी समर्थ वाणी के द्वारा सामाजिक अमंगल पर निर्मम आघात करके उसके जीर्ण अस्थि-पंजरों को एकबारगी चूर्ण कर देना चाहते हैं। उनकी ये अभिव्यक्तियाँ लोक-प्रेम से प्रेरित होने के कारण व्यक्तिगत न रहकर लोक-सामान्य के हृदय को संस्पर्श करने की क्षमता से सम्पन्न हैं। इनमें पाठक की लोक-विरोधी तत्त्वों के प्रति विक्षुब्ध चेतना को परितोष मिलता है।

इस प्रकार कबीर-काव्य में निहित रस-परिकल्पना को रसों की दृष्टि से निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:

१. तथ्यानुभूति-मूलक अभिव्यक्तियां

(क) अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार से सम्बन्धित उक्तियां····· वस्तु-व्यंजनाएँ, शान्त-रस

(ख) जगन्मिथ्यात्व-मूलक निर्वेद-मयी उक्तियाँ वस्तु-व्यंजनाएँ, शान्तरस

२. प्रेमानुभूतिमूलक अभिव्यक्तियां

(क) परमात्मप्रेम-मूलक·····

१. निर्वेद-पुष्ट भगवद्रति की व्यंजनाएँ।

२. आत्मलघुतापरक दास्यरति की व्यंजना।

३. सरलता-लघुता-परक पुत्र-भाव की व्यंजना।

४. माधुर्यमूलक कान्तारति की व्यंजनाएँ।

कबीर की इन अभिव्यंजनाओं में प्रेषणीयता की दृष्टि से पूरी सफलता है। केवल प्रक्रिया-योग पर आधारित उलटबांसियों आदि में अभीष्ट प्रेषणीयता नहीं है। इनमें कबीर का उद्देश्य है विस्मय की सृष्टि करते हुए कतिपय तथ्यों को प्रभावशाली ढंग से श्रोता के हृदय में उतारना। यह उद्देश्य अभिव्यंजना-शैली की दुरूहता के कारण असफल हो गया है। चमत्कार के फेर में पड़कर इनमें संवेद्य खो गया है। शेष अभिव्यंजनाओं में प्रेषणीयता की दृष्टि से कबीर को पूरी-पूरी सफलता मिली है।

अद्वैत-तत्त्व के साक्षात्कार-सम्बन्धी वस्तु व्यंजनाओं में सहृदय-गत प्रेषणीयता भावोद्बोध के रूप में न होकर प्रायः तथ्य-बोध के रूप में होती है। इन उक्तियों में जहाँ अभिव्यंजना काव्योपयोगिनी है वहां पाठक अभिव्यंजना सौन्दर्य से अवश्य प्रभावित होता है। जगन्मिथ्यात्वमूलक शान्तरस की अभिव्यक्तियों का प्रभाव पाठक पर इन से गहरा पड़ता है। इन की अभिव्यंजना सरल एवं परिचित प्रतीकों के माध्यम से हुई है। इनमें जीवन के गंभीर एवं चिरन्तन सत्य निहित हैं। इनका कवित्व जनसामान्योपयोगी एवं सर्वांगीण होने के कारण साधारणीकरण की पूर्ण संभावनाओं से युक्त है।

प्रेमाभिव्यंजक अभिव्यंजनाओं में सहृदय पाठक को प्रभावित करने की सफल क्षमता है। निर्वेद-परिपुष्ट रामरति की उक्तियाँ पाठक पर शुभ प्रभाव अंकित करती हैं। दास्य-मूलक एवं पुत्रभाव-मूलक वाणियों में भी अभीष्ट संवेदन-शीलता भरी है। कबीर की प्रेम-मूलक उक्तियों में द्वैत-चेतना बाधक नहीं होती। वस्तुतः वही सरसता की सच्ची समर्पक सिद्ध होती है।

कबीर की रस-परिकल्पना का चरम सौन्दर्य कान्ताभाव की अभिव्यक्तियों में ही उपलब्ध होता है। संयोग और वियोग दोनों ही में प्रिय की निराकारता के कारण रहस्य की गुंजाइश हुई है, किन्तु उनकी मधुरिमा एक बड़ी दूरी तक अक्षत रही है। संयोग उदात्त है और उसकी परिणति प्रायः बौद्धिक हो जाती है। उसमें कभी-कभी ज्ञानयोग और प्रक्रियायोग के उभार झलक आते हैं। किन्तु वियोग शुद्ध भावात्मक रहा है। संयोग में स्थूलता नहीं है, वियोग में भावुकतापूर्ण वेदना है। वियोग की अभिव्यक्तियाँ पाठक की चेतना को आप्लावित करती हैं और सच्चे अर्थों में रसकोटि में आती हैं।

इस प्रकार कबीर के काव्य में निम्न रसों की परिकल्पना पायी जाती है :

१. शान्तरस : जगन्मिथ्यात्वमूलक निर्वेद-परक एवं तत्त्वज्ञानमूलक उक्तियों में।

२. शान्तभक्तिरस : निर्वेद के रामरति-समन्वित होने पर।

३. दास्यभक्तिरस : आत्मलघुता-परक प्रेमानुभूतियों में।

४. मधुरभक्तिरस : माधुर्यमूलक कान्तारति की संयोग-परक एवं वियोगहरक वाणियों में।

५. अद्भुतरस : उलटबांसियों में दुरूह वस्तु-व्यंजनाओं द्वारा व्याहत।

६. लोक-रति : लोक-परक करुणा, प्रेम, सहानुभूति के रूप में।
लोक-मंल के विघातक तत्त्वों के प्रति रोष-आक्रोश के रूप में।

इन रस-व्यंजनाओं एवं भाव व्यंजनाओं को छोड़ शेष कबीर का काव्य सामान्यतः

वस्तु-व्यंजना-परक है। उसमें रस-सृष्टि नहीं होती। रस-परिकल्पना से उनका बहुत दूर का सम्बन्ध है।

कबीर के काव्य में वस्तुतः दो भक्तिरसों की ही रस-परिकल्पना ही उल्लेखनीय है—एक शान्त की दूसरी मधुर की। मधुर रस में यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वैष्णव भक्तों के समान उसका आलम्बन सगुण-साकार नहीं है। अतः भक्त के पक्ष में रति का रूप बहुत कुछ एक ही दिशा का होते हुए भी वही रूप नहीं रह गया जो वैष्णव मधुरा भक्ति का है। यह मधुर रस भक्तिकाव्यशास्त्र के ग्रन्थों में भी निरूपित नहीं किया गया। इस प्रकार की भाव-चेतना को वैष्णव भक्तों के लिए प्रकृत समझने की नौबत ही नहीं आयी। केवल कान्ताभाव के कारण इस परिकल्पना को हमने यहाँ मधुर रस नाम दिया है। इस मधुर-परिकल्पना में रसस्य का समावेश हुआ है, अतः इसे यदि अलग करना ही चाहें तो रहस्यवादी मधुर रस कह सकते हैं।

परिशिष्ट (ख)

सहायक-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ

नाट्य-शास्त्र, भरत, गायकवाड़, सं० सी०, भा० १, द्वितीय सं० १९५६ ई०, भा० २ प्रथम सं० १९३४ ई०, भा० ३ प्रथम सं० १९५४ ई०

—अभिनवभारती, अभिनवगुप्त

—हिन्दी अभिनवभारती, आ० विश्वेश्वर

काव्यालंकार, भामह, वैलेस प्रिंटिंग हाउस तंजोर, १९२७ ई०

काव्यादर्श, दण्डी, खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, काशी, १९८८ वि०

काव्यालंकारसारसंग्रह, उद्भट, भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९५२ ई०

— लघुवृत्ति, भट्टेन्दुराज

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९०७ ई०

काव्यालंकार, रुद्रट, काव्यमाला, १९०९ ई०

ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चौखम्बा, काशी, १९४० ई०

—लोचन, अभिनवगुप्त

—हिन्दी ध्वन्यालोक, आ० विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९५२ ई०

काव्यप्रकाश, मम्मट, भण्डारकर रिसर्च इं०, १९५० ई०

—वामन झलकीकर टीका

— संकेत, माणिक्यचन्द्र, आनन्दाश्रम, १९२१ ई०

व्यक्ति-विवेक, महिमभट्ट, चौखम्बा सं० सी०, १९९३ वि०

—व्यक्तिविवेकव्याख्यान, रुय्यक

—मधुसूदनी विवृति, मधुसूदन शास्त्री

शृंगारप्रकाश, भोज, भा० १, प्रकाश २२-२४, प्रथम प्रकाश भूमिका, ला प्रिं० हाऊस, बम्बई, १९२६ ई०

दशरूपक, धनंजय, गुजराती प्रिं० प्रेस, बम्बई, १९२७ ई०

—अवलोक, धनिक

साहित्य-दर्पण, विश्वनाथ, सिद्धान्त-प्रेस, कलकत्ता, १८६७ शक

रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ की काव्यमाला, १९३० ई०

—गुरुमर्मप्रकाश, नागेश

सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, काव्यमाला, १९१५ ई०

सर्वदर्शनसंग्रह, सायण-माधव, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९२४ ई०
ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, शंकराचार्य, निर्णयसागर प्रे०, १९६८ ई०
—भामती, वाचस्पति मिश्र
वेदान्तसार, सदानन्द, ओरियेण्टल बुक डिपो, १९२९ ई०
श्रीमद्भगवद्रामानुजग्रन्थमाला, श्रीरामानुजाचार्य, अण्णंगराचार्य द्वारा प्रकाशित, कांचीपुर ग्रन्थ-माला आफिस, १९५६ ई०
—वेदार्थसंग्रह, शारीरकमीमांसा भाष्य 'श्रीभाष्य' वेदान्तदीप, वेदान्तसार, गीताभाष्य, शरणागतिमय, श्रीरंगगद्य, श्रीवैकुण्ठगद्य, नित्यग्रन्थ
वेदान्तसूत्र मध्वभाष्य, श्रीमध्वाचार्य
वेदान्त-दर्शन, द्वैताद्वैत-सिद्धान्त, 'वेदान्तपारिजातसौरभ' ब्रह्मसूत्र-भाष्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, विद्याविलास प्रेस, १९२७ ई०
—वेदान्तसिद्धान्तरत्नमंजूषा, पुरुषोत्तमाचार्य
—वेदान्तसुबोधिनी भाषा-व्याख्या, श्रीस्वामी सन्तदासजी
—ब्र० सू० द्वैताद्वैतदर्शनम्, सिद्धान्तसेतु, सुन्दर भट्ट, विद्याविलासप्रेस बनारस,
वेदान्त-दशश्लोकी, श्रीनिम्बार्काचार्य, विद्याविलास प्रेस बनारस, १९२७ ई०
—वेदान्तसिद्धान्तरत्नमंजूषा, पुरुषोत्तमाचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य, श्रीवल्लभाचार्य जी, भाग १-१०, निर्णय सागर प्रेस, १९८३-१९९७
—भाष्यप्रकाश, गो० पुरुषोत्तमजी
—भाष्यप्रकाशरश्मि, श्रीगोपेश्वरजी
—विवरण, श्रीगिरिधरजी, निर्णयसागर प्रे०, सं० १९४२
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, सर्वनिर्णय प्रकारण श्री वल्लभाचार्यजी, सेठ नारायनदास तथा जेठानन्द आसनमल ग्रन्थमाला १२, सं० १९९९
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, प्रथम शास्त्रार्थ-प्रकरण, सं० १९९९
—आवरण-भंग
—योजना
श्रीमत्प्रस्थानरत्नाकर, पुरुषोत्तमाचार्यजी, निर्णयसागर, वल्लभाचार्य ४३५
वृहत्स्तोत्रसरित्सागर, न्यूज़ मुद्रणयन्त्रालय, वि० १९८३
—श्रीवल्लभाचार्य : पुरुषोत्तमनामसहस्र, यमुनाष्टक, सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाह, मर्यादाभेद, सिद्धान्तरहस्य, संन्यासनिर्णय, निरोधलक्षणम्, परिवृढाष्टकम् श्रीमधुराष्टकम्, गायत्रीभाष्यम्
—श्रीविट्ठलाचार्य : सर्वोतमस्तोत्र, राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकी, श्रीस्वामिनीप्रार्थन रस-सर्वस्वम् गुप्तरसः, नव-विज्ञप्ति
— श्रीहरिरायजी; वल्लभशरणाष्टकम्
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, रूपगोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी, वि० १९८८
—दुर्गम-संगमनी, श्रीजीवगोस्वामी
उज्ज्वलनीलमणि, श्रीरूपगोस्वामी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०
—लोचनरोचनी, श्रीजीवगोस्वामी
—आनन्दचन्द्रिका, श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती

न्याय-दर्शन, 'न्याय-सूत्र', गौतम
—न्याय भाष्य वात्स्यायन
वैशेषिक-दर्शन, कणाद
—प्रशस्तपादभाष्य, विजयनगर संस्कृत सी०, १८५९ ई०
मीमांसा-दर्शन, जैमिनि
—शाबर भाष्य, शाबरस्वामी
—वार्तिक, कुमारिल
—सुचरितमिश्र टीका
अर्थ-संग्रह, लौगाक्षिभास्कर, निर्णय सा० प्रे०, बम्बई, १९५० ई०
न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, चौखम्बा सं० सी०, द्वि० सं०, १९५४ ई०
—धर्मोत्तराचार्य-कृत टीका
प्रमाणवार्तिक, धर्मकीर्ति, स्वार्थानुमान-परिच्छेद, किताब महल इलाहाबाद, सं० राहुलजी
—कर्णिकगोमिन् टीका
वार्तिकालंकार, धर्मकीर्ति,
सांख्य कारिका, ईश्वरकृष्ण, सं० पुस्तकालय बनारस, १९५७ ई०
—तत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्र, सत्यप्रकाशन मन्दिर प्रयाग, १९५६ ई०
ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, भा० १, २, काश्मीर सं सी०, अभिनवगुप्त, १९१८, २१ ई०
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, का० सं० सी०, १९३८, ४१, ४३
तन्त्रलोक, अभिनवगुप्त, का० सं० सी०
तन्त्र-सार, अभिनवगुप्त, १९४३ ई०
परमार्थसार, अभिनवगुप्त, का० सं० सी०, १९१६ ई०
पराविंशिका, का० सं० सी०, १९१८; अभिनवगुप्त
प्रत्यभिज्ञाहृदय,
शिवदृष्टि, सोमानन्द, का० सं० सी०
—उत्पल-वृत्ति, उत्पलाचार्य
सांख्यकारिका, माठर वृत्ति, माठर आचार्य
मध्वतन्त्रमुखमर्दनम् अप्पय्य दीक्षित, हितचिन्तक प्रेस, बनारस, १९४१ ई०
भक्ति-विष्णुप्रियम्, जतीन्द्रविमल चौधरी, कलकत्ता, १९५८
काव्यानुशासन, हेमचन्द्र महावीर जैन विद्यालय, बंबई, १९३८ ई०
तत्त्व-सन्दर्भ, श्रीजीवगोस्वामी, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, २०१४ वि०
श्रीमद् देवीभागवत, भा० १-२
शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१२
नारदभक्तिसूत्र, गी० प्रे० गोरखपुर, वि० २००९
भक्ति-रसायन, श्रीमधुसूदन सरस्वती, भाग १, धनंजय प्रेस, खानापूर, १८५६ शक०
—मराठी अनुवाद सहित, अनु० सदाशिव रामकृष्ण देशपांडे
राधासुधानिधि, श्रीहितहरिवंशजी, रा० व० आनन्दभवन, झगरहटा विलासपुर, १९५० ई०
युग्मतत्त्वसमीक्षा, पं० भागीरथ शर्मा, प्रेमधाम प्रेस वृन्दावन,
शक्तिवाद, गदाधर भट्ट, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९७० वि०

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, नागेश्वर पाठशाला, बनारस, १९४० ई०
श्रीमद्भागवत,
—अष्टटीका-सहित, सं० नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी, देवकीनन्दन प्रेस, वृन्दावन
अभिज्ञान शाकुन्तल, कालिदास
शिशुपालवध, माघकवि

गुजराती ग्रन्थ

पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, रणछोड़दास वृदावनदास, गुज० प्रि० प्रेस, अहमदाबाद
श्रीमहाप्रभुस्तुतिमुक्तावली—२, पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियाद, वि० १९९८
श्रीसर्वोत्तमस्त्रोत; गुजराती टीका, लल्लुभाई छगनभाई देसाई, वि० १९९९, अहमदाबाद

अंग्रेजी ग्रन्थ

"हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स", एस० के० डे०, १९६०
"हिस्ट्री आफ़ सं० पोइटिक्स", पी० वी० काणे, १९५१
"दी नम्बर आफ़ रसाज़", वी० राघवन, अडयार, १९४०
"सम् कन्सेप्ट्स आफ़ अलंकार शास्त्र", वी० राघवन्, अडयार, १९४२
"कम्पैरैटिव एस्थेटिक्स", के० सी० पांडे, चा० सं० सी० बनारस, १९५०
"साइकलौजीकल स्टडीज़ इन रस", राकेश, १९५०
"भोज"स श्रृंगारप्रकाश" वी० राघवन्, कर्नाटक पं० हा० बंबई, १९४०
"दी थियरीज़ आफ़ रस एण्ड ध्वनि", ए० सांकरन, १९२९, मद्रास वि० वि०
"हिस्ट्री आफ़ इण्डियन् फिलास्फी, दास गुप्ता
"काश्मीर शैविज्म" जे० सी० चटर्जी, १९१४
"इण्डियन फिलास्फ़ी", राधाकृष्णन
"हिस्ट्री आफ़ इण्डि० लाजिक", सतीशचन्द्र विद्याभूषण

हिन्दी ग्रन्थ

सूर-सागर, सूरदास, नागरी प्रचारणी सभा, भा० १-२, भा० १, द्वि० सं० २००९ वि०, भा० २ प्रथम सं०, २००७ वि०
परमानन्दसागर, परमानन्ददासजी, सं० डा० गोवर्धननाथ शुक्ल, भारत प्र० मन्दिर, अलीगढ़
साहित्यलहरी, सूरदास, साहित्य संस्थान मथुरा, सं० प्रभुदयाल मीतल, १९६१ ई०
नन्ददास-ग्रन्थावली, नन्ददासजी, सं० ब्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा काशी, सं० २००६
कुंभनदास, कुंभनदास, काकरौली वि० वि० प्रेस
चतुर्भुजदास, चतुर्भुजदास, काकरौली, वि० वि० प्रेस
गोविन्दस्वामी, गो० स्वामी, काकरोली वि० वि० प्रेस
छीतस्वामी, छीतस्वामी, काकरौली, वि० वि० प्रेस
गो० हरिरायज का पद-साहित्य, साहित्य संस्थान मथुरा, प्रभुदयाल मीतल, २०१८ वि०
आचार्य महाप्रभुजी की प्राकट्य वार्ता, श्रीद्वारकादास पुरुषोत्तमदास परिख विद्याविभाग, काकरौली, वि० २००१

अनुग्रहमार्ग, व्याख्याता देवर्षि रमानाथ शास्त्री, पुष्टिमार्ग सिद्धान्तभवन, नाथद्वार, १९३९ ई०
युगलशतक, श्रीभट्टजी, सं० ब्रजवल्लभशरणजी, वृन्दावन, वि० २००९
श्रीनिम्बार्कमाधुरी, सं० ब्रह्मचारी विहारीशरणजी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, वि० १९९७
सिद्धान्त-रत्नाकर, सं० विश्वेश्वरशरणजी, नि० शोध मंडल, वृन्दावन, वि० २०१३
महावाणी, श्रीहरिव्यासदेवजी, प्र० ब्रह्मचारी विहारीशरणजी, सं० २००८, वृन्दावन
वृहदुत्सवमणिमाल, श्रीरूपरसिकदेवजी, सं० ब्रजवल्लभशरणजी, वि० २०१८
श्रीभक्तमाल, नाभादासजी, सं० ब्रजवल्लभशरणजी, वृन्दावन, वि० २०१७
वृन्दावनांक, सर्वेश्वर, वि० २०१४
केलिमाल, श्रीहरिदासजी,
स्वामी हरिदासजी : जीवनी और वाणी तथा अष्टाचार्यों एवं भक्त कवियों की जीवनी और रचनाएं, सं० प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान मथुरा, २०१८
हित-चौरासी, श्रीहितहरिवंशजी; सेवकवाणी, श्री दामोदर सेवकजी, सं० बनमालीलाल, गोस्वामी, वृन्दावन
व्यासवाणी, हरिरामजी व्यास, प्र० राधाकिशोर गोस्वामी, सं० १०९४
भक्तकवि व्यासजी, श्रीवासुदेव गोस्वामी, सं० प्रभुदयाल मीतल, वि० २००९
बयालीसलीला, ध्रुवदासजी, रसिकग्रन्थमाला वृन्दावन, २०१९
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, सं० २०१४
श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, श्रीललिताचरण गोस्वामी, वेणु प्रकाशन वृन्दावन, वि० २०१४
भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, नागरी प्र० सभा० काशी, २०१०
श्रीराधा का क्रमिक विकास-दर्शन और साहित्य में, डा० शशिभूषण दास गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५६ ई०
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त
श्रीचैतन्य चरितामृत, सं० श्रीश्यामदास, श्रीधाम वृन्दावन, सं० २०१८
श्रीचैतन्य महाप्रभु, ठा० भक्तिविनोद, श्री गौडीय मठ, कलकत्ता, वि० २०१७
श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्तरत्नसंग्रह, श्रीधाम वृन्दावन, वि० २०१०
चैतन्य-मत और ब्रज-साहित्य, प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान मथुरा, वि० २०१९
अष्टयाम, वृन्दावनचन्द्रदास, प्र० कृष्णदास बावाजी, वि० २०१७
कहानी रहसि तथा कुंवरि-केलि, लाड़िलीदासजी, प्र० कृष्णदास बावाजी, वि० २०१७
रामभक्ति-शाखा, रामनिरंजन पांडेय, नवहिन्द पब्लिकेशन्स, हैदराबाद, १९६० ई०
रामभक्तिसाहित्य में मधुर भावना, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, माधव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५७ ई०
रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, भगवतीप्रसाद सिंह, अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर
रामचरितमानस, तुलसीदासजी, गी० प्रेस गोरखपुर, वि० २०१७, सं० ११
तुलसी ग्रन्थावली, पहला, दूसरा खंड, नागरी प्रचा० स०, काशी, द्वि० सं० २००४ वि०
विनय-पत्रिका, गी० प्रे० गोरखपुर, तुलसीदास जी
गीतावली, तुलसीदासजी, गी० प्रे०, गोरखपुर

केशव-ग्रन्थावली, खण्ड १-२, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, १९५४-५
कवित्त-रत्नाकर, सेनापति, हिन्दी परिषद्, वि० वि० प्रयाग, १९३६ ई०
मीरां स्मृति ग्रन्थ, बंगीय हिन्दी परिषद् कलकत्ता, वि० २०००
मीरांबाई की पदावली, श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी सा० सम्मेलन प्रयाग, वि० २०१४
रसखान और घनानन्द, स्व० बाबू अमीरसिंह, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२९ ई०
रसखान का अमर काव्य, आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र, नवयुग ग्रन्थागार लखनऊ, १९५९ ई०
संत साहित्य, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र माधव, ग्रन्थमाला कार्यालय बांकीपुर, १९क१ ई०
कबीर-ग्रन्थावली, सं० डा० श्यामसुन्दरदास, का० न० प्र० सभा काशी
ब्रजमाधुरीसार, सं० वियोगी हरि, हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, चतु० सं०, १९९९
पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ
हिन्दी साहित्य का आलोचनामक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, चतु० सं० १९५८ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास, आ० रामचन्द्रशुक्ल, का० ना० प्र० स०
रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, '६२ ई०
शैवमत, डा० यदुवंशी, बिहार रा० भा० परि०, १९५५ ई०
सूरदास मदनमोहनजी की वाणी, सं० बाबा कृष्णदासजी, द्वि सं०, २०१५ वि०, वृन्दावन
श्रीगदाधर भट्टजी की वाणी, सं० बाबा कृष्णदासजी, वृन्दावन, वि० २०१५, द्वि० सं०
काव्यतत्त्व-समीक्षा, डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसी०, १९५९ ई०

लेखक की प्रकाशित सामग्री

'रस सिद्धान्त की भरत-पूर्ववर्ती रूप-रेखा'—सपरिशिष्ट, 'जन-भारती' रस-अंक, कलकत्ता, सं० २०१७, वर्ष ८, अंक ४
'चार मूल रस', 'अभिनवभारती', अलीगढ़ वि० वि० शोध-पत्रिका, अंक
'आचार्य शंकुक के अनुमानवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि', हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १४, अंक १
'अभिनवभारती में शंकुक का रस-विवेचन—एक व्याख्या'
'भट्टनायक का साधारणीकरण', 'समालोचक', आगरा
'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन', भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६२
'शंकुक-ए बुद्धिस्ट लाजीशियन', आल इंडिया आरियेण्टल कान्फ्रेंस, भुवनेश्वर अधिवेशन में प्रस्तुत शोध-पत्र

हमारे उत्कृष्ट आलोचना-ग्रन्थ

० ०

आस्था के चरण	डा० नगेन्द्र	५०.००
रस सिद्धान्त	डा० नगेन्द्र	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	डा० नगेन्द्र	१७.५०
देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र	१२.००
आलोचक की आस्था	डा० नगेन्द्र	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र	५.५०
विचार और अनुभूति	डा० नगेन्द्र	५.५०
विचार और विवेचन	डा० नगेन्द्र	५.५०
विचार और विश्लेषण	डा० नगेन्द्र	६.००
अनुसंधान और आलोचना	डा० नगेन्द्र	४.००
आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	डा० नगेन्द्र	५.५०
सियारामशरण गुप्त	डा० नगेन्द्र	१०.००
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	डा० नगेन्द्र	३.००
काव्य-बिम्ब	डा० नगेन्द्र	४.००
चेतना के बिम्ब	डा० नगेन्द्र	५.००
मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में भारतीय संस्कृति	डा० मदनगोपाल गुप्त	३५.००
आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधाएँ	डा० निर्मला जैन	३०.००
रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र	डा० निर्मला जैन	३०.००
आधुनिक हिन्दी-कविता में चित्र-विधान	डा० रामयतनसिंह 'भ्रमर'	२५.००
रंगमंच और नाटक की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१२.००
देव-ग्रंथावली	डा० लक्ष्मीधर मालवीय	२०.००
हिन्दी साहित्य को कूर्माचल की देन	डा० भगतसिंह	३०.००
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक	३५.००
महिमभट्ट	डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी	२५.००
सांख्यकारिका	डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी	१३.००
व्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	३५.००
साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान	सं० डॉ० देवराज उपाध्याय	१०.००

० ०

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६